श्रीधर्मकल्पद्रुम

प्रथम खण्ड

—:*:—

Shri Dharma Kalpadruma

AN EXPOSITION OF SANATAN DHARMA

ON THE BASIS OF

All Religion and Philosophy.

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

श्रीभारतधर्म महामण्डल

प्रधान कार्यालयके शास्त्र-प्रकाश-विभागद्वारा

प्रकाशित

—:o:—

द्वितीय संस्करण

[मूल्य ६/००

सम्वत् २०२३ वि०

ग्रन्थ मिलने का पता

व्यवस्थापक शास्त्र प्रकाश विभाग

श्री भारतधर्म महामंडल, जगतगंज

वाराणसी

श्रीधर्मकल्पद्रुम

प्रथम खण्ड

—:❀:—

Shri Dharma Kalpadruma

AN EXPOSITION OF SANATAN DHARMA

THE BASIS OF

All Religion and Philosophy.



श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

श्रीभारतधर्म महामण्डल

प्रधान कार्यालयके शास्त्र-प्रकाश-विभागद्वारा

प्रकाशित

—:o:—

द्वितीय संस्करण

[मूल्य ६/००

सम्वत् २०२३

प्रकाशक—
भारतधर्म महामंडल,
जगतगंज वाराणसी ।

द्वितीय संस्करण
संवत् २०२३
मूल्य ६/००

मुद्रक—
विश्वनाथ भार्गव
मनोहर प्रेस,
जतनबर, वाराणसी ।

श्रीधर्मकल्पद्रुम

प्रथम-खण्ड के

द्वितीय संस्करणकी भूमिका

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः ।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ।।

भारतीय-संस्कृति वेदमूलक है। वेद ईश्वरके निःश्वास हैं। वे अनादि और अनन्त ज्ञानके प्रकाशक हैं। उन्हींकी ज्ञान ज्योतिसे भारतीयसंस्कृति ज्योतिष्मान् है। सृष्टिके आदिकालसेही वेदोंका प्रकाश विश्वमें प्रसृत हुआ एवं 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का प्रकाशमान प्रशस्त पथ हम सभीकेलिये सुलभ हुआ।

महाकालकी अकल्पनीय क्रीड़ाके दो पक्ष होते हैं। एक क्रूर और दूसरा कमनीय। आजका युग उसी क्रूर क्रीड़ाका प्रतीक बन गया है। अगम्य ज्ञानराशिके अद्भुत भण्डार वे वेद, बहुलांशतया लुप्त हो चुके हैं। हमारी बुद्धिका वैशद्य भी, हमारी आध्यात्मिकता और हमारी महान् परम्पराभी सत्य, त्रेता और द्वापर युगोंकी कालश्रृंखलामें क्रमशः क्षीण होती हुई अवनतिकी पराकाष्ठापर पहुँच गयी है। जबतक इस धराधामपर हमारे महर्षि विद्यमान थे, ऋषिवर्ग सुकर्मसंलग्न था और जनवर्ग विवेक वैराग्य प्रवण था, तबतक वेद भी थे। आज ऋषि नहीं रहे, तो उनका मंत्रद्रष्टृत्व भी नहीं रहा। समग्ररूपसे वेदभी नहीं रहे।

ऋषि गण त्रिकालदर्शी थे। उनमें ह्रासोन्मुख महनीयताको भी सनातनसत्यसे अलंकृत करनेकी आस्था थी। उन्होंने इसी उद्देश्यसे उपनिषद्, दर्शन, स्मृति, पुराण और आगम (तंत्र) ग्रन्थोंकी रचना की। ज्ञानके प्रवाहको अक्षुण्ण बनाये रखा। सनातन सत्यका सात्त्विक पीयूष द्वापरके अन्ततक प्रवहमान होता आया।

कलियुगके प्रवेशने उस अमृत प्रवाहको शिथिल बना दिया। प्रवाह शिथिल होनेपर कालुष्यकी काई अपने आप ही जमने लगती है। परिणामतः मानवकी बुद्धि कुंठित हो गयी। मानवचेतनापर जड़ताका आवरण आ पड़ा। ऋषियोंकी वह अमृत वाणी, जिनसे हम प्रकाश प्राप्त करते थे—हमारेलिये दुरूह बन गयी। उससे लाभ उठानातो दूर रहा आज हमारी प्रवृत्ति ही विपरीत हो चुकी है। आध्यात्मिक रहस्योंका उद्घाटन, आधुनिक युगबोधके तथाकथित विचारकोंकेलिये तो अनावश्यक ही हो गया है ? किन्तु धर्मका पथ प्रकाशका पथ है। कुछ देरकेलिये अन्धकारका आडम्बर भलेही आकाशमें अपनी विडम्बनाका विस्तार करदे, वह शाश्वत नहीं हो सकता। समय समयपर युगविभूतियाँ अवतरित होती हैं। वे ज्ञानकी शंखध्वनिसे दिग्दिगंतको गुंजायमान करती हैं एवं जिज्ञासुओंके जीवनश्रेयको जागृत करनेकेलिये अपने अस्तित्वको समर्पित कर देती हैं ? ईसाकी उन्नीसवीं शतीके अन्त एवम् बीसवीं शतीके प्रारम्भमें भारतमें एक ऐसी ही विभूतिका

आविर्भाव हुआ। वे महापुरुष थे, देशिकेन्द्रशिरोमणि भगवत्पूज्यपाद ११०८ श्री स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजवर्य ! वे साक्षात् धर्मके अवतार थे। महान् योगी थे। तत्त्वद्रष्टा क्रान्तदर्शी ऋषि थे। उन्होंने युगकी आत्माका अनावरणकर उसको प्रकाशमय बनादेनेका संकल्प किया एवं उसकेलिये महान् अध्यवसाय किया। श्री भारत धर्म महामंडलकी स्थापना उन्होंने ही की और उसके माध्यमसे भारतीय वसुन्धराको ही नहीं, निखिल विश्वको धर्मके महनीय सन्देशोंसे आपूरित कर दिया।

उन्हींके मानसपटलपर इसप्रकारकी अनुभूति अभ्युदित हुई कि, इस युगमें एक ऐसे धर्मग्रन्थकी नितान्त आवश्यकता है, जो जनभाषामें हो, राष्ट्रको विपुल वाग्वैभव प्रदान करने वाली वाणी हिन्दीमें हो ! निदान उनकी लोक कल्याण कारिणी आकांक्षाने साकार रूप ग्रहण किया। उनके योग्यतम शिष्य स्वामी श्री दयानन्दजी महाराजने उन्हीं परमाराध्य गुरुदेववर्यकी आज्ञासे, उन्हींके मुखारविन्दसे निःसृत ज्ञानराशिप्रकाशपूरित शब्दावलीकी आधारशिलापर एक भव्यज्ञानभवन निर्मितकर डाला।

इसका लक्ष्य था—सर्वव्यापक सनातनधर्मका शास्त्रप्रतिपादित स्वरूप सरलतासे जन जनकेलिये सुलभकरना। विशेष रूपसे सनातन धर्मका रहस्य और उसका अङ्ग प्रत्यङ्ग सबके समक्ष खोलकर रख देना। धर्मके अंगों-उपांगोंकेसाथ ही साथ वेदों शास्त्रों, दर्शनों उपनिषदों, पुराणों और निगमागमोंका रहस्य उद्‌घाटित करना एवं उनमें कहे हुए विषयोंको यथार्थ रूपमें सबके समक्ष उपस्थित कर देना।

वह युग था, जब समाजमें नानाप्रकारकी धार्मिक भ्रान्तियाँ फैली हुई थीं। धर्मके अनधिकारी लोग भी धर्मकी मीमांसा करते थे। उन्हें उन बातोंकी स्वतः जानकारी न थी, जिनकी चर्चा वे ग्रंथोंमें करते थे। नामतः वे धर्मके वक्ता होते थे, धर्ममतके प्रवर्त्तक कहलाते थे, पर सत्य यह है कि वे, स्वतः विपथगामी थे और दूसरोंको भी विपथगामी बनादेते थे। परिणामतः जनसमाजकी बड़ी हानि हो रही थी। शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी छीछालेदर हो रही थी। आर्यजातिका इसप्रकार बड़ा भारी अहित हो रहा था।

पूज्य श्रीजीमहाराजने इस अवांछनीय स्थितिका अन्त करदेनेके हेतु मनहीमन निश्चयकर लिया। उन्होंने सोचा—एक, महान् धर्मग्रन्थका प्रणयन आवश्यक है, जिसमें धर्मके सभी सिद्धान्तोंको सत्यरूपमें सामने रखदियाजाय, समस्त शङ्काओंका जिसग्रन्थसे निराकरण हो सके।

परमाराध्य गुरुदेव भगवान् (जिन्हें सभी लोग श्री जीमहाराज कहते थे) के योग्यतम शिष्य श्रीस्वामी दयानन्द जी महाराज वेद वेदाङ्गोंके, उपनिषदों और शास्त्रोंके बड़ेही प्रौढ़ विद्वान् थे। गुरुकृपासे उन्हें समग्र आध्यात्मिक अमृत ज्ञान प्राप्त था। जैसे भगवान् व्यासको महाभारत लिखनेकेलिये गणेशजी मिले थे, उसीप्रकार धर्मकल्पद्रुम जैसे महान् ग्रन्थको लिखनेकेलिये, पूज्यपादश्रीजी महाराजको स्वामी दयानन्दजी महाराज जैसे शिष्य मिले थे।

सुयोगकी बात कि, श्री भारतधर्म महामण्डलके तत्कालीन प्रधान सभापति

मिथिलाधिपति स्वर्गीय श्रीमान रमेश्वर सिंह के. सी. आई. जी महोदयने भी श्री जीमहाराजसे प्रार्थना की कि एक ऐसे धर्म ग्रन्थका प्रणयन होना चाहिये, जिसमें सनातन धर्मका सांगोपाङ्ग निरूपण हो; जिस ग्रन्थकेद्वारा छोटेसे लेकर बड़े सभीलोग, सभी वर्णों और आश्रमोंके एवम् सभी सम्प्रदायों और पन्थोंके जिज्ञासु लाभान्वित हो सकें।

उसीसमय श्री १०८ श्री स्वामी दयानन्द जी महाराजने भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंमें ग्रामों और नगरोंमें धर्मप्रचारार्थ यात्रायें कीं। उनको इन यात्राओंमें, विभिन्न प्रसङ्गोंमें इसका कटुअनुभवहुआ कि, जनतामें देशकालकेअनुसार उसके धर्मका वास्तविक साङ्गोपाङ्ग स्वरूप बतलाने वाला कोई ग्रन्थ नहीं। अपने इस अनुभवको उन्होंने भी श्री जी महाराजके राजीव चरणोंमें निवेदित किया।

परमकारुणिक परमाराध्य गुरुदेवश्रीजी की आज्ञा उन्हें प्राप्त हो गयी। परिणाम स्वरूप इस महान् ज्ञानयज्ञका सूत्रपात हुआ और यह सनातनधर्मका इन्साइक्लोपीडिया-विश्वकोष, साकार रूप ग्रहण कर सका। इस महान् ग्रन्थका नाम रखा गया 'धर्मकल्पद्रुम'। यद्यपि इसका प्रत्येक शब्द श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजद्वारा लिखित है परन्तु यह तथ्य है कि, इसका प्रत्येक शब्द पूज्य श्री जीमहाराजके मुखारविन्दसे निसृत अनन्तज्ञानका प्रतीक है।

यह ग्रन्थ आठ खण्डोंमें प्रकाशित है। प्रस्तुत खण्ड प्रथम खण्ड है। इसमें दो समुल्लास हैं। प्रथम समुल्लासमें धर्म (दान धर्म व तपोधर्म) की बड़ी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत है। साथही कर्म उपासना और ज्ञानके रहस्योंका उद्घाटन भी प्रौढ और विद्वतापूर्ण ढङ्गसे किया गया है।

इस महान् ग्रन्थकी यह सबसे बड़ी विशेषता है कि, सनातन धर्मकी सभी रहस्यकी बातोंका आधुनिक विज्ञानकी युक्तियोंद्वारा भी प्रतिपादन किया गया है। हमारे दूरदर्शी त्रिकालज्ञ ऋषियोंके समाधिगत अन्तःकरणमें ज्ञानका स्वतः प्रकाश हुआ था। उन्होंने सूक्ष्म आध्यात्मिक रहस्योंका साक्षात्कार किया था। अपनी उन्हीं अनुभूतियोंको उन्होंने लिखा, जो त्रिकाल सत्य हैं। उन्हीं रहस्य भरे सिद्धान्तों और नियमोंके लिपिबद्ध स्वरूप शास्त्र हैं; जो समग्र भारतीय जीवनको अनुशासित करते हैं।

उन्हीं रहस्योंको आधुनिक रीतिसे भारतीय जीवनमें अक्षुण रखनेकेलिये इस महान् ग्रन्थकी रचना हुई है। इसके आठ खण्ड हैं। ब्रह्मकी प्रकृति अष्टधा होती ही है। आठ खण्डोंमें समस्त दार्शनिक रहस्योंका उद्घाटन हो गया है। प्रथम खण्डकी विस्तृत सूची इस ग्रन्थमें अन्यत्र दी गयी है। नीचे क्रमशः शेष खण्डोंकी चर्चा भी संक्षिप्त रूपसे करना समुचित ही होगा।

इस महान् ग्रन्थके द्वितीय खण्डमें—साधारणधर्म विशेषधर्म और असाधारण धर्मोंका सविस्तार वर्णन है। धर्मरहस्यपर भी पूरा प्रकाश डाला गया है। वर्णधर्म और त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका मौलिक सम्बन्ध, प्राकृतिक चातुर्वर्ण्य, उसके अभावमें हानि और उसके व्यवहारसे लाभ, आश्रमधर्म, उद्देश्य, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य वानप्रस्थ,

सन्यास, नारीधर्म, नारी और पुरुषके धर्मका विश्लेषण, विवाहकाल निर्णय, गृहिणी-धर्म और पातिव्रत्य निर्णयआदि विषय अपनी समस्त विशिष्टताकेसाथ प्रतिपादित हैं। इस खण्डका मूल्य ३।०० है।

तृतीय खण्डमें :—आर्य जातिका लक्षण, आदि-निवासस्थान निर्णय, हिन्दु-शब्दकी व्याख्या और व्यापकता, हिन्दुत्व, इसका सामाजिक जीवन, वर्त्तमान अवनतिका कारण, योग्य नेता, योग्यनेतृवृन्दका प्रादुर्भाव, राज्यधर्म, प्रजाधर्म, चारप्रकारकी राज्यशासन प्रणाली, प्रवृत्तिधर्म, निवृत्तिधर्म, आपद्धर्म, देशकाल और पात्रकेअनुसार आपद्धर्मका पालन! त्रिविध भक्ति, भक्ति-महिमा, मन्त्रयोग, भाव, भावकेसाथ नाम और रूपका सम्बन्ध प्रतिमापूजनका रहस्य, सगुण पंचोपासना, सगुणोपासनाका फल, मूर्त्तिपूजाके आधुनिक कटाक्षों और आक्षेपोंका निराकरण, मंत्रमहिमा, मंत्रसिद्धि, सिद्धिके कारण और उपाय, मंत्रयोगके सोलह अंग आदि विषयोंपर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इस खण्डका मूल्य ३।५० है।

चतुर्थ खण्डमें :—अष्टाङ्ग योगका श्रुतिस्मृतिप्रामाण्य, हठयोग, मन्त्रयोग षट्कर्म-महामुद्रा, प्रत्याहार, आसन, प्राणायाम ध्यान एवं समाधिसे हठयोगका वैशिष्ट्य, हठयोगके सात अंग, लययोगके नव अङ्गोंका अलग-अलग वर्णन, राजयोग लक्षण और साधनक्रम, अष्टविध योगके अङ्गोंके साधन, ज्ञानकीसात भूमिकाओंके-अनुसार सात दर्शनोंका वर्णन, मुक्ति और गुरु शब्दकी व्युत्पत्ति, गुरु और ईश्वरका अभेदत्त्व गुरुदेव माहात्म्य, गुरुशुश्रूषाकी महिमा, सेवा विधि, गुरुशिष्य लक्षण, दीक्षाविधि, वैराग्य लक्षण, उसके भेद, वैराग्योत्पत्तिका कारण, गर्भवास और प्रसवजन्य दुःखोंका वर्णन, आत्मज्ञान देहात्मवादका निराकरण, परमात्माका सत्‌चित् और आनन्द स्वरूप, आस्तिक सात दर्शनोंकेअनुसार ज्ञानकी सात भूमिकायें, जीवतत्त्व, जीवका स्वरूप और अविच्छिन्नवादआदि विषय शास्त्रीय प्रमाणोंसे प्रमाणितरूपमें वर्णित हैं। इस खण्डका मूल्य ५।०० है।

पंचम खण्डमें:—प्राण और पीठ तत्त्व, सृष्टिस्थिति और प्रलयतत्त्व, ऋषि देवता और पितृतत्त्व, अवतारतत्त्व, मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और बलरामादि अवतारोंकी विस्तृत व्याख्यापूर्ण समालोचना। अर्वाचीन शंकायें और उनका समाधान, दशावतार, ऋषिअवतार तथा देवावतारआदि विषय श्रुति-स्मृति प्रमाण सहित वर्णित हैं। इस खण्डका मूल्य ३।५० है।

षष्ठ खण्डमें :—महामायाका आधिदैविक रहस्य, महामायाकी परा और अपरा द्विविध शक्तियोंका पौराणिक भावानुसार वर्णन, ब्रह्मशक्ति महामायाकी चार अवस्थाओंका वर्णन, बन्धकी कारण अविद्या, मोक्षकी साधन विद्या, माहामाया और उनका त्रिविध भाव, इसकेअनुसार सृष्टि स्थिति और प्रलयका रहस्य, त्रिगुणात्मिका प्रकृति, जड़चेतन जगत्, त्रिगुणकेअनुसार जीवकी गति, त्रिभावतत्त्व, कर्मतत्त्व, मुक्तितत्त्व, पुरुषार्थ चतुष्टय और वर्णचतुष्टयका सम्बन्ध, सनातनधर्म और उसके चारपाद, विशेषधर्म और वर्णाश्रमधर्म तथा बीज रक्षा।

दर्शन महिमा, उसके सातभेद, सनातनधर्मका सार्वभौमत्व, धर्म, सम्प्रदाय, पन्थ और मतमतान्तरोंकी समीक्षा।

रामानन्द सम्प्रदाय, कबीर, दादू, रामसनेही, गोरख, नानक, रामदासी, स्वामी नारायण और दशनामी पदोंका संक्षिप्त इतिहास वर्णित है। इसकी उपयोगिता सर्वोपरि है। इस खण्डका मूल्य ४।०० है।

सप्तम खण्डमें:—लोक रहस्य, सप्तद्वीप और वर्षोंका वर्णन, चतुर्दश भुवन वर्णन, सात अधोलोकोंका वर्णन, लोकोंकी उत्पत्ति और उनका विनाश, परलोक, परलोककी भारतीय मान्यता, परलोकके सम्बन्धमें पाश्चात्त्य मत, प्रेतलोक, प्रेतस्वरूप, नरक, नारकीय यन्त्रणायें, परलोकका वैज्ञानिक स्वरूप, जीवन्मुक्तकी स्थिति, जीवन मुक्तके दो भेद, विदेहमुक्ति, सदाचार, सदाचारकेसाथ जातीय जीवन तथा ब्रह्म-तत्त्वका सम्बन्ध।

प्रातः कृत्य, भक्ष्याभक्ष्य, स्पृश्यास्पृश्य, दृष्टिदोष, सदाचारविज्ञान, संस्कार-भेद, षोडश संस्कारोंका रहस्य, श्राद्धलक्षण, काल और कृत्य, पंचमहायज्ञ, सन्ध्योपासना, गायत्री महिमा, ओंकार और इसके त्रिभाव। इस खण्डका मूल्य ३।५० है।

अष्टम खण्डमें:—गोमहिमा, आर्यशास्त्रोंमें गोमहत्त्व प्रतिपादन, गोमाता और उनकी विशेषशक्ति, गोमय, गोमूत्र और गोरोचनका महत्त्व, गोवंशनाशके कारण, व्रतलक्षण, व्रत भेद, व्रतोंसे त्रिविधलाभ, तीर्थलक्षण, तीर्थमहिमा, संगीतका महत्त्व, संगीतकी व्यापकता, प्राचीन इतिवृत्त, राग-ताल-लय-विकास, वाद्ययन्त्र। भाषा, भाषाकी उत्पत्ति, हिन्दी संस्कृत भाषाकी उत्पत्ति, देवनागरी लिपि विकास, शिक्षा विज्ञान, शिक्षादर्शन एवं भेद आर्यनारियोंकी शिक्षाका आदर्श। स्वराज्य, वर्त्तमान प्रजातंत्र और इसका कारण, आर्य जातिमें प्रजातंत्रपद्धति, आर्यजीवनका वैशिष्ट्य आर्यजातिका आध्यात्मिक लक्ष्य, आर्यजीवनमें भौतिकविज्ञान, आर्योंका कर्म, उपासना और ज्ञानका उत्कर्ष, देश सेवा भाव तथा वर्त्तमान अवनतिके कारण आदि महत्त्वपूर्ण विषयोंका प्रतिपादन किया गया है। इस खण्डका मूल्य ४। ० है।

आठों खण्डोंमें निर्दिष्ट विषयोंसे इस महत्त्वपूर्ण प्रयासके सम्बन्धमें स्वतः यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि, सार्वभौम सनातनधर्मके सर्वव्यापक स्वरूपका कोई विषय इसमें छूटा नहीं है। सनातनधर्मके स्वरूपको जाननेके-लिये इस एक ही ग्रन्थका अध्ययन-अनुशीलन पर्याप्त है, आधुनिक भारतके नव-निर्माणमें और भारतीय संस्कृतिके पुनरुत्थानमें इस ग्रन्थने महान् योगदान किया है एवं आगे भी देसकता है। इसीलिये इसे सनातन धर्मका विश्वकोष कहा गया है।

प्रत्येक हिन्दूका यह कर्त्तव्य है कि, वह सनातन धर्मको जाने, समझे एवं तदनुकूल आचरण करे। समस्त शास्त्रों, वेदों स्मृतियों, पुराणोंका मन्थन करना असंभव है। कहा गया है—स्वल्पश्च कालः विपुला च विद्या! इसीलिये इस विश्व-कोषका अध्ययन करनेपर एकत्र ही सभी विषय उपलब्ध हो जाते हैं। यह स्पष्ट और डिंडिमघोष करके कहा जासकता है कि, एक मात्र इस ग्रन्थके प्रचार और प्रसारसे आज राष्ट्रके शरीरमें प्राणोंका सञ्चार किया जासकता है, आर्यगौरवके उस महान् अतीतको वर्त्तमानमें परिवर्त्तित किया जासकता है और अपने अन्धकार-मय भविष्यको प्रकाशमय बनाया जासकता है। आज देशमें बहुतसे अनपेक्षित

और अवांछित साहित्यका प्रचलन होरहा है। जैसा साहित्य व्यक्ति पढ़ेगा, वैसा ही उसका मन और मस्तिष्क भी बनेगा। आवश्यकता है—दिव्य साहित्यद्वारा आर्योंके दिव्य सन्देशोंके प्रचारकी ! श्रीधर्मकल्पद्रुममें ऋषियोंके वे ही दिव्य सन्देश हैं। मैं विनम्रतापूर्वक आपसे निवेदन करता हूँ, आपका आवाहन करता हूँ कि, आप इसे अवश्य पढ़ें, लोगोंको पढ़नेकी प्रेरणा प्रदान करें। पुस्तकालयोंमें इसे रखें या रखवानेकी व्यवस्था करें।

भारतका दुर्भाग्य है कि, आज यहाँ धर्म निरपेक्ष राज्य स्थापित है। जो देश-जो राष्ट्र धर्म हीन हो जायगा, उससे कल्याणकामना करना, मङ्गलकी आकांक्षा करना शशश्रृंगप्राप्त करनेकी इच्छाके समान ही होगा। धर्मसे हीन आसुरीवृत्तिको अपना कर राष्ट्र अधःपतनके महत् गर्त्तमें गिरता जारहा है। आज सर्वाधिक आवश्यकता है—जनतामें धार्मिक भावनाकी जागृतिकी ! और यह कार्य एकमात्र श्रीधर्मकल्पद्रुमके अध्ययनसे ही सम्भाव्य है।

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें जितनी कठिनाइयाँ उपस्थित हुई हैं, सभी प्रातःस्मरणीया पूज्यपदारविन्दा माता श्रीमतीविद्यादेवीजीकी असीम कृपा से निराकृत हुई हैं। प्रथमखण्ड तो अप्राप्य था। इसकी धर्मप्रेमियोंकीओरसे सबल माँग थी। पूजनीया जीने इसका अनुभव किया और इस पावन ग्रन्थके पुनः प्रकाशनका महत्कार्य सम्पादित किया। आपका तो सारा जीवन ही लोकसंग्रहका प्रतीक है। आप धर्ममयी हैं, धर्मके प्रसार प्रचारकेलिये ही मानो अवतरित हुई हैं। हमलोग ऋषियों और और देवताओंके अवतारको भी मान्यता देते हैं। आप सचमुच ऋषिकाकी अवतार हैं। 'यथा नाम तथा गुणः' की आप प्रतीक हैं। आपके आशीर्वादोंका सम्बल, श्रीभारतधर्म महामंडलके माध्यमसे हम सबको मिल रहा है, यह माँ जगदम्बाकी कृपाका ही सुफल है।

अन्तमें इस महान् प्रकाशनकेलिये ब्रह्ममयी माता गायत्रीका दिव्य आभार स्वीकार करते हुए उन्हींको इसका 'त्वदीयं वस्तुगोविन्द'के अनुसार समर्पण करता हूँ !

विजया दशमी

संं० २०२३ वि०

विदुषां वशंवदः :—

परमहंस मिश्रः (एम. ए. साहित्याचार्यः)



इस ग्रन्थके प्रणेता—

श्रीभारतधर्ममहामंडलके संस्थापक एवं संचालक—

भगवत्पूज्यपाद श्री ११०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

आविर्भाव भाद्रकृष्ण ८
सम्वत् १९०२

तिरोभाव माघकृष्ण ५
सम्वत् २००७

श्रीधर्मकल्पद्रुम (प्रथम खण्ड)

विषय सूची

प्रथम समुल्लास—

———

द्वितीय समुल्लास

———

ॐ तत्सत्

श्रीधर्मकल्पद्रुम

मङ्गलाचरणम्

—०:&:०—

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाऽहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ (ऋग्वेदीयैतरेयोपनिषद्)

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः॥
(महाभारत—भीष्मस्तवराज)

प्रथम समुल्लास

धर्म

धर्म शब्दके धृ धातुसे बननेके कारण इसका व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ "धरतीति धर्मः" अथवा "येनैतद्धार्यते स धर्म्मः" अर्थात् जो धारण करे अथवा जिसके द्वारा यह विश्व (संसार) धृत (रक्षित) हो उसे धर्म कहते हैं ऐसा सिद्ध होता है। धर्मका ऐसा लक्षण वेदमें भी वर्णन किया गया है। यथाः—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति॥ (नारायणोपनिषद्)

धर्म समस्त संसारकी स्थितिका मूल है। संसारमें लोग धर्मात्माका अनुसरण करते हैं। धर्मसे पाप दूर होता है। धर्मके द्वाराही सकल संसार स्थित है। इसलिये धर्म ही परमपदार्थ कहा गया है।

इसी प्रकार भगवान् वेदव्यासने भी कहा है :—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

जिस ऐसी शक्तिके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिक्रिया धृत अर्थात् रक्षित हो रही है उसीका नाम धर्म है।

सृष्टिके समस्त पदार्थोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—एक जड़ और दूसरा चेतन। अतः इन दोनों पदार्थोंको जिस ईश्वरीय शक्तिने धारण कर रखा है उसीको धर्म कहते हैं। भगवान् वेदव्यासने योगपातञ्जलके भाष्यमें और भी वर्णन किया है—

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः ।

धर्मीकी योग्यतायुक्त शक्तिही धर्म है अर्थात् जड़ या चेतन किसी भी पदार्थमें जिस शक्तिके न रहनेसे पदार्थकी सत्ताही नहीं रहती उस शक्तिका नाम धर्म है। जैसाकि अग्निका उष्णत्व, जलका द्रवत्व, चुम्बककी लौहाकर्षण शक्ति, इत्यादि। पाश्चात्य विज्ञानमें इस प्रकारकी शक्तिको प्रॉपर्टी (Property) कहते हैं। इसी विज्ञानको चेतन पदार्थमें भी घटा सकते हैं। यथा—मनुष्यका धर्म मनुष्यत्व, अर्थात् जिस शक्तिके विद्यमान रहनेसे मनुष्य मनुष्यपदवाच्य हो सकता है वही शक्ति उसका धर्म है। इसी प्रकार पशुका धर्म पशुत्व, ब्राह्मणका धर्म ब्राह्मणत्व और शूद्रका धर्म शूद्रत्व इत्यादि। अतः इस विज्ञानसे यह पूर्णतया सिद्ध हुआ कि धर्मकी अलौकिक शक्तिके द्वाराही समस्त विश्व ब्रह्माण्ड सुरक्षित हो रहा है।

प्रकृतिके विशाल राज्यमें धर्मकी लीला देखकर हृदयवान् व्यक्ति चकित होते हैं। इस विराट्के गर्भमें कितनेही कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड सुशोभित हैं जिनकी संख्या करना असम्भव है। महानारायणोपनिषद्में वर्णित है :—

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि ज्वलन्ति । इत्यादि ।

इस ब्रह्माण्डके चारों ओर और भी अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड देदीप्यमान हैं। हरेक ब्रह्माण्डमें कितनेही ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु, शशी, सूर्य्य, नक्षत्र अपनी-अपनी कक्षामें घूम रहे हैं। परन्तु धर्मकी ऐसी धारण करनेवाली शक्ति है कि जिसके द्वारा सब ग्रह उपग्रहोंमें आकर्षण-विकर्षण शक्तिके सामञ्जस्य होनेसे कोई भी कक्षाच्युत नहीं होते। जलमय चन्द्रलोक अग्निमय सूर्यलोकमें प्रवेश करके नष्ट नहीं होते। विशाल ग्रहके अधिक आकर्षण से छोटा ग्रह उसके गर्भमें प्रविष्ट होकर नष्ट नहीं होता। यह धर्मकी विश्वधारण करनेवाली शक्तिका ही फल है। यह बात पाश्चात्य विज्ञानसे भी सिद्ध है कि प्रत्येक परमाणुमें आकर्षण और विकर्षण दोनों शक्तियाँ विद्यमान हैं। स्थूल जगतकी सृष्टिके समय आकर्षण शक्तिके आधिक्य होनेसे परमाणु आपसमें मिलकर स्थूल जगत्की उत्पत्ति करते हैं, इसी तरहसे प्रलयके समय विकर्षण शक्तिके

प्राबल्य होनेसे सब परमाणु पृथक्-पृथक् होकर स्थूल जगत्का लय उत्पन्न किया करते हैं; परन्तु स्थितिकी दशामें आकर्षण और विकर्षणका सामञ्जस्य रहा करता है। इस सामञ्जस्यका रखना धर्मकी धारिका शक्तिका ही कार्य है जिससे स्थितिकी दशामें इस वैचित्र्यमय संसारकी मधुर लीला देखनेमें आती है।

चेतन-जगत्में धर्मकी नियामिका शक्ति भी पूर्णतया दृष्टिगोचर हुआ करती है। व्यष्टि-सृष्टिके क्रमके अनुसार जीवभावका विकाश उद्भिज्ज योनिसे प्रारम्भ होकर जीव क्रमशः स्वेदज, अण्डज और जरायुजके अन्तर्गत लाखों योनियोंमें घूमता हुआ मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है। उद्भिज्जयोनिमें अन्नमय कोष, स्वेदजमें प्राणमय कोष, अण्डजमें मनोमय कोष, जरायुजकी पशुयोनियोंमें विज्ञानमय कोष और मनुष्य योनिमें आनन्दमय कोषका विकाश हुआ करता है। अर्थात् उद्भिज्जमें एक, स्वेदजमें दो, अण्डजमें तीन, जरायुज पशुओंमें चार और मनुष्योंमें पाँचों कोषोंका विकाश होकर पूर्णता हुआ करती है। यह सब धर्मकी ही शक्ति है कि जिससे जीव प्रकृति राज्यमें क्रमोन्नत होता हुआ मनुष्ययोनि तक पहुँच जाता है। इसलिये भगवान् वेदव्यासजीने जीवोंकी क्रमोन्नतिको लक्ष्य करके कहा है:—

उन्नतिं निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम्॥

धर्मके द्वाराही समस्त जीव क्रमोन्नति लाभ करते हुए अन्तमें परमपदको प्राप्त करते हैं।

जड़राज्यके समस्त जीव प्रकृतिके अधीन होनेके कारण इनके मध्यमें धर्मका विकाश प्रकृतिकी सहायतासे प्राकृतिक रूपसे हुआ करता है। केवल चेतन राज्यके जीव मनुष्यमें ही कर्म करनेकी स्वतंत्रता और विचारबुद्धिके होनेसे उनमें धर्मका विकाश स्वतन्त्रताके साथ पूर्णरूपसे हो सकता है। अतएव मनुष्यही धर्मसाधनका अधिकारी है। श्रीभगवान् वेदव्यासने महाभारतमें कहा है:—

मानुषेषु महाराज! धर्माऽधर्मौ प्रवर्त्ततः।
न तथाऽन्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह॥
उपभोगैरपि त्यक्तं नाऽऽत्मानं सादयेन्नरः।
चाण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात! शोभनम्॥
इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते!।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः॥

मनुष्योंमें ही धर्म और अधर्मकी प्रवृत्ति ठीक-ठीक हुआ करती है। मनुष्योंसे इतर जीवोंमें इस प्रकार नहीं होती। अत्यन्त दुःखी होने पर भी मनुष्यको अवसाद-ग्रस्त नहीं होना चाहिये; क्योंकि चाण्डाल होने पर भी मनुष्ययोनि और योनियोंसे उत्कृष्ट है। यही प्रथमयोनि है कि जिसको प्राप्त करके मनुष्य शुभकर्म करता हुआ मुक्ति पदको प्राप्त कर सकता है।

उद्भिज्जसे लेकर पशु पर्यन्त जड़राज्यके सकल जीव कोषोंके विकाशके अनुसार प्राकृतिक रूपसे धर्म विकाशको प्राप्त किया करते हैं। एकमात्र अन्नमय कोषके विकाश होनेसे ही उद्भिज्जमें ऐसी शक्ति देखी जाती है कि शाखा मात्रके रोपणसे ही वह शाखा वृक्षरूपमें परिणत हो जाती है, इत्यादि। उद्भिज्जस्थित शक्ति धर्मके किञ्चित् विकाशकी ही सूचक है। स्वेदजमें प्राणमय कोषके विकाशके साथ-साथ जो वहुत प्रकारकी प्राणक्रिया देखनेमें आती है, यथाः—रोगोंके कीटोंसे शरीरमें व्याधि होना अथवा देशमें महामारी फैलना और खूनके सफेद कीटोंके द्वारा व्याधियोंका नाश होना, यह सब स्वेदज योनिमें धर्मके विकाशका ही परिचायक है। अण्डजमें मनोमय कोषके विकाशके साथ-साथ प्रेम, द्वेष आदि वृत्तियोंका विकाश होना भी धर्मशक्तिके विकाशका ही फल है। जरायुजमें विज्ञानमय कोषके विकाशके साथही साथ पशुओंमें धर्मके विकाशसे वहुत प्रकारकी बुद्धि-वृत्तिके लक्षणका प्रकाशित होना तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। हाथी, घोड़ा और सिंह आदि उन्नत पशु बुद्धिके कार्यको अपने-अपने अधिकारके अनुसार बहुत अच्छी तरह करते हुए दिखाई देते हैं। यह सब धर्मके विकाशका ही प्रत्यक्ष लक्षण है। इस तरह प्राकृतिक रूपसे धर्मके विकाशको प्राप्त करता हुआ जीव अन्तमें मनुष्य योनिको प्राप्त करता है।

जड़राज्यके जीव प्रकृतिके पूर्णतया अधीन होनेके कारण प्रकृति माता उनको शिशुवत् गोदमें लालन-पालन करती हुई मनुष्य योनि तक पहुँचा देती है। इसी कारण प्रकृतिका ही पूर्ण प्रातिभाव्य (जिम्मेवरी) होनेके कारण ये जीव पाप-पुण्यके भागी नहीं होते। परन्तु मनुष्य योनिमें आकर अहङ्कारके बढ़ जानेसे मनुष्य स्वतन्त्र होकर कर्म किया करता है और प्रकृतिके अनुशासनका उल्लङ्घन करके यथेच्छ इन्द्रिय-सेवादिमें प्रवृत्त हो जाता है। जड़राज्यमें रहनेके समय प्राकृतिक नियमानुसार आहार, निद्रा भय, मैथुनादि क्रिया नियमितरूपसे हुआ करती थी—वह मनुष्य योनिमें प्रकृति पर आधिपत्य लाभ करने के हेतु अनियमित होजाती है, इसीका ही यह फल है कि जीवकी जो क्रमोन्नतिकी धारा उद्भिज्ज योनिसे मनुष्य योनिके पूर्व तक वनी हुई थी वह यहाँ बाधा प्राप्त होकर पुनः नीचेकी ओर जाने लगती है। यह धर्मकी ही शक्ति है कि जिसके द्वारा मनुष्यकी यह अधोमुखिनी गति रुककर ऊर्द्ध्वमुखिनी हो जाती है। धर्मही मनुष्यको वर्ण और आश्रमकी विधियोंसे क्रमशः उन्नत करता हुआ अन्तमें मुक्तिपदको प्राप्त कराता है। अतः प्रकृति प्रवाहके अनुकूल चलकर क्रमशः उन्नतिको प्राप्त करते हुए अन्तमें मुक्ति लाभ करनाही धर्म है और प्रकृतिके प्रतिकूल चलकर अवनतिको प्राप्त करना अधर्म है। इसीलिये महर्षि कणादने वैशेषिक दर्शनमें लिखा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिसके द्वारा इहलोक और परलोकमें उन्नति और अन्तमें मोक्षप्राप्ति हो उसको धर्म कहते हैं।

सर्वव्यापक, सर्वजीवहितकारी श्रीभगवान्‌के सदृश धर्म भी सर्वव्यापक और सर्वजीवहितकारी है। वैदिकधर्म, हिन्दूधर्म, आर्यधर्म, सनातनधर्म आदि जो नाम इसके आजकल लिये जाते हैं वे अस्वाभाविक हैं। आजकल केवल अन्य उपधर्मोंसे इसकी विशेषता दिखानेके लिये इन नामोंकी कल्पना की गई है। अतः शास्त्रोंमें केवल "धर्म" शब्दही व्यवहृत होता है।

धर्मके लक्षणका वर्णन करते हुए शास्त्रोंमें कहा है—

वेदप्रणिहितं कर्म धर्मस्तन्मङ्गलं परम्।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः स गुणोऽधर्म उच्यते॥
प्राप्नुवन्ति यतः स्वर्गमोक्षौ धर्मपरायणे!।
मानवा मुनिभिर्नूनं स धर्म इति कथ्यते॥
सत्त्ववृद्धिकरो योऽत्र पुरुषार्थोऽस्ति केवलः।
धर्मशीले! तमेवाहुर्धर्मं केचिन्महर्षयः॥
या बिभर्ति जगत्सर्वमीश्वरेच्छा ह्यलौकिकी।
सैव धर्मो हि सुभगे! नेह कश्चन संशयः॥

जो परम मङ्गलकर धर्म वेदविहित है वह धर्म और वेदमें जिसका निषेध किया है वह अधर्म कहलाता है।

जिस कर्मके द्वारा मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त होते हैं, पूज्यपाद महर्षियोंने उसको धर्म कहा है।

जो पुरुषार्थ सत्त्वगुणको वढ़ानेवाला हो, कोई महर्षि उसको धर्म कहते हैं।

जो अलौकिकी ईश्वरेच्छारूपिणी महाशक्ति इस जगत्‌को धारण करती है वही धर्म है।

इन सब वचनोंका तात्पर्य यह है कि जिन शारीरिक, वाचनिक और मानसिक कर्मोंके द्वारा सत्त्वगुणकी वृद्धि हो उनको धर्म कहते हैं और जिनके द्वारा तमोगुण की वृद्धि हो उन्हें अधर्म कहते हैं।

मनुष्य धर्म-साधन द्वारा क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि करता हुआ प्रथम दशामें ऐहलौकिक उन्नति और स्वर्गप्राप्तिरूपी अभ्युदयको प्राप्त होता है और अन्तमें निःश्रेयस-पदरूपी मुक्ति उसको प्राप्त होती है। धर्म दो प्रकारका है। यथा—सामान्यधर्म और विशेषधर्म। सामान्यधर्म क्या है यह ऊपरके लक्षणोंसे भली-भाँति समझा जायगा। विशेषधर्म अलग-अलग हैं। सामान्यधर्म सबके लिये हितकारी है, परन्तु विशेषधर्म वैसा नहीं हो सकता। यथा—स्त्रीधर्म और पुरुषधर्ममें भेद होगा, संन्यासी और गृहस्थके धर्ममें भेद होगा और आर्य धर्म तथा अनार्य धर्ममें भी भेद होगा।

सनातनधर्म सर्वव्यापक और सर्वजीवहितकर है, उससे ही अगणित सम्प्रदाय, मत और पन्थ निकले हैं और पृथिवीभरमें जितने अनार्यधर्म हैं वे भी सनातनधर्मकी छायासे ही बने हुए हैं।

केवल आर्यधर्म और अनार्यधर्ममें भेद इतनाही है कि जो वेदप्रामाण्य, सब विषयमें अध्यात्म लक्ष्य, सदाचार, सतीत्वधर्म और वर्णाश्रमधर्मयुक्त हो वही आर्यधर्म और इनसे जो रहित हो वही अनार्यधर्म है और इसी तरहसे जो जाति वेद, सदाचार और वर्णाश्रमधर्म आदिको मानती है वही आर्यजाति और जो इनको नहीं मानती है वह अनार्यजाति कहाती है, ऐसा लक्षण हमारे शास्त्रोंमें पाया जाता है।

धर्मके प्रधान तीन अंग हैं—दान, तप और यज्ञ। गीतामें श्रीभगवान्ने आज्ञा दी है कि "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्"।

दानधर्म

दानधर्मके तीन भेद हैं—

(१) अभयदान (जिसमें दीक्षादान भी सम्मिलित है)।

(२) विद्यादान।

(३) अर्थदान (जिसमें धन, अन्न, भूमि आदि सब सम्मिलित हैं)।

दान के इन तीनों अङ्गोंके सत्त्व, रज और तम गुणोंके भेदसे तीन-तीन भेद और हैं। इस प्रकारसे दानधर्मके नौ भेद हुए।

तपधर्म

शारीरिक, वाचनिक और मानसिक शक्तियोंको रोककर द्वन्द्वसहिष्णु होनेको तप कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—

(१) शारीरिक तप।

(२) वाचनिक तप।

(३) मानसिक तप।

तपके इन तीनों अङ्गोंके सत्त्व, रज और तमोगुणके अनुसार तीन-तीन भेद हैं। इस प्रकार तपके नौ भेद हुए।

यज्ञधर्म

यज्ञधर्मके बहुत अङ्ग हैं। यज्ञधर्मका दूसरा नाम याग है। इसके मुख्य भेद तीन हैं—

(१) कर्मयज्ञ।

(२) उपासनायज्ञ।

(३) ज्ञानयज्ञ।

इन तीनों अङ्गोंमेंसे प्रत्येकके भेद निम्नलिखित हैं।

कर्मयज्ञ

कर्मयज्ञके प्रधानतः छः भेद हैं।

(१) नित्यकर्म—यथा, सन्ध्यावन्दनादि।

(२) नैमित्तिककर्म—यथा, तीर्थयात्रादि।

(३) काम्यकर्म—यथा, पुत्रेष्टियज्ञादि ।
(४) आध्यात्मिककर्म—यथा, देशोपकारकर्मादि ।
(५) अधिदैवकर्म—यथा, वास्तुयागादि ।
(६) अधिभूतकर्म—यथा, ब्राह्मणभोजनादि ।

कर्मके इन छहों अङ्गोंके सत्त्व, रज और तमोगुणके अनुसार तीन-तीन भेद और हैं । इस प्रकार कर्मके अठारह भेद हुए ।

उपासनायज्ञ

उपासनायज्ञके अनेक भेद हैं । यह अङ्ग बहुत विस्तृत है । इसके मुख्यतः निम्नलिखित भेद हैं । उपासना-पद्धतिके अनुसार पाँच भेद हैं :—

(१) ब्रह्मोपासना ।
(२) सगुणोपासना (पञ्चोपासना)
(३) लीलाविग्रहोपासना (अवतारोपासना)
(४) ऋषि, देवता और पितृगणकी उपासना ।
(५) क्षुद्र देवता और प्रेतादिकी उपासना ।

साधनपद्धतिके अनुसार चार भेद हैं :—

(१) मन्त्रयोगविधि (इसका स्थूल मूर्त्तिमय ध्यान है)
(२) हठयोगविधि (इसका ज्योतिर्ध्यान है)
(३) लययोगविधि (इसका बिन्दुध्यान है)
(४) राजयोगविधि (इसका ब्रह्मध्यान है)

इन उपासनायज्ञोंके नौ अङ्गोंके सत्त्व, रज और तमोगुणके अनुसार तीन-तीन भेद हैं । इस प्रकार उपासनायज्ञके सत्ताईस भेद हुए ।

ज्ञानयज्ञ

ज्ञानयज्ञके प्रधानतः निम्नलिखित तीन अङ्ग हैं :—

(१) श्रवण (शास्त्रद्वारा व गुरुमुखसे)
(२) मनन (ज्ञानभावका)
(३) निदिध्यासन (ज्ञानभावमें)

ज्ञानयज्ञके इन तीनों अङ्गोंके सत्त्व, रज और तमगुणके अनुसार तीन-तीन भेद होते हैं । इस प्रकार ज्ञानयज्ञके नौ भेद हुए ।

ऊपर लिखित हिसाबसे धर्मके प्रधानतः चौबीस अङ्ग हुए । यथा :— दानके ३, तपके ३, कर्मके ६, उपासनाके ९, तथा ज्ञानके ३, इन सबके त्रिगुणभेदसे ७२ भेद होते हैं ।

ऊपर लिखित धर्माङ्गोंमें से कोई भी धर्माङ्ग जब व्यष्टिजीवकी आत्मोन्नतिके लिये किया जाता है तब वह यज्ञ कहा जाता है और जब समष्टि जीवोंके कल्याणार्थ किया जाय तब वह महायज्ञ कहा जाता है । जैसे अपने कल्याण की बुद्धिसे दान,

तप और उपासनादिका जो अनुष्ठान किया जाय उसको यज्ञ और सकल प्राणियोंके कल्याणार्थ जो दान, तप और ज्ञानयज्ञादिका अनुष्ठान किया जाय उसको महायज्ञ कहते हैं।

सनातनधर्मके इन अङ्गोंमें से किसी अङ्गका भी पूर्णरूपसे सात्त्विक रीतिसे साधन करनेसे मुक्तिपद तक पहुँचना होता है। अग्निका एक स्फुलिंग भी पूर्णरीतिसे दाहकार्य करनेमें समर्थ है। इसी कारण अहिंसा और ज्ञानयोग आदिके ही अवलम्बनसे बौद्धधर्म जगत्में मान्य होगया है। वर्त्तमान यूरोप और अमेरिका केवल सत्यप्रियता, स्वार्थत्याग, गुणपूजा, ज्ञानार्जनस्पृहा और नियमपालन आदि थोड़ी ही धर्मवृत्तियोंके साधन से आजदिन जगत्में प्रतिष्ठित होरहा है। जापानमें इन सब गुणोंके अतिरिक्त वृद्धसेवा, पितृपूजा, राजभक्ति, धैर्य और क्षात्रधर्म आदि कतिपय धर्मवृत्तियोंकी और भी अधिक उन्नति हो जानेसे वह क्षुद्रदेश यूरोप और अमेरिकाके दाम्भिक अधिवासियोंके द्वारा भी सम्मानित हो रहा है। जिन-जिन वृत्तियों का नाम लिया गया, सनातनधर्मके अङ्गोंके साथ मिलानेपर यही प्रतीत होगा कि वे उक्त अङ्गोंके उपाङ्ग ही हैं। धर्मके अङ्गसमूहका सम्बन्ध मिलानेपर इस प्रकार समझा जायगा। यथा—सत्यप्रियता मानसिक तपका उपाङ्ग और स्वार्थत्याग अवस्था भेदसे तप व दानका उपाङ्ग हुआ करता है। पुनः वही स्वार्थत्याग यदि स्वदेश और स्वजातिसे समष्टिसम्बन्धयुक्त हो तो वह महायज्ञके उपाङ्गमें समझा जायगा। इस प्रकारसे पितृपूजा उपासनायज्ञका उपाङ्ग और क्षात्रधर्म कर्मयज्ञका उपाङ्ग है, इसी तरहसे एक धर्माङ्गके बहु उपाङ्ग हो सकते हैं। पुनः एक धर्मवृत्ति अवस्थाभेदसे विभिन्न धर्माङ्गोका उपाङ्ग हो सकती है; यथा—स्वार्थत्याग मानसिक-वृत्तिसे सम्बन्ध रखनेपर तपका उपाङ्ग होगा और वही जब दानादिके द्वारा प्रकाशित होगा तो दानधर्मका उपाङ्ग होगा। सनातनधर्मके अङ्गों और उपाङ्गोंके विस्तारपर जब विज्ञानवित् पुरुषगण ध्यान देते हैं, तो उनको प्रमाणित होता है कि सनातनधर्मके किसी न किसी अङ्गोपाङ्गकी सहायतासे पृथिवी भरके सब धर्मसम्प्रदायोंको धर्मसाधनों की सहायता प्राप्त हुई है। धृति, क्षमा, दान, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि धर्मवृत्तियाँ सब जाति, सब धर्म और सब समाजके मनुष्योंको समानरूपसे धर्माधिकार प्रदान किया करती हैं। विशेषतः सनातनधर्मके पितृभाव पर तो किसी चिन्ताशील पुरुषको कुछ सन्देह ही नहीं हो सकता।

आज दिन इस विस्तृत पृथ्वीपर बौद्धधर्म, जैनधर्म, ईसाईधर्म, मुसल्मानधर्म, यहूदीधर्म, पारसीधर्म आदि नानाधर्मोंके प्रचारके साथ नाना धर्मनाम सुनाई देते हैं। परन्तु अपने वैदिक धर्मका केवल "धर्म" नामसे और अधिक कोई नाम नहीं है। यदि अब वर्तमान कालके प्रभावसे इसके हिन्दूधर्म, सनातनधर्म, आर्यधर्म और वैदिकधर्म आदि नाना नूतन कल्पित नाम सुनाई देते हैं, परन्तु अपने धर्मके प्रधान आश्रय वेद, वेदसम्मत उपवेद, दर्शन, स्मृति, पुराण, इतिहास और तन्त्र आदि किसीमें कहीं भी "धर्म"के सिवाय कोई स्वतन्त्र नाम नहीं दिखाई देता है। सर्वव्यापक ईश्वरकी नाई सार्वभौमदृष्टि, उदारता और शान्तिगुणसे युक्त इस धर्मके

लिये केवल 'धर्म' शब्द ही उपयोगी है। पृथ्वीपर और जितने धर्म प्रचलित हैं, उन धर्मोंके प्रवर्तक महाशयोंने अपने-अपने धर्म-मार्गको थोड़ेसे नियमोंके अधीन कर दिया है और यह भी स्थिर कर गये हैं कि उनके उन-उन धर्ममार्गोंके सिवाय पृथ्वी-पर जीवोंके उद्धारार्थ और कोई पथ ही नहीं है। यदि जीवोंकी मुक्ति होगी तो उन्हींके नियमित धर्मद्वारा होगी। जब इन नवीन धर्माचार्योंने अपने-अपने धर्म-मार्गको विशेष-विशेष नियमोंके अधीन कर दिया है तो उस विशेषताके प्रतिपादनार्थ विशेष-विशेष नामकरण भी अवश्य होना उचित है। परन्तु अपने सनातन-धर्मका रूप इस भाँति सङ्कुचित अथवा उसकी दृष्टि इस प्रकार एकदेशदर्शिनी नहीं है। पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने जब धर्मनिर्णय किया है तो 'धर्म' शब्दका यही अर्थ किया है कि इस सृष्टिक्रियाको जिस ईश्वरीय नियमने धारण कर रक्खा है उसीको 'धर्म' कहते हैं। अर्थात् सृष्टि, स्थिति और लयरूप इस संसारका जो सर्वव्यापक नियम है कि तृणसे लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त जो कुछ पदार्थ इस ब्रह्माण्डमें हैं वे सबही प्रथममें उत्पत्ति, मध्यमें स्थिति और अन्तमें लयके अधीन हैं, इसी सृष्टि, स्थिति और लयके क्रमको जिस नियमने धारण कर रक्खा है उसीको धर्म कहते हैं। विचारनेसे यही सिद्ध होगा कि जीव भी इस नियमसे बाहर नहीं हैं, अर्थात् जीवकी उत्पत्ति स्थिति और लय वा मोक्ष त्रिगुण भेदसे समझे जा सकते हैं। जैसा कि पहले लिखा गया है कि 'धर्मका' व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'धारण कर्ता' और निरुक्तगत अर्थ 'धारण करने योग्य नियम' होनेके कारण 'धर्म' शब्दसे 'धारण करने योग्य नियम' यही भावार्थ निकलता है और वही धर्म शब्दका भावार्थ जीव-क्रमोन्नतिके सिद्धान्त पर लगानेसे जीवश्रेष्ठ मनुष्यके यावन्मात्र कर्म उस धर्मशब्दवाच्य अधि-कारके अधीन समझे जा सकते हैं। जिस प्रकार सृष्टिके यावन्मात्र पदार्थ धर्मके अधीन हैं उसी प्रकार मनुष्य भी धर्माधीन हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

इस ब्राह्माण्डमें दो प्रकारकी क्रियाएँ देखनेमें आती हैं, यथा एक जड़क्रिया और दूसरी चेतनक्रिया। अर्थात् इन दोनों क्रियाओंके अतिरिक्त और कोई तीसरी क्रिया इस संसारमें दृष्टिगोचर नहीं होती। चेतनक्रिया विद्या अर्थात् ईश्वरका राज्य और जड़क्रिया अविद्या अर्थात् ईश्वर-विमुख अधिकार है। जड़-राज्यका सम्पूर्ण अधिकार, प्रस्तर आदि स्थावर पदार्थोंसे लेकर मनुष्यके अतिरिक्त सब जीवोंतक है, क्योंकि मनुष्यके सिवाय और सब जीव प्रकृतिके अधीन होकर चलते हैं। यहाँ तककि उन सबके अन्तःकरण पर जड़भावरूपी उनकी प्रकृतिका पूर्णरूपसे आधिपत्य रहा करता है, इसी कारण अन्य निकृष्ट जीव अपनी प्रकृतिके प्रतिकूल बुद्धि द्वारा कोई नूतन कार्य नहीं कर सकते। परन्तु मनुष्ययोनिका अधिकार चेतनराज्य तक पहुँच जाता है, उन्नत मनुष्य ही केवल चेतनराज्यमें भ्रमण करनेके योग्य हैं। इसी कारण मनुष्य अपनी बुद्धिपर आधिपत्य स्थापन कर सकता है और बुद्धिकी सहायतासे यथाशक्ति नूतन कार्य करनेमें समर्थ हो सकता है। परन्तु जिस प्रकार इस उन्नत अधिकारकी प्राप्तिसे मनुष्य उन्नततर हो सकता है उसी प्रकार अवनत भी हो सकता है। मनुष्यमें उन्नत ज्ञान रहनेहीके कारण तो वह अपने पुरुषार्थ

द्वारा उन्नतिको प्राप्त करके ईश्वर साक्षात्कार कर मुक्त हो सकता है और चाहे तो अवनति प्राप्त करता हुआ पुनः जड़राज्यमें उतर जा सकता है। मनुष्यको चेतन-राज्यका अधिकार दिया गया है; इस कारण इसके प्रातिभाव्य (जिम्मेवरी) भी इतने रक्खे गये हैं। चौरासी लक्ष योनियोंमें एकमात्र मनुष्यके सिवाय और सब जीवोंमें तमका अंश अधिक होनेके कारण वे धर्मविचारके अधिकारी नहीं हैं; उन सब योनियोंमें सृष्टिक्रियाके इस अविरोधी नियमके अधीन होकर जीव क्रमशः उन्नत योनियोंको प्राप्त करता हुआ अन्तमें इस मनुष्ययोनिमें आकर धर्म-विचारका अधिकारी बन जाता है और इसी योनिमें आकर जीव लय अर्थात् मुक्ति पदके निकट पहुँच जाता है। जैसे मनुष्य जब किसी प्रबल तरङ्गिणी नदीमें डूब जाता है तब एक बार तो वह स्रोतस्वती सरिता उस मनुष्यको अपने जलके ऊपर करही देती है। उस समय यदि वह मनुष्य कुछ पुरुषार्थ कर, तरङ्गोंको अधीन कर, नदीतट तक पहुँच जाता है तो इस विपत्तिसागरसे बच ही जाता है और यदि वह बुद्धिहीन हो घबड़ा जाय तो पुनः डूबने पर उसका बचना कठिन हो जाता है। वैसेही जीवोंपर कृपावश हो प्रकृति माता जीवको एक बार मनुष्य योनितक पहुँचाकर धर्मका अधिकारी तो करही देती है; अब पुरुषार्थ कर धर्मके अधीन होकर मुक्त होना मनुष्यके हाथ है। इस प्रकारसे शास्त्रकर्ताओंने सिद्ध किया है कि जिन कर्मोंके साधनद्वारा मनुष्य बेखटके उन्नत होते हुए मुक्त हो जायँ उन्हीं कर्मोंका नाम धर्म और जिन कर्मोंकेद्वारा मनुष्य बीचमें अटक जायँ अथवा बंधनकी अधिकता प्राप्तकर नीचेको उतर जायँ उन्हीं कर्मोंका नाम अधर्म है। सत्त्वगुणकी वृद्धि द्वारा मनुष्यका मुक्ति-मार्ग क्रमशः सरल हो जाता है, इस कारण सत्त्वगुणवर्द्धक कर्मही धर्म, और तमोगुणद्वारा मनुष्य अधिक बन्धन प्राप्त करता है, इस कारण तमोगुणवर्द्धक कर्म ही अधर्म हैं। अपने शास्त्रोंके विचारसे मनुष्य जितने कर्म किया करते हैं वे सबही धर्म और अधर्मके अन्तर्गत हैं, इसी कारण आर्यधर्मशास्त्रोंमें मनुष्योंके खाने, पीने, सोने, जागने, उठने, बैठने, चलने, फिरने, देखने, सुनने आदि सब कर्मोंके साथ धर्माधर्मका सम्बन्ध सिद्ध किया गया है। पृथ्वीके और सब धर्मावलम्बियोंने अपने-अपने धर्मको थोड़ेसे नियमोंके अधीन कर रक्खा है अर्थात् उस धर्मकी स्थिर की हुई नियमावलीसे ही उनका धर्म निर्णित होता है और उन नियमोंके अतिरिक्त और सब उत्तम बातोंसे उनके धर्मका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; परन्तु अपने वैदिक धर्ममें वैसा नहीं है; क्योंकि अपने धर्मविज्ञानके अनुसार पृथ्वीके यावन्मात्र पदार्थ एवं जीवोंके यावन्मात्र कर्म कोई भी धर्माधर्मसे अतीत नहीं हो सकते। अस्तु, मनुष्यके ऐहलौकिक अभ्युदय, ऐश्वर्य और सुखादिकोंकी उन्नति और पारलौकिक स्वर्गादिकी प्राप्ति सभी धर्मसाधनके अन्तर्गत है। वस्तुतः मोक्षपदप्राप्ति तो अन्तिम लक्ष्य ही है। इसी कारण अपने धर्मकी दृष्टि इतनी महान् और उदार है कि वह और धर्मोंकी निन्दा कर नहीं सकता। चाहे क्षुद्रबुद्धिसे कोई भी अन्य धर्मावलम्बी उसकी निन्दा करें, परन्तु पिता जिस प्रकार बालककी गालियोंसे सन्तुष्ट ही रहता है, उसी प्रकार वैदिक-सनातनधर्म अन्यान्य धर्मावलम्बियोंकी कटु उक्तियों पर कुछ भी ध्यान न देकर सबकी भलाई ही करता रहता है। धर्म-निर्णय करते समय एवं धर्मशब्दका वैज्ञानिक अर्थ विचारते समय

धार्मिकमात्रको ही धर्मकी इस मूलभित्ति पर स्थिर रहना उचित है। सभी धर्मप्रचारकगण धर्मनिर्णय करते समय यदि इस वेदोक्त धर्मसिद्धान्तको न भूलें तो वे कदापि विचलित, क्लेशित अथवा अवनत नहीं होंगे, अपरंच सदा उन्नत होते हुए अपना और पृथिवीके सब धर्मावलम्बियोंका कल्याण-साधन कर सकेंगे। जहाँ नाम है, वहीं अहङ्कार है; जहाँ विशेष संज्ञारूप नाम है, वहीं भावविशेषता है; जहाँ संज्ञा-भेद है, वहीं छुटाई-बड़ाई है; जहाँ नाम है, वहीं सार्वभौम दृष्टिका अभाव है; इस कारण अपना आर्यसनातनधर्म केवल 'धर्म' नामसे ही अभिहित होने योग्य है। चाहे संज्ञा रखनेके लिये इस धर्ममार्गका सनातनधर्म, हिन्दूधर्म, वैदिकधर्म आदि कुछ भी नाम रख लिया जाय, परन्तु इस सर्वव्यापक, समदर्शी, अनादि, अनन्त, महान् और सर्वजीवहितकारी, अपौरुषेय धर्ममार्गका नाम केवल 'धर्म' ही हो सकता है, इस विचारमें सन्देह नहीं है।

शास्त्रोंमें लिखा है कि सत्ययुगमें धर्म चतुष्पाद होगा, त्रेतायुगमें धर्म त्रिपादही रह जायगा, पुनः द्वापरयुगमें धर्मकी न्यूनता होनेके कारण धर्म द्विपाद ही रहेगा और कलियुगमें काल-माहात्म्यके कारण धर्म इतना घट जायगा कि केवल उसका एक मात्र पाद रह जायगा। महाभारतके घोरयुद्धके पीछे अर्थात् प्रायः पाँच सहस्र वर्षसे अधिक हुए तबसे कलियुग प्रकट हुआ है। यह धर्मके एकपाद रहनेका ही कारण है कि धर्मकी आदि भूमि-भारत भूमि—में इस पाँच सहस्र वर्षके भीतर ही अनन्त धर्मविप्लव हो गये और हो रहे हैं; भारत—श्मशानकारी महाभारत—का महायुद्ध, तदनन्तर नाना राजविप्लव, बौद्धविप्लव, यवनविप्लव आदि नाना सङ्कटोंसे मनुष्योंकी बुद्धिमें फेर पड़ गया है और उसीके कारण भारतवर्षमें नाना मतमतान्तर प्रकट हुए और उन मतमतान्तरों की सहायतासे समस्त पृथिवीमें और भी नये-नये धर्म-सम्प्रदाय प्रकट हो गये हैं। जब धर्मके चार पाद थे तब मनुष्य धर्मके यथार्थ-रूप मुक्तिको ही प्रधानलक्ष्य कर धर्म-साधन करते रहे। शनैः शनैः धर्मके पाद घटते-घटते जब एकही पाद रह गया, तब जीवोंकी बुद्धिकी मलिनताके कारण उन्होंने धर्मके आध्यात्मिक अर्थात् अन्तर्लक्ष्यको छोड़ बहिर्लक्ष्यमें फँस, अपने-अपने सम्प्रदायकी वृद्धि करनेके लिये ही नाना धर्म-मतोंकी सृष्टि की। यह धर्मके एक पाद रहनेका ही कारण है कि जैसे उन्मादरोगग्रस्त मनुष्य अपनी बुद्धि नष्ट होनेसे औरोंको भी उन्मादरोगग्रस्त अर्थात् पागल समझ उन्हें देख देख हँसा करता है वैसेही अपने-अपने सम्प्रदायके पक्षपाती लोग अपने-अपने सम्प्रदायको ही धर्मरूप समझ औरोंको अधर्मका लांछन लगाकर उपेक्षा किया करते हैं। इस वर्तमान कलिकालमें धर्मकी न्यूनता बहुत ही होगई है और उसकी भविष्यद्वाणी भी अपने शास्त्रोंमें बहुत मिलती है, जिसको देख-देख कोई धार्मिक अति निराश हो ऐसा भी विचारने लगे हैं कि जब कालमाहात्म्यसे धर्मका एक पाद रह गया है तो इस युगमें धर्मकी पूर्णता हो ही नहीं सकेगी। सत्ययुगमें धर्मके चार पाद थे और कलियुगमें धर्मका एक ही पाद है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पूर्ण धर्म के अधिकारी सत्ययुग में ही हो सकते थे, अब

नहीं हो सकते ; किन्तु यह आशय है कि जैसे धर्म सत्ययुगमें पूर्णरूपसे वर्तमान था वैसेही पूर्णरूपसे इस कलियुगमें भी वर्तमान है, धर्मके स्वरूपमें कुछ भी भेद नहीं पड़ा, किन्तु सत्ययुगमें धर्म की गम्भीरता थी, अब कलियुगमें उसकी न्यूनता बहुत ही देखनेमें आती है। जैसे एक कूएँमें यदि पाँच सहस्र घट जलकी गम्भीरता हो तो उसमें अनेक मनुष्य डूब सकते हैं, परन्तु वही पाँच सहस्र घट जल उस कूएँसे निकालकर एक बहुत विस्तृत स्थानमें फैला दिया जाय तो उसी पाँच सहस्र घट जलमें एक चींटी भी नहीं डूब सकती। वैसे ही सत्ययुगमें जहाँ-जहाँ धर्म था वहाँ-वहाँ अपनी गम्भीरताके साथही था, परन्तु अब इस तमःपूर्ण कलियुगमें जहाँ तहाँ गम्भीरताका नाश होनेके कारण सकल जीवोंका पूर्णरूपसे कल्याण होना कठिन है। कूएँके जलमें गम्भीरता थी, परन्तु विस्तार नहीं था और भूमिमें फैले उसी जलमें विस्तार बढ़नेसे गम्भीरताका नाश हो गया, किन्तु जलका परिमाण जितना कूएँमें था उतनाही अब भी रहा, केवल गम्भीरता नष्ट होनेके कारण जलकी कार्यशक्तिमें फेर पड़ गया। जो धर्मकी धर्मत्व शक्तिका विकाश सत्ययुगके मनुष्योंमें प्रायः हुआ करता था, वही धर्मकी धर्मत्व शक्ति अब भी है, परन्तु उसका पूर्ण विकाश कहीं-कहीं विरल ही देखनेमें आता है, किन्तु उसका बहुतही विस्तृत रूप जहाँ-तहाँ प्रकट हो रहा है।

जगत्का इतिहास पाठ करनेसे यही सिद्ध होता है कि जितने प्रकारके धर्मप्रचारकोंने धर्मका स्थापन, धर्मका संस्कार और धर्मका प्रचार किया है उन सबोंको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा ज्ञानी, साधक और पण्डित। 'ज्ञानी' धर्मप्रचारक वे कहे जा सकते हैं जिन्होंने अपनी ज्ञानदृष्टि द्वारा धर्मके बहिःसाधनसे लेकर अन्तर्लक्ष्य तकको देख लिया हो और जिन्होंने सभी समयमें धर्मके सार्वभौम भावका ही प्रचार किया हो। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र, भगवान् वेदव्यास और पूज्यपाद आर्य महर्षियोंको इस प्रकारके सर्वदर्शी ज्ञानी—धर्मप्रचारक—श्रेणीभुक्त कर सकते हैं। ज्ञानी धर्मप्रचारकोंमें इतनी विशेषता है कि उनमें ज्ञानका पूर्ण विकाश होनेके कारण उनके उपदेश सब सम्प्रदाय और सब धर्ममार्गोंके हितकारी हैं और उनके पालन करनेसे सकल प्रकारके अधिकारीगण ही अपने-अपने अधिकारके अनुसार कल्याण प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे प्रकारके 'साधक' धर्मप्रचारक वे कहे जाते हैं जो कि साधन द्वारा भगवान्के अनन्त भावराज्योंमेंसे किसी न किसी भावराज्यमें विचरण करते हुए अपने-अपने अनुभव किये हुए भावोंके उपदेशद्वारा धर्म-राज्यके एक-एक अंशका उद्धार कर गये हों। वैष्णव, शैव और शाक्त आदि सम्प्रदायोंके आधुनिक आचार्यगण इस साधकश्रेणीभुक्तके धर्मप्रचारक हैं। इन महापुरुषोंके द्वारा समय-समय पर धर्मके विशेष-विशेष अंशोंका भली-भाँति उद्धार हुआ है और उसके साथही बहुत जीवोंका कल्याण भी हुआ है ; पर इस प्रकारके धर्मप्रचारकोंके उपदेशमें इतनी ही न्यूनता दिखाई पड़ती है कि जिससे धर्मके सार्वभौम भावका सङ्कोच होगया है और वह उपदेश केवल एकदेशवादी हो रहा है। तीसरे प्रकारके 'पण्डित' धर्मप्रचारक वे हैं जो कि न तो त्रिकालदर्शी ज्ञानी हैं, न भगवद्भावग्राही साधक हैं, परन्तु केवल विद्याके बलसे शास्त्रकथित धर्मका प्रचार

किया करते हैं। इस प्रकारके पण्डितधर्मप्रचारकोंको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, यथा उत्तम, मध्यम और अधम। जो पण्डितगण केवल तीक्ष्णधारयुक्त कृपाणकी तरह अपनी प्रबल तर्कयुक्ति द्वारा औरोंके धर्ममतोंका खण्डन कर डालते हों, परन्तु जीवोंके उपकारार्थ कोई श्रेष्ठ पथ नहीं बता सकते हों वेही अधम-पण्डितधर्मप्रचारक कहे जा सकते हैं। जो विद्वान् अपनी न्यायपूर्ण युक्तिद्वारा दूसरोंके मतको मिलाकर उनको अपने अधीनमतावलम्बी कर सकते हों, वे मध्यम-पण्डितधर्मप्रचारक हैं और जिन महानुभाव शास्त्रज्ञानियोंकी प्रवृत्ति दूसरेके मत खण्डन करने पर न हो, किन्तु सदा उनकी प्रवृत्ति यही बनी रहे कि सब सम्प्रदाय ही शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यको समझें; क्योंकि शास्त्र सबके ही हितकारी हैं, ऐसे विज्ञगणही उत्तम-पण्डितधर्मप्रचारक हैं। इन तीनोंमेंसे अधम-पण्डितधर्मप्रचारक धर्म-राज्यमेंसे नगरोंको जंगल कर डालते हैं, मध्यम श्रेणीके पण्डित-धर्मप्रचारकगण धर्म-राज्यसे निकृष्ट प्रजाको बाहर कर उत्कृष्ट प्रजाकी वृद्धि करते रहते हैं और उत्ताम-पण्डितधर्मप्रचारक अपनी सर्वहितकारिणी बुद्धिसे धर्म-राज्यकी उत्ताम प्रजाओंको उत्ताम-कर्म और अधम प्रजाओंको अधम कर्म सौंपकर राज्यको शान्तिमय रखनेका उद्योग करते हैं। अधम-पण्डितप्रचारक द्वारा नास्तिकता, अशान्ति और अधार्मिकता फैलनेकी सम्भावना है, मध्यम प्रचारक द्वारा दाम्भिकता और साम्प्रदायिक विरोध बढ़नेका भय है; क्योंकि ये प्रचारकगण प्रायः किसी न किसी साधक प्रचारकके मतावलम्बीही हुआ करते हैं और उत्ताम प्रचारक द्वारा धर्मभूमिमें सुफल फलनेकी बहुत आशा होती है; क्योंकि उनके उपदेश ज्ञानी धर्मप्रचारकगण अर्थात् महर्षियों के मतानुयायी हुआ करते हैं। अधम-पण्डितधर्म-प्रचारकगण अधोगति, मध्यम-पण्डित-धर्मप्रचारकगण स्वर्ग और उत्तम पण्डितधर्मप्रचारकगण मुक्तिके उपदेशक हैं।

ज्ञानीधर्मप्रचारकगणके विषयमें तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि उनमें ज्ञानका पूर्ण विकास होनेके कारण वे त्रिकालदर्शी और सर्वज्ञ हुआ करते हैं। आजकल भी गृहत्यागी, संसारविरागी साधुगणमें कहीं-कहीं इस प्रकारके ऋषिकल्प धर्मप्रचारक दीख पड़ते हैं, जहाँ उनका भ्रमण होता है उस प्रदेशके सब प्रकारके जीवोंको उनसे उपकार ही पहुँचता है। समय-समय पर जैसे साधक धर्मप्रचारकगणने प्रकट होकर जीवोंका कल्याण-साधन किया है वैसे श्रेष्ठ अधिकारी तो सब समय नहीं मिलते, परन्तु फिर भी साधनराज्यमें साधक धर्मप्रचारक कभी-कभी दिखाई दिया करते हैं। ये प्रचारकगण भगवद्राज्यके दर्शक होते हैं और वे जिन भावोंका प्रकाश करते हैं वह ठीक ही करते हैं। उनके उपदेश एकदेशीय तो होते हैं, परन्तु असत्य अथवा भ्रममें डालनेवाले नहीं हो सकते। और तीसरे प्रकारके धर्मप्रचारक पण्डितोंकी बुद्धि योगयुक्त न होनेके कारण सर्वदर्शिनी नहीं होती और साधनयुक्त न होनेके कारण भगवद्भावग्राहिणी भी नहीं होती, केवल शास्त्र ही उनका अवलम्बन है। यद्यपि वे जो कुछ कहते हैं शास्त्रसे ही कहते हैं, परन्तु बुद्धिकी अपूर्णतासे शास्त्रके अर्थज्ञानमें भी फेर पड़ सकता है। बुद्धि त्रिगुणमयी है, जिन पुरुषोंकी बुद्धि सात्त्विकी होती है वे शास्त्रका ठीक अर्थ लगा सकते हैं; परन्तु जिनकी बुद्धि राजसिक हो वे अहङ्कार

आदिके वशीभूत होकर शास्त्रके अर्थको भी अपने मतानुयायी समझ लेते हैं और तामसिक बुद्धिवालोंका तो कहनाही क्या ? क्योंकि उनमें तमोगुणके कारण भ्रम होनेकी सब समय ही सम्भावना रहती है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है :—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकि ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यञ्चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

(श्रीगीतोपनिषद्)

जिस बुद्धि द्वारा प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, और बन्ध-मोक्षका ज्ञान हो उसको सात्त्विकी बुद्धि कहते हैं। जिसके द्वारा धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यका ज्ञान यथावत् न हो उसको राजसी बुद्धि कहते हैं और तमगुणसे आवृत होकर जो बुद्धि अधर्म को धर्म और सब बातोंका विपरीत ज्ञान करावे वही तामसी है।

दैवकृपासे पण्डित-धर्मप्रचारककी बुद्धि सात्त्विकी हुई तो शास्त्रोंके अर्थका ठीक पता लगकर जिज्ञासुओंके हृदय में शान्ति पहुँच सकती है, यदि उनमें राजसिक भाव हुआ तो उनके उपदेशोंसे साम्प्रदायिक विरोध बढ़ने लगता है और यदि उनमें तमोगुण अधिक रहा तो उनके उपदेशोंसे प्रमाद, नास्तिकता आदि बढ़ जायगी। इस कारण पण्डित-प्रचारकगणको उचित होगा कि वे प्रथम अपनी बुद्धिको शुद्धकर सत्त्वगुणी कर लें और पीछे धर्मप्रचार आरम्भ करें। सत्त्वगुणका लक्षण प्रकाश और ज्ञान, रजोगुणका लक्षण अहङ्कार और कर्ममें उत्साह तथा तमोगुणका लक्षण प्रमाद और अज्ञान है। तमोगुण स्वतःही रजोगुणसे दब जाता है और रजोगुण स्वतःही सत्त्वगुणके अधीन हो जाता है। इस कारण सत्त्वगुण ही प्रधान है और इससे सत्त्वगुणावलम्बी पण्डित ही धर्मप्रचार करनेके यथार्थ अधिकारी हो सकते हैं।

कोई-कोई स्वदेशहितैषी विचारकगण ऐसा विचार करने लगते हैं कि जब भारतवर्षमें नाना सम्प्रदाय हैं तो उन सबके लिये एकही प्रकारका धर्मोपदेशक कैसे सम्भव हो सकता है ? स्थिर बुद्धिद्वारा विचारनेसे यही सिद्धान्त निकलेगा कि चाहे अनन्त धर्मसम्प्रदायोंके बहिर्लक्षण अनन्त हों, चाहे एक सम्प्रदायके आचारसे दूसरे सम्प्रदायके आचार न मिलते हों, परन्तु धर्मकी गति उन सम्प्रदायोंमें एकही प्रकारकी होगी; अर्थात् बहिरङ्गसाधन चाहे उन सबमें अलग-अलग हों, परन्तु अन्तःकरणकी धर्मवृत्तियोंको सभी सम्प्रदाय एकमत होकर ग्रहण कर सकेंगे। महाराजा युधिष्ठिरकी सत्यप्रियता और सहिष्णुता, देवव्रतकी दृढ़प्रतिज्ञता, लक्ष्मणका भ्रातृभाव और जितेन्द्रियता, सावित्री और सीताका सतीत्व, महर्षि वसिष्ठकी शान्ति और क्षमा, भीष्म पितामहका त्याग, शुकदेवजीका वैराग्य और देवर्षि नारदकी भगवद्भक्ति किस

सम्प्रदायको प्रिय नहीं होगी ? और इस प्रकारकी श्रेष्ठ वृत्तियोंके धारण करनेसे किस सम्प्रदायके साधकगण उन्नत नहीं हो सकते ? अपने देशके धर्मसम्प्रदायोंकी तो कथाही नहीं, समस्त पृथिवीपर जितने धर्मसम्प्रदाय उपस्थित हैं वे सबही उस प्रकारकी आन्तरिक वृत्तिकी उन्नतिकी प्रशंसा किये विना नहीं रह सकते। यदि धर्मप्रचारकगण सार्वभौम दृष्टि रखकर जीवोंको उद्धारका पथ बताते रहें तो कदापि किसी सम्प्रदायको क्लेश और किसी अधिकारीको हानि पहुँचनेकी सम्भावना नहीं है। सार्वभौम भित्तिपर स्थित रहकर और ऊपरसे लेकर नीचे तक सकल स्थानोंमें समदृष्टि रखकर यदि धर्मप्रचारकगण धर्मप्रचारमें प्रवृत्त हों तो वे कदापि विफलकाम नहीं होंगे और उनसे किसीको भी हानि नहीं पहुँचेगी। धर्म ईश्वरराज्यका पदार्थ है, इस कारण ईश्वरराज्यके पदार्थसे कदापि किसीको हानि नहीं हो सकती। प्रत्येक साम्प्रदायिक धर्ममें जो कुछ सार्वभौम धर्मका भाव है वह अंश जिसप्रकार सभी सम्प्रदायोंको उपयोगी हुआ करता है उसी प्रकार सार्वभौमरूप सर्वोत्तम भित्तिपर स्थित होकर यदि धर्मप्रचारकगण धर्मका प्रचार करें तो वह धर्मप्रचार सर्वजीव-कल्याणकारी होगा। त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षिगण इसी उन्नत भित्तिपर स्थित होकर सदा धर्मप्रचार किया करते थे, इस कारण उनके उपदेशोंमें ज्ञानभूमिके तारतम्यसे अधिकारविरोध रहनेपर भी उनके उपदेशसमूह सर्वजीवहितकारी हैं।

धर्मप्रचार करनेका अधिकारी वही हो सकता है जो कि पूर्वकथित सृष्टिसम्बन्धीय धर्मविज्ञानको पूर्णरूपसे जानता हो। श्रीगुरुदेव ही यथार्थमें धर्मप्रचारक शब्दवाच्य हो सकते हैं। शास्त्रोंमें कहा है कि त्रिकालदर्शी, सर्वशास्त्रवेत्ता, धर्मज्ञ, पूर्णसत्त्व-गुणावलम्बी पुरुषही गुरुशब्दवाच्य हो सकते हैं और ऐसे पुरुषोंकी सहायता लेनेसे ही जीवगण कल्याणपदको प्राप्त कर सकते हैं। सत् अर्थात् ब्रह्म और असत् अर्थात् मायाराज्य यह संसार है, इन दोनोंको विशेषरूपसे जानकर जो पुरुषश्रेष्ठ सदा सत्पथमें स्थित रहते हों, वे ही उपदेष्टा अर्थात् गुरु होने योग्य हैं। ज्ञानिश्रेष्ठ महर्षि वेदव्यास, महर्षि कपिल, महर्षि याज्ञवल्क्य, महर्षि पतञ्जलि, महर्षि गौतम आदि महात्माओंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें यही प्रकाश किया है कि प्रज्ञा अर्थात् ज्ञानके तीन भेद कर सकते हैं। यथा—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम प्रज्ञा विदेह लय अवस्थामें अर्थात् मुक्त पुरुषको शरीरत्याग करते समय प्राप्त हुआ करती है, उत्तम प्रज्ञाके बलसे ही जीव शरीरत्याग करते समय आकाशपतित वारि-विन्दुकी तरह ब्रह्मरूप सागरमें मिलकर मुक्तिपदको प्राप्त कर लेते हैं, इस कारण इस स्थानपर उत्तम विवेकका वर्णन करना अनुचित है। और अधम प्रज्ञा वह कहाती है जब कि मनुष्य ज्ञानभूमिमें पहुँचकर उन्नत तो हो गया अर्थात् बुद्धिकी उन्नति तो उसमें होने लगी हो, परन्तु बुद्धि अभी निर्मल न होनेके कारण अन्तःकरणमें सन्देहकी स्थिति रहती हो। यह अवस्था यद्यपि मनुष्योंके लिये उन्नत है, परन्तु संशयकी स्थिति रहनेके कारण गुरुपदवाच्य नहीं हो सकती ; अर्थात् जबतक किसी पुरुषके चित्तमें संशय शेष रह जाता है तबतक वह पण्डित होनेपर भी जीवगणका धर्मोपदेष्टा बनने योग्य नहीं हो सकता। परन्तु इन दोनों अधिकारोंके बीचका जो अधिकार है वही मध्यम प्रज्ञाकी

अवस्था गुरु अर्थात् उपदेशक पदवाच्य हो सकती है और पूज्यपाद महर्षियोंने ऐसी ही आज्ञा दी है। मध्यम प्रज्ञाकी अवस्था वह कहाती है जब कि साधनकी पूर्णतासे महात्माओंको भगवत्साक्षात्कार होनेपर उनका चित्त संशयशून्य हो गया हो और वे बन्धनमुक्त होकर आरम्भ किये हुए प्रारब्ध भोगनेके अर्थ ही शरीर धारण करते हुए जगत्में विचरण करते हों। शास्त्रोंमें मनुष्यकी इसी श्रेष्ठ अवस्थाको 'जीवन्मुक्त' कहकर वर्णन किया है। यद्यपि सभी ज्ञानी पुरुष उपदेशक हुआ करते हैं, तथापि केवल यह मध्यम प्रज्ञाकी अवस्थावाले अर्थात् पूर्णज्ञानी जीवन्मुक्त महात्मागण ही यथार्थमें उपदेशक अर्थात् गुरु होने योग्य हो सकते हैं। इस कारण धर्मश्रवण और धर्मप्रचारकगण इन दोनों अवस्थाओंमें ही गुरु और शिष्य अर्थात् उपदेशदाता और उपदेशग्रहीता दोनों पुरुषोंको ही वेदोक्त धर्म-लक्षण और धर्मप्रचारक होने योग्य व्यक्तिके गुणोंका विचार रखना अवश्य उचित है।

आजकल जिसप्रकार धर्मप्रचारकी शैली प्रायः प्रचलित हो रही है उससे पुरुषार्थ होनेपर भी तदनुरूप फलकी प्राप्ति होना प्रतीत नहीं होता है, इसका कारण भी अन्वेषण करने योग्य है। क्योंकि कार्य और कार्यफल इन दोनों पर ही जब पूरा लक्ष्य रहेगा तबही उस कार्यसे कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। आजकलकी नवीन धर्म-प्रचारकी शैलीमें दीख पड़ता है कि धर्मप्रचारक पण्डित महोदय अथवा रजोगुणप्रिय सन्यासी महोदय सभास्थलमें प्रायः व्याख्यानों द्वारा धर्मोपदेश दिया करते हैं। यह शैली राजसिक जगत्में परम उपकारी होने पर भी सात्त्विक जगत्के धर्मप्रचार कार्यमें उतनी फलदायक नहीं हो सकती और इसी कारण प्रबल पुरुषार्थ करने पर भी आजकलके साम्प्रदायिक धर्मप्रचारकगण वाक्यतः बहुत कुछ कर रहे हैं, परन्तु कार्यतः उनसे धर्मजगत्में थोड़ा ही काम बन पड़ा है। इस शैलीसे राजसिक कामोंमें सफलता होने पर भी सात्त्विक कामोंमें कुछ भी विशेष सफलता अब तक नहीं देख पड़ी है। वर्तमान समयमें जो धर्मप्रचारशैली प्रचलित होरही है वह प्राचीन शैली नहीं है; क्योंकि प्राचीन समयमें इस प्रकार बलपूर्वक धर्मोपदेश देनेकी प्रथा थी ही नहीं। व्याख्यान, जिसको अंग्रेजी भाषामें लेक्चर अथवा स्पीच कहते हैं, यह शैली यूरोप की है; अर्थात् राजसिक पाश्चात्य विद्वानोंने रजोगुणके कार्य निकालनेके लिये यूरोपमें इस प्रथाका विशेष प्रचार किया है। आजदिन इस वक्तृतारूपी चतुर शिल्पसे राजसिक जगत्में बहुत-कुछ काम भी निकल रहा है। उसी राजसिक शैलीके अनुकरण पर नवीन भारत भी उस शैलीको प्रधान सहायक मानने लगा है। परन्तु जो कार्य जिस गुणसे किया गया है उसका फल भी उसी गुणसे सम्बन्ध रखनेवाला होगा। विद्याभिमानी पण्डित महाशय जब धर्मव्याख्यान (स्पीच) देनेकी इच्छा करेंगे तब वे पहले ही रजोगुणके वशीभूत होकर अहंतत्त्वके अधीन होते हुए स्वयं ऐसी इच्छा प्रकट करेंगे तो धर्मप्रचारकोंकी वह अवस्था रजोगुणकी हुई। पुनः विज्ञापन अर्थात् नोटिस बाँटकर सभाका आह्वान करना आदि कार्य भी रजोगुण-सम्भूत हुआ करते हैं। इस प्रकारसे प्रथम तो उपदेश ही राजसिक होते हैं, द्वितीयतः श्रोता भी राजसिक वा तामसिक हुआ करते हैं अर्थात् परीक्षा करनेकी इच्छा,

समय व्यतीत करनेकी इच्छाइत्यादि भावोंसे युक्त होकर श्रोतागण सभामें एकत्रित हुआ करते हैं। जो परीक्षाकी इच्छासे आवें, वे राजसिक श्रोता, जो समय काटनेकेलिये अथवा प्रमादआदिके वशीभूत होकर आवें, वे तामसिक श्रोता हैं, इसमें सन्देह नहीं। इस कारण जब धर्मोपदेश राजसिक और धर्मोपदेश-ग्रहीता राजसिक या तामसिक हुआ करते हैं, तब नवीन धर्मप्रचार-शैलीसे कैसे सत्त्वगुणसम्भूत आत्मज्ञानकी प्राप्ति होना सम्भव है? रजोगुण और तमोगुणसे राजसिक, तामसिक फलकी ही सिद्धि हुआ करती है, उनसे कदापि सात्त्विक फल-प्राप्तिकी सम्भावना नहीं है। परन्तु प्राचीन कालमें जो धर्मप्रचारकी शैली थी, उसीसे सब समय धर्माधिकारकी प्राप्ति होगी। वह शैली सात्त्विक शैली है, इस कारण उससे फलभी सात्त्विक हुआ करता है। धर्मोपदेश-दान और धर्मोपदेश-ग्रहण करनेकी सनातनधर्मोक्त प्राचीन शैली यह है कि, प्रथम त्रितापसे तापित जिज्ञासु अपनेको अनुपयुक्त समझकर दीनभावापन्न हो अपनी मङ्गल-कामनाके अर्थ उपदेष्टा गुरुके स्थानपर जाकर नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर उपदेशप्राप्तिकी प्रार्थना करे। प्रथम तो संसारको दुःखमय और धर्मज्ञानको सुखका कारण वही समझ सकता है, जिसके हृदयमें कुछ वैराग्यकी उत्पत्ति हुई होगी। इस प्रकार वैराग्ययुक्त जिज्ञासु जब अपनेको अनुपयुक्त और गुरुको उपयुक्त समझ कर दीन और करबद्ध होता हुआ गुरुदेवके सन्मुख जायगा, तो स्वतः ही उसका अन्तःकरण उस समय सत्त्वगुणका भाव धारण करेगा, इसमें सन्देह नहीं। इसी प्रकार जब निश्चेष्ट गुरुकी दृष्टि दीन और दुःखी शिष्यपर पड़ेगी, तो पूर्णज्ञानमय तपःस्वाध्यायरत सर्वजीवहितकारी श्रीगुरुदेवके हृदयमें अवश्य करुणाका उदय-होगा और तभी उनमें सत्त्वगुणसे उत्पन्न उपदेश-क्रियाकी स्फूर्ति होगी। श्रीगुरुदेव तो निज इच्छासे उपदेश नहीं देते कि, उनमें रजोगुणका प्रकाश हो, किन्तु दयाके वशीभूत होकर ही परोपकार करनेकी इच्छासे वे जब शिष्यको उपदेश देंगे, तो उनके हृदयमें उस समय सत्त्वगुणका पूर्ण विकास ही रहेगा, इसमें भी सन्देह नहीं। इस अभ्रान्त और अति उत्तम शैलीके अनुसार जब सत्त्वगुणावलम्बी शिष्य सत्त्वगुणभावापन्न श्रीगुरुदेवके निकट जाकर धर्मजिज्ञासा करेगा, तब स्वतः ही उस धर्मप्रचार कार्यसे सात्त्विक फलरूप आत्मज्ञानात्मक धर्मफलकी उत्पत्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं। धर्मज्ञानमय सत्त्वगुण राज्यका पदार्थ है, जब गुरु और शिष्य अर्थात् उपदेश-दाता और उपदेश-ग्रहीता दोनोंही सत्त्वगुणमें स्थित होंगे, तभी धर्मलाभकी सम्भावना है; अन्यथा अन्य गुणोंके कार्योंसे कदापि सत्फलकी आशा नहीं है। राजनैतिक उन्नति, सामाजिक उन्नति अथवा और सांसारिक वैषयिक उन्नति जिस रीतिपर होसकती है, उस रीतिपर सात्त्विक धर्मोन्नति होनेकी सम्भावना नहीं। शुद्ध धर्म केवल ईश्वरराज्यका पदार्थ है, इस कारण जब उपदेश-दाता और उपदेश-ग्रहीता दोनों ही संसारसे दृष्टि हटा कर ईश्वर-राज्यमें पहुँच जावें, तभी प्रचारकके धर्मप्रचारका फल और श्रोताके धर्म-श्रवणका फल यथार्थरूपसे प्रकाशित हो सकता है।

ऊपरके विचारमें यह सिद्ध किया गया है कि, व्याख्यान देनेकी शैली राजसिक है, परन्तु इससे यह न समझा जाय कि, इस ढंगकी सात्त्विक शैली हो ही नहीं सकती।

सत्त्वगुणावलम्बी होकर जगत्के दुःखसे करुणार्द्र अन्तःकरण होते हुए जो व्याख्यान दिया जायगा, उससे अवश्य सात्त्विक फलकी उत्पत्ति होगी और देशभरमें सामाजिक संस्कार, विद्याकी उन्नति और धर्म-प्रवृत्तिके अर्थ प्रजाओंमें उत्तेजना फैलानेकेलिये तो व्याख्यान परम हितकर है। प्राचीन कालसे पुराणादि शास्त्रोंके व्याख्यानकी शैली, व्यासासनपर बैठकर धर्मोपदेशकी शैली, सभामें बैठकर उत्तर-प्रत्युत्तरद्वारा शङ्का-समाधानकी शैली चली आती है। जो सुकौशलपूर्ण कार्य किया जाता है, उससे फलकी सिद्धि हाथोहाथ मिला करती है। सुकौशलपूर्ण कार्य कदापि निष्फल नहीं होता। उलझी हुई ग्रन्थिको यदि सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा सुलझाने लगें तो वह तुरन्त ही सुलझ जायगी। परन्तु सुकौशलका अभाव होनेसे सुलझनेकी जगह वह ग्रन्थि और भी उलझती जायगी। इस कारण धर्मका सार्वभौमभाव, धर्मके अङ्ग और उपाङ्ग तथा धर्मप्रचार करनेकी योग्यता, इन सबके यथार्थ भावको भलीभाँति समझ कर सुकौशलपूर्ण उद्योगद्वारा धर्मप्रचाररूप पुरुषार्थ करनेसे अवश्य ही फलकी प्राप्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं। लोकहितरूप धर्म-पुरुषार्थमें रत, परोपकारव्रतधारी, जगत्को ईश्वरका रूप समझकर लोकसेवा-वृद्धिमें दृढव्रत, धर्मवक्ता यदि धर्मव्याख्यान देते समय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र-कथित सात्त्विक ज्ञानका लक्षण स्मरण रखेंगे और धर्मस्वरूपका वर्णन करते समय उपदेश देनेयोग्य प्रजाके साथ वर्ताव करते समय महर्षि याज्ञवल्क्यकी आज्ञाको मनमें रखेंगे, तो स्वयं भी कृतार्थ होंगे और जनसमाजको भी कृतार्थ करेंगे, यथा:—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्ष्यते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ (इति गीतोपनिषद्)

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिपुङ्गव!॥ (महर्षियाज्ञवल्क्य)

जिस ज्ञानद्वारा विचित्रतापूर्ण इस सृष्टिके सकलभूतोंमें एक, अविभक्त, अद्वैत, और शाश्वत भाव देखा जाय, उसी ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान कहते हैं। और जो धर्म किसी अन्य धर्मको बाधा दे, वह धर्म कुधर्म है, परन्तु जो धर्म सब धर्ममार्गों और अधिकारोंकेलिये अविरोधी हो, वही धर्म सद्धर्म है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र और योगिराज महर्षि याज्ञवल्क्यके इन उपदेश वाक्योंका ध्यान रखते हुए धर्मका विचार करना, धर्मकी शिक्षा देना और धर्मका प्रचार करना सत्पुरुषोंका कर्तव्य है।

धर्मेणैव जगत्सुरक्षितमिदं धर्मो धराधारकः।
धर्माद्वस्तु न किञ्चिदस्ति भुवने धर्माय तस्मै नमः॥

धर्मकेद्वारा ही जगत्की यथावत्‌रूपसे सुरक्षा होरही है। धर्मने ही इस ब्रह्माण्डको धारण कर रखा है। इस संसारमें धर्मके अतिरिक्त और कोई भी वस्तु नहीं है। अतः धर्मरूपी भगवान्‌को नमस्कार है।

प्रथम समुल्लासका प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

दानधर्म

—:०:—

धर्मके तीन प्रधान अङ्ग हैं। यथा—यज्ञ, तप और दान। श्रीगीतोपनिषद्में कहा है "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्"। इन तीन प्रकारके प्रधान धर्माङ्गोंमें दानधर्म सब प्रकारके अधिकारियोंकेलिये सबसे प्रथम और कलियुगमें परम सहायक है। भगवान् मनुजीने स्मृतिमें भी ऐसा ही कहा है कि :—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥

सत्ययुगमें तपोधर्म, त्रेतायुगमें ज्ञानधर्म, द्वापरमें यज्ञधर्म और कलियुगमें केवल दानधर्म ही प्रधान माना गया है।

अपनी वस्तुको अपना सम्बन्ध हटा कर दूसरेको दे देनेका नाम दान है, स्मरण रहे कि, दे देना तो सहज है, परन्तु दी हुई वस्तुओंसे अपना सम्बन्ध चित्तसे हटाना अत्यन्त ही कठिन है, इस कारण जो दाता अपनी दानकी हुई वस्तुसे जितना चित्तको हटाता हुआ सम्बन्धको छोड़ता है, उतनी ही उसके दानकी गणना उत्तम श्रेणिमें होती है।

दानधर्म और धर्मोंकी अपेक्षा बहुत ही सहज एवं अनायास साध्य है, क्योंकि यज्ञधर्म और तपोधर्मके साधनकेलिये अत्यन्त शारीरिक परिश्रमकी भी आवश्यकता होती है। परन्तु दानधर्मका निष्पादन केवल अपनी वस्तु उठाकर दूसरेको देदेनेसे होजाता है; इसलिये यह धर्म सुखसाध्य है। दानधर्म तीन प्रकारका माना गया है यथा—अभयदान, ब्रह्मदान और अर्थदान। इस समय इस सम्बन्धमें अभय दानके विस्तृत विवरणकी अधिक आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अभय दानका कर्त्तव्य सन्यासी तथा गुरुदेवसे सम्बन्ध रखता है, साधारण अधिकारियोंसे उसका सम्बन्ध नहीं है। इस संसाररूपी महाभयसे जीवको बचानेकेलिये जो उपदेश दिया जाता है, उसको अभयदान कहते हैं, सुतरां अभय दानका सम्बन्ध उन्नत अधिकारके साथ है। इस समय ब्रह्मदान और अर्थदान इन दोनों दानोंके विषयमें आलोचना की जाती है।

विद्योन्नतिके अभिप्रायसे साक्षात् और परोक्षरूपसे जो कुछ दान किया जाता है, उसको ब्रह्मदान कहते हैं। शरीरकेद्वारा, वचनकेद्वारा और अर्थादिकेद्वारा विद्योन्नतिके उद्देश्यसे जो कुछ दानधर्म किया जाय, उसको ब्रह्मदान कहते हैं। विद्यालय स्थापन करना, विद्योन्नतिकारी यन्त्रालय स्थापन करना, पुस्तक प्रकाशित करना, पुस्तक प्रणयन करना, पुस्तक दान करना, शास्त्र-अध्यापनइत्यादि सभी ही प्रकारके कार्य ब्रह्मदानके अन्तर्गत समझे जायँगे। धन, ऐश्वर्यआदिका जो दान किया जाता है, उसको अर्थदान कहते हैं। अन्न, वस्त्र, भवन, भूमि, रत्नआदि सब प्रकारके दानको अर्थदान कहते हैं।

ये उक्त सब प्रकारके दान त्रिगुणविचारसे तीन प्रकारके होते हैं। यथा गीतोपनिषद्में कथित है कि :—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥
(श्रीगीतोपनिषद्)

देना अपना कर्तव्य और धर्म है, इस विचारसे जो दान किया जाय ; और ऐसे व्यक्तिको दान किया जाय कि, जिससे किसी प्रकारके प्रत्युपकार पानेकी कोई भी सम्भावना न हो ; और कैसे देशमें दान करनेसे दानका अधिक फल होगा, कैसे समयमें दान करनेसे दानका अधिक फल होगा और कैसे व्यक्तिको दान करनेसे दानका फल अधिक होगा ; इन सब बातोंको विचार करके सावधानतापूर्वक जो दान किया जाता है, उसे सात्त्विक दान कहते हैं। और बदलेमें प्रत्युपकारकी आशासे, फलके उद्देश्यसे और देते समय चित्तमें क्लेश पाकर जो दान किया जाता है, उसको राजसिक दान कहते हैं। सात्त्विक दानमें जिस प्रकारके देश, काल और पात्रका विचार रखा गया है, उस प्रकारके देश, काल, पात्रका विचार न रखकर जो दान किया जाय और दान लेनेवालेको जिस प्रकार सम्मान करना उचित है, ऐसा सम्मान न करके जो दान किया जाय और अवज्ञाके साथ जो दान किया जाय उसको तामसिक दान कहते हैं।

सात्त्विक दानसे मुक्ति, राजसिक दानसे ऐहिक तथा पारलौकिक सुख और तामसिक दानसे कभी-कभी नरककी प्राप्ति होंना भी सम्भव होता है। इसलिये दान करनेसे ही पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती, इसमें विचारकी आवश्यकता होती है, विचार-पूर्वक किये हुए दानका फल ही उत्तमरूपसे मिल सकता है।

यदि कोई यह प्रश्न करे कि, क्या एक क्षुद्र वस्तुके प्रदानरूप एक सामान्य कर्मसे दुर्लभ मुक्तिपदकी प्राप्ति हो सकती है ? ऐसे पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्त यह है कि, जब कर्ममीमांसाद्वारा यह सिद्ध है कि, कर्म मुक्तिप्रद है, तो यह निश्चय है कि, दानरूपी पुण्यकर्म यदि यथावत् वेदानुकूल किया जाय और वह कर्म तीव्रतम हो, तो अवश्य उस धर्म-कार्यद्वारा मुक्तिकी प्राप्ति होगी। जब धर्म मुक्तिप्रद है, तो धर्मका प्रत्येक अङ्ग भी मुक्तिप्रद है। जैसे अग्निमें दाहिका शक्ति रहनेसे उसके अंशभूत क्षुद्र स्फुलिङ्गमें भी दाहिका शक्ति है, जैसे एक क्षुद्र स्फुलिङ्ग भी देश, काल और सहयोगीकी सहायता मिलनेपर बड़े-बड़े पदार्थोंको दग्ध करसकता है, उसी प्रकार यथार्थ विज्ञानानुकूल दानधर्मके साधनद्वारा साधकको परंपरा-सम्बन्धसे अवश्य ही मुक्ति मिल सकती है।

जबतक मनुष्यका अन्तःकरण विषयोंमें आसक्त रहता है, तबतक वृत्तियाँ

अन्तःकरणको प्रतिक्षण चञ्चल करती रहती हैं और जब अन्तःकरणकी विषयासक्ति नष्ट होजाती है, उसी समय सब वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। वृत्तियोंके विलीन होते ही अन्तःकरणका चाञ्चल्य निःशेष नष्ट हो जाता है। योगदर्शनसे यह बात सिद्ध है कि, यदि चित्तवृत्तियोंका निरोध कर दिया जाय तो अन्तःकरणकी चञ्चलता नष्ट होनेके कारण स्वतः चैतन्यका दर्शन होने लगता है। अस्तु, पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलिजी-ने कहा है कि:—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"

"तदा द्रष्टुस्स्वरूपेऽवस्थानम्" ।

(योगदर्शन)

अब विचारनेकी बात यह है कि, जिस किसी मनुष्यका अन्तःकरण किसी विषयमें अत्यन्त आसक्त हो और उस आसक्तिके कारण वृत्तियाँ अन्तःकरणको आलोडित करके चञ्चल कर रही हों, वह मनुष्य यदि साहस करके उस विषयसे अपने चित्तकी आसक्ति एकदम हटाकर उस विषयका त्यागकर दे, तो क्या वृत्तियोंका निरोध हो जानेसे अन्तःकरणकी स्थिरता नहीं हो सकती ? और क्या स्थिर अन्तःकरणमें चैतन्यका दर्शन दुर्लभ है ? और जब चैतन्यका दर्शन होगया तो क्या मुक्तिमें कुछ कसर रह गयी ? कदापि नहीं। इस कारण यह विज्ञानसे सिद्ध हुआ कि, पहले कहे हुए सात्त्विक दानके विज्ञानके अनुसार यदि कोई दाता अपने उन पदार्थोंका दान करें, जिन पदार्थोंमें उसकी आसक्ति है, तो दानधर्मद्वारा मुक्तिपर्यन्त प्राप्त होना अवश्य सम्भव है। परन्तु यह निश्चय है कि, केवल सात्त्विक दान ही मुक्तिका कारण हो सकता है। देश-काल-पात्रके विचारसे सात्त्विक दानद्वारा दाताके अन्तः-करणमें दिन प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा सत्त्वगुण अवश्य बढ़ता जायगा और क्रमशः निष्काम भाव और सत्त्वगुणके विशेष बढ़ जानेसे वह दाता मुक्तिके निकट पहुँच जायेगा।

दानकी विलक्षणता यह है कि, मनुष्य यदि एकान्तमें बैठकर सात्त्विक भावसे किसी समय किसी उत्तम तथा योग्य पात्रको एक पैसा भी दान करे, तो उसकी गणना सात्त्विक दानमें हो सकती है और इसी प्रकारका दान दाताको मुक्तिपद प्राप्त करा सकता है। यदि मुक्तिकी प्राप्ति करना बिल्कुल ही असम्भव हो, तो उससे ऐहिक और पारलौकिक शान्ति-सुखकी प्राप्ति होसकती है। सात्त्विक वृत्तिसे एक पैसा अथवा एक मुट्ठी अन्नआदिका दान भी क्रमशः दाताकी मुक्तिका कारण हो सकता है। और क्रमशः उसकी बुद्धिको शुद्ध करता हुआ दाताको मुक्ति-भूमिमें पहुँचा देता है; परन्तु राजसिक वृत्तिसे दान किये हुए करोड़ों रुपयोंसे भी मुक्ति नहीं हो सकती। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि, दानधर्म श्रद्धामूलक है। शुद्धभावद्वारा दान करनेमें दानकी शक्ति असाधारणरूपसे बढ़ जाती है। भावके द्वारा ही एक छोटे दानका भी अनन्त फल हो सकता है और यदि भाव ठीक न हो तो महान् दानका भी फल अति सामान्य ही होता है।

पूर्वविज्ञानानुसार यह सिद्ध ही होचुका है कि, किस प्रकारसे दानधर्मके-द्वारा साधकको मुक्तिपदकी प्राप्ति होसकती है और यह भी सिद्ध होचुका है कि, केवल दानधर्मके साधनसे ही किस प्रकार चित्तवृत्तिनिरोध होकर साधक समाधि-भूमिमें पहुँचता है। दान जब धर्म ही है, तब उक्त धर्मकेद्वारा धर्मका अन्तिम फल मुक्तिपद अवश्य ही प्राप्त होगा। पहले ही कह चुके हैं कि, अग्निका एक स्फुलिङ्ग यदि देश, काल और पदार्थकी सहायता प्राप्त करले तो वही स्फुलिङ्ग क्रमशः महान् शक्तिको धारण करके प्रलयाग्निके रूपमें परिणत होकर इस पृथिवीको दग्ध कर सकता है। जिस प्रकार अग्निका स्फुलिङ्ग भी अग्नि ही है, उसी प्रकार दानधर्म भी धर्म ही है और उसमें धर्मकी पूर्ण शक्ति विद्यमान है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि, दानधर्मद्वारा, अभ्युदयकर स्वर्ग और निःश्रेयस-कर मुक्ति तो प्राप्त होसकती है; परन्तु दानकेद्वारा विरुद्ध फल नरक कैसे प्राप्त होता है? इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्त यही है कि, जब दानमें पूर्णशक्ति विद्यमान है तो वही शक्ति ऊर्ध्वगामिनी होनेसे अभ्युदय और निःश्रेयस फल देती है और वही शक्ति अधोगामिनी होनेसे नरकरूपी फल भी देसकती है। सात्त्विक दानसे निःश्रेयस और राजसिक दानसे पारलौकिक और ऐहलौकिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है, ये दोनों दान भय-रहित और उन्नतिप्रद हैं। साधक इन दोनोंकेद्वारा यथाधिकार आध्यात्मिक उन्नति अवश्य प्राप्त करता है। परन्तु तामसिक दानद्वारा दाताको कभी कभी केवल ऐहलौकिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है और कभी कभी नरककी भी प्राप्ति होसकती है। उदाहरणार्थ समझ सकते हैं कि यदि किसी दाताके देश-काल-पात्र-विचार-रहित प्रमादयुक्त तामसिक दानसे धन प्राप्त करता हुआ कोई मनुष्य घोरतर प्रबल पापानुष्ठान करनेमें प्रवृत्त हो, तो यह निश्चय है कि, परंपरासम्बन्धसे सहायक होनेके कारण वह तामसिक दाता भी उस पापीके किये हुए पापकर्मके कुछ अंशका भागी अवश्य बनेगा। इसी एक सामान्य उदाहरणसे इस विज्ञानके समझनेमें सुगमता हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं। इसीलिये अत्रिसंहितामें लिखा है, कि:—

नास्ति दानात्परं मित्रमिहलोके परत्र च।
अपात्रे किन्तु यद्दत्तं दहत्यासप्तमं कुलम् ॥

इहलोक और परलोकमें दानके समान परममित्र और कोई नहीं है, किन्तु अपात्रमें दिया हुआ दान सात पुरुषपर्यन्त दुःखदायी होता है। अतः दानधर्मके साधकको सदा तीन गुणोंके दानोंके तीनों लक्षणोंको स्मरण रखकर दान करना उचित है। और साथ ही यह भी स्मरण रखना उचित है कि, जिनके पास यथेष्ट धन है, वे व्यक्ति यदि कृपणता और नीचताके कारण दान न करें तो परलोकमें उनको नरक भोगना और जन्मान्तरमें दरिद्र होना पड़ेगा इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया अवश्य हुआ करती है, अतः कृपणको नरक एवं दरिद्रता अवश्य भोगनी होगी, यह विज्ञान मीमांसादर्शनने ऐसे भी सिद्ध किया है कि, कर्मकी क्रिया और प्रतिक्रिया-विज्ञानके अनुसार जिस मनुष्यके पास जो पदार्थ है, उसका वह व्यक्ति यदि अपव्यवहार करें, तो जन्मान्तरमें उस व्यक्तिको उस पदार्थका अभाव रहेगा।

इसी रीतिपर यदि धनवान् व्यक्ति धनका अपव्यवहार करें, तो वह भी जन्मान्तरमें दरिद्र होगा। सिद्धान्त यह है कि, कृपण मनुष्य और धन अपव्यवहारकारी दोनों व्यक्तिको ही परलोकमें नरक भोगना और जन्मान्तरमें दरिद्र होना पड़ेगा।

चाहे पुस्तक, विद्यालय, अन्नसत्र, छात्रनिवास, विश्वविद्यालय, पुस्तकालय-यन्त्रालयआदि किसी प्रकारका ब्रह्मदान-सम्बन्धी दान हो अथवा अन्न, वस्त्र, भूमि, कन्या, धन, रत्नआदि किसी प्रकारका अर्थदान-सम्बन्धी दान हो, सभी दान देश, काल, पात्रके विचारपूर्वक होने उचित हैं। कैसे देशमें दान करना चाहिये, किस देशमें उक्त प्रकारके दानका अभाव है, किस देशमें उक्त प्रकारका दान करनेसे अधिक फलकी प्राप्ति होसकती है, किस देशमें दान करनेसे ईश्वरकी आज्ञाके पानलमें विशेष सुविधा होगी, किस देशमें दान करनेसे अधिक संख्यक जीवोंका कल्याण होसकता है, इत्यादि विषय विचारनेसे देशका विचार ठीक-ठीक होसकता है। इसी प्रकार कैसे कालमें दान करना उचित है, किस कालमें उक्त प्रकारके दानका अभाव है, किस कालमें उक्त प्रकारका दान करनेसे अधिक फलकी प्राप्ति हो सकती है, किस कालमें दान करनेसे ईश्वरकी आज्ञाके पालनमें विशेष सुविधा होगी, किस कालमें दान करनेसे अधिकसंख्यक जीवोंका कल्याण होसकता है, इत्यादि विचारोंपर निश्चय कर दान करनेसे उन्नत दान होसकता है। इसी रीतिसे पात्रकाभी विचार होना उचित है। कैसे पात्रको दान करना उचित है, कैसे पात्रमें उक्त प्रकारका अभाव है, किस पात्रमें उक्त प्रकारका दान करनेसे अधिक फलकी प्राप्ति हो सकती है, किस पात्रमें दान करनेसे ईश्वरकी आज्ञाके पालनमें विशेष सुविधा मिल सकती है, किस पात्रमें दान करनेसे अधिकसंख्यक जीवोंका कल्याण हो सकता है, इत्यादि विषयोंको भली भाँति विचार कर दान करनेसे दानधर्मका साधन ठीक-ठीक होसकता है। अतः श्रीगीतोपनिषत् कथित त्रिविध-दानके रहस्यको पूर्णरीतिसे समझ कर तथा देश, काल और पात्रका विचार करके दानधर्मका साधन करनेसे मनुष्यमात्र ही अभ्युदय और निःश्रेयसके अधिकारी होंगे, अन्यथा नहीं।

देश, काल और पात्र इन तीनोंका आजकल कैसा अपव्यवहार हो रहा है, उसके उदाहरणमें दो चार बातोंका स्मरण दिलाया जाता है। यदि देशका विचार आर्य-सन्तानोंको रहता तो ऐसे स्थानोंमें लाखों रुपया दान-पुण्य नहीं होता जहाँ दानकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। यदि भारतवासियोंको कालका विचार रहता तो इस समय विद्यालय, यंत्रालय, छात्रालयआदिके लिये द्रव्यकी इतनी कमी न रहती। यदि ऐसा विचार रहता तो आजदिन आवश्यकता न रहनेपर भी धर्मशाला, पञ्चायती वाड़ाआदि बनानेमें करोड़ों रुपये स्वहा नहीं किये जाते। यदि इस समय कैसे पात्रमें दान करना चाहिये, यह विचार होता तो आज तीर्थके ब्राह्मण ऐसे मूर्ख व विपथगामी नहीं होते, किन्तु विद्वान् ही बने रहते। यदि पात्रका विचार रहता तो इस समय ब्राह्मणोंकी यह दुर्गति नहीं होती। यदि पात्रापात्रके विचारपर ध्यान होता तो आज गुरु तथा पुरोहित-वंशोंका इस प्रकार सत्यानाश नहीं हो जाता। व्याससंहितामें कहा भी है। यथा :—

ऊषरे वापितं बीजं भिन्नभाण्डेषु गोदुहम् ।
हुतं भस्मनि हव्यश्च मूर्खे दानमशाश्वतम् ॥

जिस प्रकार ऊपर भूमिमें बोया हुआ बीज, भग्नपात्रमें स्थित दुग्ध और भस्ममें हवन किया हुआ घृत निष्फल होता है, उसी प्रकार मूर्खको दिया हुआ दान निष्फल हुआ करता है, क्योंकि वह दानका पात्र नहीं है। इसलिये देश-काल और पात्रको बिना विचारे दान करनेसे नहीं करना अच्छा है, क्योंकि ऐसे देश-काल पात्रोंके विचारसे रहित होकर दान करनेसे स्वजाति और स्वदेशको कोई भी लाभ नहीं पहुँचता है और न अपनी धर्मोन्नति ही होती है। ऐसा दान सर्वथा निष्फल ही होता है। भारतवासी जबतक सात्त्विक दान करनेका अभ्यास नहीं करेंगे, तबतक भारतकी उन्नति होना तो बहुत ही कठिन है, किन्तु उसकेलिये आशा भी नहीं की जा सकती। आज भी अन्य देशोंकी अपेक्षा भारतवर्षमें बहुत ही अधिक दान होता है, पर तामसिक दानकी संख्या अत्यन्त अधिक बढ़ गयी है, इसी पापसे भारत दिन दिन दुःखी होता हुआ गिरता जाता है। इसलिये भारत हितैषियोंका इस समय देश, काल और पात्रोंका विचार करके ही दान करना मुख्य कर्तव्य है।

प्रथम समुल्लासका द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

—:※:—

तप

भक्ति-साधन, कर्म-साधन और ज्ञान-साधन ये तीनों धर्मके उत्तम अङ्ग हैं, परन्तु तपोधर्म भी बहुत ही आवश्यकीय साधन है। अपने शारीरिक और मानसिक सुखोंका त्याग करके शरीर और मनको द्वन्द्वरहित करनेको तप कहते हैं। जिस प्रकार पशुको बाँधे रखनेसे उसका वेग और उसकी काम करनेकी शक्ति अधिक बढ़ जाया करती है, उसी प्रकार मन, इन्द्रिय और शरीरको सुखभोगसे हटाकर तपमें लगानेसे उसकी शक्ति असाधारणरूपसे बढ़ जाया करती है। इसी कारण शास्त्रोंमें वर्णन है कि, तप-शक्तिद्वारा प्राचीन कालमें ऋषि, मुनिगण नाना दैवी कार्योंके करनेमें समर्थ हुआ करते थे। अब भी महात्मागणमें तपकी अलौकिक शक्ति देखनेमें आया करती है। शास्त्रोंमें दो प्रकारका तेज वर्णित है। यथाः—ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज। उनमेंसे क्षात्रतेज दानकेद्वारा और ब्रह्मतेज तपकेद्वारा सुरक्षित होता है। सती स्त्रियाँभी तपशक्तिकेद्वारा ही असाधारण गतिको प्राप्त किया करती हैं।

जिन जिन अङ्गोंकी तपशक्ति बढ़ायी जाती है, साधकगणको उसी अङ्ग तथा भावकी शक्ति अधिक प्राप्त हुआ करती है। यथाः—वाचनिक तपकेद्वारा अन्य प्रकारका फल मिलनेपरभी वाक्‌सिद्धिकी प्राप्ति तो अवश्य हुआ करती है। साधनके विचारसे तप तीन प्रकारका कहा जाता है। यथाः—शारीरिक तप, वाचनिक तप

और मानसिक तप। श्री गीताजीमें तीनों प्रकारके तपोंके साधारण लक्षण इस प्रकार-से वर्णित हैं कि :—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाऽभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

(श्रीगीतोपनिषद्)

देवता, ब्राह्मण, गुरु और तत्त्वज्ञानी महात्माकी पूजा करना, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यह शारीरिक तप कहलाता है। अनुद्वेगकारी, सत्य, प्रिय और हितकारी वाक्य बोलना, वेद और शास्त्रादिका पाठ करना, यह वाचनिक तप कहलाता है। और मनकी प्रसन्नता, अक्रूरता, मौन, मनोनिग्रह तथा चित्तके भावोंका संशोधन, यह मानसिक तप कहलाता है। ये तीनों प्रकारके तपही धार्मिकगणको साधन करनेयोग्य हैं। शारीरिक तप, वाचनिक तप और मानसिक तप इन तीनोंके केवल थोड़ेसे लक्षण ऊपरके श्लोकोंमें गिनाये गये हैं, जिससे तीन प्रकारके तपका स्वरूप समझमें आ जाय। इन तीनों तपोंके अङ्ग व उपाङ्ग अनेक हैं।

तपकी महिमा क्या वर्णनकी जाय, यह समस्त संसार तपका ही फल स्वरूप है। यजुर्वेदीय तैत्तरीयोपनिषद्में लिखा है, यथा:—

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

महाप्रलयके पश्चात् समष्टिजीवोंके प्रारब्धानुसार श्रीभगवान्के अन्तःकरणमें "एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय" अर्थात् मैं एकसे बहु होऊँ और प्रजाओंकी सृष्टि करूँ, इस प्रकारकी इच्छा उत्पन्न होती है। उस समय वे तपकेद्वारा समस्त संसारको उत्पन्न करके उसमें सत्तारूपसे व्याप्त होते हैं। ययुर्वेदीय कठोपनिषद्में लिखा है। यथाः—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो,
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो,
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

जिस प्रकार अग्नि और वायु संसारमें प्रविष्ट होकर पदार्थोंके भेदसे अनेक-रूप धारण करते हैं, उसी प्रकार सर्वव्यापक परमात्मा सकल भूतोंमें अन्तरात्मा रूपसे व्याप्त और अविकृतरूपसे आकाशके समान सबसे पृथक् भी हैं। अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद्में स्पष्ट लिखा है :—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥

तपकेद्वारा भूतयोनि अक्षर ब्रह्म उत्फुल्ल होते हैं; जैसा पुत्रको देखकर पिता उत्फुल्ल होता है। तदनन्तर अन्न उत्पन्न होता है अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिमें व्यक्तावस्थाकी सूचना होती है। अन्नसे प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति होती है। प्राणसे मन और मनसे सत्य अर्थात् संकल्पमूलक आकाशादि पञ्चभूत, पञ्चभूतोंसे भूर्भुवस्स्वरादि लोकसमूह उन लोकोंमें मनुष्यादि प्राणी और वर्णाश्रमआदि क्रमसे कर्म उत्पन्न होते हैं। कर्मसे कर्मज फल उत्पन्न होते हैं। कर्मको अमृत इस कारण कहते हैं कि, जबतक कर्म नष्ट नहीं होते, तबतक फल नष्ट नहीं होते। श्रीभगवान्का यह तप सामान्य तप नहीं है, यह ज्ञानमय तप है, जैसा इसी उपनिषद्में दूसरे मंत्रमें लिखा है :—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥

सर्वज्ञ और सर्ववित् श्रीभगवान्का यह तप ज्ञानलक्षण है, आयास लक्षण नहीं है। ईश्वरने पूर्व कल्पमें किस प्रकार सृष्टि उत्पन्न की थी, उसकी विधिका ही ज्ञान तप है, क्योंकि निखिल चराचर जगत्की सृष्टि पूर्वकल्पके अनुसार ही हुआ करती है। वेद में लिखा है :—"यथापूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं च" इत्यादि। इसी प्रकारके ज्ञानमय तपके फलसे ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ, नामरूपात्मक जगत् तथा अन्नादि उत्पन्न होते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है :—

तपो मे हृदयं साक्षादात्माऽहं तपसोऽनघ।
सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः ॥
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः।

श्रीभगवान् कहते हैं कि, तप मेरा हृदय अर्थात् अन्तरङ्ग शक्ति है और मैं तप-का आत्मा अर्थात् स्वरूप हूँ। सृष्टि, स्थिति और लय मैं तपकेद्वाराही करता हूँ। दुःसाध्य तप ही मेरा वीर्यरूप है। श्रीमद्भागवतमें और भी लिखा है :—

भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्याश्चैव मदाश्रयाम्।
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान् द्रक्ष्यस्यपावृतान् ॥

श्रीभगवान् कहते हैं, हे ब्रह्मन् ! तुम मेरी विद्या और तपका अनुष्ठान करो। उन दोनोंकेद्वारा अपने हृदयमें स्पष्टरूपसे सब लोकोंको देख सकोगे। इसी आज्ञाके अनुसार सृष्टि करनेसे प्रथम, ब्रह्माजीने तप किया था। श्रीमद्भागवतमें ही महर्षि व्यासने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है :—

विरञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य यथाह भगवानजः॥

देवताओंके सौ वर्षपर्यन्त श्रीब्रह्माजीने श्रीभगवान्के आज्ञानुसार श्रीमन्नारायणमें अपने चित्तको संयतकरके तप किया था। उसीका यह फल है कि, स्थावर जङ्गमात्मक यह संसार उत्पन्न हुआ। अतः तप ही समस्त सृष्टिका मूलकारण है, इसमें सन्देह नहीं।

संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो तपकेद्वारा सिद्ध न होसके। मनुष्य जन्मका सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य निःश्रेयसप्राप्ति है। वह भी तपकेद्वारा प्राप्त होती है। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है :—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और सम्यक् ज्ञानकेद्वारा ही सर्वदा आत्मलाभ हुआ करता है। अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद्में भी लिखा है :—

तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो
ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।

तपस्वी ब्रह्मचारी और सत्यनिष्ठ पुरुष ही उत्तरायण गतिको प्राप्त करके ब्रह्मलोकमें जा सकते हैं। 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंके प्रमाणोंकेद्वारा सिद्ध होता है कि, तपकेद्वारा क्षीणपाप होनेसे ही साधकको ब्रह्मजिज्ञासामें अधिकार प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है :—

तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम्।
सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान्॥

तपकेद्वारा ही साधक सर्वव्यापक परमज्योतिस्वरूप श्रीभगवान्को शीघ्र प्राप्त होता है। मनुस्मृतिमें लिखा है :—

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः॥
ब्राह्मणस्य तपोज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपोवार्त्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्॥

ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः ।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥
औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः ।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥
यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वन्तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥
महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥
कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च ।
स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥
यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्त्तिभि र्जना ।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥
तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः ।
इज्याँश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्द्धयन्ति च ॥
प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः ।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥
इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते ।
सर्वस्याऽस्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥

देवलोक और मनुष्यलोकमें जितनी सुख-सम्पत्ति है, वेददर्शी ज्ञानी लोग कहते हैं कि, सबके मूल, मध्य और अन्तमें तपस्याही है। ज्ञानका उत्कर्ष साधन ही ब्राह्मणकी तपस्या है। रक्षा करना क्षत्रियकी तपस्या है। कृषि वाणिज्य और पशु-पालनादि वैश्यकी तपस्या है। सेवा ही शूद्रकी तपस्या है। फल मूल और वायु भक्षण करनेवाले संयतात्मा ऋषि लोग तपस्याके बलसे ही सचराचर त्रैलोक्यको देख सकते हैं। औषधबल, नीरोगिताबल, विद्याबल एवं नानाविध दैवीस्थिति, ये सभी तपस्याकेद्वारा सिद्ध होते हैं। तपस्याही इनका साधन है। जो कुछ दुस्तर, दुष्प्राप्य दुर्गम और दुष्कर है, वह सभी तपस्याकेद्वारा साध्य है। तपस्याको कोई भी अति-क्रम नहीं कर सकता। ब्रह्महत्यादि महापातकी और अन्यान्य अकार्यकारी लोग कठिन तपस्याकेद्वाराही उन उन पापोंसे मुक्त होते हैं। कीट, सर्प, पतङ्ग, पशु, पक्षी एवं स्थावरादि सकल प्राणी, तपस्याके बलसे ही स्वर्गमें गमन करते हैं। शरीर मन और वाणीसे जो कुछ पाप होते हैं, तपस्वी लोग उनको तपस्याके बलसे शीघ्र दग्ध करदेते हैं। तपस्याकेद्वारा क्षीणपाप ब्राह्मणोंके यज्ञमें देवता लोग हविः ग्रहण करते हैं, एवं उनको वांछित फल प्रदान करते हैं। सर्वलोक प्रभु प्रजापति ब्रह्माने तपस्या करके

ही शास्त्ररचना की थी, तपस्याकेद्वाराही ऋषियोंके निर्मल अन्तकरणमें वेदोंका आविर्भाव हुआ था। देवता लोग इस संसारमें तपस्याके महाभाग्यको देखकर तपस्याका ही महात्म्य कीर्तन करते रहते हैं। महाभारतमें लिखा है :—

आदित्या वसवो रुद्रास्तथैवाग्न्यश्विमारुताः।
विश्वेदेवास्तथा साध्याः पितरोथ मरुद्गणाः॥
यक्षराक्षसगन्धर्वाः सिद्धाश्चान्ये दिवौकसः।
संसिद्धास्तपसा तात! ये चान्ये स्वर्गवासिनः॥
मर्त्यलोके च राजानो ये चान्ये गृहमेधिनः।
महाकुलेषु दृश्यन्ते तत्सर्वं तपसः फलम्॥
कौशिकानि च वस्त्राणिशुभान्याभरणानि च।
वाहनासनपानानि तत्सर्वं तपसःफलम्॥

आदित्य, वसु, रुद्र, अग्नि, अश्विनीकुमार, वायु विश्वेदेवा, साध्य, पितृ, मरुद्गण, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, सिद्ध अन्यान्य देवतागण तथा अन्यान्य स्वर्गवासिगण तपस्याकेद्वारा ही सिद्ध हुए हैं। भूलोकमें राजालोग और अन्यान्य गृहस्थ लोग बड़े बड़े कुलोंमें दिखायी देते हैं, वह सब तपस्याका ही फल है। रेशमी वस्त्र, अच्छे आभूषण वाहन, आसन और पेय पदार्थादि सब तपस्याके ही फलस्वरूप हैं।

तप, स्त्री पुरुष दोनोंका ही परम सहायक है। तपरहित पुरुष आध्यात्मिक जगत्में अथवा इस जगत्में ही हो, कहीं भी उन्नति नहीं कर सकता। तपरहित होने पर नारियाँ अपने धर्मकी रक्षातक नहीं कर सकतीं 'तपः प्रधानं नार्याः' अर्थात् नारी-धर्म तपःप्रधान है, ऐसा कर्ममीमांसाका सिद्धान्त है। नारीधर्मकी मूलभित्ति यह है कि, चलना, फिरना, बैठना व उठना इत्यादि समस्त शारीरिक और मानसिक कार्य अपने पतिकी सेवाकेलिये होने चाहियें। स्वतन्त्ररूपसे नहीं होने चाहियें। श्रीभगवान् वेदव्यासजी ने नारीधर्म के विषय में लिखा है :—

भुङ्क्ते भुक्तेऽथ या पत्यौ दुःखिते दुखिता च या।
मुदिते मुदिताऽत्यर्थं प्रोषिते मालिनाम्बरा॥
सुप्ते पत्यौ च या शेते पूर्वमेव प्रबुद्धयते।
प्रविशेच्चैव या वह्नौ याते भर्त्तरि पञ्चताम्॥
नाऽन्यं कामयते चित्ते सा विज्ञेया पतिव्रता।
छायेवानुगता स्वच्छा सखीव हितकर्मसु॥
दासीवाऽऽदिष्टकार्येषु भार्या भर्तुः सदा भवेत्।
पतिर्नारायणः स्त्रीणां व्रतं धर्मः सनातनः॥
सर्वं कर्म वृथा तासां स्वामिनां विमुखाश्च याः।

पतिके भोजन करनेपर भोजन करना, दुःखित होनेपर दुःखित होना, प्रसन्न होनेपर प्रसन्न होना, विदेश जानेपर मलिनवस्त्र पहनना, सोनेके पश्चात् सोना और पहले उठना, मरनेपर अग्निमें साथ ही प्रवेश करना, चित्तमें किसी अन्य पुरुषकी इच्छातक न करना, स्त्रीका धर्म है। ऐसी स्त्री ही पतिव्रता है। स्त्रीको सदा छायाके समान पतिकी अनुगता, स्वच्छ रहनेवाली, हित कार्योंमें सखीके समान, आज्ञापित कार्योंमें दासीके समान रहना चाहिये। स्त्रियोंका पति ही नारायणस्वरूप व्रतस्वरूप और सनातन धर्मस्वरूप है। उन स्त्रियोंके सब काम वृथा होते हैं जो, अपने पतिसे विमुख हैं। श्रीभगवान् मनुजीने भी कहा है :—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्त्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि॥
नास्ति स्त्रीणां पृथक् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम्॥
कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥
आसीतामरणात् क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥
अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥
मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥

घरमें स्त्रियाँ, चाहे बालिका हों, युवती हों अथवा वृद्ध हों, उनको स्वतन्त्रता से कोई भी काम नहीं करना चाहिये। स्त्रियोंकेलिये न पृथक् यज्ञ करना न व्रत और न उपवास ही विहित है, केवल पतिकी सेवासे ही वे उद्र्ध्वलोकको जाती हैं। पतिके के जीवित रहनेपर अथवा मरजानेपर भी, उसका कुछ भी अप्रिय पतिलोकको चाहनेवाली स्त्रीको नहीं करना चाहिये। स्त्री पतिके मरनेपर पुष्प मूल और फलोंके आहार द्वारा देहको क्षीण कर देवे परन्तु परपुरुषको कदापि न चाहे। जो एक पत्नीव्रत धारण करनेवालोंका उत्तम धर्म है, उसको चाहती हुई स्त्री, पतिके मरनेके समयसे लेकर बराबर नियमपूर्वक ब्रह्मचारिणी रहती हुई, क्षमाशीला रहे। कुमार अवस्थासे अन्ततक ब्रह्मचर्य रखनेवाले हजारों ब्राह्मण, सन्तान उत्पन्न न करके उद्र्ध्वलोकको गये हैं। पतिके मर जानेपर सती स्त्री ब्रह्मचर्यसे रहती हुई, पुत्रवती न होनेपर भी उक्त ब्रह्मचारियोंके समान उद्र्ध्वलोकको जाती है। अतः यह सिद्धान्त हुआ कि, तपको

त्याग करनेपर स्त्रीजाति, एक मुहूर्त्तके लिये भी अपने धर्मका पालन नहीं कर सकती है।

पूर्व कथित विविध तपकेद्वारा शरीर, वचन और मनके द्वन्द्व-सहिष्णु होनेपर मनुष्य सबतरहकी उन्नति कर सकता है। मानसिक तपकी तो बात ही क्या है? उसकेद्वारा ही चित्तको साम्यावस्थामें लाकर ब्राह्मणगण ब्रह्मत्व प्राप्त करते हैं और संन्यासिगण कैवल्य पदकी ओर अग्रसर होते हैं। जबतक रागद्वेषादि परस्पर विरुद्ध वृत्तियोंकेद्वारा चित्त उद्वेलित रहता है, तबतक मनुष्यको यथार्थ आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती। इसी कारण श्रीभगवान्‌ने गीतामें लिखा है :—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्ताँस्तितिक्षस्व भारत॥

इन्द्रियों और तन्मात्राओंकेद्वारा विषयकेसाथ मनका जो सम्बन्ध है, वही शीतोष्ण सुखदुःखादि द्वन्द्वोंको उत्पन्न करता है। इसप्रकारका सम्बन्ध आगमापायी (क्षणस्थायी) और अनित्य होता है। इस कारण मानसिक तपकेद्वारा द्वन्द्वसहिष्णु साधक चित्तको शान्त करके प्रसन्नता प्राप्त करता है। इस प्रकार द्वन्द्व-रहित पुण्यमय चित्त क्रमशः मुक्तिकी ओर अग्रसर होता है।

वाचनिक तप जिस प्रकार व्यक्तिगत उन्नतिमें सहायक है, उसी प्रकार जातिगत उन्नतिमेंभी परम सहायक है। जो मनुष्य मनुष्यत्व प्राप्त करना चाहे और परोपकारमें तत्पर हो, उसकी प्रत्येक बात मूल्यवान् होनी चाहिये। यह वाचनिक तपके अभावका ही फल है कि, आजकल बहुतसे पल्लवग्राही-पाण्डित्यपूर्ण अनभिज्ञ मनुष्य, समाजकी अधोगतिके कारण होरहे हैं। उन लोगोंको सोचना चाहिये कि, वाचनिक तपकी विधिको उल्लङ्घन करके, इस प्रकार नेतृत्वका अपव्यवहार करनेसे उनके शब्दोंकेद्वारा श्रोताओंके चित्तपर बुरा प्रभाव पड़ता है। इस हानिजनक कर्मकी प्रतिक्रियासे नेताका अधःपतन होता है, इसमें सन्देह नहीं है। उनका इस प्रकार भाषण करना सत्यधर्मका अपलाप करना है। शास्त्रोंमें लिखा है कि, जो वचन देश, काल और पात्रके विचारसे भूतहितकर हो, वही सत्य और धर्मानुकूल है। जो वचन देश काल व पात्र विरुद्ध और हानिकारक हो, वह असत्य और अधर्म है।

जिस मनुष्यजातिकी बातकी सत्यता और स्थिरता नहीं, वह जाति संसारमें अत्यन्त निकृष्ट है। मनुसंहितामें लिखा है:—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नाऽनृतं ब्रूयादेष धर्मस्सनातनः॥

सत्य भाषण करे, प्रिय भाषण करे। सत्य यदि अप्रिय हो, तो उसे न बोले और जो प्रिय हो परन्तु असत्य हो तो, उसका भी भाषण न करे, यह अनादि कालसे आचरण किया हुआ धर्म है। महाभारतमें लिखा है :—

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति,
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति,
तान्पण्डितो नावसृजेत्परेषु ॥
रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तया विद्धं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥
कर्णिनालीकनाराचान्निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदि शरो हि सः ॥

वचनरूप वाण मुखसे निकलते हैं, जिनसे माराहुआ मनुष्य स्वयं रात दिन शोकाकुल रहता है। चूँकि अन्य पुरुषोंके मर्मस्थानोंमें वे गिरते हैं, अतः उन बाणोंको बुद्धिमान् मनुष्य अन्य पुरुषोंपर न छोड़े। बाणोंसे वेधाहुआ और परशुसे काटाहुआ वन पुनः उग जाता है, परन्तु दुर्वाक्योंसे बींधाहुआ वचनका घाव आराम नहीं होता है। कर्णि, नालीक, नाराचआदि जातिके वाण शरीरसे निकाले जासकते हैं, परन्तु वचनरूप शल्य अन्तःकरणमें लगनेकेकारण निकाला नहीं जासकता। इसलिये मनुष्योंको सावधान होकर अपने मुखसे वचन निकालना चाहिये। अश्लील, कर्कश, पापजनक, गाली और नीचतापूर्ण शब्द कभी नहीं बोलना चाहिये। मृदु और शीलतापूर्ण शब्दोंसे जो फल निकलता है, वह कठोर और अश्लील शब्दोंसे अथवा कठोर और अशिष्ट आचरणसे नहीं निकलता। इसी प्रकार ज्ञानवृद्ध और तपोवृद्ध-आदि जनोंके सामने आत्मश्लाघा अहङ्कार और अशीलतासूचक वाक्य कभी मुँहसे नहीं निकालना चाहिये। इसी प्रकार सब विषयोंमें विचार रखनेसे वाचनिक तपका पालन होता है।

शारीरिक तपका अभ्यास न रहनेसे, मनुष्य कर्म्म जगत्में कुछ भी उन्नति नहीं कर सकता है। आज कल हिन्दूजाति जो सदा अधःपतित होरही है, शारीरिक तप न होनाही इसका प्रधान कारण है। आमदनी कम होनेपरभी विलासिता दिनोंदिन बढ़ती जाती है। मामूली शारीरिक परिश्रमकेलिये भी शरीर अपटु होगया है। प्राचीन कालमें ब्रह्मचर्य्य आश्रममें शारीरिक तपकेद्वारा शरीरको शीतोष्णादि द्वन्द्वसहिष्णु और सब तरहसे कर्मठ बनाया जाता था, जिससे आर्य्यजातिका शरीर कष्ट-सहिष्णु होकर जीवन-संग्रामकेलिये पूर्णतया समर्थ हो जाता था। अब शारीरिक तपके न होनेसे बालकपनसे ही क्षीणदेह भ्रष्टाचार परायण और सुकुमार शरीर होकर, हमारी जाति ऐसी कमजोर होगयी है कि, उसे सामान्य कष्टभी सहन नहीं होता है। सामान्य परिश्रमसे ही शरीर अस्वस्थ होजाता है। थोड़ी दूर चलनेमें भी पङ्गुके समान सवारीकी आवश्यकता होती है। ये सब बातें जातिके अधःपतनकी सूचना देती हैं। इन सबका कारण शारीरिक तपका त्यागही है। इस लिये बालकपनसे ही

सबको शारीरिक तपकीओर ध्यान देकर, शरीरको द्वन्द्व सहिष्णु और कर्मठ बनाना चाहिये, जिससे अपनी, समाजकी और जातिकी सब तरहकी उन्नति होसकेगी।

शरीरके साथ मनका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। शरीरकी पवित्रतासे मन पवित्र रहता है। इसलिये बाह्य शौचके अनुष्ठान द्वारा शरीरको सदा पवित्र रखना चाहिये। देवता, ब्राह्मण, गुरु और पूजनीय व्यक्तियोंको हाथ जोड़ना चाहिये। विनयावनत होकर उनसे सदा शीलतायुक्त व्यवहार करना चाहिये। मनुसंहितामें लिखा है :—

ऊर्द्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्तियूनःस्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि संप्रवर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

युवाके सामने, वृद्धके आनेपर युवाके प्राण ऊर्द्ध्व-उत्क्रमण करते हैं। उसको प्रत्युत्थान और अभिवादनादिसे वह पुनः प्राप्त करता है। जो पुरुष अभिवादन करनेवाला है और नित्य वृद्धोंकी उपसेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल ये चारों बढ़ते हैं। इसी तरह ब्रह्मचर्य्यका पालन करना भी शारीरिक तपका एक अङ्ग है। शास्त्रोंमें ब्रह्मचर्य्यको ज्ञानप्रदीपके लिये स्नेह (तैल) रूप कहा है। ज्ञानसङ्कलनी तन्त्रमें लिखा है :—

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्य्यं परं तपः।
उर्द्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः॥

अन्य तप वास्तवमें परम तप नहीं हैं; ब्रह्मचर्य्यही परम तप है। जो ब्रह्मचर्य्यकेद्वारा ऊर्द्ध्वरेता होता है, वह देवता है, मनुष्य नहीं है। मनुसंहिता में लिखा है :—

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्य्यमविप्लुतः।
स गच्छत्युत्तमं स्थानं न चेह जायते पुनः॥

जो नैष्ठिकरूपसे ब्रह्मचर्य्यका आचरण करता है, वह उत्तम स्थानको प्राप्त होता है। पुनः इस लोकमें आकर उसे जन्म नहीं लेना पड़ता है। श्रीभगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है :—

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः॥

सब प्रकारसे ब्रह्मचर्य्यकी प्रतिष्ठापना होनेपर असाधारण शक्तिकी प्राप्ति होती है। शरीरमें सात प्रकारके धातु हैं। वीर्य्य सबसे प्रधान और सबका सारभूत है। ब्रह्मचर्य्य धारण करनेसे, स्थूल शरीर व मन दोनों ही अत्यन्त बलवान् होजाते हैं, जिससे मनुष्य इस संसारमें बहुत कुछ कार्य्य कर सकता है। महाभारतमें लिखा है :—

मध्ये च हृदयस्यैका शिरा तत्र मनोवहा ।
शुक्रं संकल्पजं नृणां सर्वगात्रविमुश्वति ॥
पयस्यन्तर्हितं सर्पिर्यद्वन्निर्मथ्यते खजैः ।
शुक्रं निर्मथ्यते तद्वद्देहसंकल्पजैः खजैः ॥

हृदयके मध्यमें एक मनोवह नाम्नी नाड़ी है। वह मनुष्योंके संकल्पसे उत्पन्न वीर्य्यको सारे शरीरसे निकालती है। दूधमें अन्तर्हित घृत जिस प्रकार मंथन करके निकालाजाता है, उसी प्रकार देहके संकल्पोंसे उत्पन्न मंथन-यन्त्रद्वारा शुक्रको मंथन करके मनोवहा नाड़ी बाहर निकालती है। मनोवहा नाम्नी शिराकेसाथ शरीरकी सब शिराओंका सम्बन्ध होनेकेकारण जब कामकेद्वारा मनुष्यका वीर्य्य नष्ट होता है, तो उसकी प्रतिक्रिया सम्पूर्ण शिराओंपर होती है, जिससे स्नायविक दौर्बल्य उत्पन्न होनेसे स्वप्न, मधुमेह, मृगी आदि अत्यन्त कठिन रोगोंकी उत्पत्ति होती है। द्वितीयतः रक्तके सारभूत पदार्थ वीर्य्यके निकल जानेसे रक्तकी शक्ति बिलकुल नष्ट होजाती है। इससे शरीरमें कमजोरी, अपच आदि उत्पन्न होते हैं, दुर्बल शरीर किसी तरहके रोगोंसे अपनेको बचा नहीं सकता। तृतीयतः वीर्य्यमें तैजस पदार्थका आधिक्य होनेसे, उसके नाशद्वारा आँखोमें कमजोरी आती है, शरीरकी कान्ति नष्ट होकर मनुष्य मृतवत् दिखायी देने लगता है, वीर्य्यकेसाथ मनका अति घनिष्ठ सम्बन्ध होनेकेकारण वीर्य्यहीन मनुष्य दुर्बलचित्त, दुर्बलबुद्धि होकर संसारमें किसी कामका नहीं रहजाता है। इसलिये शारिरीक तपके अङ्गभूत ब्रह्मचर्य्यका पूर्णतया पालन परमावश्यक है।

इसी तरह अहिंसा भी शारीरिक तपका प्रधान अङ्ग है। महाभारतमें लिखा है :—

अहिंसा परमो धर्म्मस्तथाऽहिंसा परोदमः ।
अहिंसा परमं दान महिंसा परमं तपः ॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम ॥

अहिंसा परम धर्म्म, परम दम परम दान और परम तपस्वरूपा है। जो दान दयायुक्त व्यक्ति सकल प्राणिमात्रको अभय देता है अर्थात् किसीकी हिंसा नहीं करता है या किसी को कष्ट नहीं देता है, उसको सकल प्राणिमात्र अभय दिया करते हैं अर्थात् कोई भी उसकी हिंसा नहीं करता या कोई भी उसको कष्ट नहीं देता। यह शास्त्रका सिद्धान्त है कि प्रकृतिके ऊर्द्ध्वगतिशील प्रवाहके अनुकूल चलना धर्म्म और उसमें बाधा देना अधर्म्म है, इस लिये जो जीव प्रकृतिप्रवाहके अनुसार चलरहे हैं, उनकी गतिमें बाधा देनेका मनुष्यका धर्म्मतः कोई अधिकार नहीं है। अतएव ऐसी

क्रिया अधर्म्म है और उसकी प्रतिक्रियासे मनुष्यको दुःख भोगना पड़ता है। देवी-भागवतमें लिखा है :—

योऽ यं हन्ति विना वैरं स्वकामः सततं पुनः।
हन्तारं हन्ति तं प्राप्य जननं जननान्तरे॥

जो व्यक्ति विना वैरके स्वार्थके वशवर्ती होकर, जिसको मारता है, वह दूसरे जन्ममें उस मारनेवालेको माराकरता है। इसलिये इहलोक और परलोकमें कल्याण चाहनेवाले व्यक्तिको सर्वथा अहिंसारूपी शारीरिक तपका साधन करना चाहिये। इस प्रकार शारीरिक वाचनिक और मानसिक इन त्रिविध तपोंकेद्वारा असाधारण शक्तिलाभ करके मनुष्य अभ्युदयको प्राप्त करताहुआ, निःश्रेयस पदके अधिकारको प्राप्त होता है।

तपके शारीरिक वाचनिक और मानसिक ये तीन भेद ऊपर कहे जाचुके हैं। यही तप सात्त्विक राजसिक और तामसिक भेदसे तीन प्रकारका हुआ करता है। अर्थात् शारीरिकादि प्रत्येकके गुण भेदसे तीन तीन भेद हुए। श्रीगीतोपनिषद्में श्रीभगवान्ने गुणभेदसे तपके तीन भेदोंका लक्षण वर्णन किया है। यथा:—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥
सत्कारमानपूजार्थं तपोदम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥
मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

वह तप तीन प्रकार का है। फलाकाङ्क्षा रहित मनुष्योंकेद्वारा परम श्रद्धा-पूर्वक किया हुआ तप सात्त्विक तप है। सत्कार, सन्मान अथवा पूजे जानेकेलिये एवं दम्भपूर्वक किया हुआ तप, राजस है। यह अस्थायी और अध्रुव है। अविचार-पूर्व्वक अपनेको दबाकर और पीड़ा देकर जो तप किया जाता है अथवा दूसरेको हानि पहुँचाने या नाश करनेके लक्ष्यसे जो तप किया जाता है, वह तामसिक तप है।

गुण विभागके इन भेदोंको लक्ष्यमें रखकर मनुष्यमात्रको उचित है कि, वह सात्त्विक मानसिक तप सात्त्विक वाचनिक तप और सात्त्विक शारीरिकतपका अभ्यास बढ़ावे तथा शान्ति एवम् सुखका अधिकारी बने।

प्रथम समुल्लास का तृतीय अध्याय समाप्त

—:०:—

कर्म्मयज्ञ

कर्म्मका अधिकार सबसे विस्तृत और परमावश्यक है। कर्म्मके साधन जिस प्रकार स्थूलतर एवम् स्थूलतम हैं, उसी प्रकार कर्म्मके संस्कारोंकी शक्ति अत्यन्त बलवती और इन्द्रियोंसे अतीत है। चाहे शुभ कर्म्म कियाजाय, चाहे अशुभ कर्म्म, उनकी योग्यता और शक्तिके अनुसार कर्त्ताको इस जन्ममें अथवा दूसरे जन्ममें शुभ अथवा अशुभ फलकी प्राप्ति अवश्य हुआ करती हैं। कर्म्मोंके भेदसे ही जीवगणको देव मनुष्य और तिर्य्यक् आदि योनियोंकी प्राप्ति हुआ करती है। कर्म्मके भेदसे ही जन्मान्तरमें स्वर्गलोक पृथ्वीलोक अथवा नरकलोकमें जन्म होना स्वतः सिद्ध है। कर्मकाण्डके विस्तारसे ही आर्य्य जातिकी इतनी महिमा है। गर्भाधानादि षोडश संस्कारोंसे संस्कृत होकर ही आर्य्यजाति अपनी आर्य्यताकी रक्षा अबतक करसकी है। आर्य्यजातिको जन्मसे लेकर मृत्युपर्य्यन्त कर्म्मकाण्डकी सहायता लेनी पड़ती है।

सत्त्वगुणके बढ़ानेवाले कर्म्मोंको पुण्य कर्म्म और तमोगुणके बढ़ानेवाले कर्म्मोंको पापकर्म्म कहते है। उन्हीं पाप और पुण्यकर्मोंके परिमाणके अनुसार सात उन्नत लोक और सात अधोलोक, अर्थात् चौदह भुवनोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है। यह सात्त्विक कर्म्मकी ही शक्ति है कि, वह जीवका अन्तःकरण क्रमशः शुद्ध कर उसे मुक्तिपदको पहुँचादेता है । पाप कर्मोंके द्वारा अधिकसे अधिक जड़ हुए जीव नाना नीच योनियोंमें भ्रमण करते हैं। इस कारण धर्म्मोन्नतिकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यगणको प्रतिक्षण कर्म्मपर सावधानताकेसाथ दृष्टि रखना उचित है।

कर्म्मकी महिमाके विषयमें क्या कहा जाय ? आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्त निखिल चराचर विश्वका विस्तार कर्मकी महिमाका ही फल है। महाप्रलयके अनन्तर जब सृष्टिकी सूचना हुआ करती है, तब प्रलयके गर्भमें विलीन समष्टि जीवोंके कर्मसे ही ही पुनः विश्व संसारकी सृष्टि होती है । ऊर्द्ध्व सप्तलोक और अधः सप्तलोक इन चतुर्दश लोकोंका विस्तार और सब लोकोंमें अनन्त प्रकारके जीवोंकी उत्पत्ति कर्म्ममहिमाका ही फल है। ब्रह्मासेलेकर अनन्त कोटि देवता तक कर्म चक्रमें ही आरूढ़ होकर संसारकी रक्षा करते हैं। वे अपने अपने प्राक्तनकर्मानुसार भिन्न २ गति प्राप्त करते हैं। कर्म्मकी ही शक्तिकेद्वारा प्रेरित होकर समस्त देव, विश्व ब्रह्माण्डकी रक्षा करते हैं। नियमानुसार जगतकी स्थितिके कार्यको सुचारुरूपसे चलाया करते हैं। महाभारतमें लिखा है :—

कर्म्मणाऽमी भान्ति देवाः परत्र,
कर्म्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा ।
अहोरात्रे विदधत्कर्म्मणैव,
अतन्द्रितः शश्वदुदेति सूर्य्यः ॥
मासार्द्धमासानथ नक्षत्रयोगा,
नतन्द्रितश्चन्द्रमाश्चाऽभ्युपैति ।

अतन्द्रितो ददते जातवेदाः,
समिध्यमानः कर्म कुर्वन्प्रजाभ्यः ॥
अतन्द्रिता भारमिमं महान्तं,
बिभर्त्ति देवी पृथिवी बलेन ।
अतन्द्रिताः शीघ्रमपो वहन्ति,
सन्तर्पयन्त्यः सर्वभूतानि नद्यः ॥
हित्वा सुखं मनसश्चाऽप्रियाणि,
देवः शक्रः कर्म्मणा श्रैष्ठ्यमाप ।
वृहस्पतिर्ब्रह्मचर्य्यं चचार,
समाहितः संशितात्मा यथावत् ॥
हित्वा सुखं प्रतिरुद्धेन्द्रियाणि,
तेन देवानामगमद्गौरवं सः ।
तथा नक्षत्राणि कर्म्मणाऽमुत्र भान्ति,
रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ॥

कर्म्मकेद्वाराही देवता लोग स्वर्गमें प्रकाशमान हैं। कर्मकेद्वारही इस संसारमें वायु बहता है। कर्मकेद्वाराही सूर्य अतन्द्रितभावसे दिन और रात्रिको सम्पादन करता है। चन्द्रमा निरालस्य भावसे गतिशील होता हुआ मास, पक्ष, नक्षत्र एवं योगादिकोंको प्राप्त करता है। यज्ञसे परिपुष्ट अग्निदेव कर्मसे ही प्रेरित होकर प्रजाओंको फल प्रदान करते हैं। पृथिवी देवी आलस्य रहित हो कर्म सामर्थ्यसे ही इस गुरुभारको धारण करती है। अंतद्रित नदियाँ तीव्रप्रगति से बहती हुई निखिल प्राणियोंको संतृप्त करती हैं। देवराज इन्द्रने अपने मनकी प्रिय वस्तु तथा सुखका परित्यागकर कर्म्मके बलसे ही श्रेष्ठत्व प्राप्त किया है। वृहस्पतिने संयतचित्त भौतिक सुखोंको छोड़, इन्द्रियोंको वशमें कर ब्रह्मचर्य्यका पालन किया। फलतः देवोंके मध्यमें गौरव पूर्णस्थान प्राप्त किया। यही नहीं नक्षत्र, विश्वेदेव, रुद्र, आदित्य, वसु आदि कर्म्मके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं।

जीव सात्त्विक कर्म्मके तारतम्यानुसार ऊद्र्ध्व सप्तलोक और तामसिक कर्म्मके तारतम्यानुसार अधः सप्तलोक प्राप्त किया करते हैं। स्वर्गादि उन्नत लोकोंमें आनन्द भोग और नरकादि अधोलोकों में दुःखभोग, सब कर्म्मकी ही लीला है। वृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है किः—

पुण्यो वै पुण्येन कर्म्मणा भवति पापः पापेन ।

धर्म्मकार्य्यकेद्वारा पुण्य और अधर्म्मकार्य्यकेद्वारा पाप होता है। इसीके अनुसार सबकी गति होती है। श्रीगीतामें लिखा है किः—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक,
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥

सोमरस पानकरनेवाले निष्पाप त्रिवेदज्ञ व्यक्ति यज्ञकेद्वारा स्वर्गकी प्रार्थना करते हैं। वे पुण्यमय इन्द्रलोकमें जा देवभोग्य दिव्यवस्तुओंका उपभोग करते हैं। मीमांसामें लिखा है कि:—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतश्च तत्सुखं स्वः पदास्पदम् ॥

महाभारतमें लिखा है कि:—

सुसुखः पवनः स्वर्गे गन्धश्च सुरभिस्तथा ।
क्षुत्पिपासाश्रमो नास्ति न जरा न च पातकम् ॥

जिसके आदि, मध्य और अन्तमें भी दुःखसे संयोग न हो, और जो अभिलाषा करते ही प्राप्त हो जाय ऐसा सुख ही स्वर्गीय सुख है। स्वर्ग में शीतल, मन्द और सुगन्ध वायु बहता है। वहाँ भूख-प्यासके दुःखका लेशमात्र भी नहीं होता। वृद्धावस्था नहीं होती और पातक भी वहाँ नहीं होते हैं।

इसी तरह पुण्यके तारतम्यानुसार उन्नत लोकोंमें सुखका तारतम्य वृहदारण्यकोपनिषद्में सुष्ठुतया वर्णित है :—

स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्व्वैः मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्व्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्व्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्ते अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दोयश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः ॥

मनुष्योंमें धनवान् तथा समृद्धिमान् होना और दूसरे लोगोंका अधिपति होकर सम्पूर्ण पार्थिव भोगोंसे युक्त होना ही मनुष्योंका उत्तम आनन्द है, मनुष्योंसे सौगुना आनन्द पितृवर्गका है, जिन्होंने पितृलोकको प्राप्त किया है, इनसे शतगुण आनन्द कर्म्मदेवोंको (जो कर्मकेद्वारा देवता हुए हैं) है एवं जो कर्मदेवका आनन्द है, उससे शतगुण अधिक आजानलोकका आनन्द है। ये दोनो आनन्द श्रोत्रिय निष्पाप और निष्काम है। आजानलोक से शतगुण अधिक आनन्द प्रजापति लोकको है। इससे शतगुण अधिक परम आनन्द ब्रह्मलोकका है। यह आनन्द भी श्रोत्रिय, निष्पाप और निष्काम है।

इसी तरह अधर्मके तारतम्यानुसार अधोलोक प्राप्ति और वहुधा नीच योनियों-की प्राप्ति हुआ करती है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है कि:—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनि-
मापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ
य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्
श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥

जो पुण्य कर्मका अनुष्ठान करता है, उसे उत्तम योनि, यथा-ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि या वैश्ययोनि मिलती है। जो नीच कर्म करता है, उसे नीचयोनि, यथा—कुक्कुरकी योनि अथवा सूअरकी योनि या चाण्डालयोनि प्राप्त हुआ करती है।

स्तेयो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन्
ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चम आचरँस्तैरिति।

सोना चुरानेवाला, मदिरापान करनेवाला, गुरुपत्नीगामी और ब्रह्मघाती ये चारों और जो इनसे व्यवहार रक्खे, ये अधोगतिको प्राप्त होते हैं। वाजसनेय ब्राह्मणोपनिषद्में लिखा है कि:—

असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः ॥

आत्मज्ञानविहीन मनुष्य मृत्युके पश्चात् घोर अन्धकारमय असुर्य (असुरोंके गन्तव्य) लोकमें जाते हैं।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

कर्मही अविद्या अस्मिता आदि क्लेशोंका मूल कारण है। कर्माशयस्थित संस्कारोंकेद्वाराही जीव प्रेरित होकर जनन मरण चक्रमें परिभ्रमण करता है। संस्कारोंकी तीव्रताके अनुसार, इस जन्ममें या दूसरे जन्मोंमें पापपुण्यके फलोंका भोग करता है। कर्म-संस्कार जीवको कभी नहीं छोड़ता है। महाभारतमें लिखा है कि:—

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति ।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति ।
करोति कुर्व्वतः कर्म छायेवाऽनुविधीयते ॥
येन येन यथा यद्यत्पुरा कर्म समीहितम् ।
तत्तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विदितमात्मना ॥
आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् ।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥
बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाऽशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते ॥
येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥

पूर्वकृत कर्म समूह प्रत्येक अवस्थामें जीवकेसाथ रहता है। जीव पूर्वजन्ममें जो जो कर्म, जिस जिस तरह करता है, उसका फल उसे उसी तरहसे प्राप्त होता है। अपने किये हुए दुःखजनक या सुखजनक प्रारब्ध कर्मका भोग मातृगर्भसे ही भोगना प्रारम्भ होता है। बाल्यकाल, युवावस्था या वृद्धावस्था, जिस अवस्थामें जो शुभ या अशुभ कर्म जीवकेद्वारा अनुष्ठित होता है, उसका फलाफल भी उसी अवस्थामें प्राप्त होता है। जिस जिस शरीरसे जो जो कर्म किये जाते हैं, उन्हीं शरीरोंसे उनके फल प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार हजारों गौओंके बीचमें से वत्स अपनी माताको पहचान लेता है, उसी तरह से प्रारब्ध कर्म कर्त्ताका ही अनुगमन करता है। योगदर्शनमें भी लिखा है किः—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः ।

जाति, आयु और भोग तीनों कर्ममूलक हैं। कर्मके अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, आर्य, अनार्य आदि विभिन्न जातियोंसे जीव जन्म ग्रहण करता है। प्रारब्ध कर्मके अनुसार ही आयुका भी निर्द्धारण होता है। प्राक्तन कर्म, जितने वर्ष तक भोगे जा सकते हैं, प्राप्त शरीरमें उतने वर्षतक ही जीव रह सकता है। तत्पश्चात् देहान्त हो जाता है। पुनः नवीन कर्मसे, जीवकी गति नवीन शरीरमें होती है। भोग भी कर्मके अनुसार ही प्राप्त होता है। संसारके सुख या दुःख प्राक्तन कर्मके ही परिणाम हैं।

इतना ही नहीं; शरीरके अङ्ग प्रत्यङ्ग भी पूर्व कर्मके अनुसार ही बनते हैं। जन्म जन्ममें माता-पिताकी प्राप्ति, ग्रहोंकी दशा, रजोवीर्यमें दोष गुण, तदनुसार अङ्ग

प्रत्यङ्ग निर्माण और प्रकृतिके विशेष विशेष भाव सभी पूर्व कर्मसे मौलिक सम्बन्ध रखते हैं। सुश्रुतमें स्पष्ट है कि:—

कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे।
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान्॥
अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते।
अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तौ ये भवन्ति गुणाऽगुणाः॥
ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्माऽधर्मनिमित्तजाः।
शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः॥
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु।

पूर्वकर्मानुसार ही शरीरकी प्राप्ति होती है। पूर्व शरीरके अभ्यस्त गुणोंको व्यक्ति इस शरीरमें प्राप्त करता है। अङ्ग प्रत्यङ्गोंका निर्माण भी स्वभावसे ही होता है। शरीरके दोष गुण गर्भगत धर्माधर्मके ही फल हैं। रजोवीर्यके सांयोगिक उत्कट दोषोंसे ही प्रकृति बनती है।

वेदोंमें कर्मका व्यापक एवं विशद वर्णन है। इसका कारण स्पष्ट है; क्योंकि जगत्में कर्मका विस्तार और अधिकार सबसे अधिक है। वेदोंके जिन काण्डोंमें कर्मोंका वर्णन है, उनको कर्मकाण्ड कहते हैं। वेदों और शास्त्रोंमें तीन प्रकारके कर्म माने गये हैं, नित्य नैमित्तिक और काम्य। जिन कर्मोंके न करनेसे पाप होता हो और करनेसे विशेष फल न मिलता हो, उनको नित्य कर्म कहते हैं। जैसे—त्रिकाल संध्या पञ्चमहायज्ञादि। प्राक्तन कर्मानुसार मनुष्य, प्रकृतिकी विशेष कक्षापर प्रतिष्ठित है। उसी कक्षा पर स्थित रहनेके लिये नित्य कर्म किये जाते हैं। इनके करनेसे पुण्य नहीं होता, इनका न करना पाप है, क्योंकि न करनेसे मनुष्य उस कक्षापर प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। दृष्टान्त रूपसे हम पञ्चमहायज्ञको ले सकते हैं। यद्यपि पञ्चमहायज्ञमें आत्मोन्नतिकी विधियाँ भी हैं, फिर भी पञ्चसूना दोष दूर करनेकेलिये प्रत्येक गृहस्थको पञ्चमहायज्ञ करना चाहिये। इसीलिये इसके करनेसे पुण्य नहीं। हाँ, इनका न करना ही पाप है। प्रकृतिके क्रमोन्नतिके प्रवाहमें अवरोध उत्पन्न करनेसे, जब पाप होता है तो, मनुष्यको अपना जीवन धारण करनेके लिये सहस्रों प्राणियोंकी हत्या करनी पड़ती है। प्रत्येक ग्रासमें, चलने फिरनेमें, इतना ही नहीं, प्रतिश्वास प्रश्वासमें असंख्य प्राणियों की हत्या होती रहती है। यह सब पाप हैं, जिनके किये विना मनुष्य, संसारमें जी नहीं सकता। उन पापोंको दूर करनेके लिये ही पञ्चमहायज्ञका अनुष्ठान शास्त्रोंमें निर्दिष्ट है। मनुजीने लिखा है कि :—

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः।
कण्डनीचोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥

गृहस्थोंके पाँच स्थानोंमें जीवहत्या होती है:—चुल्ली, (चूल्हा) पेषणी, (सीलवट्टा) उपस्कर, (झाड़ू) कण्डनी (ऊखल) और उदकुम्भ (जलपात्र)। इन पाँचों चीजोंको काममें लानेसे जीवहिंसा होती है। अतः इन सब दैनन्दिन हिंसाजनित पापोंसे मुक्त होनेकेलिये महर्षियोंने गृहस्थोंकेलिये पञ्चमहायज्ञोंका विधान किया है। ये नित्यकर्म हैं। पापमुक्तिही इनका उद्देश्य है।

इसीलिये नित्यकर्मके न करनेसे पाप होता है और करनेसे पुण्य नहीं होता है। यह कर्म विज्ञान है। अपने अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जो कर्तव्य कर्म हैं, वे सभी नित्य कर्मके अन्तर्गत है। ब्राह्मणोंकी ब्राह्मणवृत्ति, क्षत्रियोंकी क्षत्रियवृत्ति वैश्योंकी वैश्यवृत्ति, शूद्रोंकी शूद्रवृत्ति, और आश्रमधर्मके अनुसार चातुर्वर्ण्यवृत्ति सभी नित्य कर्मके ही अन्तर्गत है। अपने अपने वर्ण और आश्रमधर्मके अनुसार न चलनेपर कर्मनिर्वाह नहीं हो सकता तथा जिस वर्णमें जो है, उसमें स्थित नहीं रह सकता। न उससे उन्नत वर्ण या आश्रम ही प्राप्त कर सकता है। इसलिये ब्राह्मणोंके स्वाध्याय आदि कर्म, वैश्योंके गोरक्षा आदि कर्म नित्यकर्म हैं। इनके न करनेसे उन्हें पाप होता है। नियमित रूपसे करने पर ही अपनी अपनी वर्णभूमिपर प्रतिष्ठा रह सकती है व उन्नति प्राप्त कर सकते हैं। इसी तरह राजाकेलिये प्रजापालन करना नित्यकर्म है। इसके न करनेसे राजाको पाप होता है। पूर्वकृत पुण्यके प्रतापसे अष्टलोकपालोंके अंशसे राजशरीर प्राप्त होता है। प्रजारञ्जन राजाओंका प्रधान कर्तव्य है। विश्वनियन्तासे यह उनको प्राप्त है। उस कर्तव्यमें अवहेलना होनेपर अवश्य पाप होगा। भगवान्‌की कृपादृष्टिके वे अधिकारी नहीं रह जायेंगे। मनुसंहितामें लिखा है कि:—

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतोविद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥

पहले संसारमें अराजकता थी। प्रजायें त्रस्त थीं। भयभीत होकर लोग इधर-उधर भागा करते थे। उनकी रक्षाके लिये ही कृपालु प्रभुने राजाका सर्जन किया।

प्रजारक्षक राजाको यथार्थ राजा कहना चाहिये। प्रजापीड़क, वस्तुतः राजा पदवीके योग्य नहीं। शुक्रनीतिसारमें लिखा है कि:—

यो हि धर्म्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम्।
अंशभूतो धर्म्मलोपी प्रजापीडाकरो भवेत्॥

धार्म्मिक, प्रजारञ्जक राजा ही देवांशसे उत्पन्न होते हैं। दूसरे राक्षसोंके अंशसे उत्पन्न होते हैं। ऐसा राजा धर्मनाशक और प्रजापीड़क होता है। राजाके पापसे राज्यमें शान्ति नहीं रहती है और सब प्रजा पापी होजाती है। मनुस्मृतिमें लिखा है कि:—

राज्ञि धर्म्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्त्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥

राजाके धर्म्मात्मा होनेसे प्रजा धर्म्मात्मा होती है। उसके पापात्मा होनेपर पापात्मा एवं पुण्य-पापमें सम होनेपर सम होती है। पापके फलसे प्रजामें वर्णसंकरता, ऋतुविपर्यय, अपग्रहोंका अत्याचार, प्रजानाश और राज्यनाश होता है। महाभारत-में लिखा है कि:—

क्षत्रियस्य प्रमत्तस्य दोषः सञ्जायते महान्।
अधर्म्माः संप्रवर्त्तन्ते प्रजासङ्करकारकाः॥
अशीते विद्यते शीतं शीते शीतं न विद्यते।
अवृष्टिरतिवृष्टिश्च व्याधिश्चाप्याविशेत्प्रजाः॥
नक्षत्राण्युपतिष्ठन्ति ग्रहा घोरास्तथागते।
उत्पाताश्चाऽत्र दृश्यन्ते बहवो राजनाशनाः॥
अरक्षितात्मा यो राजा प्रजामपि न रक्षति।
प्रजाश्च तस्य क्षीयन्ते ततः सोऽनुविनश्यति॥

राजाके प्रमादसे महान् दोष उत्पन्न होता है। राज्यमें अधर्म बढ़ जाता है। प्रजायें वर्ण संकर हो जाती हैं। गर्मीके समयमें शीत और शीतके समय गर्मी सी पड़ने लगती है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि और विविध रोग, राज्यको ग्रस्त कर लेते हैं। राज्यक्षयके सूचक अपग्रह, धूमकेतु आदिका उदय होने लगता है। स्वयम् अरक्षित राजा अपनी प्रजाकी रक्षा नहीं कर पाता है। फलतः उसकी प्रजा नष्ट हो जाती है। तदनन्तर उसका भी नाश हो जाता है।

इसलिये प्रजापालन करना राजाका परमकर्त्तव्य है। यह नित्यकर्मके अन्तर्गत है। इसी तरह जगत् कल्याणकर कार्य करना, संन्यासियोंके लिये नित्यकर्म है। आत्माको इन्द्रियोंके संगसे हटाकर व्यापक परमात्माके साथ मिलादेना ही संन्यासीके लिये मुक्तिका कारण है। सन्यास आश्रमका मुख्य कर्त्तव्य, अपने प्राणको विश्वप्राणके साथ मिलाना ही है। देहात्मबुद्धि नष्ट कर चित्तका सङ्कोचभाव दूर कर, अनुदारता एवं स्वार्थबुद्धि नष्ट कर परार्थबुद्धि बढ़ानेमें ही संन्यासी जीवनकी सार्थकता है। इसीलिये शास्त्रोंमें कहा गया है कि:—

साध्नोति परकार्यमिति साधुः।

साधु वही है, जो दूसरोंकी हितसिद्धि करे। जब तक साधु निष्काम कर्मयोग-का अवलम्बनकर, विश्व संसारको भगवान्का रूप समझकर भगवत्सेवारूप जगत्सेवा-कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता है, तब तक उसकी देहात्मबुद्धि और अहङ्कार नष्ट नहीं होते। विना देहाभिमान नष्ट हुए स्वरूप-उपलब्धि नहीं हुआ करती है। स्वरूप-उपलब्धि न होनेसे संन्यास लेना ही व्यर्थ हो जायगा। अतः संन्यासी यदि यथार्थ संन्यासी बनना चाहे तो, जगत्कल्याणकर कार्य करना उसका कर्त्तव्य अर्थात् नित्यकर्म होगा। इसके न करनेसे उसको पाप होगा अर्थात् अपने पदसे वह गिर जायगा।

जिन कर्मोंके करनेसे फलकी प्राप्ति होती है और न करनेसे पाप नहीं होता है, उनको नैमित्तिक कर्म कहते हैं। यथाः—तीर्थदर्शनादि। तीर्थदर्शन न करनेसे पाप नहीं होता परन्तु करनेसे पुण्य अवश्य होता है। तीर्थ क्या वस्तु है? तीर्थोंकी महिमा क्या है? कितने प्रकारके तीर्थ होते हैं? ये सब बातें आगे बतायी जायँगी। तीर्थसेवाके नियम और आचार शास्त्रोंमें वर्णित हैं। उसके अनुसार तीर्थसेवासे निश्चित ही सुन्दर फलोंकी प्राप्ति होती है। विषयी पुरुषके स्थानसे महात्माके स्थानमें बहुत बड़ी विशेषता होती है। वहाँ जानेमात्रसे ही घोरसे घोर विषयी भी महात्माके प्रभावसे तत्काल पवित्र हो जाता है। वह विषयीभावको थोड़ी देरके लिये भूल जाता है। धर्मभावके द्वारा उसका चित्त शान्त हो जाता है। तीर्थोंकी प्रतिष्ठा और महिमा भी दैवी शक्तियोंके द्वारा है। जो दैवी शक्तियाँ वहाँ नित्य या नैमित्तिक रूपसे काम कर रही हैं, उन सबकी सीमामें आजाने मात्रसे ही मनुष्यके चित्तका वैषयिक भाव नष्ट हो जाता है। मानसमें सद्भावका उदय हो जाता है। यही तीर्थ सेवनका महान और उल्लेख्य फल है। तीर्थोंमें पूजा, दान, स्नान, सत्सङ्ग, धर्मचिन्ता और तप आदि सत्कार्योंके अनुष्ठानके द्वारा भी विशेष पुण्यकी प्राप्ति हुआ करती है। इसी तरह गृहस्थोंके लिये साधु-दर्शन, देवस्थान-दर्शन और धर्माचार्यों के सत्सङ्ग आवश्यक हैं। इससे उन्हें सत्शिक्षाका लाभ होता है। ये सभी कार्य नैमित्तिक कर्म हैं। इनके न करनेसे पाप तो नहीं होता है परन्तु करनेसे विशेष पुण्य लाभ होता है।

जो कर्म किसी विशेष कामपूर्तिके लिये किये जाते हैं, वे काम्य कर्म हैं। यथाः—पुत्रेष्टि याग, अश्वमेध याग आदि। काम्य कर्मके मूलमें स्वार्थ रहता है। यह बात भी विचार करने योग्य है कि, एकही कार्य, भावके भेदसे कहीं नैमित्तिक और कहीं काम्य हो जाता है। उदाहरण स्वरूप यदि कोई मनुष्य केवल तीर्थदर्शनके लक्ष्यसे ही तीर्थयात्रा करे तो, उसकी यह यात्रा नैमित्तिक कर्मके अन्तर्गत होगी। यदि वह इस प्रकार यात्रा न कर किसी विशेष कामनाकी सिद्धिके लिये तीर्थयात्रा करे तो, वह यात्रा काम्य कर्म हो जायगी। तात्पर्य यह है कि, नैमित्तिक कर्मके मूलमें केवल चित्तका साधारण धर्मभाव रहा करता है, परन्तु काम्य कर्मके मूलमें विशेष कामना निहित रहती है।

श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजीने गीतामें कर्मकी गतिको गहन कहकर कर्मरहस्यका अच्छी तरह वर्णन किया है। केवल भावमात्रके प्रभेद होनेसे ही कर्मकी शक्तिमें बहुत कुछ तारतम्य हो जाया करता है। इसलिये कर्मोंका सूक्ष्म विचार करते हुए, महर्षियोंने कामनाके तारतम्यानुसार कर्मोंकी शक्तिके तारतम्यको आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूप तीन भागोंमें विभक्त किया है। कामना यदि सात्त्विक है तो, आत्माकी उन्नतिके साथ-साथ,बहुत कुछ उदारता व विचार-प्रवणता प्रदान करती है। तदनुसार कर्मके भावमें भी परिवर्त्तन होजाता है।

दूसरे भूतों (प्रणियों) के द्वारा कामनाकी सिद्धि और फल प्रदान करने वाले कर्म अधिभूत कर्म हैं। यथाः—ब्राह्मण भोजनादि कर्म। सद्ब्राह्मणोंको भोजन

करानेसे उनके आशीर्वाद और मानसिक शक्ति आदिके द्वारा विशिष्ट पुण्य और फलकी प्राप्ति होती है। इस लिये ब्राह्मणभोजन और साधुभोजन आदि कर्म अधिभूत कर्मके अन्तर्गत हैं। भावनाकी उच्चभूमिपर मनुष्य, सार्वभौम भावसे भावित होकर संसारके सुखको अपना सुख जानने लग जाता है। उसके सभी लोकोपकारक कर्म आधिभौतिक कर्म माने जायँगे। कोई दरिद्रोंको भोजन देता है। कोई अनाथालय आदिकी स्थापना करता है। दातव्य चिकित्सालयोंके द्वारा गरीब रोगियोंके रोग नाशमें कोई धनी प्रवृत्त होता है। यह सब देशोपकारक कर्म हैं। ये सभी अधिभूत कर्म हैं। कर्त्ताकी उदार कामनाकी पूर्ति इनसे होती है। उसे एतादृश महत्कार्योंसे विशेष पुण्यफल मिलता है। उसके हृदयको सन्तोष होता है।

याग-यज्ञादि आधिदैविक कर्म हैं। कर्मोंके द्वारा दैवी शक्तिको अनुकूल करके फल प्राप्त किया जाता है। शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि, प्रबल कर्मकेद्वारा दुर्बल कर्म दब जाते हैं। इसलिये यदि कोई मनुष्य दैवी शक्तिको प्रसन्न करके, उससे उत्पन्न प्रबल संस्कारकेद्वारा अपने विपरीत संस्कारको हटादे तो, वह कर्म आधिदैविक होगा। प्राक्तन दुष्ट कर्मोंके मन्द संस्कार, मनुष्यको क्लेश देते हैं। मनुष्य याग यज्ञ पूजा आदि आधिदैविक कर्मोंसे उत्तम व प्रबल संस्कार उत्पन्न कर, उन मन्द संस्कारोंको दबा सकता है। नवीन सुख भी प्राप्त कर सकता है। अपनी स्वार्थसिद्धि या कामना पूर्ण करनेकेलिये भी आधिदैविक काम्य कर्मोंका अनुष्ठान होता है। कामनाके संकुचित अनुदारभावको हटाकर, विश्वात्मभावसे संसारके कल्याणकेलिये आधिदैविक कर्मोंका अनुष्ठान भी होता है। जैसे ग्राम नगर अथवा देशके उपकारकेलिये यज्ञ, ग्रामदेवता या गृहदेवताकी प्रतिष्ठा आदि लोक हितकर कार्य इस यज्ञके अन्तर्गत हैं। देशमें महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदिका फैलना, देशके समग्र जीवोंके पाप संस्कारोंका ही कुफल है। इसलिये किसी देशमें इसी तरहके कुसंस्कारोंसे, जब देशव्यापी दुःख उदित होता है, तब उनको दैवीसंस्कारोंद्वारा दबानेकी आवश्यकता पड़ती है। सुफल उत्पन्न करनेकेलिये यदि कोई परोपकारी पुरुष दैवयज्ञादिका अनुष्ठान करे तो, यह आधिदैविक कर्म कहलायेगा।

आध्यात्मिक कर्ममें बुद्धिका प्राधान्य रहता है। इसी विचारसे स्वधर्म-देशोपकारक तथा ज्ञानविस्तारक कर्मोंको आध्यात्मिक कर्म कहते हैं। जीव प्रकृतिपर संयम करनेसे ज्ञात होता है कि, अहंकारके विकाशका भी एक तारतम्य है। जीवमें वासना होती है। वह प्रकृतिके निम्नस्तरसे प्रारम्भ होती है। वही क्रमशः उद्र्ध्व-गतिको प्राप्त करता है। उसमें विस्तार आता है और वह उदारताको प्राप्त होती जाती है। तदनुसार यद्यपि प्रथम स्तरमें स्वार्थमूलक मलिन वासना रहती है, फिर भी क्रमशः वह वासना शुद्ध होती जाती है। उद्भिज्ज या स्वेदज योनिस्थ जीवोंमें यह वासना पूर्ण प्राकृतिक है। वह आत्मरक्षामात्रकी साधिका है। अन्यके सुखके साथ अपने सुखका सम्बन्धज्ञान उद्भिज्ज या स्वेदजमें बिलकुल नहीं है क्योंकि मनोमय कोषका वहाँ विकाश ही नहीं हुआ है। तदनन्तर अण्डज पक्षियोनि अथवा पशुयोनिमें आकर इस भावका थोड़ासा विकाश होता है। अपने बच्चोंपर प्रेम करना, स्वयं

कष्ट सहकर भी उनकी रक्षा करनी, उनका अच्छी तरह से लालन-पालन करना, दाम्पत्य प्रेम और यूथप्रेम दिखाना, यह सब वासना विस्तार और स्वार्थभावके केन्द्र विस्तारका लक्षण पशु पक्षियोंमें देखनेमें आता है। तदनन्तर मनुष्ययोनिमें आकर इसका विशेष विकाश होता है। मनुष्य सामाजिक जीव है। प्रत्येक मनुष्य अपनेको समाजका अङ्ग-प्रत्यङ्ग समझता है। पारिवारिक जीवनके साथ ही साथ मनुष्यकी अहंता, ममता या तन्मूलिका वासना अपने केन्द्रकी परिधिको बढ़ाती जाती है। तदनुसार सुख दुःखकी परिधि भी बढ़ जाया करती है। बालकपनमें सुख दुःख व्यष्टिगत रहनेपर भी विवाहके अनन्तर प्रथमतः पत्नीसे और क्रमशः पुत्र कन्यामें भी वह भाव बँटजाता है। मनुष्य स्वयं भूखा रहकर भी पुत्र, कन्या या स्त्री-को खिलाकर सुख लाभ करता है। पुत्र कन्याको भूखा देखकर भी वह दुःखी होता है। इससे सिद्ध हुआ कि, स्त्री पुत्र आदिके साथ अपनी अहंताको उसने मिला दिया है एवम् उसकी वासना उदार और विस्तृत हो गयी है। इस तरह अपनी मलिन स्वार्थमय वासनाको मनुष्य शुद्ध करता हुआ समस्त परिवारमें उसे फैलाता है। तदनन्तर मनुष्य केवल अपने परिवारके साथ ही स्नेह सम्बन्ध न रखकर अपने ग्राम या नगरके साथ आत्मीयता स्थापन करता है। उस समय समस्त ग्राम या नगरके मनुष्योंके सुख दुःखके साथ अपने सुख दुःखको मिलाता है। अपनेको उनके सुखसे सुखी और उनके दुःखसे दुःखी मानता है। तदनन्तर समाजके साथ अपना सम्बन्ध बढ़ाकर समाजकेलिये स्वार्थत्याग करता है। समाजके सुखकेलिये ही वह पुरुषार्थ करता है। समाजके सुखमें सुखी तथा दुःखों में दुःखी होता है। तदनन्तर अपनी जाति और देशमें अपने ममत्वका विस्तार करता है। जाति और देशकी सेवा करके अपनेको धन्य मानता है। देश और जातिकेलिये जीवन अर्पण करता है। यही सच्ची देशभक्ति है। देशभक्त मनुष्य देशके सुखसे सुखी और देशके दुःखसे दुःखी होता है। वह देश और जातिकेलिये सर्वस्व उत्सर्ग करदेता है। उस समय उसकी रुचि क्षुद्र विषयों या इन्द्रियसुखोंकी ओर नहीं रहती है। संसारके सुखके लिये वह स्वयं कष्ट झेलता है। उसे ही परम सुख समझता है और आनन्दका अनुभव करता है। उसकी सत्ताका विस्तार हो जाता है। उसकी स्वार्थ बुद्धि नष्ट हो जाती है और उसमें परार्थ बुद्धिका पूर्ण विकाश हो जाता है। ऐसा पवित्र आत्मा महापुरुष आध्यात्मिक जीवनमें भी बहुत ही उन्नति करता है। इस दशामें उससे देश और धर्मकेलिये जो कुछ कार्य होते हैं, वे सभी आध्यात्मिक कर्म ही हैं। देशमें ज्ञान, धर्म और चरित्र आदिकी समुन्नतिकेलिये ऐसे लोग सदैव तत्पर रहते हैं। चित्तकी छोटी वासनायें बिलकुल नष्ट होजाती हैं। समस्त संसारको वे भगवान्का रूप समझते लगते हैं। महात्मा कहलाते हैं। "वसुधैव कुटुम्बकं" ही उनका सिद्धान्त हो जाता है। उनका जीवन विश्वजीवनमय हो जाता है और उनका प्राण विश्वप्राण बन जाता है। उनसे जितने कर्म होते हैं, वे सभी जगत्कल्याणके लिये होते हैं। यही साधुकी साधुता है। योगीका आध्यात्मिक कर्मयोग है और सच्ची भगवत्सेवा है। भागवतमें लिखा है किः—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्माऽवस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्यात्भस्मन्येव जुहोति सः ॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा ॥
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥

समस्त भूत समूहमें एक भूतात्मारूपसे भगवान् विराजमान हैं । उनकी अवज्ञा करके पूजा करना विडम्बनामात्र है । समस्त भूतोंमें व्याप्त ईश्वरभावका परित्याग करके केवल अर्चनाभक्ति भस्ममें आहुति देनेके समान निष्फल है । ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है । दूसरे शरीरमें द्वेषकरना, भेद-देखना ईश्वरकी व्यापकतामें अविश्वास है । भूतोंमें वैरभाव रखनेवाले ऐसे पुरुषके चित्तमें शान्ति नहीं होती है । इसलिये प्राणिमात्रमें मित्रभाव रखकर सर्वव्यापी परमात्माकी पूजा करनी चाहिये । ईश्वर जीवरूपी कलासे सकल भूतोंमें निवास करते हैं । इसलिये बहुत सम्मानके साथ भगवद्भावसे प्राणिमात्रको मन ही मन प्रणाम करना चाहिये ।

ऋषियोंका जीवन ऐसा ही था । उनकी विभूति परोपकारकेलिये ही थी । उनकी चिन्ता परोपकारमें ही लगी रहती थी । उनकी ज्ञानशक्ति समस्त संसारके अज्ञानान्धकारको नष्ट करती थी । उन्हींकी कृपा है कि, आज भी भारत निर्धन होनेपर भी ज्ञानधनसे धनी है और जगत्में गुरुवत् पूज्य है । इस प्रकार भारतीय ऋषि देश, जाति और संसारके कल्याणमें रत रहा करते थे । ज्ञानकी ज्योतिका विस्तार करनेके लिये वे गुरुकुलोंमें शिक्षणकी व्यवस्था करते थे । आश्रमोंमें आचारकी दीक्षा देते थे । चेतनाके आवरणको उन्होंने तोड़ा । मन्त्रोंका दर्शन किया । पुराणोंका निर्माण किया । यह उनके सार्वजनीन कार्य वस्तुतः आध्यात्मिक कार्य हैं ।

विहित कर्म पुनः दो भेदोंमें विभक्त हैं:—सकाम और निष्काम । सकाम कर्मके साथ वासनाका सम्बन्ध बना रहता है । फलतः उससे मुक्ति नहीं होती है । जिस वासनाको लेकर हम कर्म करते हैं, कर्मकी सिद्धिमें उसी कामनाका फल भोग होता है । वेदों और शास्त्रोंमें ऐसे बहुतसे कर्मोंका विधान है । उनके फलोंके भी वर्णन हैं । गीता दो गतियोंका निर्देश करती है । वे दोनों सकाम और निष्काम कर्मकी परिणाम ही हैं । सकाम कर्मका फल धूमयानगति है । निष्काम कर्मके फलसे देवयानगति मिलती है । श्रीगीतामें लिखा है कि:—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्तते पुनः ॥

जो क्रमशः अग्न्यभिमानी, ज्योतिरभिमानी, दिवाभिमानी, शुक्लपक्षाभिमानी और उत्तरायणके षण्मासाभिमानी देवताओंका अवलम्बन करके देवयानसे गमन करते हैं, वे ब्रह्मविद् व्यक्ति ब्रह्मरूप हो जाते हैं । वे पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते हैं । जो क्रमशः धूमाभिमानी, रात्र्यभिमानी, कृष्णपक्षाभिमानी और दक्षिणायनके छः मासोंके अभिमानी देवताओंको अवलम्बन कर पितृयानसे गमन करते हैं, वे योगीगण चन्द्रलोक प्राप्त करते हैं । उन्हें पुनः पृथिवी पर जन्म लेना पड़ता है । इन दोनों गतियोंको शुक्लगति और कृष्णगति कहते हैं । जगत्‌में मनुष्यमात्रकी ये दो अनादि गतियाँ हैं । इनमें एकसे अपुनरावृत्ति और दूसरीसे पुनरावृत्ति अवश्यम्भावी है ।

धूमयान या पितृयान या दक्षिणायन गति प्राप्त कर मनुष्य किसी ऊद्‌र्ध्वलोकमें जाता तो है किन्तु वासनामय स्वकर्मानुरूप फल भोग करके पुनः संसारमें लौटकर आ जाता है । श्रीगीताजीमें लिखा है कि :—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक,
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

कुछ त्रिवेदवित् पण्डित भी कामनाके वशीभूत होते हैं । वे सोमपानपूर्वक नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करते तथा स्वर्गकी प्रार्थना करते हैं । वे पापोंसे छूट जाते हैं । उन्हें पवित्र देवलोककी प्राप्ति हो जाती है । स्वर्गराज्यमें वे नाना प्रकारके दिव्य देवभोगोंका उपभोग करते हैं, किन्तु वे भोग चिरस्थायी नहीं होते हैं । वे लोग बहुत समय तक उस सुविशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्यका क्षय होनेपर पुनः इस मर्त्यलोकमें जन्म ग्रहण करते हैं । वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करनेपर भी वे सकामकर्मी पुरुष जन्ममरणरूप मार्गको ही प्राप्त करते हैं ।

सकाम कर्मसे पुनरावृत्ति नहीं छूटती है। संसारचक्रमें घटीयन्त्रवत् घूमना बना ही रहता है। इसलिये शास्त्रोंमें सकाम कर्मोंकी गणना उत्तम कर्मोंमें नहीं होती है। यथा :—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा,
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा,
जरामृत्युं ते पुनरेवाऽभियन्ति॥
अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना,
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्तिबालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागा,
त्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं,
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभू,
त्वेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति॥

अष्टादश हीनफलप्रद कर्मोंका जिसमें अनुष्ठान होता है, ऐसा यज्ञरूपी प्लव (भेलक, नाव) दृढ़ नहीं होता है। वह निश्चितरूपमें विनाशशील है। जो मूढ़ पुरुष इसे श्रेयस्कर समझता है, उसको जरामृत्युके बन्धनमें आना पड़ता है। अविद्याके द्वारा बुरी तरह ग्रस्त होनेके कारण बालबुद्धि मूढ़लोग अपनेको कृतार्थ समझते हैं। सकाम कर्मी लोग आसक्तिके कारण तत्त्व निर्णय करनेमें असमर्थ होते हैं। कर्मविपाकसे स्वर्गादि लोकोंमें सुख भोग करके भोगके अन्तमें दुःखितचित्त होकर उन उन्नतलोकोंसे च्युत हो जाते हैं। अत्यन्त मूढ़लोग इष्ट व पूर्त्त कर्मोंको ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इनसे श्रेष्ठ कर्मोंको वे जानते ही नहीं हैं। वे पुण्यके द्वारा प्राप्त स्वर्गलोकमें कर्मफल भोगकर मर्त्यलोक अथवा इससे भी किसी हीनलोकमें जाते हैं।

इस तरह संसारमें भोगकी अनित्यता और तुच्छताका ध्यान रखना चाहिये। परलोकसे भी पतन होता ही है। अतः वह भी अकिञ्चित्कर है, यह समझना चाहिये। वैराग्यका अवलम्बन कर निष्काम कर्मानुष्ठानमें मनुष्यको प्रवृत्त होना चाहिये। श्रुतिमें कहा है कि:—

"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते,
एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते"।
"परीक्ष्य लोकान्कर्म्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन"।

जैसे इस संसारमें कर्मकेद्वारा प्राप्त लोक क्षय होजाता है, ऐसे ही स्वर्गमें भी पुण्यकेद्वारा प्राप्त लोक क्षीण हो जाता है। तत्त्वज्ञानी ब्राह्मण कर्मकेद्वारा प्राप्य लोकसमूहके मिथ्यात्वको परीक्षाकेद्वारा जानकर वैराग्य अवलम्बन करते हैं क्योंकि उनको विदित होजाता है कि, कर्मकेद्वारा आत्यन्तिक दुःखनाश और मुक्ति नहीं होसकती है। श्रुतिमें भी लिखा है यथाः—

पुत्रैषणायाः वित्तैषणायाः लोकैषणायाः व्युत्थायाऽथ
भिक्षाचर्यं चरन्ति।

पुत्रकी इच्छा, धनकी इच्छा और यशकी इच्छा, इन तीनोंसे अलग होकर मनुष्य पूर्ण संन्यासी बनते हैं। इस प्रकार वासनाशून्य और वैराग्यवान् संन्यासी निष्काम कर्मयोगकेद्वारा उत्तरायण गतिको प्राप्त होते हैं। यथा मुण्डकोपनिषत् मेंः—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये,
शान्ता विद्वांसो भिक्षाचर्यं चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति,
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥
सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः,
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीराः,
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥

जो शान्त संन्यासी अथवा विद्वान् गृहस्थ तप व श्रद्धासे युक्त व निवृत्तिसेवी होकर भिक्षान्नकेद्वारा उदरपूर्त्ति करते हुए अरण्यमें वास करते हैं, उनको उत्तरायण-गति प्राप्त होती है। ऐसे सात्त्विक पुरुष अव्यय हिरण्यगर्भके लोकमें जाते हैं। वहाँसे उनकी मुक्ति होती है। यह क्रमोद्र्ध्वगति है। इसके सिवाय और एक गति है, जिसको सहज गति कहते हैं, जिसके लिये द्वितीय मन्त्र कहा गया है। इसमें इहलोकमें ही मुक्ति होती है। ज्ञानतृप्त ऋषिलोग परमात्माको यहीं जानकर परितृप्त, वीतराग और प्रशान्त होजाते हैं। वे सर्वव्यापी परमात्माको पूर्णरूपसे जानकर अपनी सत्ताको उसी विराट्सत्तामें विलीन करके विदेहमुक्ति लाभ करते हैं। इसी तरहसे निष्काम कर्मके फलसे अन्तमें ज्ञानलाभ होकर मुक्तिपद प्राप्त होता है। अतः सर्वथा सिद्ध हुआ कि, कर्मके अधिकारसमूह बहुत ही अद्भुत रहस्योंसे पूर्ण हैं और उनकी शक्तियाँ महान् हैं।

तीन गुणोंके अनुसार प्रत्येक कर्म तीन प्रकारका होता है। कर्मविज्ञानपर बहुतही विचार करके श्रीभगवान्ने भी गीताजीमें इसीलिये गुणके तारतम्यसे त्रिविधयज्ञ, त्रिविधकर्म और त्रिविधकर्त्ताका लक्षण वर्णन किया है। यज्ञके लक्षण यथाः—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

फलकी इच्छाको त्यागकर, यज्ञ करना चाहिये । इस बुद्धिसे कर्त्तव्य मानकर और वेदोक्त विधिपूर्वक संयत होकर, जो यज्ञ किया जता है, उसे सात्त्विक यज्ञ कहते हैं । फलप्राप्तिकी इच्छासे किंवा दम्भसे जो विधिपूर्वक याग कियाजाता है, वह राजस यज्ञ है । विधिरहित, मन्त्र दक्षिणा और श्रद्धासे रहित तथा अन्नदानरहित जो यज्ञ कियाजाय उसे तामस यज्ञ कहते हैं ।

कर्मके लक्षण । यथाः—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥

फलाकाङ्क्षा, आसक्ति और रागद्वेष रहित एवं स्ववर्णाश्रमके अनुसार अनुष्ठित कर्म सात्त्विक है । फलकी आकाङ्क्षा, अहङ्कार और विशेष आयासकेद्वारा अनुष्ठित कर्म राजसिक हैं । भावी शुभाशुभ, धनक्षय, परपीड़ा और शक्तिका विचार न करके मोहके वशवर्त्ती होकर जो कर्म किया जाता है, उसे तामसिक कर्म कहते हैं ।

कर्त्ताके लक्षण । यथाः—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥

आसक्तिरहित, कर्तृत्वाभिमानरहित, धृति और उत्साहसे युक्त एवं सिद्धि और असिद्धिमें समभावापन्न कर्त्ता सात्त्विक है। विषयासक्त, फलाकाङ्क्षी, लोभी, हिंसक, अशुचि और हर्ष व विषादसे युक्त कर्त्ता राजसिक है। अयुक्त, विवेकहीन, अविनयी, शठ, दूसरोंका अपमान करनेवाला, आलसी, विषादग्रस्त और दीर्घसूत्री कर्त्ता तामसिक हैं।

श्रीभगवान् मनुजीने अपनी संहिताके १२ वें अध्यायमें इस कर्मरहस्यपर बहुत विचार किया है। यथाः—

शुभाऽशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाऽधममध्यमाः॥

शरीर, मन और वचनसे जो शुभाऽशुभ कर्म किये जाते हैं, उन कर्मोंके अनुसार ही लोकमें मनुष्योंको उत्तम, मध्यम तथा अधम गति प्राप्त होती है।

तस्येह त्रिविधस्याऽपि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्त्तकम्॥

देहधारी जीवके अन्तःकरणको ही तन मन और वचनके आश्रित उत्तम मध्यम तथा अधम कर्मोंका प्रवर्त्तक जाने। यह तीन प्रकारके कर्म नीचे लिखे दश लक्षणोंसे युक्त हैं:—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम्।
वितथाऽभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥

पराया धन अन्यायसे लेनेकी इच्छा, मनसे अनिष्ट चिन्ता, "परलोक नहीं है" "शरीर ही आत्मा है" ऐसा मिथ्याभिनिवेश, यह तीन प्रकारके अशुभदायक मानस कर्म हैं।

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥

कठोर वचन, मिथ्या बोलना, परोक्षमें दूसरोंका दोष कहना और असम्बद्ध प्रलाप यह चार वाचिक अशुभ कर्म हैं।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाऽविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥

विना दिये हुए धनका लेना, अवैध हिंसा और परायी स्त्रीसे सम्बन्ध, यह तीन शरीरके अशुभ कर्म हैं।

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥

मनसे सुकर्म वा दुष्कर्म करनेपर सुकर्मका फल सुख और दुष्कर्मका फल दुःख मनसे ही भोगता है। ऐसे ही वाणीसे किये हुए कर्मका फल वाणीसे और शरीरसे किये हुए कर्मका फल शरीरसे भोगता है।

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥

यदि मनुष्य शरीरसे अशुभ कर्म करे तो, स्थावर योनि पाता है। वाणीके अशुभ कर्मोंसे पक्षीकी योनि वा पशुकी योनि पाता है और मनके अशुभ कर्मोंसे अन्त्यज योनि पाता है।

यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः।
तैरेव चाऽवृत्तो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते॥

जीव यदि मनुष्य शरीरमें धर्म अधिक और अधर्म बहुत थोड़ा करे, तो दिव्यशरीरधारी होकर स्वर्गलोकमें सुख अनुभव करता है।

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः।
तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः॥

यदि अधर्म अधिक और धर्म थोड़ा हो तो मृत्युके बाद यमलोकमें यातना प्राप्त करता है।

यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः।
तान्येव पञ्चभूतानि पुनरप्येति भागशः॥

जीव यमलोकमें दुःख भोगकर निष्पाप हो, अपने कर्मोंके अनुसार फिर पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतोंका बना हुआ मनुष्य आदिका शरीर पाता है।

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः॥

धर्म और अधर्मसे जीवकी इस प्रकार गतियोंको अपने ही चित्तमें विचारकर सदा धर्ममें ही मन लगावे।

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान्।
यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान्महान् सर्वानशेषतः॥

सत्त्व रज और तम इन तीनोंको महत्तत्त्वरूप आत्माके गुण जाने, जिन गुणों से व्याप्त हुआ महत्तत्त्व, स्थावर जङ्गमरूप सकल पदार्थोंको व्याप्त करके स्थित है।

यो यदेषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्॥

यद्यपि सकल शरीरधारी इन तीनों गुणोंसे युक्त हैं तथापि इन तीनों गुणोंमेंसे जो गुण अधिक होता है, वह गुण उस शरीरधारीको उस गुणकी अधिकताके लक्षणोंसे युक्त करता है।

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः॥

ज्ञान सत्त्वगुणका लक्षण है। उसके विपरीत अज्ञान तमोगुणका लक्षण है, रागद्वेषको रजोगुणका स्वरूप कहा है। इन सत्त्वादि गुणोंका यह ज्ञानादि लक्षण सकल प्राणियोंमें व्याप्त है।

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत्॥

आत्मामें प्रीतियुक्त प्रकाशरूप जो कुछ शान्तभाव अनुभवमें आवे, उसको सत्त्वगुण जाने।

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
तद्रजोऽप्रतिघं विद्यात् सततं हारि देहिनाम्॥

जो भाव दुःखसे युक्त एवं आत्माका अप्रीतिकर हो और सदा शरीरधारियोंको विषयभोगकी इच्छा उत्पन्न करे, वह दुर्निवार शत्रु रजोगुण है।

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्॥

जो मोहसे युक्त हो, जिसमें विषयका प्रकाश न हो, जो विषयात्मक हो और जो विचार व ज्ञानकोटिसे नीचे हो, उसको तमोगुण कहते हैं।

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥

इन तीनों गुणोंका जो उत्तम मध्यम और अधम फल उत्पन्न होता है, उसको पृथक् पृथक् कहते हैं।

वेदाऽभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्॥

वेदका अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, जितेन्द्रियता, धर्मानुष्ठान और परमात्माका चिन्तन, यह सत्त्वगुणके कार्य्योंके लक्षण हैं।

आरम्भरुचिताऽधैर्य्यमसत्कार्य्यपरिग्रहः।
विषयोपसेवा चाऽजस्रं राजसं गुणलक्षणम्॥

फलकामनासे कर्मानुष्ठानमें रुचि होना, अधीरता, लोक व शास्त्रविरुद्ध कार्यों-का आचरण, अत्यन्त विषयोपभोग, इनको रजोगुणका कार्य्य जाने।

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्य्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्॥

लोभ, निद्रालुता, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, आचारभ्रष्टता, माँगनेकी प्रवृत्ति व प्रमाद, ये सब तमोगुणीके लक्षण हैं।

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम्।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम्॥

भूत भविष्यत् वर्त्तमान तीनों कालोंमें रहनेवाले इन तीनों ही गुणोंका यह आगे क्रमसे कहा हुआ संक्षेपसे लक्षण जानना चाहिये।

यत्कर्म्म कृत्वा कुर्व्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्व्वं तामसं गुणलक्षणम्॥

जिन कर्मोंको करके, करतेहुए, और आगेको करनेकी इच्छा होनेपर लज्जा आवे, उन सबको विद्वान् तमोगुणी कर्म्मका लक्षण कहते हैं।

येनाऽस्मिन्कर्म्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।
स च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम्॥

जो कर्म्म इस लोकमें बहुत प्रसिद्धिकेलिये किया जाय और जिसके सिद्ध न होनेसे दुःख हो, उसको रजोगुणलक्षण कार्य्य कहते हैं।

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाऽऽचरन्।
येन तुष्यति चाऽऽत्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम्॥

जिस कर्म्मको सर्व्वथा जाननेकी इच्छा हो, जिसके करते हुए लज्जा न हो और जिस कर्म्मके करनेसे आत्माको सन्तोष हो, उसको सत्त्वगुणका लक्षण जाने।

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥

तमोगुणका लक्षण काम, रजोगुणका लक्षण अर्थपरायणता और सत्त्वगुणका लक्षण धर्म्मपरायणता है। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है।

येन यांस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते।
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्व्वस्याऽस्य यथाक्रमम्॥

इन सत्त्वादिगुणोंमेंसे जिस गुणके द्वारा अपने कर्म्मसे जीव जिन गतियोंको प्राप्त होता है, सो संक्षेपसे कहते हैं।

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषां त्रिविधा गतिः ॥
त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ।
अधमा मध्यमाऽग्रया च कर्म्मविद्याविशेषतः ॥

सत्त्वगुणी मनुष्य देवत्वको, रजोगुणी मनुष्यत्वको और तमोगुणी तिर्य्यक् योनिको प्राप्त करते हैं ।

यह जो सत्त्वादि गुणोंसे तीन तरहकी गति कही गयी है, यह भी पुनः कर्म्म और ज्ञानके भेदसे तीन तीन भागमें विभक्त है। (यथाः—अधम सात्त्विक, मध्यम सात्त्विक, उत्तम सात्त्विक, अधम राजसिक, मध्यम राजसिक, उत्तम राजसिक, अधम तामसिक, मध्यम तामसिक, उत्तम तामसिक इत्यादि)

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्म्मस्याऽसेवनेन च ।
पापान्संयाति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥
यथा यथा विषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः ।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥
तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥
तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्त्तनम् ।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥
संभवाँश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः ।
शीततापाभिघाताँश्च विविधानि भयानि च ॥
असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् ।
बन्धनानि च कष्टानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥
बन्धुप्रियवियोगाँश्च संवासं चैव दुर्जनैः ।
द्रव्यार्जनञ्च नाशञ्च मित्राऽमित्रस्य चार्जनम् ॥
जराञ्चैवाऽप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।
क्लेशाँश्च विविधाँस्ताँस्तान् मृत्युमेव च दुर्ज्जयम् ॥
यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥

इन्द्रियोंकी विषयमें आसक्ति और धर्मसेवाके अभावसे नराधम मूर्खोंकी अधोगति होती है। विषयी लोग जिन विषयोंमें इन्द्रियोंको लगाते हैं, उन्हीं विषयोंमें

इन्द्रियासक्ति पैदा होती जाती है। इसके फलसे इहलोकमें बहुत दुःख और परलोकमें भीषण तामिस्र, असिपत्रवन आदि नरक-दुःख प्राप्त होता है। दुःखपूर्ण नीचयोनिमें जन्म, शीत ताप आदि बहुत प्रकारके भय, बारम्बार गर्भवास, अत्यन्त कष्टके साथ जन्म, बन्धनादिका दुःख, दूसरोंका दासत्व, बन्धु व प्रियजनोंका वियोग, दुर्जनोंके साथ सङ्ग, अर्थ-प्राप्तिका कष्ट, प्राप्त अर्थोंका नाश, दुःख, मित्र-प्राप्तिका कष्ट, शत्रुओंसे दुःख, निरुपाय जरा, रोगोंसे पीड़न, क्षुधा पिपासादि बहु प्रकार कष्ट, दुर्निवार मृत्यु इत्यादि अनन्त प्रकारके दुःख पापियोंको भोगने पड़ते हैं। जिस जिस भावमें जो जो कर्म किया जाता है, उसका फल उसी भावके अनुसार शरीर धारण करके प्राप्त होता है।

प्रवृत्तिमार्गके कर्मोंका फल बताकर अब श्री भगवान् मनुजी निवृत्तिमार्गीय कर्मोंका वर्णन करते हैं।

वेदाऽभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणाञ्च संयमः।
अहिंसा गुरुसेवा च निश्रेयसकरं परम्॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥
षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम्॥
वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन् क्रियाविधौ॥
सुखाऽभ्युदयिकञ्चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तञ्च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥
इह चाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

वेदाभ्यास, तपस्या, ज्ञान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा और गुरुसेवा ये सब कर्म मोक्षके साधक हैं। इन सब मोक्षसाधन कर्मोंमेंसे आत्मज्ञान लाभ ही सबसे श्रेष्ठ है और सब विद्याओंमें प्रधान है। उसीसे मुक्ति होती है। इन छः कर्मोंमेंसे वेदाभ्यास कर्म ही सबसे श्रेयस्कर और सब कर्म ही उसके अन्तर्गत हैं। वैदिक कर्म दो प्रकारके हैं :—प्रवृत्त और निवृत्त। इह या परलोकके सुखकी कामनासे जो कर्म

होता है, वह प्रवृत्तकर्म है। ज्ञानमूलक निष्काम कर्म ही निवृत्तकर्म कहलाता है। प्रवृत्तकर्मके सम्यक्तया अनुष्ठान होनेसे देवताओंके समान भी बन सकते हैं और निवृत्तकर्मको अभ्यास करनेसे पञ्चभूतोंको अतिक्रम करके मोक्ष लाभ होता है। आत्मयज्ञशील महापुरुष सकल भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सकल भूतोंको देखकर ब्रह्मपद प्राप्त करते हैं। यही कर्मयज्ञ की पूर्णाहुति है।

प्रथम समुल्लास का चतुर्थ अध्याय समाप्त।

—:०:—

उपासना यज्ञ।

—०:※:—

परमात्माके सान्निध्यको प्राप्त करनेकेलिये शास्त्रोंमें जो जो उपाय बताये गये हैं, उनका नाम उपासना है। श्रुतिमें लिखा है कि:—

आत्मेत्येवोपासीत, तदात्मानमेवावेत्,
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः
पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

परमात्माकी उपासना करनी चाहिये। उनको प्रसन्न करना चाहिये। उन्हींके स्वरूपके जाननेसे जीव मृत्युराज्यरूपी इस संसारको अतिक्रमण करसकता है। संसारसे निष्कृति लाभ करनेकेलिये और दूसरा कोई उपाय नहीं है।

प्रकृतिके राज्यमें इतनी अशान्ति क्यों है? अनन्त कोटि ग्रह उपग्रह शशि सूर्य और नक्षत्रोंको, अनन्त शून्यमें घुमाती हुई प्रकृति माता अनादि कालसे किस परम पुरुषके चरण कमलमें विलीन होनेके लिये निरन्तर भ्रमण कर रही है? जड़-जगत्में इतना चाञ्चल्य क्यों है? कौन सर्वव्यापी चेतनसत्ता समस्त ग्रह उपग्रहोंके बीच आकर्षण विकर्षणकी शृङ्खला बाँधकर सबको घुमारही है? उसी आकर्षण और और विकर्षणको जीव जगत्में रागद्वेष रूपसे प्रवाहित करके कौन अन्तर्यामी पुरुष, अनन्त कोटि जीवपूर्ण मायामय संसारको धारण कर रहे हैं? इन सब बातोंपर विचार करनेसे और सृष्टि लीलापर संयम करनेसे, मनीषी महात्माओंको अवश्य मालूम होगा कि, मानों उपासनाकी अनन्त नदियाँ सच्चिदानन्द समुद्रकी ओर प्रबल वेगसे वह रही हैं। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि:—

यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रे
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

जिस प्रकार नदियाँ वहती हुई समुद्रमें मिलकर अपने पृथक् नाम आर सत्ताको त्याग करदेती हैं, उसी तरहसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष नामरूपमयी मायासे विमुक्त होकर परब्रह्ममें विलीन होजाया करते हैं।

ब्रह्मसागरकेलिये यह तीर्थयात्रा केवल चेतन जगत्में ही नहीं, परन्तु जड़ चेतनात्मक प्रकृतिमें सर्वत्र यह भाव विद्यमान है। क्योंकि प्रत्येक चाञ्चल्यका लक्ष्य जब निश्चल होना है और प्रत्येक अशान्तिका लक्ष्य जब शान्ति प्राप्त करना है, तो निखिल जगत्की अशान्ति, शान्तिमय भगवान्के चरणकमलमें विलीन होनेकेलिये ही होगी, इसमें सन्देह क्या है ? प्रकृति परिणामिनी और त्रिगुणतरङ्गमयी होनेसे सदा ही चञ्चला है। इसलिये प्रकृतिकी कोई वस्तु निश्चल और आत्यन्तिकी शान्तिसे युक्त नहीं है। यह शान्ति प्रकृतिसे परे, प्रकृति राज्यके अधिकारसे अतीत विराजमान परमात्मामें ही है। इस लिये उसी शान्तिमय परमात्माके सान्निध्यको प्राप्त करनेकेलिये जो कुछ उपाय शास्त्रमें वर्णन किया गया है, उसे उपासना कहते हैं।

श्रीभगवान् सच्चिदानन्दके तीनों भावोंके सम्यक् परिज्ञान और उपलब्धिकेलिये ही भगवद्वाक्यरूपी वेदमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डका वर्णन किया गया है। श्रीभगवान् सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभावसे पूर्ण हैं। कर्मके साथ जगत्का सम्बन्ध रहनेसे निष्काम कर्मयोगकेद्वारा अपनी सत्ताका विस्तार करते करते कर्मयोगी साधक किस तरह श्रीभगवान्की विराट् सत्तामें अपनी सत्ताको विलीन कर उनके सद्भावको उपलब्ध कर सकते हैं, सो पहले ही कहा गया है। ज्ञानकाण्डके साथ परमात्माकी चित्सत्ताका सम्बन्ध रहनेसे ज्ञानी पुरुष किस तरह ज्ञानके द्वारा अज्ञानको नष्ट करके परमात्माकी चित्सत्ताका अनुभव करसकते हैं, सो आगे बताया जायगा। प्रकृत विषय उपासनाका है। वेदके उपासनाकाण्डके साथ परमात्माके आनन्दभावका सम्बन्ध है। परमात्मा आनन्दके रूप हैं। वेदमें कहा है कि:—

"रसो वै सः" "आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्"
"आनन्दरूपं परमं यद्विभाति" "आनन्दं
ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्च न।"

परमात्मा आनन्दरूप है। ब्रह्म आनन्दमय है। उसके आनन्दरूपके जाननेसे जीवका निखिल भय नष्ट होता है।

उसी आनन्दरूप भगवान्में ही संसारका सृष्टिस्थिति-प्रलय है। तैत्तिरीय उपनिषद्में लिखा है कि:—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन
जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिविशन्तीति।

आनन्दसे ही समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है। आनन्दकेद्वारा ही समस्त संसारकी रक्षा होती है और उसी आनन्दमय परमात्मामें ही सकल जीवोंका लय होता है।

श्रीभगवान्की आनन्दसत्ता सर्व्वव्यापिनी होनेसे संसारमें जो कुछ रस है, सबके मूलमें वही आनन्द विद्यामान है। केवल विकाश और आधारके भेदसे उसमें तारतम्य मालूम होता है। श्रीभगवान् रसके सागर हैं। उसी रससिन्धुसे विन्दु विन्दु लेकर जीव जगत्में अनन्त रसोंका विकाश हुआ है, पिताके चित्तमें जो पुत्रके लिये वात्सल्य रस, पुत्रके हृदयमें जो पिता माताके लिये श्रद्धारूप रस, पतिके चित्तमें जो पत्नीके लिये प्रेमरस, पत्नीके चित्तमें जो पतिकेलिये मधुररस, माताके चित्तमें जो पुत्रकेलिये स्नेहरस, मित्रकेचित्तमें जो मित्रकेलिये एकप्राणतारूप रस, शिष्यके चित्तमें जो गुरुके लिये शुद्ध श्रद्धारूप रस, भक्तके चित्तमें जो भगवान्केलिये भक्तिरस, ये सभी रस, रसरूप आनन्दकन्द सच्चिदानन्द श्रीभगवान्की आनन्दधारासे ही उत्पन्न हैं। जिस प्रकार माता श्रीगंगाजी श्रीविष्णुभगवान्के चरण कमलसे एक धारासे निकलती हुई शतधाराके प्रवाहसे समस्त त्रिलोकीको पवित्र कर रही हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान्की आनन्दरूपिणी मन्दाकिनी, मायाके विलासरूपी संसारमें मायाके ही प्रभावसे भिन्न-भिन्न केन्द्रों में अनन्तभावसे प्रकाशित हो कहीं स्नेहरूपमें, कहीं श्रद्धा-रूपमें, कहीं प्रेमरूपमें, कहीं भक्तिरूपमें प्रकट होकर समस्त संसारको पवित्र कर रही है। इस आनन्दका विकाश दो प्रकारसे होता है। एक साक्षात् चित्के द्वारा चिदानन्द रूपसे और एक मायाकेद्वारा वैषयिक रसोंके रूपसे। संसारमें जितने वैषयिक रस हैं, वे सभी मायाके सम्बन्धसे ब्रह्मानन्दके ही प्रतिविम्ब हैं। साक्षात् सूर्यके प्रकाशके साथ, जलादिकोंमें प्रतिविम्बित सूर्यके प्रकाशका उतना ही अन्तर है, ऐसा समझसकते हैं। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश एक ही होनेपर भी मलिन वस्तुओंमें उसका प्रतिविम्ब नाममात्रको होता है और स्वच्छ पदार्थमें प्रतिविम्बका प्रकाश पूर्णतया होता है, उसी प्रकार परमात्माकी आनन्दसत्ताके, मायाके मलिन तामसिक पदार्थों केद्वारा प्रकटित होनेपर, शुद्ध आनन्द नहीं रहता, परन्तु मलिन विषय सुख कहलाता है और वो ही आनन्दसत्ता जब मायाके मलिन तामसिक राजसिक राज्यको छोड़कर शुद्ध सात्त्विक राज्यके द्वारा प्रकाशको प्राप्त होती है, तभी उसका यथार्थ स्वरूप ब्रह्मानन्दके रूपमें भक्तके चित्तकमलको प्रफुल्लित करता है। अतः यह सिद्धान्त हुआ कि, सकलरसके मूलमें रसरूप भगवान्की आनन्दसत्ता ही है। केवल गुणमयी मायाकी अलग अलग अवस्थाके अनुसार ही एक आनन्द बहुधा विषय सुखके रूपमें प्रकटित होकर संसारके जीवोंको मुग्ध करता है और जहाँ मायाकी सत्ता नहीं है, वहाँ ही शुद्ध पूर्णानन्दका प्रकाश है, जिसको उपासनाके द्वारा सिद्ध जीवन्मुक्त महापुरुष प्राप्त किया करते हैं।

विषय सुख और ब्रह्मानन्दका तत्त्व निर्णय करते समग्र विवर्त्तवादियोंने कहा है कि, विषय सुख ब्रह्मानन्दकी ही छायामात्र है। छायाको सत्य वस्तु समझकर प्रतिबिम्बको असली चीज मानकर जीव प्रतारित होता है। प्रकृतिके राज्यमें सुख

नामसे जो कुछ प्रतीत होता है, सो उसी आनन्दका ही आभासमात्र है, क्योंकि जब जगत् आनन्दसे ही उत्पन्न है, आनन्दका ही विवर्त्त है, तो उसी आनन्दके आभासके सिवाय सुख नाम करके कोई दूसरी चीज हो ही नहीं सकती। बृहदारण्यकोपनिषद्‌में लिखा है कि :—

एषोऽस्य परमानन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

यही ब्रह्माका परमानन्द है। अन्य जीवसमूह इसी आनन्दके ही अंशको लेकर संसारमें रहते हैं। पञ्चदशीमें लिखा है कि :—

अथाऽत्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक्।
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ॥
एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसात्मकः।
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते॥

विषय सुख ब्रह्मानन्दका अंशरूप और द्वारस्वरूप है। ऐसा श्रुतिका भी सिद्धान्त है। परमात्माका जो शुद्ध आनन्द है, सो अखण्ड और एकरस है। जीव उसी आनन्दके अंशमात्रको भोग करता है। अद्वैत ब्रह्म-सिद्धिमें इस श्रौत सिद्धान्तको ही स्पष्ट करके लिखा गया है। यथा :—

विषयसुखमपि स्वरूपसुखान्नातिरिच्यते, विषयप्राप्तौ सत्यामन्तर्मुखे मनसि स्वरूपसुखस्यैव प्रतिबिम्बना त्स्वाभिमुखे दर्पणे मुखप्रतिबिम्बवत्।

विषय-सुख स्वरूपसुखके अतिरिक्त नहीं है। विषय भोगके समय अन्तर्मुखीन चित्तमें स्वरूप सुखका ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, जैसाकि सामने रक्खे हुए दर्पणमें अपने मुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है।

किसी विषयके सामने आनेसे अन्तःकरण, तन्मात्रा और इन्द्रियोंके द्वारा उसमें लिप्त होकर सुख भोगता है। अब विचार करना चाहिये कि, इस सुखका कारण क्या है? जगत्‌में देखजाता है कि, जिस विषयमें चित्त एकाग्र होता है, उसीसे मनुष्यको आनन्द मिलता है। योगीको ध्यानमें आनन्द क्यों मिलता है? उनका चित्त ध्येय वस्तुमें एकाग्र होता है, इसलिये। कविको प्राकृतिक शोभा देखनेसे आनन्द क्यों होता है? उनका चित्त प्रकृति माताके रूपसागरमें मग्न हो जाता है, इसलिये। मित्रको देखनेसे मित्रके चित्तमें आनन्द क्यों होता है? दोनों चित्त एक ही सुरमें बँधेहुए हैं, इसलिये। जिसका जिस वस्तुपर राग है, उसका उसीमें चित्त एकाग्र होनेसे उसीसे आनन्द मिलता है। अब देखना चाहिये कि, चित्तके एकाग्र होनेसे आनन्द क्यों होता है? किसी गुण या किसी भावके अवलम्बनसे जब चित्त एकाग्र होता है, तो उस समय अन्यान्य इन्द्रियोंका चाञ्चल्य नष्ट होकर उसी एक विषयमें चित्तकी एकरसता होती है, और उस दशामें एकाग्र चित्तपर आत्माका

प्रतिविम्ब पड़ता है। आत्मा जब आनन्दमय है, तो उसके प्रतिविम्बमें भी कुछ आनन्द है। जैसे सूर्यमें प्रकाश रहनेसे जल-प्रतिबिम्बित सूर्यमें भी कुछ प्रकाश है। विषयीको विषय भोगके समय वही प्रतिविम्बित सुख या छायासुख मिलता है। विषयी उसको ही भूलसे यथार्थ आनन्द समझकर प्रतारित होता है। क्या विषयमें सुख है? नहीं। सुख हुआ, चित्त एकाग्र हुआ, इसलिये। सुख हुआ, एकाग्र चित्त-पर आत्मा का प्रतिविम्ब पड़ा, इसलिये। अतः सिद्धान्त हुआ कि, सब सुखोंके मूलमें एक ब्रह्मानन्द ही है। विषयीको विषय, साक्षात् कोई सुख नहीं देसकता है, केवल चित्तको एकाग्र करनेसे प्रतिबिम्बित सुख देनेका निमित्त बनता है, विषयके अव-लम्बनसे चित्त एकाग्र होता है, एकाग्र चित्तमें आत्मा प्रतिविम्बित होता हैं। सुख उसी प्रतिबिम्बिका ही है। यह प्रकृतिके सम्बन्धसे छायासुखमात्र है। साक्षात् चिदानन्द नहीं है।

पहले ही कहा गया है कि, समस्त संसारकी प्रवृत्ति और गति, शान्ति और सुखके लिये है। संसारमें जो कुछ कार्य होता है, सबके मूलमें सुखेच्छा ही विद्य-मान है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है कि :—

यदा वै करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति, नाऽसुखं लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति।

सुखप्राप्तिकी इच्छासे ही जीव हरेक कार्यमें प्रवृत्त होता है। यह सुख वास्तव-में ब्रह्मानन्द है। आनन्दमय परमात्माके व्यापक होनेसे समस्त जीवोंमें उनकी आनन्दसत्ता विद्यमान है। अन्तर्निहित वही आनन्दसत्ता जीवको प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त करती है। संसारमें समस्त जीव रातदिन उसी अन्तर्निहित निर्विकार शाश्वत ब्रह्मा-नन्दकी प्राप्तिकेलिये घूम रहे हैं। परन्तु अविद्याके वशवर्त्ती होनेसे जीव उस नित्यानन्द-को, जिसकेलिये उसके हृदयमें प्रेरणा भरी हुई है, भूलकर छायासुखरूपी विषय सुख-को ही नित्यानन्द समझ लेता है, और उसीमें बँध जाता है। अज्ञानके कारण जीवको दोनोंमें भेद प्रतीत नहीं होता है। जिस प्रकार कस्तूरीमृग अपने नाभिस्थित कस्तूरीके गन्धसे उन्मत्त होकर जङ्गलमें उसको ढूँढ़ता रहता है, उसे मालूम नहीं पड़ता है कि, गन्ध उसके भीतरसे ही आरही है, बाहर कहींसे नहीं, उसी प्रकार जीव मायाके भूलभुलैयेमें आकर नहीं समझ पाता कि, वह आनन्द जिसकेलिये वह नित्य घूमरहा है, उसकी स्थिति भीतरमें ही है, कहीं बाहर नहीं है। इस प्रकारसे भीतरके नित्या-नन्दको भूलकर जीव, बाहर उस प्रेमकेलिये भटकता रहता है और विषयमें उस नित्यानन्दका अन्वेषण करता है। परन्तु जो सुख असलमें है, वह छायामें कैसे आ सकता है। जीवके हृदयकी वासना, भीतरकी प्रेरणा, जब ब्रह्मानन्दकेलिये है तो, उसको विषय सुखमें शान्ति और तृप्ति नहीं होसकती है। क्योंकि ब्रह्मानन्द नित्य है और विषय सुख, चञ्चला प्रकृतिके सम्बन्धसे होनेके कारण अनित्य है। ब्रह्मानन्दमें निरवच्छिन्न सुख है और विषय सुखमें त्रिगुणमयी प्रकृतिका सम्बन्ध रहनेसे दुःख मिलाहुआ है। मन्दाकिनीके पवित्र जलमें स्नान करनेकेलिये जिनके हृदयकी वासना है, मिथ्या मृगजलमें स्नान करनेसे उनकी शान्ति कैसे होसकती

है। इसलिये नित्यानन्दप्रयासी जीव दुःखपरिणामी विषय सुखमें बद्ध होकर सुखके बदलेमें दुःख ही भोग करता रहता है। विष्णुपुराणमें लिखा है कि :—

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

जीव जितना ही विषयके सुखमें चित्तको लगाता है, उतना ही उसके हृदयमें दुःखका वाण विद्ध होता है। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें भी कहा है कि :—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥

विषयके साथ इन्द्रियोंके स्पर्श होनेसे जो कुछ सुख होता है, वह सब दुःखका ही देनेवाला है, क्योंकि वह सब नाशवान् और परिणाम दुःखद सुख है, इसलिये विचारवान् पुरुषोंको उसमें रत नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार जीव सुखकी इच्छासे विषयोंमें मुग्ध होकर, जब सत्य सुखके बदले, दुःख ही भोगता रहता है तो, उसे वैषयिक सुखकी अनित्यता प्रतीत होने लगती है। क्योंकि वैषयिक सुख यदि सत्य होता तो, उसमें दुःख क्यों? परिणाम क्यों? अनित्यता क्यों? सत्य वस्तुकी अनित्यता और क्षणभङ्गुरता नहीं हुआ करती है। अतः यह सुख यथार्थ आनन्द नहीं है, जिसके लिये जीवके चित्तमें प्रेरणा हो रही है और जीव जिसको रात दिन अन्वेषण कररहा है। सत्यके प्रयासी मिथ्यामें नहीं रहसकते, आनन्दके पुत्र निरानन्दमय विषय सुखमें शान्तिलाभ नहीं करसकते, इसलिये जीवको जब स्त्री पुत्र कुटुम्ब और धन सम्पत्तिमें अन्वेषण करनेपर भी यथार्थ सुख लाभ नहीं होता है, तो जीव उससे चित्तको हटा कर नित्यानन्दकी ओर लगाता है और ऐसा विचार भी करता है कि, जब विषयमें सुख नहीं है, तो सुख आत्मामें ही है। विषय केवल चित्तको एकाग्र करके अन्तःकरणपर आत्माके प्रतिबिम्ब लानेका कारण बनता है। सुख आत्माके प्रतिबिम्बमें ही है, विषयमें नहीं, तब क्यों ऐसा विषयरूपी कारण बनाया जाय, जिसके साथ हजारों प्रकारके दुःख लगे हुए हैं और जो शरीर मन प्राण और आत्माका नाश करदेता है। जब चित्तकी शान्तिसे ही आत्मानन्द मिलता है, तो विषयके निमित्तसे शान्त न करके श्रीभगवान्‌के चरण-कमलमें ही मनको क्यों न शान्त करें? उससे शान्तिजनित आत्मानन्द भी मिलेगा और विषयके साथ सम्बन्ध न होनेसे तज्जन्य परिणाम ताप आदि दुःख भी नहीं होगा। इस प्रकारके विचारसे जीव वैषयिक सुखकी ओरसे चित्तको हटाकर भगवत्सान्निध्य प्राप्तिकेलिये जो कुछ पुरुषार्थ करता है, उसीका नाम उपासना है। छान्दोग्योपनिषद्‌में इस विषय पर एक सुन्दर मन्त्र है। यथा :—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्य
त्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सौम्य

तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा
प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सौम्य मन इति।

जिस प्रकार व्याधके हाथमें सूतके द्वारा बँधा हुआ पक्षी इधर उधर उड़ जानेकेलिये चेष्टा करनेपर भी जब असमर्थ हो जाता है, तो बन्धनके स्थानमें ही आकर बैठ जाता है, उसी प्रकार जीव मायाकेद्वारा रचेहुए भ्रमजालमें फँसकर अन्तरात्माके साथ जो प्रेमकी डोरी बँधी हुई है, उसको तोड़नेकेलिये प्रयत्न करता है, परन्तु जब समस्त इन्द्रियोंके विषयमें अन्वेषण करनेपर भी उसे कहीं शान्ति प्राप्त नहीं होती है, तो अन्तमें समस्त प्रेम और आनन्दके मूल परमात्माकी ही शरणमें जाकर उपासनाके द्वारा शान्ति प्राप्त करता है।

सनातन धर्मके सिद्धान्तानुसार ब्रह्मके तीन स्वरूप वर्णन किये गये हैं। यथा:— ब्रह्म, ईश और विराट्। श्रुतिमें लिखा है कि:—

सोऽयमात्मा चतुष्पात् पादोऽस्य सर्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

परमात्माके चार पाद हैं। उनमेंसे एक पादमें सृष्टि होती है और तीन पाद सृष्टिसे बाहर हैं। परमात्माके जिस भावमें सृष्टि नहीं है, जिसके साथ मायाका कोई सम्बन्ध नहीं है, एवं जो भाव मायासे अतीत अव्यक्त और अवाङ्मनोगोचर है, उसको ब्रह्मभाव या निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है। उपनिषद्में इस भावका वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनो न विद्मो न जानीमः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥

ब्रह्म, चक्षु वाक् आदि इन्द्रियों मन और बुद्धिसे परे है। मन और वाणी उन्हें प्राप्त नहीं कर सकती, केवल ज्ञानी महात्मा उनकी आनन्दसत्ताको जानकर निर्भय होते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि:—

शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो,
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना।
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो,
ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम्॥

जहाँ क्रियार्थक शब्द किसी कामका नहीं होता है, माया जहाँपर पहुँचनेमें असमर्था होकर लज्जासे दूर हट जाती है, संसारके सुखदुःखसे रहित निरवच्छिन्न आनन्दमय वही परमपद निर्गुण ब्रह्मका है।

ब्रह्मके जिस भावके साथ मायाका सम्बन्ध है अर्थात् जिस भावमें उन्हींके ईक्षणसे शक्तिमती माया संसारके सृष्टि-स्थिति-प्रलयको करती है, प्रकृतिके साथ

सम्बन्धयुक्त उस भावको ईश्वर कहा जाता है। वाजसनेयि संहितोपनिषद्‌में इन दोनों भावोंके वर्णनकेलिये एक सुन्दर मन्त्र कहा गया है। यथाः—

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

इसमें परमात्माके निर्गुण भावका वर्णन ऊपरके अंशमें किया गया है। इसलिये सब विशेषण क्लीब लिङ्ग बताये गये हैं। यथाः—वे परमात्मा शुक्र अर्थात् सूक्ष्म शरीरसे रहित हैं, व्रण और स्नायु शून्य अर्थात् स्थूल शरीरसे रहित हैं, शुद्ध अर्थात् अविद्यामल रहित और अपापविद्ध अर्थात् पुण्य पाप सम्बन्ध रहित हैं। इससे तात्पर्य यह है कि, परमात्मा कारण शरीरसे भी रहित हैं। इतना कह करके दूसरे आधेमें परमात्माके सगुण भावका वर्णन किया है। यथाः—परमात्मा कवि अर्थात् भूत-भविष्यत्-वर्त्तमानदर्शी हैं, मनीषी अर्थात् मनके प्रभु हैं, परिभू अर्थात् सर्व्वोपरि विराजमान हैं, स्वयम्भू हैं अर्थात् इनके बनावाले कोई नहीं हैं। एतादृश सर्वव्यापी परमात्मा संवत्सराधिपति प्रजापतियोंको ठीक ठीक कर्म फल और कर्त्तव्य विषय विभक्त कर देते हैं। इसी प्रकारसे मायाके साथ सम्बन्ध और मायाके साथ सम्बन्धका अभाव, इन दोनों अवस्थाओंके अनुसार ब्रह्मभाव और ईश्वरभावकी सिद्धि श्रुतिमें की गयी है। श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में लिखा है किः—

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

प्रकृति माया है और ईश्वर उसके चलानेवाले मायी हैं। उनके शरीरसे ही समस्त संसार व्याप्त है। यह वर्णन परमात्माके सगुण अर्थात् ईश्वर भावका है।

ब्रह्मका तीसरा भाव विराट् है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय उनका सर्वव्यापी शरीर है, उसे विराट् कहते हैं। श्वेताश्वरोपनिषद्‌में कहा है। यथा :—

"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोक्षिशिरोमुखम्।"
"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।"

उनके पाणिपाद, उनके चक्षु सिर या मुख सर्वत्र हैं। समस्त विश्व उनका ही रूप है, इत्यादि। यह सब विराट् मूर्तिका वर्णन है।

महर्षियोंने इन तीन भावोंको अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत करके भी वर्णन किया है। महर्षि वसिष्ठजीने कहा है कि :—

यत्तद्ब्रह्म मनोवाचामगोचरमितीरितम्।
तत्सर्वकारणं विद्धि सर्वाध्यात्मिकमित्यपि॥
अनाद्यन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे संप्रवर्त्तते॥

स्वेच्छामायाख्यया यत्तज्जगज्जन्मादिकारणम् ।
ईश्वराख्यं तु तत्तत्त्वमधिदैवमिति स्मृतम् ।
सर्वज्ञः सद्गुरुर्नित्यो ह्यन्तर्यामी कृपानिधिः ।
सर्वसद्गुणसारात्मा दोषशून्यः परः पुमान् ।।
यत्कार्यब्रह्म विश्वस्य निधानं प्राकृतात्मकम् ।
विराडाख्यं स्थूलतरमधिभूतं तदुच्यते ।।
यस्येहावयवैर्लोकान्कल्पयन्ति मनीषिणः ।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोद्र्ध्वं जघनादिभिः ।।

परमात्माकी जो सत्ता मन-वाणीसे अगोचर, सर्वकारण, अनादि, अनन्त, अज, दिव्य, अजर, ध्रुव, अव्यय विचार एवं ज्ञेय-सम्बन्धसे बाहर है, उसको ब्रह्मभाव या आध्यात्मिक भाव कहते हैं। जिस भावमें उनकी इच्छारूपिणी मायाके द्वारा समस्त संसारकी उत्पत्ति होती है; जो सर्वज्ञ, सबका गुरु, नित्य अन्तर्यामी, करुणामय, सकल सद्गुणोंका आधार, सबका नियन्ता निर्दोष एवं श्रेष्ठभाव है, उसे ईश्वरभाव या अधिदैवभाव कहते हैं, और परमात्माका जो कार्यब्रह्मरूपी समस्त विश्वका आधाररूप स्थूलभाव है, उसका नाम विराट् है। इसी भावमें लोकोंकी कल्पना करते समय मनीषी लोगोंने कहा है कि, उनके नाभिके ऊपर सप्तलोक और अधोदेशमें सप्तलोक, इस प्रकारसे चतुर्दश भुवन हैं।

ब्रह्मके इन तीनों स्वरूपोंकी उपासनाके लिये शास्त्रोंमें क्रिया सिद्धांश रूपसे चार योग बताये गये हैं। यथा:—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। ब्रह्मका निराकार और व्यापकरूप परिच्छिन्न और चञ्चल बुद्धि मनुष्योंकेलिये प्रथम दशामें धारणाके अन्तर्भूत नहीं हो सकता है, इसलिये प्रथम तीन प्रकारके योगोंमें चित्तको स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर उन्नत करनेकी विधि बतायी गयी है। मन्त्रयोगमें स्थूल मूर्तिका ध्यान किया जाता है। ब्रह्मकी निर्गुण मूर्ति कल्पनासे अतीत है। इसलिये महर्षियोंने समाधियुक्त बुद्धिकेद्वारा परमात्माकी प्रकृतिके साथकी विविध लीलाओंको देखकर उन लीलाओंके भावोंको मूर्तिके रूपमें प्रथम दशाके साधकोंके कल्याणके लिये प्रकट किया है। यह बात स्वतः सिद्ध है कि यावन्मात्र रूप, भावका स्थूल-विकास है। दृश्य जगत् भावजगत्का ही विस्तारमात्र है। इसलिये भगवद्भावों-के ही अवलम्बनसे रूपोंकी जो कल्पना महर्षियोंने की है, वही मन्त्रयोगकी ध्येयवस्तु है। यह कल्पना मिथ्या मानस कल्पना नहीं है, परन्तु सत्य भगवद्भावोंके अनुसार शुद्ध बुद्धिकृत सत्य कल्पना है। जैसाकि शास्त्रमें कहा है कि :—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्पन्ते सविशेषनिरूपणैः ।।
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ।।

निर्विशेष परब्रह्मके साधनमें असमर्थ प्रथम दशाके साधकोंके लिये कृपा करके महर्षियोंने सगुण मूर्तिका साधन बताया है। साकार मूर्तिपर चित्तको एकाग्र करते करते मन वशीभूत हो जानेपर निराकारके साधनकेलिये अधिकार प्राप्त होता है। इसी सिद्धान्तके अनुसार ईश्वरकी पाँच मूर्तियाँ कल्पना की गयी हैं, जिसको सगुण पञ्चोपासना कहते हैं। यथाः–शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य और गणेश। ये पांचों ईश्वरकी ही मूर्ति हैं, केवल पञ्च तत्त्वोंके विचारसे एक ईश्वरकी पञ्चमूर्ति हैं। इन सब तत्त्वोंका विचार और भावके अनुसार मूर्ति कल्पनाका रहस्य "मन्त्रयोग" नामक अध्यायमें वर्णन किया जायगा।

दूसरा अधिकार यह है कि, साधकका चित्त हठयोगोक्त ज्योतिर्ध्यानमें लगाया जाता है। ज्योति भगवान्‌की चित्सत्ताका स्थूल प्रकाश और मूर्तिसे सूक्ष्म है। इसलिये ज्योतिर्ध्यानकेद्वारा साधकका चित्त सूक्ष्म राज्यकीओर अग्रसर होता है।

तीसरे अधिकारमें लययोगोक्त विन्दुध्यानमें चित्तको लगाया जाता है। यह बिन्दु सात्त्विक प्रकृतिका प्रकाश है, जो लययोगकी उन्नत दशामें साधकको दिखने लगता है और वह उसीमें त्तित्तको एकाग्र करके और भी सूक्ष्मतर राज्यमें प्रवेश लाभ करता है।

इसी प्रकारसे इन योगोंकेद्वारा चित्तकी उन्नति होनेपर तब निर्गुण ध्यानमें अधिकार हुआ करता है। उस समय साधक ब्रह्म, ईश्वर और विराट् इन तीनोंपर ही राजयोगोक्त साधनोंकेद्वारा चित्तको लय करके उपासनाके परम लक्ष्य भगवत्सान्निध्य लाभको प्राप्त करता है। निर्विकल्प समाधि सिद्ध योगी जन्म-मरण रूपी संसार चक्रसे मुक्त होता है। इन सब साधनोंका रहस्य चारों योगोंके स्वतन्त्र स्वतन्त्र अध्यायोंमें पूर्णतया बताया जायगा। इस प्रकार निर्गुण ब्रह्मोपासना, सगुण पञ्चोपासना और इनके क्रियारूपसे चार प्रकारके योग साधन, ये उपासनाके छः अङ्ग हुए।

इसके अतिरिक्त उपासनाके और भी तीन अङ्ग हैं। यथाः—अवतारोपासना, ऋषि देवता व पितरोंकी उपासना और प्रेतादि निकृष्ट विभूतियोंकी उपासना। मनुष्योंकी प्रकृति स्वभावतः निम्नाभिमुखिनी है। उपासना उस निम्नगामिनी प्रकृतिकी गतिको बदल कर ऊपरकी ओर ले जानेकेलिये विधि बताती है। परन्तु प्रकृति एकाएक ऊपर नहीं जा सकती। अतः उपासनाके विविध अङ्ग बताये गये हैं; जिनके अवलम्बनसे साधक क्रमशः अपनी प्रकृतिको सात्त्विक बनाता हुआ ऊपरकी ओर ले-जा सकता है। इसलिये स्वभावतः तामसिक प्रकृतिकेलिये प्रेतादिकोंका भी साधन बताया गया है। जड़ प्रकृति चेतन शक्तिके बिना काम नहीं कर सकती। यह चेतन शक्ति प्रकृतिके सात्त्विक और तामसिक राज्यके विचारसे दो प्रकारकी है। सात्त्विक प्रकृतिपर अधिष्ठात्री चेतनशक्ति दैवी शक्ति कहलाती है और तामसिक प्रकृतिपर अधिष्ठात्री शक्ति आसुरी शक्ति कहलाती है। बृहदारण्यकोपनिषद्‌में लिखा है कि:-

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः
कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः।

प्रजापतिकी सृष्टिमें दो शक्तियाँ काम करती हैं, देव और असुर। उनमेंसे जीव-प्रकृति स्वभावतः निम्नाभिमुखिनी होनेसे असुरोंकी शक्ति ज्यादा और देवताओंकी शक्ति कम हुआ करती है। प्रेतादि निकृष्ट विभूतिगण इस तामसिक भूमिसे सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये कामनावाले तामसिक लोगोंके आराध्य हैं। परन्तु देवता ऋषि और पितरोंकी उपासना उच्चकोटिकी है। पहले ही कहागया है कि, जड़वस्तु चेतन शक्तिके सञ्चालनसे ही नियमित कार्य करसकती है। इसलिये जड़ प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागोंके सञ्चालनके लिये बहुधा ईश्वरीय शक्ति नियामकरूपसे संसारमें कार्य करती है। प्रकृतिका विभाग असंख्य होनेपर भी उसे प्रधान तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा:—आध्यात्मिक विभाग, आधिदैविक विभाग और आधिभौतिक विभाग। प्रथम विभागके साथ ज्ञानका, दूसरे विभागके साथ कर्म्मका, और तीसरे-के साथ स्थूल दृश्यका सम्बन्ध है। इन तीनों विभागोंका सञ्चालन करनेवाली चेतन-शक्ति ऋषि देवता और पितर् कहलाती है। ऋषिशक्ति आध्यात्मिक विभागकी, दैवीशक्ति आधिदैविक विभागकी, और पितृशक्ति अधिभौतिक विभागकी सञ्चालक है। इनकी उपासना आसुरी शक्तिकी उपासनासे उन्नत व द्वितीय कोटिकी उपासना है। इन सब शक्तियोंका विशेष महिमावर्णन और इनकी पूजासे क्या क्या फल प्राप्त होते हैं, सो आगे बतलायेंगे।

अवतारोंकी उपासना उक्त दोनों उपासनाओंसे उन्नत तृतीय श्रेणीकी है। हिन्दू शास्त्रोंके सिद्धान्तानुसार संसारमें जो कुछ शक्तिका विकास देखाजाता है, वह सब ईश्वरकी ही शक्ति है। जड़वस्तुमें जड़शक्ति रूपसे और चेतनवस्तुमें चेतन-शक्ति रूपसे ईश्वरकी सर्वव्यापिनी शक्ति प्रकट हुआ करती है। इसी शक्तिको कला भी कहते हैं। कलाका विकास जीव भावके प्रथम विकाससे लेकर अन्त तक है। जीवभावका प्रथम विकास उद्भिज्ज योनिमें होता है। इसलिये उद्भिज्ज योनिमें एक कलाका विकास बताया गया है। तदनन्तर स्वेदज कृमि कीट आदि योनियोंमें भगवान्‌की शक्तिकी दो कलायें विकसित होती हैं। उसके बाद अण्डज योनिमें तीन कलाओंका विकास और जरायुजके अन्तर्गत पशुयोनिमें चार कलाओंका विकास होता है। कला अर्थात् शक्तिके विकाससे उद्भिज्ज, स्वेदज आदि चेतन योनियोंमें क्या क्या लक्षण प्रकट होते हैं, सो अवतारतत्त्वके विस्तारित वर्णनमें बताया जायगा। जीव उन्नत होता हुआ मनुष्य योनिमें जब पहुँचता है, तो उसमें पाँच कलासे लेकर आठ कला तकका विकास देखनेमें आता है। साधारण मनुष्योंमें पाँच विशेष मनुष्योंमें उससे अधिक और विभूतियुक्त असाधारण पुरुषोंमें आठ कलाओंतकका विकास होता है। परन्तु ये सभी विकास जीवकोटिके हैं। इसके अतिरिक्त शक्तिके विकास होनेकी आवश्यकता हो अर्थात् धर्मकी रक्षा और अधर्मके नाशकेलिये आठ कलासे अतिरिक्त शक्तिके आविर्भावकी आवश्यकता प्रकृतिराज्यमें हो, तो जिस असाधारण अलौकिक केन्द्रकेद्वारा वह शक्ति प्रकट होती है, उसे अवतार कहते हैं। इसी प्रकारसे भगवान्‌की शक्ति प्रकृतिकी आवश्यकताके अनुसार ९ कला से १६ कला तक प्रकट होती है। नौ दस आदि कलाके अवतार अंशावातार

कहलाते हैं और सोलह कलाके अवतार पूर्णावतार कहलाते हैं। अवतारोंका आविर्भाव धर्म्मकी रक्षा और अधर्म्मके नाशकेलिये होता है। वे भगवान्की शक्ति हैं, इसलिये जिस केन्द्रसे इस प्रकार अलौकिक शक्तिका विकासहो वह अवताररूपी केन्द्र सर्व्वथा पूज्य है। यही अवतारोपासनाका संक्षिप्त विज्ञान है। इसका विस्तार आगे किया जायगा। इसके अनन्तर सगुण ब्रह्मरूपी पञ्चदेवोपासना और अन्तमें निर्गुण ब्रह्मोपासना, इस रीतिसे उपासनाके ये पांच अङ्ग और क्रियारूप से चार योग, कुल नौ अङ्ग हुए, जिनके अधिकारानुसार अनुष्ठानसे साधकको भगवत्सान्निध्य प्राप्त होता है और निःश्रेयस पदवी मिलती है।

मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग, इनमेंसे किसी एकको सिद्धावस्थामें साधक राजयोगका अधिकार प्राप्त करके कृतकृत्य होता है। उपास्यके अनुसार भूतप्रेतादिका उपासक केवल इहलौकिक सुख प्राप्त करता है और कभी कभी उसकी दुर्गति भी होती है। ऋषि देवता और पितरोंका उपासक इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके अभ्युदयको प्राप्त करता है। शास्त्रोंमें ऐसा कहा है कि, सकाम बुद्धिसे जो अवतारोपासना और सगुण पञ्चोपासना करते हैं, वे केवल इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय प्राप्त करते हैं, परन्तु निष्कामरूसे अवतारोपासक हो, अथवा सगुण पञ्चोपासक हो, अथवा निर्गुण ब्रह्मोपासक हो, उनकी उपासना मुक्तिप्रद होगी।

भक्ति उपासनाका प्राण और योग उपासनाका शरीर है। चित्तमें भगवान्के प्रति जिस अनुरागके उदय होनेसे भक्त भगवान्का सान्निध्य लाभ करसकता है, उसे भक्ति कहते हैं और जिन सब शारीरिक और मानसिक क्रियाओंके अनुष्ठानसे चित्त शान्त होकर आत्माके स्वरूपको दिखा सकता, है उसे योग कहते हैं। इसलिते उपासनाकी उन्नति और पूर्णता प्राप्तिके अर्थ प्राणरूपी योगकी परम आवश्यकता है।

भक्ति उपासनाका प्राणरूप है। इसका भाव यह है कि, जिस प्रकार शरीरमें प्राणशक्तिके न रहनेसे जीवका जीना और बढ़ना असम्भव है, उसी प्रकारसे उपासनाके साथ भक्तिके न रहनेसे साधककी उपासनामार्गमें स्थिति और उन्नति नहीं होती। जीव-प्रीतिको तीन भागमें विभक्त कर सकते हैं। यथाः—स्नेह, प्रेम और श्रद्धा। अपनेसे छोटोंमें जो प्रीति, जैसा कि पुत्र कन्यामें, उसको स्नेह कहते हैं। अपने बराबर वालोंमें प्रीति, जैसा कि मित्रके साथ, उसको प्रेम कहते हैं। अपनेसे उच्च कोटिके लोगोंमें जो प्रीति, जैसा कि माता पिताके साथ, उसको श्रद्धा कहते हैं। परन्तु ये तीनों प्रकारकी प्रीतियाँ लौकिक हैं और उनके आधारके नाशवान् होनेसे क्षणभङ्गुर हैं। इसलिये जीवकी प्रीति अनित्य संसारसे उठकर नित्य आनन्दमय भगवान्के चरण कमलोंमें जब लग जाती है, तब ही वह अलौकिक प्रीति भक्ति कहलाती है।

भक्ति प्रधानतया तीन भागोंमें विभक्त है। यथाः-वैधी, रागात्मिका और परा। वैधी भक्ति प्रथम दशाकी भक्ति है। इसमें बहुत प्रकारकी अर्चन वन्दन कीर्त्तन आदि विधियोंके द्वारा साधक भगवान्के प्रति प्रेमका अभ्यास करता है।

रागात्मिका, भक्तिकी दूसरी अवस्था है। इसमें भगवान्‌के साथ भक्तके चित्तका पवित्र प्रेम बन जाता है। जिस प्रकार विषयी लोग विषयमें आसक्त होकर रात दिन उसीमें मग्न रहते हैं, ठीक उसी प्रकारसे साधक भक्तिकी रागात्मिका दशामें संसारके प्रति प्रेमको छोड़कर, संसारको चित्तसे पूरे तौर पर उठाकर भगवान्‌के प्रेममें मग्न होजाता है। इसी प्रेमको शास्त्रमें तैलकी धाराकी तरह अविच्छिन्न प्रेम कहा है। इसके बाद प्रेमकी पूर्ण दशामें भक्तको जब सर्वत्र भगवान् ही दिखायी दे अर्थात् समस्त संसार उन्हींका रूप दिखायी दे, तब वह भक्ति पराभक्ति कहलाती है। पराभक्ति, निर्विकल्प समाधि और ज्ञान, सब एक ही चीज हैं। इसीसे भक्ति हर एक दशामें उपासना और योग दोनोंहीको समानरूपसे जीवन शक्ति प्रदान करती है।

महर्षि पतञ्जलिजीने अपने प्रणीत योगदर्शनमें लिखा है कि:—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

जिस उपायकेद्वारा अन्तःकरणकी वृत्तियोंका निरोध हो, उसका नाम योग है। वृत्तियोंके निरोध होनेसे जो फल होता है, उसके विषयमें महर्षिजीने लिखा है कि:—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

उस समय द्रष्टा परमात्मा अपने स्वरूपको प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार चञ्चल जलमें सूर्यका प्रतिविम्ब ठीक ठीक दिखायी नहीं देता है, परन्तु उसी जलके शान्त होनेसे वह प्रतिविम्ब पूर्णतया दृष्टिगोचर हुआ करता है; ठीक उसी प्रकार अन्तःकरणपर आत्माका प्रतिविम्ब सर्वदा भासमान रहनेपर भी विषय और इन्द्रियोंके द्वारा चित्तके चञ्चल होनेसे उसमें आत्माका स्वरूप ठीक ठीक दिखायी नहीं देता, परन्तु जब साधक यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधिरूपी अष्टाङ्ग योगके ठीक ठीक अभ्यासकेद्वारा चित्तको शान्त कर लेता है अर्थात् वृत्तियोंका निरोध करलेता है, तभी उसके शान्त चित्तमें जैसा कि महर्षि पतञ्जिजीने कहा है, परमात्माके स्वरूपकी उपलब्धि हुआ करती है। इसी अष्टांगयोगकी भित्तिपर महर्षियोंने सकल प्रकारके योगोंको चार भागोंमें विभक्त किया है। यथा:—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इन सब योगोंका वृत्तान्त आगे बताया जायगा। इसी तरहसे उपासनाका अंगरूपी योग अपनी सुकौशल पूर्ण क्रियाओंकेद्वारा साधकके चित्तको शान्त करके, उसे भगवत्सान्निध्य प्राप्त करानेमें सहायता करता है।

शास्त्रमें आध्यात्मिक उन्नतिकेलिये जितने प्रकारके उपाय बताये गये हैं, उपासना उन सबोंकी सिद्धिमें परम सहायक है। धर्मके सब अङ्ग या उपाङ्ग उपासनाकेही बलसे साधकको पूर्णता प्राप्त करा सकते हैं। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि, दानधर्मके अनुष्ठानमें दानकी पूर्ण फलप्राप्तिकेलिये दाताके चित्तमें उपासना-मूलक धर्मभाव और श्रद्धाकी बहुत आवश्यकता है; क्योंकि ईश्वरके प्रति प्रेम और भक्तिभावकी दृढ़ताके विना सात्त्विक दानमें प्रवृत्ति और सफलता होना असम्भव है। इसी प्रकार तपधर्ममें भी जब तक आध्यात्मिक उन्नतिकेलिये इच्छा और भगवान्‌केप्रति भक्ति न हो, तब तब सात्त्विक तपकी परमफल-प्राप्ति नहीं होती, यह

सब भाव मूलमें उपासनाके रहनेसे ही प्राप्त होते हैं। उपासनाविहीन दान और तप मनुष्यको संसारमें फँसाकर और भी अधोगति प्राप्त कराता है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कर्मयोगके रहस्य वर्णनमें जितने प्रकारके कौशल बताये हैं, उनमेंसे उपासनामूलक भगवत्समर्पण कर्मयोगमें उन्नति और पूर्णता प्राप्तिकेलिये सर्वोत्तम कौशल है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

हे अर्जुन! जो कुछ कार्य करो, भोजन करो, हवन करो, दान करो या तपस्या करो, सब कर्म मुझमें अर्पण करना। ऐसा करनेसे शुभ या अशुभ कर्मके बन्धनमें नहीं आओगे और सन्यासयोगयुक्त हो सकल बन्धनोंसे मुक्त होते हुए मुझको प्राप्त करोगे।

श्रीभगवान्ने गीताजीमें और भी बतलाया है कि "कर्मयोगीके लिये समस्त संसार भगवान्का ही रूप है। इसलिये जगत्सेवा भगवान्की ही सेवा है," इस उपासना बुद्धिसे कर्मयोगमें प्रवृत्त होना चाहिये। उनको प्रतिदिन यह विचार रखना चाहिये कि "मैं अल्पशक्ति हूँ। भगवान् सर्व शक्तिमान् हैं। जगत्की सेवा उन्हींकी पूजा है। इसलिये अल्पशक्ति मैं उनका निमित्तमात्र होकर ही तभी उनकी सेवा करसकता हूँ, जब सर्वशक्तिमान् भगवान् मुझे शक्ति देवें, और मेरे पुरुषार्थका जो कुछ फल होगा सो उन्हींका होगा मेरा कुछ नहीं, क्योंकि जिस शक्तिसे कार्यका फल मिलता हैं, वह शक्ति उन्हींकी है और उन्हींकी कृपासे मुझे प्राप्त हुई है।" कर्मयोगी इस प्रकार उपासना-भावके साथ यदि कर्म करे, कदापि कर्मबन्धन नहीं प्राप्त होसकता है। अन्यथा जैसा गीताजीमें कहा है कि:—

अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।

अहङ्कारसे मुग्ध होकर अपनेको कर्त्ता समझ लेने पर कर्मबन्धन प्राप्त होता है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि, कर्मयोगमें सफलता प्राप्त करनेकेलिये और कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेकेलिये उपासना ही परम सहायक है। इसी प्रकारसे ज्ञानयोगमें भी उपासनाकी सहायतासे ज्ञानयोगीकी अपने मार्गमें सुविधाके साथ उन्नति होती है। परमात्माके प्रति भक्तिभाव युक्त ज्ञानयोगी तत्त्वज्ञानको शीघ्र प्राप्त करसकता है। महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनके समाधिपादमें लिखा है कि:—

तीव्रसंवेगानामासन्नतमः।

साधकके चित्तमें तीव्र आकाङ्क्षा रहनेसे स्वरूपकी उपलब्धि शीघ्र हुआ करती है। यह तीव्र आकाङ्क्षा उपासना-सापेक्ष है, क्योंकि ज्ञानयोगी भक्तके चित्तमें

ही ज्ञानके साथ साथ भगवान्‌के प्राप्त करनेकेलिये हृदयकी ऐसी तीव्र इच्छा और भक्ति होसकती है। अतः ज्ञानयोगमें भी उपासनाकी सहायता परम आवश्यकीय है; इसमें सन्देह नहीं। उपासना और भक्तिसे रहित ज्ञान शुष्कज्ञानरूपमें परिणत होकर तर्कबुद्धि और नास्तिकभाव पैदा करता है; जिसके फलसे निर्विकल्प समाधि प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होजाता है।

ज्ञानमार्गमें उपासनाकी कितनी आवश्यकता है; सो वेदके उपनिषद्भाग पर विचार करनेसे स्पष्ट मालूम होसकता है। वेदका यह भाग गीता व ब्रह्मसूत्रके साथ मिलकर, प्रस्थानत्रय कहलाता है। गीताका विज्ञान ज्ञानयोगीको निष्काम कर्मयोगका रहस्य बतलाता है, उपनिषद्‌का विज्ञान ज्ञानयोगकेसाथ उपासनाका रहस्य बतलाता है और वेदान्त विज्ञान-साधकको आत्मज्ञान प्राप्त होनेका उपाय बतलाता है। प्रस्थानत्रयका यही महान् रहस्य है। इसी प्रकारसे सनातनधर्मके प्रत्येक अङ्गके साथ उपासनाका सम्बन्ध बताया गया है। केवल इतना ही नहीं, अधिकन्तु पृथिवीके और भी अन्य अन्य धर्म, जैसा कि ईसाई धर्म, मुसलमान धर्म आदि सभीमें ईश्वरकी उपासनाका प्राधान्य रखा गया है। अतः उपासनाके सकल कल्याणकारी भावके ऊपर किसीका भी सन्देह नही होसकता।

यह बात सत्य है कि, सनातनधर्मके हर एक अङ्गमें ऐसी शक्ति भरी हुई है कि, किसी अङ्गका साधन पूरे तौर पर करनेसे साधकको मुक्ति प्राप्त होसकती है। अग्निके एक कणमें भी जिस प्रकार विश्वको दग्ध करनेकी शक्ति भरी हुई है, उसी प्रकार धर्मके हर एक अङ्गमें मुक्ति देनेकी शक्ति भरी हुई है। परन्तु यही शक्ति यथावत् रूपसे प्रयोग न होकर यदि तमोगुणकी ओर लगजाय तो, शक्तिके अपव्यवहारसे हानि भी होसकती है। विधिके साथ धर्माचरण न करनेसे साधकमें एक तरहकी निकृष्ट वृत्ति पैदा होजाती है; जिसको ऋषियोंने उन्माद कहा है। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि, विधिके साथ दान न करनेसे अहङ्कार पैदा होता है, विधिके साथ तप न करनेसे क्रोध पैदा होता है, विधिके साथ कर्म न करनेसे ममता और अभिमान पैदा होता है। ये सब विरुद्ध वृत्तियाँ विधिहीन धर्मानुष्ठानके फलभूत उन्माद हैं। इस उन्मादसे बचनेकेलिये उपासनाकी आवश्यकता सर्वोपरि बतायी गयी है। हर एक धर्माङ्गके मूलमें उपासना और भगवद्भक्तिके रहनेसे साधक आध्यात्मिक मार्गमें कदापि भूल नहीं करते, और भगवान्‌की कृपासे सकल बाधाको दूर करते हुए अन्तमें मुक्ति पद प्राप्त करते हैं। यही उपासना यज्ञका रहस्य है।

प्रथम समुल्लासका पञ्चम अध्याय समाप्त।

ज्ञानयज्ञ ।

—:०:—

मनुष्योंकी पूर्णता ज्ञानकेद्वारा हुआ करती है । यह बात पहले ही कही गयी है कि, कारण ब्रह्मरूप परमात्मामें आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक यह तीन भाव होनेके कारण उनकी लीला-विलासरूपी सृष्टिके प्रत्येक अङ्गमें भी तीन-तीन भाव विद्यमान हैं । महाभारतमें लिखा है कि:—

पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।
गन्तव्यमधिभूतं च विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥
वागध्यात्ममिति प्राहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥
चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रूपमत्राधिभूतं तु सूर्य्यश्चाप्यधिदैवतम् ॥
मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्यथा शास्त्रविशारदाः ।
मन्तव्यमधिभूतं तु चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥

ज्ञानी पुरुषोंने कहा है कि पादेन्द्रिय अध्यात्म है, गन्तव्य अधिभूत है और विष्णु अधिदैव हैं । वागिन्द्रिय अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है और अग्नि अधिदैव है । चक्षुरिन्द्रिय अध्यात्म है, रूप अधिभूत है और सूर्य अधिदैव है । इस रीतिसे शास्त्रकारोंने कहा है कि, मन अध्यात्म है, मन्तव्य अधिभूत है और चन्द्रमा अधिदैव है । इससे सिद्ध हुआ कि, सृष्टिके प्रत्येक पदार्थमें तीन-तीन भाव पाये जाते हैं । इसी विचारसे जीव शरीरमें भी तीन भाव हैं । जीवका आधिभौतिक शरीर, आधिदैविक मन और आध्यात्मिक बुद्धि है । इसलिये मनुष्योंकी पूर्णता तभी होसकती है, जब उनमेंके तीनों भावोंकी पूर्णता हो और वही शास्त्र पूर्ण और भगवद्वाक्य होगा, जिसमें इन तीनों भावोंकी पूर्णताकेलिये उपाय बताये गये हों । वेद पूर्ण और भगवद्वाक्य हैं, क्योंकि वेदोंमें तीनों भावोंकी पूर्णताका उपाय वर्णन किया गया है । कर्मकाण्डके द्वारा आधिभौतिक शुद्धि और उपासना काण्डकेद्वारा आधिदैविक शुद्धि लाभ करके अन्तमें साधक ज्ञानकाण्डकेद्वारा आध्यात्मिक शुद्धि प्राप्त करता हुआ निःश्रेयस पदवी प्राप्त करसकता है । भगवान्के स्वरूपकी उपलब्धि और मुक्ति ज्ञानकेद्वारा ही हुआ करती है । इसलिये ज्ञानही सर्वश्रेष्ठ है । वेदकी आज्ञा है कि:—

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।

ज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती । मुण्डक उपनिषद्में लिखा है कि :—

न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा नाऽन्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

परमात्मा चक्षु वाक् अथवा और किसी इन्द्रियके द्वारा प्राप्य नहीं है। केवल ध्यान-योग-परायण महात्मा लोग ज्ञानके प्रसादसे विशुद्धचित्त होकर उनका साक्षात्कार लाभ करते हैं। और भी लिखा है कि :—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता, प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा, आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥

जो परमात्मा सर्वज्ञ और सर्ववित् हैं, संसारमें जिनकी महिमा प्रकट होरही है, वही परमात्मा प्रकाशमय ब्रह्मपुरी रूप हृदयाकाशमें विराजमान रहते हैं। उनके साथ मनकी उपाधि है और वे प्राण और शरीरके नेता हैं, हृदयको अवलम्बन करके अन्न परिणामरूप शरीरमें अवस्थान करते हैं। ऐसे आनन्दमय, अमृतमय परमपुरुषको धीर योगी लोग शमदमादि साधन और शास्त्र व आचार्यलब्ध विशेष ज्ञानकेद्वारा दर्शन करते हैं। इनके देखनेसे क्या होता है? इसके उत्तरमें कहा है कि :—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

सर्वोत्तम परमात्माके देखनेसे हृदयकी अविद्याग्रन्थि टूट जाती है, समस्त सन्देह दूर हो जाते हैं और सञ्चित, क्रियमाण, सकल कर्म नष्ट हो जाते हैं। यह सब ज्ञानकी ही महिमाका फल है। एतादृश ज्ञान गुरुवाक्यमें विश्वास और श्रद्धा, तत्त्वज्ञानी गुरुके प्रति प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवाकेद्वारा प्राप्त होता है। यथा गीतामें लिखा है कि :—

श्रद्धावाल्ँलभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

श्रद्धालु, भगवद्भावपरायण, जितेन्द्रिय पुरुषको ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुष शीघ्र परम शान्तिको लाभ करते हैं। यह ज्ञान तत्त्वदर्शी महापुरुषोंके पास प्रणिपात, जिज्ञासा और सेवाकेद्वारा लाभ करना होता है। इस रीतिसे वे सन्तुष्ट होकर ज्ञानका उपदेश करते हैं। ज्ञानके समान पवित्र वस्तु इस संसारमें कहीं नहीं है। योगी पुरुष योगमें सिद्धिलाभ करके कालान्तरमें इस परम वस्तुको अपनेमें लाभ

करते हैं। ज्ञानकी प्रशंसा जितनी की जाय उतनी ही थोड़ी है। शास्त्रमें लिखा है कि :—

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ताऽवनि-
र्यज्ञानाञ्च कृतं सहस्रमखिलं देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ,
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥

जिसका चित्त ज्ञानके अवलम्बनसे क्षणभरकेलिये भी ब्रह्मविचारमें स्थिर हो जाता है, उसको समस्त तीर्थमें स्नान, समस्त भुवनका दान, सहस्रों यज्ञोंका अनुष्ठान और निखिल देवताओंके पूजनका फल मिलता है। उसके पितृलोग संसारसे उद्धार पा जाते हैं और वह त्रिलोकमें सम्पूजित हुआ करता है।

ईदृश श्रेष्ठतम ज्ञानमार्गमें पदार्पण करनेकेलिये साधकका अधिकार होना चाहिये। इसलिये ही ज्ञानके आधार वेदान्त-दर्शनके "अथातः ब्रह्मजिज्ञासा" इस प्रथम सूत्रमें "अथ" शब्दकेद्वारा अधिकारकी आवश्यकताका निर्देश किया गया है। यह अधिकार साधनचतुष्टय सम्पन्न होनेपर प्राप्त होता है। साधनचतुष्टय, यथाः—नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्र फलभोगविराग, शमदमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व। आत्मा नित्य और संसार अनित्य है इस रीतिके विचारका नाम नित्यानित्यवस्तु विवेक है। ऐहलौकिक और पारलौकिक स्वर्गादि सुखभोगमें अरुचिका नाम इहामुत्रफलभोगविराग है। शमदमादि षट्सम्पत्ति, यथाः—शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान। तत्त्वज्ञानके अतिरिक्त विषयान्तरके सेवनमें अनिच्छाका नाम शम है। सांसारिक समस्त विषय भोगसे निवृत्तिका नाम उपरति है। शीतोष्णादि-द्वन्द्वसहिष्णुताका नाम तितिक्षा है। गुरु और शास्त्रवाक्यमें प्रबल विश्वासका नाम श्रद्धा है। परमेश्वर-चिन्तनमें एकाग्रवृत्तिताका नाम समाधान है। संसारसे मुक्त होनेकी इच्छाका नाम मुमुक्षुत्व है। इस प्रकार साधनचतुष्टय-सम्पन्न होनेपर साधक गुरुचरणकी शरण लेकर तत्त्वज्ञान श्रवण करनेके अधिकारी होते हैं। इससे तात्पर्य यह है कि साधनचतुष्टयका अधिकार प्राप्त करनेके विना मनुष्य ज्ञानराज्यके द्वारमें भी प्रवेश करनेका अधिकारी नहीं है।

गुरुचरण-निरत साधकके गुरुमुखारविन्दनिःसृत तत्त्वज्ञानके वाक्योंके सुननेका नाम श्रवण है। सुने हुए विषयोंपर चिन्तन करनेका नाम मनन है। मनन किये हुए पदार्थकी उपलब्धिका नाम निदिध्यासन है। श्रवण मनन और निदिध्यासन, ज्ञानयज्ञके ये तीन अङ्ग हैं। इन तीनों अङ्गोंके ठीक ठीक सेवन करनेसे साधकको स्वरूपकी प्राप्ति होती है। सृष्टि, सृष्टिसे अतीत ब्रह्ममें जगत्की स्थिति, जीवका भाव, मनकी लीला, अन्तःकरणकी शक्ति, तन्मात्राओंका सम्बन्ध, अहंतत्त्व, महत्तत्त्व, इन सब प्रकृतिके पर्व्वोंपर अर्थात् विभागोंपर विचार करते करते स्थूल राज्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे कारणमें साधक अपना अधिकार स्थापन करता है।

सांख्यदर्शनमें पञ्च महाभूत, पञ्च कर्म्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च तन्मात्रा,

मन, अहंतत्त्व, महत्तत्त्व और प्रकृति, इन चौबीस तत्त्वोंसे सृष्टि और पुरुषको प्रकृतिके भोक्तारूपसे मानागया है। किन्तु वेदान्त-दर्शनमें पांच कोषोंकेद्वारा सृष्टि कही गयी है। इस दर्शनके अनुसार जब चैतन्य मायाकेद्वारा मोहित होता है, तब जीवकी उस प्रथम दशाका नाम आनन्दमय कोष है। बुद्धि और विचार मिलकर विज्ञानमय कोष कहलाता है। इन्द्रिय और मन मिलकर मनोमय कोष कहलाता है। पञ्चप्राण और इन्द्रिय मिलकर प्राणमय कोष कहलाता है और पाञ्चभौतिक शरीर अन्नमय कोष रूपसे वर्णित है। जीव इन पञ्च कोषोंके द्वारा बद्ध होकर स्वरूपको भूल जाता है, परन्तु जब गुरूपदिष्ट मार्गके अनुसार चलकर विचार करते करते अनुभव करता है कि, मैं पञ्चकोष नहीं हूँ, मैं कोषातीत अद्वितीय सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म हूँ, तब उसकी निर्विकल्प समाधि होकर मुक्ति हो जाती है। इसी मुक्तिभूमिमें पदार्पण करनेकेलिये आत्माको मायासे पृथक् करते हुए क्रमोन्नत करनेकी जो विधि है; उसे सप्त ज्ञानभूमि; कहते हैं। वैदिक सप्त दर्शनोंमें ये सात भूमियाँ बतलायी गयी हैं, क्योंकि देहात्मबुद्धि पुरुषकेलिये एकदम देहातिरिक्त आत्माका ज्ञान होना असम्भव है। इसलिये न्याय, वैशेषिक, पातञ्जल, सांख्य, पूर्वमीमांसा, दैवीमीमांसा और ब्रह्ममीमांसा, इन सातों दर्शनोंके ज्ञानकेद्वारा धीरे-धीरे आत्माके यथार्थस्वरूपको जानकर साधक मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। अनादि कालसे देहात्मबुद्धिसे ग्रसित जीवके शुद्ध आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें सर्वथा असमर्थ होनेके कारण, परम कारुणिक पूज्यपाद महर्षियोंने सप्त ज्ञानभूमिके अनुसार सप्त क्रमोन्नति विज्ञानमय सप्त दर्शन-विज्ञानशैलीके आविष्कार द्वारा साधकके अन्तःकरणको क्रमशः उत्तरोत्तर बुद्धिकी एक कक्षासे दूसरी कक्षामें पहुँचाते हुए, बुद्धिकी क्रमोन्नति द्वारा यथाक्रम उत्तरोत्तर उन्नत ज्ञानाधिकार देते हुए, अन्तमें मायाविलासरहित अद्वैत ज्ञानाधिकार देकर कृतकृत्य करनेकी ज्ञानयज्ञकी शैली प्रकट की है। ज्ञानयज्ञमें इसी तत्त्वका वर्णन किया गया है; सो क्रमशः नीचे लिखा जाता है।

ब्रह्मके स्वरूप लक्षणको वर्णन करनेके लिये सब श्रुतियाँ एकवाक्य होकर बोलती हैं कि, ब्रह्मका निर्गुण स्वरूप प्रकृतिसे परे और मन वाणी या बुद्धिसे अगोचर है। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है कि :—

यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं
विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।

ब्रह्म चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, पाणिपादवान् नहीं है, शरीरधर्मी नहीं है। वह विभु, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अव्यय और समस्त संसारका कारण है जहाँ सकल विषयों, सकल शब्दों, सकल चिन्ताओं, सकल बुद्धिवृत्तियों, सकल इन्द्रियों और विशेष, अविशेष, लिङ्ग, अलिङ्गरूप प्राकृतिक विभागोंका अन्त है, वह ब्रह्म है। यही श्रुति प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूप है। परन्तु इस स्वरूपकी यथार्थ विवृत्ति प्रत्येक दर्शनमें क्यों नहीं मिलती? क्यों नहीं प्रत्येक दर्शनमें नित्य सत्य निर्गुण ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादित है? दर्शनोंमें प्रतिपाद्य विषयकी भिन्नता क्यों दृष्टिगोचर होती है? अभ्रान्त विज्ञान-

मूलक दर्शन शास्त्रसमूह ऐसे भेदभावपूर्ण क्यों हैं ? इसके तत्त्वानुसन्धान करनेसे वह तत्त्व शाखारुन्धती न्यायसदृश मालूम होता है। सप्तर्षिमण्डलान्तर्गत किसी सूक्ष्म ताराका नाम अरुन्धती है। वरवधूको एकदम अरुन्धती दिखायी जाय तो, उनके देखनेमें नहीं आती, इसलिये विवेकी दर्शयिता प्रथमतः दर्शकको अरुन्धतीके पासके किसी स्थूल नक्षत्रको दिखाकर कहते हैं कि, यही अरुन्धती है। पश्चात् उसके पासके और उससे सूक्ष्म किसी एक नक्षत्र को दिखाकर कहते हैं कि, पहले जो नक्षत्र दिखलाया था, वह अरुन्धती नहीं थी, पर यह अरुन्धती है। इस रीतिसे दर्शककी दृष्टि सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर नक्षत्रपर डलवाकर अन्तमें अरुन्धती दिखायी जाती है। इसी प्रकार दर्शन शास्त्र समूह भी हैं। स्थूलतरसे स्थूल ताराओंको देखते हुए अन्तमें सूक्ष्मतम तारा अरुन्धतीके दर्शनके सदृश, क्रमोन्नत ज्ञानभूमिका अवलम्बन करते हुए प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण आत्माके विविध भावोंको अनुभव करते करते सप्तम ज्ञानभूमिमें पहुँचकर तत्त्वज्ञानी महापुरुष आत्मस्वरूपकी पूर्णतया उपलब्धि कर सकते हैं। वेदान्त प्रतिपाद्य निष्कल, निरञ्जन, शान्त और तुरीय दशाके निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धि करके ब्रह्म स्वरूप हो सकते हैं। संसारजाल खण्ड-विखण्ड कर सकते हैं, और चिद्भाव और आनन्दभावमें मग्न हो सकते हैं। अनन्त शास्त्र-सिन्धुको मथन करके यही सत्यवस्तु उपलब्ध हुई है। वेद जलद-गम्भीर शब्दसे इसी सत्यकी घोषणा कर रहे हैं। सब दर्शन शास्त्र इसी परमतत्त्वको लक्षीभूत करके अपनी अपनी भूमिपर चल रहे हैं। परन्तु प्राकृतिक-आवरण-जनित बुद्धिमालिन्यके कारण इस परमतत्त्वका विकास तत्काल नहीं होता है, अज्ञानान्धकारसे आच्छन्न हृदयाकाशमें इस सत्य सुधाकरका किरण जाल जल्दी प्रकाशित नहीं होता है। जहाँ अविद्या रूप घनघटाका पूर्ण प्रभाव है, वहाँ आत्म सुधाकर पूर्णरूपसे आच्छन्न है। वहीं नास्तिकता का पूर्ण विकास है। इसी लिये नास्तिक देहात्मबुद्धिवादी हुआ करते हैं। नास्तिक्य मतपर विचार करनेसे हम लोग क्या देखते हैं ? चार्वाक, लोकायतिक, दिगम्बर नास्तिकोंका मत यह है कि:—

देहामात्रचैतन्यमेवाऽऽत्मा ।

अथ चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलाऽनिलाः ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥
यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

देहसे अतिरिक्त आत्मा कोई पृथक् वस्तु नहीं है, अन्नकणाओंके मिलनेसे जिस प्रकार मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है , उसी प्रकार पृथिवी, जल, वायु और अग्नि, इन चारों भूतोंके मिलनेसे आत्मा उत्पन्न हो जाती है और मृत्युके समय जब वे चारों भूत अलग अलग हो जाते हैं, तो साथ ही साथ आत्मा भी हो नष्ट जाता है। देहके नाशके साथ ही आत्माभी नष्ट हो जाता है। पीछे कुछ नहीं रहता है।

इसलिए ऋण लेकर भी घी पीना चाहिये, जिससे शरीर पुष्ट रहे और दीर्घायुः हो। इस प्रकार देहात्मभावयुक्त चित्तकेलिये तत्काल अविद्यामेघनिर्मुक्त शुद्ध सच्चिदानन्दरूप निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धि करना असम्भव है। इसलिये "स्थूलोऽहं" "कृशोऽहं" इत्यादि नास्तिक्यवादमूलक युक्ति आस्तिक दर्शनोंमें खण्डित होकर दार्शनिक भूमिकी उन्नतिके अनुसार परमात्माका यथार्थरूप प्रकट किया जाता है। तदनुसार उच्चसे उच्चतर ज्ञानभूमिके दर्शनोंमें आत्मा स्थूलशरीर नहीं है, आत्मा सूक्ष्मशरीर नहीं है, आत्मा कारणशरीर नहीं है, आत्मा इन तीनों शरीरोंके धर्मसे युक्त नहीं है इत्यादि सिद्धान्तसमूह निश्चय होकर नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव सर्वव्यापक परमात्माका यथार्थरूप प्रकटित होता है। ज्ञानकी उच्चकक्षापर आरोहण करनेकेलिये दर्शनशास्त्रसमूह सोपानस्वरूप हैं। इसलिये जो दर्शन जिस कक्षाका ज्ञान बतलाता है, उसमें आत्मा और प्रकृतिका स्वरूप वैसा ही वर्णित होगा, और उस भूमिपर प्रतिष्ठित मुमुक्षु उतना ही आत्मतत्त्व जान सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः ब्रह्मतत्त्वका निरूपण करना, यद्यपि सब दर्शनोंका लक्ष्य है, तथापि ज्ञानभूमियोंके भेदसे सिद्धान्तोंमें अवश्य ही भेद पाये जाते हैं। इन ज्ञानभूमियोंके अनुसार सिद्धान्तोंके भेदको और रीतिसे भी समझ सकते हैं। पृथिवीसे सूर्य ९२०००००० नौ करोड़ बीस लाख मील दूर है। अगर कोई मनुष्य भूपृष्ठसे आरम्भ करके सूर्यका फोटोलेता हुआ ऊपरकी ओर चले, तो पृथिवीपरसे खींचा हुआ जैसा सूर्यका फोटो होगा, उससे उन्नत स्थानपरसे खींचाहुआ फोटो वैसा न होकर उससे भिन्न होगा और उससे भी उन्नत स्थानसे लिया हुआ फोटो पहलेसे भिन्न और बड़ा होगा, एवं अन्तमें ठीक स्थानसे सूर्यका फोटो लेनेसे यथार्थ फोटो मिलेगा। सूर्य एक ही है, परन्तु भूमिके (फोटो खींचनेके स्थान) ऊँची नीची होनेसे फोटो अलग अलग हुए। सातों दर्शन ठीक उसी तरहसे परमात्माके फोटो लेनेवाले हैं, अर्थात् सभीका लक्ष्य परमात्माकास्वरूप प्रतिपादन होनेपर भी ज्ञानभूमिके भेदके अनुसार परमात्माके भिन्न-भिन्न भावोंका प्रतिपादन होता है। तदनुसार इतर दर्शन-भूमियोंमें प्रकृतिका सम्बन्ध विद्यमान रहनेके कारण परमात्माके तटस्थ लक्षणका क्रमोन्नतज्ञान होता है और सप्तम भूमिमें आकर वेदान्तप्रतिपाद्य स्वरूप लक्षणवेद्य निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान होता है। वह कैसे सम्भव है, सो नीचे दिखाया जाता है।

प्रथमतः "कृशोऽहं" "गौरोऽहं" इत्यादि स्थूल देहात्मबुद्धि जीवमें रहा करती है। इस विषयमें पहले ही कहा जा चुका है, अतः पुनरुक्ति निष्फल है। इस देहात्मवादकी भूमिसे क्रमशः उच्चभूमिपर जानेवाले साधकका चित्त धीरे धीरे आस्तिक भूमि पर अग्रसर होता है। अतः इस प्रकारकी अवस्थाके साधकको एकाएक "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्माऽस्मि" इत्यादि परमसूक्ष्म आत्मतत्त्वका उपदेश किया जाय, तो वह उपदेश निष्फल हो जायगा और उसकी पुनः नास्तिक भूमिमें पतनकी सम्भावना हो जायगी। इसलिये न्याय और वैशेषिक दर्शनमें प्रथम अधिकारीकेलिये सुख दुःखादि अन्तःकरण धर्मविशिष्ट आत्मतत्त्वका उपदेश किया गया है। जो

जिज्ञासु पहले देहको ही आत्मा करके जानता था, उसको प्रथमतः इतना ही समझना ठीक है, कि आत्मा देहसे भिन्न पदार्थ है और ज्ञान सुख दुःख इच्छा द्वेष इत्यादि अन्तःकरण-धर्म आत्माके हैं। इसका कारण यह है कि, जब उक्त प्रकारक ज्ञान व विश्वास जिस जिज्ञासुके हृदयमें पहलेसे ही दृढ़ है, उसको देहातिरिक्त आत्मा है, इस ज्ञानको समझानेके समय विश्वासके विरुद्ध नहीं लेजाना चाहिये। गीतामें कहा है कि:—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥

विद्वान्, अविवेकी और कर्मासक्त लोगोंके बुद्धिभेदको उत्पन्न न करें, एवं अनासक्त भावसे समस्त कर्मोंको करते हुए, उनको भी कर्म करनेमें ही नियोजित करें। जो प्रकृतिके गुणोंसे विमोहित होकर गुण और कर्मोंमें आसक्त होते हैं, उन कर्मासक्त असम्पूर्ण तत्त्वज्ञ व्यक्तियोंको सम्पूर्ण तत्त्वज्ञ महात्मा कर्मोंसे विचलित न करें। इस प्रकार गीतोपनिषदुक्त ये वचन बुद्धिभेद करनेको मना करते हैं। सांख्यवचनके भाष्यकार विज्ञान भिक्षुने भी इस विषयमें कहा है। यथा:—

न्यायवैशेषिकाभ्यां हि सुखीदुःखीत्याद्यनुवादतो देहादिमात्रविवेकेनाऽऽत्मा प्रथमभूमिकायामनुमापितः एकदा परसूक्ष्मे प्रवेशाऽसम्भवात्। तदीयं ज्ञानं देहाद्यात्मतानिरसनेन व्यावहारिकं तत्त्वज्ञानं भवत्येव। यथा पुरुषे स्थाणुभ्रमनिरासकतया करचरणादिमत्त्वज्ञानं, तद्वद्व्यवहारतस्तत्त्वज्ञानमपि।

एकाएक परमसूक्ष्म आत्मतत्त्वमें प्रवेश करना असम्भव है। इसलिये आत्माकी स्थूल शरीरके साथ एकताको खण्डन करके लोकसिद्ध सुख दुःखादिकोंके अनुवादपूर्वक न्याय और वैशेषिक दर्शनमें केवल स्थूल देहसे पृथक् आत्माका अनुमान कराया गया है और अन्तःकरणके सुख दुःखादि धर्मके साथ आत्माका सम्बन्ध रक्खा गया है। एतादृश ज्ञान देहात्मवादको दूर करके व्यावहारिक तत्त्वज्ञानमात्र उत्पन्न करता है। जैसा कि, करचरणादिज्ञानसे पुरुषमें स्थाणुका भ्रम दूर होता है। इसी तरह साधक जब नास्तिक्यभूमिसे उत्पन्न होकर आत्मज्ञान राज्यमें कथञ्चित् प्रवेश लाभ करते हैं, तब साङ्ख्य और पातञ्जलदर्शन आत्माका और उच्चतर ज्ञान प्रकट करते हैं। साङ्ख्य और पातञ्जलदर्शनका सिद्धान्त यह है कि, आत्मा सुख दुःखादि धर्मविशिष्ट नहीं है, ये सब अन्तःकरणके धर्म हैं। पुरुष असङ्ग और कूटस्थ है। जैसा साङ्ख्यमें कहा है कि :—

असङ्गोऽयं पुरुषः ।

श्रूयते चः—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

पुरुष असङ्ग है। जैसे सूर्य सकल प्राणिमात्रके चक्षुरूप होने पर भी चाक्षुष दोषोंसे लिप्त नहीं होते हैं, ऐसे ही सर्वभूतान्तरात्मा पुरुष भूतगत सुख दुःखकेद्वारा लिप्त नहीं होता है।

यथा हि केवलो रक्तः स्फटिको लक्ष्यते जनैः ।
रक्तकाद्युपधानेन तद्वत्परमपूरुषः ॥

जिस प्रकार स्फटिकमणिके सामने लाल रङ्ग लानेसे स्फटिकमणि लाल दीखने लगती है, परन्तु वास्तवमें स्फटिक स्वच्छ है, लाल नहीं है, उसी तरह अन्तःकरणके सान्निध्यमें प्राप्त पुरुषमें सुख दुःखआदिके भोक्तृभावका उपचार होता है। इस प्रकार भोक्तृभाव औपचारिक है, तात्त्विक नहीं है, क्योंकि आत्मा निर्लिप्त और निष्क्रिय है, यह बात श्रुतिसिद्ध है। मलिन दर्पणमें मुखके प्रतिबिम्बित होनेसे दर्पण-गत मालिन्य जैसा मुखमें प्रतीत होता है, ऐसे ही बुद्धिगत सुख दुःखादि व्यावहारिक दशामें निर्लिप्त और निष्क्रिय पुरुषपर प्रतीत होते हैं। समस्त क्रिया पुरुष प्रतिबिम्ब-युक्त अन्तःकरणकेद्वारा ही सिद्ध होती है। वास्तवतः पुरुष निर्गुण निष्क्रिय कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि-शून्य है। साङ्ख्य और पातञ्जलदर्शन उल्लिखित भावसे आत्माका असङ्गत्व सिद्ध करनेपर भी एकात्मवाद सिद्ध नहीं कर सकते। साङ्ख्यदर्शनके अनुसार पुरुष प्रतिपिण्डमें भिन्न-भिन्न है। यथाः—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ।

बहुपुरुष स्वीकार न करनेसे जन्मादिकी व्यवस्था नहीं होती।

तथा च कारिकायाम्ः—

जन्ममरणकरणानाम् प्रतिनियमात् अयुगपत्
प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्च ।

साङ्ख्य कारिकामें कहा है कि, सब पुरुषोंका एक ही साथ जन्म मरण या इन्द्रियवैकल्य दृष्टिगोचर नहीं होता। सबकी प्रवृत्ति एक ही समय दृष्टिगोचर नहीं होती। एक पुरुषमें एक गुण प्रबल है और दूसरे पुरुष में दूसरा गुण प्रबल है, अतः पुरुष बहु हैं। तत्त्व-समासके वृत्तिकारने इस विषयमें विस्तृत वर्णन किया है। यथा :—

सुखदुःखमोहसंकरविशुद्धकरणापाटवजन्ममरणकरणा-
नान्नानात्वात्पुरुषबहुत्वं सिद्धं लोकाश्रमवर्णभेदाश्च ।
यद्येकः पुरुषः स्यादेकस्मिन्सुखिनि सर्वे एव सुखिनः
स्युः, एकस्मिन्दुःखिनि सर्व एव दुखिनः स्युः, एक-
स्मिन्मूढे सर्व एव मूढ़ाः स्युः, एकस्मिन्संकीर्णे सर्वे
एव संकीर्णाः स्युरेकस्मिन्विशुद्धे सर्वे विशुद्धाः स्युः,
एकस्य करणापाटवे सर्वेषां करणापाटवं स्यात्, एक-
स्मिञ्जाते सर्वे जायेरन्, एकस्मिन्मृते सर्वे म्रियेर-
न्निति न चैक इतश्च बहवः पुरुषाः सिद्धाः ।

सुख, दुख, मोह, शुद्धाशुद्धि, इन्द्रियवैकल्य, जन्म, मृत्यु, करणप्रभेद, वर्णाश्रम और लोकोंका तारतम्य देखकर बहु पुरुषवाद सिद्ध होता है। यदि पुरुष बहुत नहीं होते, तो एकके सुखसे सब सुखी हो जाते। एकके दुःखसे सब दुःखी, एकके मोह होनेसे सबको मोह, एककी शुद्धिसे सबकी शुद्धि और एकके इन्द्रियवैकल्यसे सबको इन्द्रियवैकल्य होता। एकके जन्मसे सबका जन्म, और एकके मरणसे सबकी मृत्यु होती, ऐसा नहीं होता, अतः पुरुष बहु हैं। इस तरहसे अनुमान प्रमाणके द्वारा साङ्ख्य दर्शनने बहु पुरुषवाद सिद्ध किया है। केवल अनुमान ही नहीं, परन्तु यह बात अनुभवसिद्ध भी है, क्योंकि साङ्ख्यज्ञानभूमिमें जो आत्माकी उपलब्धि होती है, सो जीव शरीरमें कूटस्थदशामें होती है। यह उपलब्धि तटस्थज्ञानकी है। साङ्ख्यज्ञानभूमिमें व्यापक और अद्वितीय परमात्माकी उपलब्धि नहीं होती है, परन्तु प्रत्येक पिण्डमें पृथक् पृथक् जो कूटस्थ चैतन्य है, उसकी उपलब्धि होती है। इसलिये साङ्ख्यका बहु पुरुषवाद उसकी ज्ञानभूमिके अनुकूल है। इस दशामें प्रकृतिका सम्बन्ध नष्ट नहीं होता है। प्रकृतिका अस्तित्व रहता है। इसलिये साङ्ख्यदर्शनमें प्रकृतिको अनादि व अनन्त कहा है। इस दशामें पुरुष अपने स्वरूपको ऐसा देख लेता है कि, वह प्रकृतिसे बद्ध नहीं है, उससे पृथक् है और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। प्रकृतिका सम्बन्ध स्फटिकमणिवत् औपचारिक है, यथार्थतः नहीं है। इस प्रकार ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिपुटीके साथ ही साङ्ख्यभूमिमें पुरुषका ज्ञान होता है ।

इसके बाद मीमांसात्रयकी भूमि प्रारम्भ होती है। इसमें ब्रह्मकी स्वरूप-लक्षणवेद्य अद्वितीय सत्ताका प्रतिपादन किया गया है। यह अद्वितीयता कार्य्य-ब्रह्मके भावसे प्रारम्भ होकर प्रकृतिके लयके साथ ही साथ कारण ब्रह्ममें पर्य्यव-सित होती है। कर्म्मका सम्बन्ध जगत्से है। इसलिये कर्म्ममीमांसा या पूर्व्वमी-मांसामें जगत्को ही ब्रह्म मानकर अद्वितीयताकी सिद्धि की गयी है। कर्म्ममीमांसाका विज्ञान साधकको प्रकृतिविलयमुखेन द्वैतमय जगत्से अद्वैतभावमय ब्रह्मकी ओर लेजाता है। इस ज्ञानभूमिका साधक जगत् अर्थात् कार्य्यब्रह्मको कारणब्रह्मका

रूप जानकर उसीमें अपनी सत्ताको विलीन करके अन्तमें मुक्तिपद प्राप्त करता है। इस भूमिमें तटस्थसे स्वरूपकी ओर साधककी गति होती है। ज्ञाननदीकी यह कल्याणमयी गति वेदान्त प्रतिपाद्य सच्चिदानन्द सागरकी ओर है और इसकी समाप्ति वहीं जाकर होती है। इसके अनन्तर दैवीमीमांसा या उपासनाभूमिकी मीमांसा ब्रह्मकी उस अद्वितीयताको प्रकृतिकी ओरसे उन्नत करके स्वरूपकी ओर से दिखाती है। तदनुसार 'ब्रह्म ही जगत् है, "वासुदेवः सर्व्वम्" यह ज्ञान उपासनाभूमिको सुशोभित करता है। यह षष्ठभूमिका ज्ञान है। इसमें आत्माका यथार्थ ज्ञान उन्हींमें विलीन प्रकृतिके ज्ञानके साथ होता है। यहां तटस्थ-ज्ञान स्वरूपमें विलीनताको प्राप्त होनेके मुखमें अवभासित होता है अर्थात् स्वरूपमें विलीन होना प्रारम्भ होने लगता प्रतीत होता है। उपनिषदोंमें इन दोनों भूमियोंके भावोंका वर्णन बहुत मिलता है। यथा मुण्डकोपनिषद् में:—

अधश्चोद्र्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।

ब्रह्मसत्ता अधः ऊद्र्ध्व सर्वत्र व्याप्त है। यह महान् विश्व ब्रह्मका ही रूप है। इसी तरहसे वाजसनेयि ब्राह्मणोपनिषद्में भी बहुत वर्णन है। यथाः—

यस्य पृथिवी शरीरं, यस्यापः शरीरं, यस्यान्तरिक्ष ँ
शरीरं, यस्य वायुः शरीरं, यस्यादित्यः शरीरं, यस्य
चन्द्रतारकं ँ शरीरं, यस्याकाशः शरीरं, यस्य स-
र्वाणि भूतानि शरीरं, यस्य प्राणाः शरीरं, इत्यादि।

यह समस्त वर्णन कर्म मीमांसा-प्रतिपाद्य "जगत ही ब्रह्म है" इस विज्ञानको स्पष्टतया प्रकट करता है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद्में कई मन्त्र मिलते हैं, जिनके द्वारा "ब्रह्म ही जगत् है" यह प्रतिपादित होता है। यथा:—

तदेवाऽग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः॥
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि,
त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चयसि त्वं,
जातो भवसि विश्वतो मुखः॥
नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत् त्वं विभुत्वेन वर्त्तसे
यतो जातानि भुवनानि विश्वाः॥

वही अग्नि है, आदित्य है, वायु चन्द्र और उज्ज्वल नक्षत्र है, वही प्रकृति जल और प्रजापति है। हे परमात्मन्! तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो कुमार और कुमारी भी हो, तुम वृद्धरूपसे हाथमें दण्ड लेकर वञ्चना करते हो, और तुम्हीं विश्वतोमुख होकर जन्मधारण करते हो। तुम नील पतङ्ग भ्रमर आदि हो, तुम लोहिताक्ष हरिद्वर्ण शुक आदि पक्षी हो, तुम विजलीसे भरे हुए मेघ हो, ऋतु और समुद्र हो, तुम अनादि हो और व्यापकरूपसे रहा करते हो, एवं तुम्हींसे समस्त संसार प्रकट हुआ है। यह सब दैवीमीमांसादर्शन–भूमि अर्थात् षष्ठभूमिका ज्ञान है; जिसमें परमात्माकी व्यापकता नित्यता निर्लिप्तता और अद्वितीयता कार्यब्रह्मके साथ एकीकरणमुखेन उपलब्ध हुआ करती है।

तदनन्तर सप्तमभूमि अर्थात् वेदान्तभूमिका ज्ञान प्रारम्भ होता है। इसमें तटस्थ ज्ञानका गन्धमात्र भी नहीं है, क्योंकि वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म निर्गुण और प्रकृतिसे परे है। साङ्ख्यभूमिमें जिस प्रकार पुरुष निर्लिप्त और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव होनेपर भी प्रकृतिके साथ स्फटिकमणिवत् औपचारिक सम्बन्धसे युक्त है, वेदान्तमें ऐसा नहीं है। वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्ममें प्रकृति या मायाका अवभास बिलकुल नहीं है। यह स्वरूप मायाके राज्यसे बाहर है। माया उनके नीचे ईश्वर-भावमें प्रतिफलित हुआ करती है। जैसा कि श्रुतिमें वर्णन है :—

सोऽयमात्मा चतुष्पात्, पादोऽस्य सर्वभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि।

परमात्माके चार पाद हैं। उनके एक पादमें समस्त सृष्टि विलसित है, परन्तु और तीन पाद सृष्टिसे बाहर और अमृत हैं। यही तीन पाद ब्रह्मभाव हैं। इनमें सांख्यदर्शनकी रीतिपर बहु पुरुषवाद नहीं है, क्योंकि जिस मायाके साथ सम्बन्ध रहनेसे तटस्थ दशामें व्यापक और अद्वितीय आत्माका ज्ञान साङ्ख्यभूमिमें बाधित होता है, वह माया ही वेदान्तभूमिमें नहीं है। यहाँ मायाका लय है। इसलिये साङ्ख्यदर्शनमें प्रकृतिको अनादि और अनन्त कहनेपर भी वेदान्तमें मायाको अनादि और सान्त कहा है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्मकी स्वरूप दशामें मायाका सम्बन्ध बिल्कुल नहीं रहता है और इसीलिये सर्वत्र एकाकार अद्वितीय शुद्ध सत्‌चित्–आनन्दरूप परब्रह्मका साक्षात्कार होता है। सांख्यकी रीतिपर यहाँ आत्मामें भोक्तृत्व-का उपचार नहीं है। निर्गुण ब्रह्म कर्तृत्व भोक्तृत्व सम्बन्धोंसे रहित है और देशतः कालतः एवं वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं है। कालपरिच्छिन्न न होनेसे ब्रह्म नित्य है, देश परिच्छिन्न न होनेसे ब्रह्म विभु है और वस्तुपरिच्छिन्न न होनेसे ब्रह्म पूर्ण है। वेदान्त राजयोगीको इसी निर्गुण परब्रह्मभावका ज्ञान कराता है। इस दशामें साधक निर्विकल्प समाधिमें अधिरूढ़ होजाते हैं। यह दशा मौन व्याख्याप्रकटित है अर्थात् शब्द इसको वर्णन नहीं कर सकता है। इसलिये श्रुतिमें इस भावका वर्णन "नेति नेति" शब्दसे किया गया है। यथाः—

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"।

"प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थमन्यते स आत्मा स विज्ञेयः"।

"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा"।

परब्रह्म मन वाणीसे अगोचर और प्रपञ्चसे बाहर है। वहाँ प्रपञ्चमयी माया-का लय है, इत्यादि। और भी लिखा है किः—

आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते
यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा।

ब्रह्म नामरूपसे अतीत है। नामरूपका उसमें लय होता है। उसकी सत्तासे नामरूपमयी माया और मायाके विलास चन्द्र सूर्यादि समस्त संसारकी उत्पत्ति होती है। कठोपनिषद्में लिखा है किः—

न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकम्,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व्वम्,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

परमात्मा स्वयं प्रकाश हैं। सूर्य चन्द्र और नक्षत्र आदिका प्रकाश वहाँ नहीं है। बिजलीका प्रकाश भी वहाँ नहीं है। अग्निकी तो बात ही क्या है? परब्रह्म सबसे अतीत और निरपेक्ष है। उसके प्रकाशसे यह ही समस्त संसार प्रकाशित हुआ करता है। इसी प्रकार श्रुतियोंमें वेदान्त भूमि प्रतिपाद्य ब्रह्मका स्वरूप लक्षण प्रतिपादन किया गया है। इसकी उपलब्धि करनेसे साधक कृतकृत्य होजाता है। संसार जाल छिन्न करके मुक्तिपद प्राप्त कर लेता है। यहीं ज्ञान-यज्ञकी पूर्णाहुति है और जीवन यज्ञका अवसान है। अतः ज्ञानभूमिके भेदानुसार परमात्माके भाव और अनुभवमें भिन्नता एवं अन्तमें स्वरूपका यथार्थ अनुभव श्रुति और दार्शनिक सिद्धान्त-के अनुकूल है, यह प्रमाणित हुआ। साधक इस रहस्यके समझनेपर पथच्युत नहीं होता है।

पहले कहे हुए सिद्धान्तोंसे निश्चय होगा कि, समुदाय ज्ञानभूमियोंका अनुभव प्रधानतः दो तरहसे होता है, जिसको वैज्ञानिक भाषामें तटस्थ ज्ञान और स्वरूपज्ञान कहते हैं। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहनेसे ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूपी त्रिपुटीके रहते हुए, जो आत्माका अनुभव होता है, उसको तटस्थ ज्ञान कहा जाता है और जिस दशामें त्रिपुटीका विलय होनेसे ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय ये तीनों मिलकर एक होजाते हैं, उस समय जो परमात्माकी उपलब्धि होती, उसे स्वरूप ज्ञान कहते हैं। इन दोनों ज्ञानोंकी दशामें सातों भूमिके अनुभव बँटे हुए हैं और विचार करनेसे मालूम होगा कि, सप्तभूमियोंमें ब्रह्मके तीनों भावोंका ज्ञान प्रधानतया प्राप्त होता है। एक भाव मायाके साथ सम्बन्ध बाहुल्यके कारण औपचारिक भोक्तृत्वका है। दूसरा भाव भोक्तृत्व सम्बन्ध विहीन मायाके कर्ता मायी परमेश्वरका है और तीसरा भाव उससे भी परे, मायासे अतीत निर्गुण परब्रह्मका है। इन अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म भावोंका वर्णन उपासना यज्ञ नामक अध्यायमें हम पहले विस्तृतरूपसे

करचुके हैं। न्यायदर्शनसे ब्रह्ममीमांसा तक इन्हीं भावोंका अनुभव साक्षात् और परोक्षरूपसे प्रतिपादित हुआ है। तटस्थज्ञानकी दशामें अधिभूतरूपी विराट् भाव और अधिदैवरूपी ईश्वरभावका अनुभव होता है और स्वरूपज्ञानकी दशामें अध्यात्मरूपी ब्रह्मभावका अनुभव हुआ करता है। तटस्थ ज्ञान सहायक ज्ञानकी प्रथम और द्वितीय सोपानरूपा न्याय और वैशेषिक ज्ञानभूमिमें कार्यसे कर्ताका अनुमान कराते हुए दूसरे अध्यात्मराज्यका अनुभव कराया गया है। इन दोनों प्राथमिक ज्ञानभूमियोंमें प्रकृति राज्यसे ही आध्यात्म राज्यमें प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाले जिज्ञासु पथिकको अंगुलिनिर्देश द्वारा अध्यात्म राज्य दिखाया गया है। तत्पश्चात् योग और साङ्ख्यकी ज्ञान भूमियोंमें प्राकृतिक और अप्राकृतिक दोनों राज्योंकी सीमामें बिठाकर दोनोंका स्वरूप, दोनोंकी पृथकृता और अध्यात्म राज्यका लक्ष्य साक्षात् कराया गया है। कर्ममीमांसा दैवीमीमांसा और ब्रह्ममीमांसाकी तीनों ज्ञानभूमियोंमें विराट् ईश और ब्रह्मभावका यथाक्रम साक्षात् अनुभव करा दिया गया है।

तटस्थज्ञान और स्वरूपज्ञानके विचारसे दो ही विचारशैली वेदोंमें बहुधा प्रकाशित हैं। वे ही सांख्यशैली और वेदान्तशैलीके नामसे अभिहित होती हैं। श्रीगीताजीमें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि:—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि सर्व्वक्षेत्रेषु भारत!।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

यह शरीर क्षेत्र है और इसके ज्ञाता क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं। श्रीभगवान् ही सकल देहमें क्षेत्रज्ञ रूपसे विराजमान रहते हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है।

श्रीगीताजीमें क्षेत्रका लक्षण इस प्रकार कहा है। यथाः—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

पञ्च महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, मूल प्रकृति, दश इन्द्रिय, मन, पञ्चतन्मात्रा, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, चेतना और धृति, विकारयुक्त इतने पदार्थ संक्षेपतः क्षेत्र कहलाते हैं।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञरूप साङ्ख्य-ज्ञान प्राप्त करनेके योग्य ज्ञानकी सहायक वृत्तियोंका वर्णन श्रीगीताजीमें इस प्रकार किया है। यथाः—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्य्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य्योपासना, शौच, स्थिरता, इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, भोगोंमें वैराग्य, अहङ्कारका त्याग, इस संसारमें जन्म मृत्यु जरा व्याधि एवं दुःखादिमें दोष दर्शन करना, पुत्र स्त्री तथा गृहादिकोंमें अनासक्ति और अनभिष्वङ्ग (अतिममत्वबुद्धिका त्याग), इष्ट किंवा अनिष्ट घटना उपस्थित होनेपर सर्व्वदा समचित्त (समज्ञान) होना, जीवात्माका अभिन्नभावसे सन्दर्शन करके मुझमें (ईश्वरमें) अव्यभिचारिणी भक्ति, निर्ज्जन देशका सेवन (वास), जनसमुदायमें विरक्ति, नित्य अध्यात्म-ज्ञान-सेवा और नित्यानित्य-वस्तु-विवेक एवं जीवात्मा परमात्माका अभेद ज्ञान, यह सब ज्ञान कहा जाता है; और इसके विपरीतका नाम अज्ञान है ।

श्रीगीतोपनिषद्में ज्ञेयके स्वरूपका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्ने कहा है किः—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
सर्व्वतः पाणिपादं तत्सर्व्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्व्वतः श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति ॥
सर्व्वेन्द्रियगुणाभासं सर्व्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्व्व भृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्व्वस्य विष्ठितम् ॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥

जिसको जानलेनेसे मोक्ष प्राप्त करसकते हैं, वह एकमात्र विज्ञेय पदार्थ क्या है सो विशेषरूपसे कहता हूँ। वह अनादिमान् परब्रह्म न सत् और न असत् कहा जासकता है। जिसके सब ओर हस्त और पाद हैं, जिसके, सब ओर आँख सिर और मुख हैं एवं जिसके सब ओर कर्ण हैं, तथा जो सब में व्यापक होकर स्थित है। सब इन्द्रियोंके गुणोंका आभास स्वरूप है अर्थात् जीवभावमें इन्द्रियोंके समस्त गुण उसीमें आरोपित होकर उसीको दर्शन स्पर्शनादिका कर्ता और इन्द्रियादिविशिष्ट कहाजाता है, परन्तु वास्तवतः वह सर्व्वेन्द्रियविवर्जित है। वह निर्लिप्त है, परन्तु इस सकल संसारको धारण करनेवाला है। वह निर्गुण होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है। वह समस्त प्राणियोंके बाहर और भीतर विराजमान है, स्थावर और जङ्गम भी वही है, सूक्ष्मत्वजन्य अर्थात् रूपादिविहीन होनेसे वह (साधन विना) अविज्ञेय है। वह (अज्ञानियोंके अर्थ) दूरस्थ है और (ज्ञानियोंके अर्थ) नित्य सन्निहित है। प्राणिमात्रमें वह अविभक्त है तो भी विभक्त रूपसे अवस्थित है, अर्थात् ज्ञानियोंकी दृष्टिमें अभिन्न और अज्ञानियोंकी दृष्टिमें भिन्नरूपसे प्रतीयमान है। वही ज्ञेय वस्तु स्थितिके समय प्राणिमात्रका पालक है, (प्रलयकालमें) ग्रास करनेवाला और (सृष्टिकालमें) प्रभविष्णु अर्थात् नानाकार्य्यरूपसे उत्पत्तिशील है। वह (सूर्य्यादि) सकल ज्योतियोंका भी ज्योति अर्थात् प्रकाशक है; अज्ञानसे परे अर्थात् अज्ञान जिसको स्पर्श तक नहीं कर सकता है; वही ज्ञान, वही ज्ञेय और वही ज्ञानगम्य अर्थात् साधनद्वारा प्राप्य है एवं सकल प्राणिमात्रके हृदयमें (नियन्ता रूपसे) अवस्थित है। इस प्रकार क्षेत्र ज्ञान एवं ज्ञेय संक्षेपसे वर्णन किया गया है। मेरा भक्त इनको जानकर ब्रह्मत्व प्राप्तिके योग्य होजाता है।

यह सब गीतोक्त क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान तटस्थज्ञानके अन्तर्भुक्त है, क्योंकि यह सभी ज्ञान प्रकृति सम्बन्धसे लब्ध होता है। इन सब भूमियोंमें प्रकृतिका अस्तित्व बाधित नहीं होता है। अधिकन्तु उसकी सत्ताके ज्ञानके साथ ही साथ निर्लिप्त असङ्ग पुरुषका ज्ञान होता है। इसलिये यह ज्ञान साङ्ख्य भूमि तकका है। तदनन्तर गीताके १५ वें अध्यायमें जो क्षर अक्षर और पुरुषोत्तमका स्वरूप बताया गया है, उसमें साङ्ख्य और मीमांसाद्वयकी ज्ञानभूमिका वर्णन है। यथा :—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाऽक्षर एव च ।
क्षरः सर्व्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

इस संसारमें दो प्रकारके पुरुष प्रसिद्ध हैं; क्षर और अक्षर। ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त भूत ही क्षरके अन्तर्गत हैं और असङ्ग पुरुषरूपसे प्रत्येक पिण्डमें विराजमान कूटस्थ चैतन्य ही अक्षर है। इनके अतिरिक्त तीनों लोकोंमें व्यापक, सबके पालन करनेवाले, और एक उत्तम पुरुष हैं; जिनको परमात्मा कहते हैं, एवं जो अव्यय और ईश्वर हैं। ये ही परमात्मा क्षरसे अतीत हैं और अक्षरसे भी उत्तम हैं। इसलिये संसारमें और वेदमें वे पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हैं।

इन श्लोकोंमें जो क्षर और कूटस्थका ज्ञान है, सो न्यायकी भूमिसे लेकर साङ्ख्य भूमि तकका ज्ञान है। और परमात्मा, ईश्वर या पुरुषोत्तम, एवं व्यापक चेतनसत्ताका ज्ञान पूर्व्वमीमांसा व दैवीमीमांसाका ज्ञान है। पूर्व्वमीमांसामें "जगत् ही ब्रह्म है" इस विचारसे और दैवीमीमांसामें "ब्रह्म ही जगत् है" इस विचारसे पुरुषोत्तम भगवान्की भावना और उपलब्धिकी जाती है। ठीक इसी विज्ञानको श्वेताश्वतरोपनिषद्में स्पष्ट किया गाया है। यथा :—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरश्च,
व्यक्ताऽव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चाऽऽत्मा बध्यते भोक्तृभावात्,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व्वपापैः ॥

इस संसारमें क्षर और अक्षर, व्यक्त और अव्यक्तरूपसे परस्पर संयुक्त हैं। परमेश्वर उस उभयात्मक विश्वका पालन करते हैं। ईश्वरभावशून्य आत्मा मायाके साथ भोक्तृभावसे संसारमें बद्ध होजाते हैं। परन्तु परम पुरुष परमेश्वरकी उपलब्धि करनेसे संसारपाशसे मुक्त होजाते हैं। और भी लिखा है कि:—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः,
क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावा-
द्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥

ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त प्रकृति क्षर है, परन्तु अविनाशी अविद्यासङ्गरहित कूटस्थ चैतन्य अक्षर है। एक सर्वव्यापी पुरुषोत्तम परमात्मा क्षर और अक्षर दोनोंके ही ईश्वर हैं। उनके ही ध्यान, उनके साथ ही चित्तके संयोजन और उनके ही स्वरूप ज्ञानसे संसारका कारण मायाजाल सर्वथा छिन्न होजाता है।

इसी तरहसे श्वेताश्वतरमें गीतोक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम विज्ञानके वर्णनप्रसङ्गमें न्यायादि मीमांसा पर्य्यन्त छः ज्ञानभूमियोंका वर्णन किया गया है।

साङ्ख्यभूमितक प्रकृति सम्बन्धसे आत्मा विषयक तटस्थ ज्ञान प्राप्तकरके साधक मीमांसाओंकी भूमिमें तटस्थसे स्वरूपकीओर अग्रसर होता है। तदनुसार पूर्वमीमांसामें और दैवीमीमांसामें प्रकृतिको परमात्मामें लय करते हुए पूर्वोल्लिखित परमेश्वर विराट् वा पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त करता है। इसके बाद वेदान्तकी ज्ञानभूमि प्रारम्भ होती है। जिसमें मायाका विलास पूर्णतया निवृत्त होकर परब्रह्ममें उसका लय होता है। यही स्वरूप ज्ञानकी दशा है। इस दशामें मायाका और उसके वैभवरूपी संसारका कुछ भी अस्तित्व नहीं रहता है। सर्वत्र एकाकार ब्रह्मका ही भाव विराजमान रहता है। इसीको सब वेद और शास्त्रोंमें बहुत प्रकारसे वर्णन किया गया है। जैसा कि, पहले कहा जाचुका है। इसीको श्रीभगवान्ने श्रीगीताजीमें इस तरह वर्णन किया है कि:—

यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।

जहाँ जानेसे पुनः लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता है, वही मेरा परमधाम है। यहाँ मायाका विलास नहीं है। अतः कोई चाञ्चल्य या परिणाम भी नहीं है। इसलिये वेदान्त भूमिको प्राप्त करनेपर जीवकी निर्वाणमुक्ति होजाती है और उसको पुनः संसारमें नहीं आना पड़ता है। ज्ञानयज्ञकी पूर्णाहुति यहीं है। यह वेदज्ञानका अन्त और पूर्णज्ञानका प्रकाशक वेदान्त भूमिका अधिकार ज्ञानयज्ञका अन्तिम अधिकार है। वेदोंके शिरोभागरूप उपनिषद् समूह इसी ज्ञानकाण्डसे भरे हुए हैं। वेदान्त ज्ञानके आधार उपनिषद् हैं। यह ज्ञान साधारण बुद्धिगम्य नहीं है। निर्विकल्प समाधि स्थित पूर्णज्ञानी महात्मा ही इस स्वरूप ज्ञानको प्राप्तकर सकते हैं। अतः इस स्वरूपज्ञानके अधिकारी विरले ही महात्मा होते हैं।

ज्ञानमार्गके पथिकके हितार्थ सुख, बुद्धि, धृति और मनुष्यके स्वाभाविक अधिकारकेअनुसार ज्ञानका वर्णन श्रीगीतोपनिषद्में श्रीभगवान्ने निम्नलिखित रीतिसे किया है।

सुख तीन प्रकारका है। यथा:—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ!।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
यदग्रे चाऽनुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब त्रिविधसुख मुझसे सुनो। जिस सुखमें (सद्‌गुरूपदेशके) अभ्यासकेद्वारा परमानन्द लाभ होता है और दुःखका अन्त होता है, एवं वह (अनिर्वचनीय) सुख पहले विषवत् किन्तु परिणाममें अमृततुल्य तथा अपनी बुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न है, उस सुखको सात्त्विक सुख कहाजाता है। विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे, जो प्रथम अमृततुल्य हो किन्तु परिणाममें विषतुल्य होजाय, उस सुखको राजसिक सुख कहते हैं। निद्रा, आलस्य और प्रमादसे जो उत्पन्न हो एवं आदिमें और परिणाममें, जो चित्तको मोहित करनेवाला हो, उस सुखको तामस सुख कहते हैं।

बुद्धि तीन प्रकारकी है। यथाः—

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च कार्याऽकार्ये भयाऽभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥
यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाऽकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥

हे अर्जुन ! प्रवृत्ति निवृत्ति, कार्य अकार्य, भय अभय और बन्ध मोक्ष जिसकेद्वारा परिज्ञात हों, वह बुद्धि सात्त्विकी है। हे अर्जुन ! जिसकेद्वारा धर्म अधर्म और कार्य अकार्य यथावत् परिज्ञात न हों, वह बुद्धि राजसी है। हे अर्जुन ! जो बुद्धि अधर्मको धर्म समझे एवं सकल अर्थ विपरीत समझे, तमोगुणसे आच्छन्न उस बुद्धिको तामसी बुद्धि कहते हैं।

धृति तीन प्रकारकी है। यथाः—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन !।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ ! तामसी ॥

हे अर्जुन ! योगकेद्वारा विषयान्तरको धारण न करने वाली जिस धृतिसे मन प्राण और इन्द्रियोंको क्रिया नियमित होती है, उसी धृतिको सात्त्विक धृति कहते हैं। हे पृथापुत्र अर्जुन ! जिस धृतिकेद्वारा धर्म अर्थ और कामको धारण किया जाय एवं प्रसङ्ग पड़नेपर फलकी इच्छाकी जाय, वह धृति राजसी धृति है। हे अर्जुन !

विवेकहीन व्यक्ति जिसकेद्वारा निद्रा, भय, क्रोध, विषाद और अहङ्कारको त्याग नहीं करसकता है, वह धृति तामसी धृति है।

ज्ञान तीन प्रकारका है। यथाः—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषुतज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम्॥

जिसकेद्वारा विभक्तरूप सब भूतोंमें अविभक्त, एक, और विकारहीन भाव दिखायी दे, उस ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान जानना चाहिये। जिस ज्ञानमें पृथक्रूपसे सब भूतोंमें पृथग्विध नानाभाव मालूम हो, वह ज्ञान राजस ज्ञान है। जो ज्ञान एक ही कार्य्यमें परिपूर्णवत् आसक्त, हेतुशून्य, परमार्थावलम्बनहीन और क्षुद्र है, उसको तामस ज्ञान कहते हैं।

ज्ञानयज्ञका अधिकारी परमभाग्यवान् साधक स्वभावतः सात्त्विक सुखकी प्राप्तिमें प्रयत्न करता है। वह अन्य प्रकारके सुखोंकीओर स्वभावसे ही उपेक्षा रखता है। परम सौभाग्यशाली ज्ञानयज्ञ-परायण उन्नत अधिकारीकी बुद्धि स्वभावसे ही सात्त्विकी होती है। तामसिक और राजसिक बुद्धिके दोषोंको वह भलीभांति जानकर सदा सात्त्विक बुद्धिमें ही स्थित रहता है। ऐसे सात्त्विक बुद्धिसम्पन्न तत्त्वज्ञानी महापुरुष ही सात्त्विक धृतिका अवलम्बन करके जीवन्मुक्त भूमिमें पहुँचजाते हैं। ऐसे वेदान्तज्ञानमें निष्णात ज्ञान-पारावार-पारीण योगिराज महापुरुष ही तामस राजस ज्ञानको अज्ञानमूलक समझकर, केवल सात्त्विक ज्ञानमें सदा सर्व्वदा स्थित रहते-हुए स्वयं भी धन्य होते हैं और जगत्को भी धन्य करते हैं।

प्रथम समुल्लासका षष्ठ अध्याय समाप्त।

महायज्ञ

—:o:—

कार्य्य और कारणरूपसे धर्म्मशक्ति और यज्ञ दोनों एक ही पदार्थ हैं। इसलिये शास्त्रमें आत्माके उन्नतिकारी सकल प्रकारके पुरुषार्थको ही यज्ञ कहा है। वास्तवमें धर्म्म और यज्ञ ये दोनों एक दूसरेके पर्य्यायवाचक शब्द हैं। केवल विज्ञानके स्पष्ट करनेकेलिये धर्म्म शब्दको साधारणरूपसे और यज्ञशब्दको विशेष-रूपसे व्यवहार किया गया है। यज्ञ-शक्तिसम्बन्धि-विज्ञानकेसाथ सृष्टिका कितना सम्बन्ध है, सो स्वयं श्रीभगवान्ने गीतामें आज्ञा की है। यथाः—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माऽक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

भूत समूह अन्नसे उत्पन्न होते हैं, सुवृष्टिद्वारा अन्नकी उत्पत्ति हुआ करती है, यज्ञकेद्वारा वृष्टि होती है, यज्ञ कर्म्मसे होता है, कर्म्म प्रकृतिसे होता है और प्रकृतिका अस्तित्व ब्रह्मसत्ताकेद्वारा है। इसलिये सर्व्वव्यापी ब्रह्म सदा यज्ञरूपी धर्म्मकार्य्यमें प्रतिष्ठित हैं। यही यज्ञकेसाथ ईश्वरका अलौकिक विज्ञान-युक्त सम्बन्ध है। इसीलिये मीमांसा-दर्शनमें यज्ञको साक्षात् ईश्वरका रूप करके वर्णन किया गया है। इसीलिये नारायणोपनिषद्में लिखा है कि:—

यज्ञेन हि देवा दिवं गता, यज्ञेनाऽसुरानपानुदन्तः,
यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम् ,
तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति ।

यज्ञकेद्वारा ही देवताओंको स्वर्ग प्राप्ति होती है, यज्ञकेद्वारा ही आसुरी शक्तिका दमन होता है, यज्ञकेद्वारा शत्रु भी मित्र होते हैं और यज्ञमें ही सकल संसारकी प्रतिष्ठा (स्थिति) है। इसलिये यज्ञ अति श्रेष्ठ वस्तु है।

प्रकृत विषय महायज्ञका है। यज्ञ और महायज्ञ दोनों एक ही अनुष्ठान होनेपर भी साधारणतः यह भेद बताया जा सकता है कि, यज्ञफलरूप आत्मोन्नतिकेसाथ व्यष्टिका सम्बन्ध प्रधान होनेसे इसमें स्वार्थ सम्बन्ध अधिक रहता है, परन्तु महायज्ञका महत्त्व है कि, इसमें समष्टि सम्बन्ध प्रधान करनेसे इसका फल जगत्कल्याणकेसाथ आत्माका कल्याण है। इसलिये महायज्ञमें निःस्वार्थ निष्कामभाव और हृदयकी उदारताका सम्बन्ध अधिक रहता है । पूज्यपाद महर्षि भरद्वाजने कहा है कि:—

यज्ञः कर्म सुकौशलम् ।
समष्टिसम्बन्धान्महायज्ञः ।

सुकौशल पूर्ण कर्मको यज्ञ कहते हैं और समष्टि सम्बन्धसे उसीको महायज्ञ कहते हैं।

अविद्याग्रसित जीवभावको त्याग करके ब्रह्मभावकी उपलब्धि करना जब मनुष्य जन्मका लक्ष्य है, तो जिस कार्य्यकेद्वारा यह लक्ष्य सिद्ध होगा, उसीकी महिमा सर्व्वोपरि होगी, इसमें सन्देह नहीं है। जीवभावकेसाथ ईश्वरभावका यही भेद है कि, जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्व्वज्ञ है। जीव देश, काल और वस्तु परिच्छिन्न है और ईश्वर इनसे अपरिच्छिन्न होनेकेकारण विभु, नित्य एवं पूर्ण हैं। जीव अविद्याके अधीन है और ईश्वर मायाके अधीश्वर हैं। जीवभाव स्वार्थपर एवं साहङ्कार है और

ईश्वरभाव परार्थपर एवं निरहङ्कार है। जीवकी सत्सत्ता क्षुद्र है, चित्सत्ता भ्रमजालयुक्त है एवं आनन्दसत्ता मायाकी छायाकेकारण अनित्य सुखरूपमें परिणत है; परन्तु ब्रह्मकी सत्सत्ता अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें परिव्याप्त है। उनकी चित्सत्ता अनन्त ज्ञानमय है और उनकी आनन्दसत्ता मायासे परे, सुख दुःखसे बाहर नित्यानन्दमय है। इसलिये जिस अनुष्ठानकेद्वारा जीवभावकी ऊपर लिखी हुई समस्त क्षुद्रता नष्ट होकर विराट्, उदार, पूर्ण, ज्ञानमय, आनन्दमय, निःस्वार्थ, निरहङ्कार, सर्व्वतोव्याप्त ब्रह्मभावकेसाथ एकता प्राप्ति हो, वह अनुष्ठान सबसे महान्, महत्तर और महत्तम होगा, इसमें सन्देह ही क्या है ? प्रस्तावित विषय महायज्ञ इसी परम महिमासे पूर्ण है। इसीलिये महायज्ञ महान् है। यज्ञकेद्वारा सकाम साधकको बहुधा ऐहिक और पारत्रिक सुख लाभ होनेपर भी महायज्ञकेद्वारा आत्माकी शुद्धि और मुक्ति होती है, एवं सब वर्ण और सब आश्रमके लोग इसका अनुष्ठान करके अपवर्ग लाभ कर सकते हैं; जैसा कि नीचे वर्णन किया जाता है।

जिस कार्य्यकेद्वारा आत्माका हित होता है, उसी कार्य्यकेद्वारा सम्पूर्ण जगत्का हित हुआ करता है; अपिच जिस कार्य्यकेद्वारा जगत्का हित होना सम्भव है, उसी कार्य्यकेद्वारा आत्माका भी हित हुआ करता है, क्योंकि ब्रह्माण्डरूपी विराट् देह और विराट्रूपी जीव देह समष्टिव्यष्टिरूपेण एक सम्बन्धयुक्त है। इस कारण अपने हितके विचार एवं साथ ही साथ जगत्के अवश्यम्भावी हितके कारण यज्ञरूपी धर्म साधन करना परमावश्यक है। धर्मके साथ जीवका इसप्रकार एकत्व सम्बन्ध है कि, धर्मके साधन न करनेसे अथवा उसके विरुद्धाचरणसे जीव क्रमशः उन्नत न होकर अधोगामी दशाको प्राप्त होता है। इसीकारण वह अधर्मकेद्वारा तिर्य्यक् आदि योनि एवं जड़ प्रस्तरतकको प्राप्त होजाता है। छान्दोग्योपनिषद्में कहा है कि:—

य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते
कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिम्वा
शूकरयोनिम्वा चाण्डालयोनिम्वा।

जो इस संसारमें नीच आचरण अथवा उसके अभ्यास करनेवाले हैं, वे नीचयोनियोंको प्राप्त होते हैं। कुक्कुर शूकर वा नीच चाण्डाल आदि योनियोंको वे प्राप्त होते हैं। विशेषतः धर्म्मसाधनकी परमावश्यकताके विषयमें श्रीभगवान्ने गीताजीमें स्वयं उपदेश किया है कि:—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

प्रजापतिने यज्ञ सहित प्रजाकी सृष्टि करके उनसे आज्ञा की कि, तुम सब इस यज्ञकेद्वारा क्रमशः उन्नतिको प्राप्त करो। इसकेद्वारा ही तुम्हारा सकल मनोरथ पूर्ण होगा। यज्ञकेद्वारा देवताओंको सन्तुष्ट करो और देवगण तुमको सन्तुष्ट करें। इस प्रकार परस्परके सम्वर्द्धनसे श्रेष्ठ कल्याणको प्राप्त करोगे, क्योंकि देवतागण यज्ञकेद्वारा सन्तुष्ट होकर ईप्सित भोगको प्रदान किया करेंगे। देवताओंकेद्वारा प्राप्त पदार्थ उन्हें न देकर जो स्वयं भोग करते हैं, वे चोर हैं। यज्ञशेषभोजी सत्पुरुष सब प्रकारके पापोंसे मुक्त होजाते हैं। जो केवल अपनेलिये भोग्य पदार्थोंको पकाता है, वह पापी पापको भोग करता है। इस प्रकार वर्णनकरके गीताजीमें पुनः वर्णन किया है कि:—

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नाऽनुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

इस प्रकार प्रवर्त्तित कर्म्मचक्रका जो अनुगमन नहीं करता है, इन्द्रियपरायण उस पापात्माका जीवन ही वृथा है। विश्व-जीवनको इसी चक्रकेसाथ मिलाकर प्रकृतिकी कल्याणवाहिनी धारामें समस्त जीवोंका सम्बन्ध बाँधकर परमात्माके चिर-शान्तिमय चरण कमलकीओर संसारकी गतिको प्रवाहित करनेकेलिये जो शक्ति काम करती है, वह महायज्ञकी ही महती शक्ति है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है कि:—

मत्तः परतरं नाऽन्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

हे अर्जुन ! इस संसारमें मुझसे अलग और कोई वस्तु नहीं है। सूत्रमें मणि-गण जैसा समस्त संसार मुझमें ओतप्रोत है। यह सम्पूर्ण विश्व एक ब्रह्मरूपी सूत्रमें मणिके दानेकी तरह ग्रथित है। सूत्रमें गुँथी हुई मालाका एक दाना भ्रष्ट होनेसे जिसप्रकार समस्त दानें स्वतः ही स्थानभ्रष्ट होजाते हैं, उसीप्रकार विश्वप्राणके अन्तर्गत किसी अंशमें थोड़ासा आघात लगनेसे ही उसकी प्रतिक्रियामें समस्त विश्व-प्राण कम्पित, आलोडित और आहत होजाता है। जिस प्रकार स्थूल शरीरके प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्गकेसाथ समस्त शरीरका ऐसा घनिष्ठ सम्वन्ध बना हुआ है कि, प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्गके सुखकेसाथ समस्त शरीरको सुख हुआ करता है और किसी साधा-रण अङ्ग या प्रत्यङ्गके रुग्ण होनेसे समस्त शरीर रोगी होजाता है; ठीक उसी प्रकार विराट्के विपुल शरीरमें आब्रह्मस्तम्ब पर्य्यन्त समस्त जीव, मनुष्य, देवता, ऋषि,

पितर् सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग रूपसे विराजमान हैं, इसकारण एककी हानिसे सबकी हानि व एकके कल्याणसे सबका कल्याण निःसन्देह हुआ करता है। अतः इस विश्व ब्रह्माण्डका कोई अंश उपेक्षाके योग्य नहीं है। स्थूल व्यष्टि जगत् और स्थूल समष्टि जगत् , सूक्ष्म मनोमय व्यष्टि जगत् और सूक्ष्म मनोमय समष्टि जगत् , व्यष्टि कारण जगत् और समष्टि कारण जगत् सभी एकत्व सम्बन्धसे युक्त हैं। इसलिये व्यष्टिका घात प्रतिघात समष्टिमेंऔर समष्टिका घात प्रतिघात व्यष्टिमें अवश्य फलदायी होता है। मेरे प्राणमें जो स्पन्दन होगा, उसकी तरङ्गें समष्टि प्राणसमुद्रको कम्पित करेंगी, समष्टि प्राणसमुद्रका कम्पन मेरे हृदयगत प्राणमें हिल्लोल उत्पन्न करेगा, इसमें सन्देह नहीं। मेरे अन्तःकरणमें जो चिन्ताकी तरङ्ग उठेगी, उसका प्रतिघात ब्रह्माण्डअन्तःकरणमें जाकर होगा और उससे विकीर्ण होकर जीव जगत्‌की समस्त चित्त नदियोंको आलोडित करेगा, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि व्यष्टि व समष्टि अन्तःकरण अभिन्न है। इन सब वैज्ञानिक तत्त्वोंसे यह बात सिद्ध होती है कि, यदि संसारके एक अंशको साधक त्याग देवें तो, उससे समष्टि सृष्टिको हानि पहुँचना अवश्य सम्भव है। इसलिये मुमुक्षु मानव जितना ही इस विश्व ब्रह्माण्डके अपरिहार्य्य नियमके अधीन होकर जीवन पथपर चलता रहेगा, उतना ही वह उस जीवनोन्नतिकारी धर्म्मकी महाशक्तिकेसाथ अपना सम्बन्ध स्थापन करता हुआ क्रमोन्नतिको प्राप्त करेगा। गान्धर्व्व वेदके ज्ञाता गायकको अपना कण्ठस्वर नियमित करनेकेलिये जिस प्रकार सप्तस्वरमय यन्त्रके समष्टि स्वरकी सहायता लेनी पड़ती है, उसी प्रकार मनुष्यको भी अपनी जीवनधाराको नियमित करके मुक्तिकीओर अग्रसर होनेकेलिये अपने जीवनकेसाथ विश्वजीवनका सम्बन्ध स्थापन करना प्रथम कार्य है। इसी वैज्ञानिक तत्त्वको व्यावहारिक जीवनके कार्य-कलापकेद्वारा उपलब्ध करनेकेलिये वेद और शास्त्रमें जो उपाय बतलाया गया है, उसे महायज्ञ कहते हैं।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि, मनुष्योंके क्रमोन्नतिकारी धर्म्मसम्बन्धीय साधनको अर्थात् व्यष्टि जीवोंके उपकारक धर्म्मसाधनको यज्ञ कहते हैं, और समष्टिरूपी ब्रह्माण्डके तृप्त करनेयोग्य साधनको महायज्ञ कहते हैं। पूज्यपाद महर्षि अङ्गिराने कहा है कि:—

यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात् ।

व्यक्तिगत व्यष्टि धर्मकार्यको यज्ञ और सार्वभौम समष्टि धर्मकार्य्यको महायज्ञ कहते हैं। इसी बातको और प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, जीव स्वार्थके वास्तवमें चार भेद हैं, यथाः—स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोपकार। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंका यह अनुभव है कि, जीवके ऐहलौकिक सुखसाधनको स्वार्थ कहते हैं और पारलौकिक सुखकेलिये जो पुरुषार्थ, उसको परमार्थ कहते हैं। दूसरे जीवोंके ऐहलौकिक सुखके साधन करानेमें अपनेको सुखी समझनेका अधिकार, जब साधकको प्राप्त होता है, उसीका नाम परोपकार है। दूसरे जीवोंके पारलौकिक कल्याण करानेके अधिकारको परमोपकार कहते हैं। स्वार्थ और परमार्थका सम्बन्ध यज्ञसे है और परोपकार व परमोपकारका सम्बन्ध महायज्ञ साधनसे

माना गया है। इसकारण महायज्ञका अधिकार और भी उन्नत है, इसीसे उसकी विशेषता कही गयी है। निष्काम होकर महायज्ञके साधन करनेसे साधकको मुक्ति प्राप्त होसकती है। संसारमें जितने प्रकारके जगत् कल्याणमूलक निष्काम कर्मयोग हैं, वे सभी महायज्ञके अन्तर्गत हैं। चाहे ज्ञानकी उन्नति करनी हो, चाहे शक्तिकी उन्नति करनी हो, चाहे स्थूल धन सम्पत्तिकी उन्नति करनी हो, देशभक्ति और धर्मके ऊपर प्रीतिकेद्वारा युक्त होकर निष्काम कर्मयोगी, जो कुछ कार्य करेंगे, वे सभी महायज्ञ कहलायेंगे। इसप्रकार भाग्यवान् पक्षपात रहित उदार चेता महायज्ञके अनुष्ठाताकी, अपने जीवनका देश और धर्मकेलिये उत्सर्ग करनेकेकारण स्वार्थ बुद्धि क्रमशः नष्ट होजायगी, देह और इन्द्रियोंकेप्रति ममता दूर होजायगी, क्षुद्र अहङ्कार भाव विगलित हो जायगा और उनका जीवन विश्वजीवनकेसाथ व उनका प्राण विश्वप्राणकेसाथ मिलजानेसे उनकी सत्ता विराट् भगवान्की व्यापक सत्तामें जगत्को ही ब्रह्म जानकर निष्काम जगत्सेवाकेद्वारा विलीन होजानेसे उनको नित्यानन्दमय मुक्तिपद प्राप्त होजायगा। यही महायज्ञ साधनका चरम फल है। इसमें सकल वर्णों और सकल आश्रमोंके अधिकारियोंका अधिकार है।

शास्त्रमें द्विजोंके नित्यकर्मरूपसे जो पञ्चमहायज्ञका विधान किया गया है, उसके विज्ञानपर संयम करनेसे बुद्धिमान् मनुष्योंको मालूम होगा कि, स्मृतियोंमें पञ्चसूना दोषनाशरूप पञ्चमहायज्ञका जो फल वर्णन किया गया है, वह केवल उसका व्यष्टि शरीरसे सम्बन्धयुक्त गौण फलमात्र है। पञ्चमहायज्ञका मुख्य फल विश्वजीवनकेसाथ एकताकेद्वारा आत्मोन्नति साधन है। इसलिये इस प्रवन्धमें पञ्चमहायज्ञको ही दृष्टान्तरूपसे लेकर तदन्तर्गत ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और नृयज्ञके विज्ञानको बतलाते हुए महायज्ञका महत्त्व प्रतिपादन किया जायगा। श्री भगवान् मनुजीने कहा है कि:—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
पञ्चैतांश्च महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥
देवताऽतिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति॥
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्त्तीदं चराचरम्॥
अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशास्यते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता॥
स्वाध्यायेनार्च्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥

अध्ययन-अध्यापनका नाम ब्रह्मयज्ञ, अन्न अथवा जलकेद्वारा नित्य नैमित्तिक पितरोंके तर्पण करनेका नाम पितृयज्ञ, देवताओंको लक्ष्य करके होम करनेका नाम देवयज्ञ; पशु पक्षीआदिको अन्नादि दान करनेका नाम भूतयज्ञ और अतिथिसेवाका नाम नृयज्ञ है। जो गृहस्थ यथाशक्ति इस पञ्चमहायज्ञका अनुष्ठान करते हैं, उनको गृहस्थमें रहनेपर भी पञ्चसूना दोष स्पर्श नहीं करता। देवता, अतिथि पिता मातादि पोष्यवर्ग, पितृगण और आत्मा इन पाँचोंको जो मनुष्य पञ्चमहायज्ञकेद्वारा अन्न नहीं देता है, उसका जीवन वृथा है। स्वाध्याय और दैव कर्ममें सदा ही युक्त रहना चाहिये। दैवकर्ममें युक्त होनेसे मनुष्य चराचर विश्वको धारण कर सकता है; क्योंकि देवयज्ञमें, जो आहुति अग्निमें प्रदानकी जाती है, सो आदित्यलोकमें पहुँचती है, आदित्यकी तृप्ति होनेसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। ऋषि, देवता, पितृ, भूत और अतिथि सभी गृहस्थोंसे आशा रखते हैं। इसलिये उनकेप्रति निम्नलिखित कर्त्तव्योंको ज्ञानवान् पुरुषको अवश्य करना चाहिये। वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंके स्वाध्यायसे ऋषियोंको, यथाविधि होमकेद्वारा देवताओंको, श्राद्धकेद्वारा परलोकगत पितरोंको, अन्नकेद्वारा मनुष्योंको और बलिकेद्वारा भूतोंको तृप्त करना चाहिये। इस प्रकारसे स्मृतिमें पञ्चमहायज्ञकेद्वारा समस्त संसारको तृप्त करनेकी विधि बतलायी गयी है। अब उस विधिकेद्वारा प्रकृति माताके ऋणसे उऋण होकर विश्वजीवनके साथ अपना सम्बन्ध स्थापन करके मनुष्य कैसे आध्यात्मिक उन्नति और मुक्तिको लाभ कर सकता है, सो एक एक यज्ञका संक्षिप्त रहस्य वर्णन करते हुए नीचे दिखाया जायगा। इनके अनुष्ठानकी विधि पञ्चमहायज्ञ नामक अध्यायमें आगामी किसी समुल्लासमें बतायी जायगी।

(ब्रह्मयज्ञ)

वेद और शास्त्रसम्मत सकल शास्त्रोंका अध्ययन करना ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। पञ्चमहायज्ञोंमें यह यज्ञ सर्व प्रथम है। विश्वजीवनके साथ प्रत्येक मनुष्यजीवनका तादात्म्य सम्बन्ध रहनेकेकारण एकके कार्यका दूसरेके फलके साथ एकत्व सम्बन्ध है। इसकारण स्वयं अध्ययन करना अथवा शिष्यके कल्याणार्थ अध्ययन कराना, कार्यतः समान फलदायी है। वेदके तीनों काण्ड कर्म, उपासना और ज्ञानमेंसे साधन क्रमके अनुसार ज्ञानकी प्रधानता है, इसमें सन्देह नहीं। ज्ञानकी परमावश्यकताके विषयमें वेदसे लेकर सब शास्त्र ही एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं। मनुष्योंमें केवल ज्ञानकी विशेषता रहनेकेकारण मनुष्य अन्य जीवोंमें सर्व श्रेष्ठ कहा जाता है। सदाचार समूहके अभ्यासद्वारा कार्यतः धर्मानुष्ठानमें रत होनेसे मनुष्य मनुष्यत्व पदका

अधिकारी हुआ करता है। पुनः वह धार्मिक साधक कर्मकाण्डके साधनद्वारा अपनी बुद्धिको निर्मल करके भगवद्राज्यमें पहुँचकर भगवदुपासनाका श्रेष्ठ अधिकारी होता है। तदनन्तर श्रीभगवान्‌की कृपासे भगवज्ज्योतिरूप, ज्ञानाधिकार प्राप्त करके त्रितापसे बचकर मुक्तिपदमें पहुँच जाता है। मनुष्यकी क्रमोन्नतिका यही साधारण क्रम है। इसीकारण ज्ञानयज्ञरूपी स्वाध्यायकी वेदोंमें निम्नलिखित रीतिसे इतनी प्रशंसा की गयी है। तैत्तिरीयोपनिषद्‌में लिखा है। यथाः—

ऋतञ्चस्वाध्यायप्रवचने च।
सत्यंच स्वाध्यायप्रवचने च। इत्यादि ॥

ज्ञानकी महिमा वर्णनकी श्रेष्ठताकेअर्थ ही वेदान्तर्गत विभागोंके तारतम्यानुसार ज्ञान विस्तारकारी उपनिषद्‌भागकी महिमाकेअर्थ कहा गया है कि, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यह सब अपरा विद्या है और इन सबोंके अतिरिक्त जिस विद्याकेद्वारा परमात्मा ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, वही सर्वश्रेष्ठ परा विद्या है। क्रमोन्नतिमें ज्ञानकी प्रधानताकेकारण प्रथम अवस्थासे लेकर शेषावस्थापर्यन्त एकमात्र ज्ञानकी ही सर्वोपरि आवश्यकता है। प्रथमावस्थामें मनुष्य विना ज्ञानकी सहायता प्राप्त किये असत्‌के त्यागपूर्वक सदाचाररूपी धर्माधिकारको प्राप्त नहीं करसकता, क्योंकि प्राकृतिक गुणयुक्त इन्द्रियगण सदा जीवको इन्द्रियसुखकीओर ही खींचता है। उस समय एकमात्र माता पिता अथवा गुरुका उपदिष्ट धर्मज्ञान ही जीवको असत्कर्मसे बचाकर सन्मार्गमें स्थित रखता है। तदनन्तर कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड, इन दोनों परमावश्यकीय अधिकारोंमें भी विना सदसद्‌ज्ञान-युक्त ज्ञानके साधक कदापि अपनी साधनमर्यादापर यथावत् स्थित नहीं रह सकते हैं।

श्रीभगवान्‌की अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, इन त्रिविध शक्तियोंके सम्वर्द्धनार्थ और उनकी प्रसन्नताकेलिये ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ और पितृयज्ञका अनुष्ठान किया जाता है। ब्रह्म, ईश और विराट् ये तीन भाव यथाक्रम परमात्माके हैं और यही अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत कहाते हैं। कारणमें जो होता है, कार्यमें भी वही होता है। इसकारण सृष्टिके समस्त विभागोंका भेद त्रिविध है। इन्हीं आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सृष्टिकी अधिष्ठातृशक्ति अर्थात् चालक यथाक्रमसे ऋषि, देव और पितृगण हैं। पूज्यपाद महर्षिगण आध्यात्मिक ज्ञान विस्तारके कर्त्ता होनेकेकारण सर्वदा पूजनीय हैं। ज्ञान ही सब सुखोंका मूल है और ज्ञान ही मुक्ति पद-लाभका कारण है। ऐसे ज्ञानके प्रवर्त्तक पूज्यपाद महर्षिगणके ऋणसे कौन मनुष्यगण उत्तीर्ण होसकता है? कोई भी नहीं। केवल उन महर्षियोंके निकट कृतज्ञता दिखानेकेलिये, उनके सम्वर्द्धनकेलिये और यथा कथञ्चित् ऋषिगणके ऋणसे उऋण होनेकेलिये ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। वे सम्वर्द्धित और प्रसन्न होकर उस देशकी मनुष्यजातिमें आध्यात्मिक ज्योतिरूप ज्ञानका विस्तार किया करते हैं, क्योंकि उनकी प्रसन्नताका फल यही है। महर्षि अङ्गिराने दैवीमीमांसा दर्शनमें कहा है कि:—

ब्रह्मयज्ञादिभिः प्रोज्जिता ऋषयः ।
तथाविधा ज्ञानस्य वर्द्धकाः ॥

ब्रह्मयज्ञादि कर्मोंके अनुष्ठानसे ऋषिगण सम्वर्द्धित होते हैं और वे सम्वर्द्धित होकर संसारमें ज्ञानका विस्तार करते हैं। इसकारण आर्यजातिमें ब्रह्मयज्ञ साधन करना, नित्यकर्म और परम कर्त्तव्य धर्ममें परिगणित किया गया है।

अब कोई ऐसी शङ्का करे कि, जिन जातियोंमें ऋषियोंके सम्वर्द्धनार्थ ब्रह्मयज्ञ, देवताओंके सम्वर्द्धनार्थ देवयज्ञ और पितृगणके सम्वर्द्धनार्थ पितृयज्ञके साधन नहीं होते, वहाँ ज्ञान, सुख और स्वास्थ्यरूपी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक फलकी प्राप्ति कैसे होती है? इस शङ्काका समाधान यह है कि, यदि कोई राजाको प्रतिदिन प्रणाम न करे, परन्तु राजाकी आज्ञाका पालन करे, तो क्या समदर्शी राजा उसपर प्रसन्न होकर उसको पुरस्कृत नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे। इस दृष्टान्तका दार्ष्टान्त यह है कि, आजकलकी किसी-किसी उन्नत पाश्चात्य जातिमें जो विद्या-पक्षपात, ज्ञानानुराग, विद्वानोंकी प्रतिष्ठामें प्रवृत्ति और अज्ञात विषयोंके जाननेकेलिये प्रबल वासना आदि आध्यात्मिकोन्नतिकर धर्मवृत्तियोंकी विशेष उन्नति है, इससे वह जाति ऋषिगणकी अवश्य कृपापात्र होंगी। इसी प्रकार शौर्य, वीर्य, स्वदेशानुराग, सत्यप्रियता, स्वजातिप्रेम, तप, निष्काम कर्ममें अनुराग और दानमें रति आदि धर्मवृत्तियाँ जब उन जातियोंमें उपस्थित हैं, तब वे देवताओंकी प्रसन्नता सम्पादन करके ऐहलौकिक और पारलौकिक सुखप्राप्तिकी भाजन होंगी। और इसी प्रकार वे नित्यनैमित्तिक पितरोंके अस्तित्वको भलीभाँति न समझनेपर पितृगणकी सन्तोष-भाजन होसकती हैं, क्योंकि उक्त जातियोंकी पूर्वजोंपर श्रद्धा, उक्तजातियोंकी वृद्धसेवा, उनमें पितृमातृभक्तिका भाव, और आदर्श पुरुषोंकी पूजा इत्यादि धर्मवृत्तियोंकी उपस्थिति है। इससे स्वतः ही वे पितृलोगोंके कृपाभाजन हैं। धर्म सर्वव्यापक और सर्वजीवहितकर है। इसकारण धर्मवृत्तियोंके लाभ करनेसे सब मनुष्य उसका यथा-योग्य फल प्राप्त करसकते हैं। धर्मके अङ्ग अनन्त हैं। इसकारण कोई जाति भी सदाचारविहीन होनेपर भी अपने उपयोगी विशेष-विशेष धर्माङ्गोंका पूर्णरीत्या पालन करनेपर धार्मिक होसकती है। धर्मपर आरूढ़ होनेपर अनार्यजाति भी भगवत्कृपा, ऋषिकृपा, देवकृपा और पितृकृपाभाजन होती हुई ऐहलौकिक और पारलौकिक सब अभ्युदयोंको प्राप्त करसकती है। निःश्रेयसकी बात स्वतन्त्र है। निःश्रेयस केवल परमात्माके साक्षात्कार, विषयसे पूर्ण वैराग्य, वासनानाश और तत्त्वज्ञान होनेसे लाभ हुआ करता है। यही ज्ञानयुक्त ब्रह्मयज्ञकेद्वारा विश्वजीवनकेसाथ एकत्व सम्बन्ध स्थापन करनेका चरम फल है।

(देवयज्ञ)

इष्ट उपासनाकेअर्थ भगवत्पूजारूपेण परमात्मा और उनकी शक्तियोंके लक्ष्यपर अग्निमें आहुति प्रदान करनेसे देवयज्ञका साधन हुआ करता है। पञ्चमहायज्ञोंमें

यह यज्ञ द्वितीय स्थानीय है। भगवद्भक्ति और देवपूजनकेद्वारा स्वतः ही किसप्रकार आत्मोन्नति होती है, सो दर्शनशास्त्रोंमें भलीभाँति सिद्ध कर दिखाया है। पूर्ण शक्तिधारी परमात्मा शरणागत भक्तपर कृपा करके उसको उच्चतर अध्यात्मभूमिमें पहुँचा दिया करते हैं, इसमें सन्देहमात्र नहीं। परन्तु यदि लौकिक बुद्धिकेअनुसार देवसेवाके विज्ञानपर विचार करते हुए श्रीभगवान्की अलौकिक कृपापर मनन न किया जाय, तौ भी उपासनाविज्ञानकी सुकौशलपूर्ण क्रियापर ध्यान देनेसे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, ईश्वर भक्ति और भगवत्पूजन सम्बन्धीय सब चेष्टायें मनुष्यको स्वतः ही उन्नत अध्यात्मभूमिकी अधिकारी कर दिया करती हैं। ईश्वरको लक्ष्य करके बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय समूहके संयम करनेसे, और चाहे किसीप्रकारसे ही हो अन्तःकरणको परमात्माकीओर फिरानेसे जीव आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त किया करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। यह संसार और इस संसारके नाना जीवआदि सब विभाग असत्य और त्रितापमय हैं, किन्तु केवल एकमात्र श्रीभगवान्का शान्तिमय परमपद ही सब तापोंसे रहित और परम आनन्दका स्थान है। फलतः असद्राज्यको यह जीव चाहे किसी प्रकारसे त्याग कर सके, उस परमपदकीओर मुख फेरते ही परम कल्याणका अधिकारी होने लगता है। अपिच दूसरे विचारकेअनुसार भी समझ सकते हैं कि, यदि अद्वैत भाव स्थापना करना ही साधनका परम लक्ष्य हो तो भी, अद्वैतपदके स्वामी श्रीभगवान्को स्मरणपूर्वक उनके प्रीत्यर्थ यज्ञ करके भावमें विभोर होनेके अतिरिक्त, अन्तःकरणकी समता प्राप्त करनेकेअर्थ और क्या अधिक पुरुषार्थ हो सकता है? सब यज्ञोंके मूलमें श्रीभगवान् ही हैं। नृयज्ञमें अतिथिको देवरूप समझना, पितृ यज्ञमें देव और ऋषि तर्पणकी आवश्यकता और भूतयज्ञमें नाना जीवोंको बलि देनेसे पूर्व ईश्वर विभूतिरूप नाना देवताओंको बलि देना, यह सब सर्वव्यापक भावसे उस परमात्माकी पूजा करनेमें अभ्यासकेअर्थ ही है। वैश्वदेव यज्ञमें जो स्वतन्त्र २ आहुतियाँ हैं, वे भी भावमय श्रीभगवान्के विशेष विशेष भावोंके लक्ष्यार्थ ही हैं। एवं पञ्चभूतरूप श्रीभगवान्की प्रत्यक्ष विभूतियोंमेंसे मध्यवर्ती शक्ति होनेकेकारण और अग्निदेवमें श्रीभगवान्के तेजका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहनेके कारण अग्निकी सहायतासे देवयज्ञका साधन किया जाता है।

श्रीभगवान्की अधिदैव शक्तिके वर्द्धनार्थ देवयज्ञका साधन किया जाता है। महर्षि अङ्गिराने कहा है किः—

यज्ञादिभिर्देवाः।
शक्तिसुखादीनाम्।

देवयज्ञके अनुष्ठानसे देव देवियोंका सम्वर्द्धन होता है और वे सम्वर्द्धित होकर संसारमें शक्ति और सुख सम्वर्द्धन किया करते हैं। जिसप्रकार श्रीभगवान्की आध्यात्मिक शक्तिके अधिष्ठाता ऋषि हैं, उसीप्रकार उनकी अधिदैव शक्तिके अधिष्ठाता और अधिष्ठात्री देव-देविगण हैं। देवताओंके विषयमें पूर्ण विज्ञान आगे बतलाया जायगा। देवता बहुत हैं और वे नित्य नैमित्तिक भेदमें विभक्त हैं।

रुद्रगण, वसुगणके इन्द्रादिक नित्यदेवता हैं और ग्रामदेवता, गृहदेवता, वनदेवता आदि नैमित्तिक हैं। वस्तुतस्तु अधिदैव शक्तिकी पूजा ही इस यज्ञकेद्वारा होती है। देवता प्रसन्न होनेपर यावत् सुख दान करते हैं। जिन देवताओंकी कृपासे जडभावापन्न कर्मसे फलकी उत्पत्ति होती है, जिन देवताओंकी कृपासे मनुष्य अपने भोगोंको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है, और जो देवतागण सदा ब्रह्माण्डकी यावत् क्रियाओंको यथासमय सुसम्पन्न करके, उसकी सुरक्षा करते हैं, ऐसे देवताओंके ऋणसे कौन उऋण हो सकता है? कोई नहीं। श्रीभगवान्की आध्यात्मिक शक्तिके परिचालक ऋषिगण और अधिदैव शक्तिके परिचालक देव-देविगणके सृष्टिके रक्षणार्थ अवतार भी होते हैं। भगवदवतारकी नाईं ऋषि और देवताओंके अवतार भी पूजनीय हैं। देवता और उनके अवतारोंकी पूजा करनेसे, वे सन्तुष्ट होकर समष्टि जगत्में शक्ति और सुखका विस्तार करेंगे। देवयज्ञका साधक इस रीतिपर देवयज्ञकेद्वारा समष्टि जगत्में शक्ति और सुख विस्तारका कारण हो सकता है। यही देवयज्ञ साधनका विश्वजनीन-भाव है।

(भूतयज्ञ)

पूर्वकथित तादात्म्य भाव सम्बन्धीय वैज्ञानिक विचारकेअनुसार कीट, पक्षी, पशु, आदि नाना योनियोंकेसाथ मनुष्यका आध्यात्मिक तादात्म्य सम्बन्ध है, इसके सिद्ध करनेमें दुबारा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। फलतः विश्वजीवनकेसाथ यदि एकता सम्पादन करना ही धर्मका प्रधान लक्ष्य है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, इस संसारके जीवमात्रकी सेवा करना मनुष्यका कर्त्तव्य है। भूतयज्ञ साधनमें जिन देवताओंका नाम लेकर बलि देनेकी आज्ञा विभिन्नप्रकारसे नाना वैदिक शाखाके नाना भूतयज्ञ सम्बन्धीय आज्ञाओंमें पायी जाती है, उनपर मनन करनेसे ही जाना जा सकेगा कि, इस महायज्ञका क्या तात्पर्य है? इस सृष्टिमें जो कुछ अलौकिक कार्य हुआ करता है, सो दैवीशक्तियोंकेद्वारा ही हुआ करता है। जो कार्य जीवकी साक्षात् शक्तिसे बाहर है, उसका पूरा करना देवतागणके अधीन हुआ करता है। फलतः देवताओंको आहुति अथवा बलि देकर उनकी नाना जीवाधिष्ठान शक्तिद्वारा भूतसमूहका कल्याण करवाना ही इसप्रकार भूतयज्ञसम्बन्धीय बलिदानका रहस्य है।

कीट, पक्षी, पशु आदिकी सेवारूप यज्ञका नाम भूतयज्ञ है। भूतयज्ञ पञ्चमहायज्ञमें तृतीय स्थानीय है; अर्थात् देवयज्ञ साधनकेअनन्तर भूतयज्ञ साधन करनेकी विधि है। एवं ऐसी आज्ञा है कि, देवयज्ञसे बचे हुए अन्नादिकेद्वारा भूतयज्ञका अनुष्ठान किया जाय और तदनन्तर वह अन्न पशु पक्षीआदिको अथवा गायको खिला दिया जाय। स्थूल दृष्टिसे अन्यान्य जीवगणकेसाथ मनुष्य जीवनका प्रत्यक्षरूपेण जितना विरोध दिखायी पड़ता है, सो केवल अज्ञानका ही कारण है। सूक्ष्मदर्शी एवं दार्शनिक विद्वज्जनके निकट उनकेसाथ भी समता ही दिखायी पड़ती है। पूज्यपाद श्रीभगवान् वेदव्यासजीने यह आज्ञा की है कि, जिसप्रकार व्याघ्र

वनकेद्वारा सुरक्षित हुआ करता है, उसीप्रकार वन भी वनके राजा व्याघ्रद्वारा सुरक्षित हुआ करता है। इस आर्षवाक्यके समझनेकेलिये विचार कर सकते हैं कि, वनकी वनस्पतियाँ इस संसारकेलिये बहुत ही हितकारी हैं। नाना वृक्ष औषधि व लता गुल्मआदिकेद्वारा केवल नाना औषधि एवं ऐश्वर्योंकी ही प्राप्ति नहीं होती किन्तु उनकेद्वारा दैवी विभूतियोंकी भी प्राप्ति हुआ करती है। योगदर्शनमें श्रीभगवान् पतञ्जलि जीने कहा है कि:—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।

जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधिकेद्वारा सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसे हितकारी वृक्षआदि वनमें तभी विद्यमान रह सकते हैं, जब व्याघ्र वनके वृक्षादिको नाश करनेवाले मृगादिकी हिंसा किया करे। व्याघ्र एकओर हिंसा करता है, परन्तु साथहीसाथ दूसरीओर संसारके हितार्थ बड़े-बड़े कल्याणोंका कारण हुआ करता है। इसप्रकार जितनी चिन्ताकी जायगी, उतनी ही श्रीभगवान्की अतुलनीय सार्वभौम एकता सम्पादन करनेका सिद्धान्त भावुकको प्रतीत होगा। भूतयज्ञका अधिकार इसलिये नृयज्ञ और पितृयज्ञसे पहले रक्खागया है कि, इन दोनों महायज्ञोंमें स्वार्थ-सम्बन्धरूप सकाम वृत्तिका होजाना अधिक सम्भव है। अपि च आत्मलक्ष्य तथा सार्वभौम दृष्टि रहनेसे भूतयज्ञके महत्त्वका एक प्रधान कारण और यह है कि, मनुष्यगण बुद्धिजीवी होनेकेकारण स्वाधीन भावमें स्थित हैं, एवं मनुष्यगण स्वाधीन हैं। इसीकारण उनके किये हुए सत् असत् कर्मोंका फल श्रीभगवान् उनको भोग कराया करते हैं। अपि च पुत्र अतिशैशव अवस्थासे कुछ बड़ा होजानेपर स्वाधीनताको प्राप्त करके जिसप्रकार माताके स्नेहकी न्यूनताका अधिकारी हो जाता है, उसी प्राकृतिक नियमकेअनुसार मनुष्यगण स्वाधीन और अन्यान्य जीवगण प्रकृतिमाताके अधीन होनेकेकारण, ऐश्वरीय प्राकृतिक नियमकेसाथ मनुष्यगणकी अपेक्षा अन्यान्य जीवगणका कुछ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अर्थात् मनुष्यगण प्रकृति राज्यके अङ्ग होनेपर भी स्वाधीनता पानेकेकारण कुछ-कुछ अलग बन बैठे हैं, परन्तु पशु पक्षीआदि जीवगण सम्पूर्णरूपेण प्रकृतिके अधीन रहनेकेकारण मूलकारणसे उनका कुछ निकट सम्बन्ध है। फलतः यज्ञआदिके साधन करनेका तात्पर्य्य केवल विश्वजीवनकेसाथ एकता सम्पादन करना है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, भूतयज्ञ भी परमावश्यकीय है। पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगण विश्वब्रह्माण्डके मूल तत्त्वसे पूर्णरूपेण परिचित थे। इसीकारण त्रितापसे तापित जीवगणके कल्याणार्थ ऐसे ऐसे साधनोंकी आज्ञा वे दे गये हैं।

उद्भिज्ज जातीय औषधि, लता, गुल्म व वृक्षसे लेकर स्वेदज अण्डज जरायुज जातीय सकलप्रकारके प्राणियोंकेसाथ, जब इस ब्रह्माण्डका समष्टि व्यष्टि सम्बन्ध है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, उनके सम्वर्द्धनसे ब्रह्माण्डका सम्वर्द्धन होता है। सृष्टिके कोई अङ्ग भी उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं, उसके एक अङ्गकी सहायतासे सब अङ्गोंकी सहायता मानी जासकती है। इस विचारसे भूतयज्ञ परम

धर्म है। दूसरा विचार यह है कि, मनुष्य अपने सुखकेलिये अनेक जीवोंको कष्ट दिया करता है। यहाँतक कि, अपनी शरीरयात्राके निर्वाहकेलिये एक मुहूर्त्त भी भूतोंका ऋणी हुए विना नहीं रह सकता। मनुष्योंके प्रत्येक निःश्वासमें कितने लक्ष जीव आत्मबलि देते हैं। मनुष्यकी तृष्णाकी शान्तिकेलिये जलान्तर्गत कितने जीव आत्मोत्सर्ग किया करते हैं। यदि मनुष्य निरामिषभोजी भी हो, तौ भी उसके खाद्य पदार्थके प्रत्येक ग्रासमें कितने जीवोंका नाश होता है? अपि च मनुष्योंके सुख-सम्पादनकेअर्थ भूतोंको क्लेश दिये विना तो, कोई काम ही नहीं चलता। अब थोड़े ही विचारसे समझमें आसकेगा कि, भूतोंके ऋणसे मनुष्य कदापि उऋण नहीं हो सकता है। अस्तु यदि भूतयज्ञद्वारा मनुष्य तत्तद्भूतरक्षक देवताओंकी सहायतासे उनके सम्वर्द्धनार्थ, जो कुछ पुरुषार्थ करेगा, सो अवश्य महायज्ञ शब्दवाच्य होने योग्य है।

जगत्पिता ईश्वरकी किन उच्चाधिकारकी शक्तियोंको देवता कहते हैं, सो पहले प्रकाशित करचुके हैं। उन्हीं अन्तर्जगत्सम्बन्धीय सूक्ष्म शक्तिरूप देवताओंकी सहायता-से कार्य करनेका अधिक सम्बन्ध इस महायज्ञमें भी रक्खा गया है। मनुष्यके नीचे जितने जीव हैं, उनमेंसे प्रत्येक श्रेणीके जीवोंपर एक-एक अधिष्ठात्री देवता है। जैसा कि, समस्त श्वानोंपर एक देवता, समस्त अश्वोंपर एक देवता, समस्त हाथियोंपर एक देवता, इस तरहसे प्रकृतिके भिन्न-भिन्न विभागोंमें अलग-अलग पशुजाति, पक्षी जाति व कीट पतङ्ग उद्भिज्जादि जातिपर एक-एक देवता है। भूतयज्ञमें उन सब देवताओंके नामपर बलि दी जाती है, जिससे उन सब देवता या दैवी शक्तियों-के अधीन समस्त पशु पक्षीआदिकी तृप्ति होती है। यही भूतयज्ञका गूढ़ रहस्य है। ऋषि क्या हैं? देव-देवी क्या हैं? पितृ क्या हैं? इनके भेद कितने हैं? इनके साथ जगत्का सम्बन्ध क्या है? इत्यादि सब विषय अतिगूढ़ विज्ञानसे पूर्ण हैं। सो सब विस्तारपूर्वक यथायोग्य अध्यायोंमें वर्णन किया जायगा।

भूतयज्ञ-साधनमें बहुत प्रकारकी बलि देखनेसे यदि शङ्का हो, इसकारण कहा जा रहा है कि, जीवसृष्टिकी विचित्रता ही इसका कारण है। एवं दूसरी शङ्का यह हो सकती है कि, वेदकी नानाशाखाओंमें नाना असाधारण भेद बलिमें क्यों पाये जाते हैं? इसके समाधानमें यही कथनीय है कि, जहाँ पदार्थ सूक्ष्म और विज्ञान प्रबल होता है, वहाँ आचार्योंके मतोंमें भेद नहीं होसकता, परन्तु जहाँ पदार्थ स्थूल हो जानेकेकारण विज्ञानकी सूक्ष्मता हो जाती है, वहाँ उनके मतोंमें भेद होना सम्भव है। उदाहरण स्थलपर कहा जा सकता है कि, यदि कोई ज्योतिषी जन्मपत्र देखकर फलित कहना चाहे तो, वह कर रेखा देखकर फलित कहनेसे अधिक निश्चय रूपसे कह सकेगा। हस्तरेखामें विज्ञानकी सूक्ष्मता आजानेके-कारण ज्योतिषियोंके मतसे भेद होना सम्भव है। इसी वैज्ञानिक कारणके अनुसार वेदपरवर्त्ती नाना शाखाओंके नाना प्रवर्त्तक आचार्योंमें बलियोंके विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है। इस शङ्काका समाधान इसप्रकारसे भी हो सकता है कि, ११८० ग्यारह सौ अस्सी वेदकी शाखाओंमें आचार्योंने अगणित देवताओंको बाँटकर,

भूतरक्षाकारी सब देवताओंका हिस्सा यथायोग्य रखकर, अपनी पूर्ण दृष्टिका परिचय दिया है।

गोग्रासादि-प्रदान करनेकी विधि भी भूतयज्ञसे सम्बन्ध रखती है। यथा गोभिल गृह्यसूत्रमें :—

अथ बलीन्हरेद्बाह्यतो वान्तर्वासभूमिं कृत्वा।

केवल भूतयज्ञकी बलि देनेसे ही मनुष्य जीवनका परोपकार साधन तथा जीवरक्षारूप धर्मका साधन पूर्णरूपसे होजाता है, ऐसा न समझा जाय, यथाशक्ति अन्न पानादिद्वारा गोसेवा तथा अन्यान्य जीवोंकी सेवा करना भी परमावश्यकीय है। ऐसी जीवगणकी अधिभूत सेवा करनेकी आज्ञा धर्मशास्त्र व पुराणादिमें बहुधा पायी जाती है। मनुष्यसे नीचेके सम्पूर्ण जीवजगत्‌केसाथ एकप्राणता स्थापन और उनकी कल्याणचिन्ता करके आध्यात्मिक उन्नति लाभ और जगत्‌का कल्याण करते हुए महाप्राणता लाभ ही इस महायज्ञका उद्देश्य है।

(पितृयज्ञ)

पञ्चमहायज्ञमें पितृयज्ञ चतुर्थ स्थानीय है। अर्यमादि नित्य पितर् और परलोकगामी नैमित्तिक पितरोंको पिण्डप्रदानादिद्वारा संवर्द्धित करनेसे पितृयज्ञ होता हैं। पितृयज्ञसे अनेक फलोंकी प्राप्ति होती है। महर्षि अङ्गिराजीने कहा है कि :—

"पितृयज्ञादिभिः पितरः" । "स्वास्थ्यवीर्यादीनाम्" ।

पितृयज्ञादिकेद्वारा पितृगण सम्वर्द्धित होकर संसारमें स्वास्थ्य और बलआदि सम्वर्द्धन किया करते हैं।

उन्नत ज्ञानयुक्त मनुष्यका आत्मा जितने उदार भावको धारण करता जाता है, उतना ही मानव भूत भविष्यत् और वर्त्तमान, इन तीनों कालोंको एक भावमें स्थित देखनेमें समर्थ हुआ करता है। अङ्गिरा, वसिष्ठआदि पूज्यपाद आदि-पुरुषगण एवं व्यास भारद्वाजआदि पूज्यपाद महर्षिगणकी कृपा मानवगणपर अतुलनीय है। यदि वे कृपापूर्वक इसप्रकार ज्ञानका विस्तार न कर जाते, तो मनुष्यगणके मनुष्यत्व-प्राप्ति करनेकी और कोई भी सम्भावना नहीं थी। विचारशील पुरुषमात्र ही यह स्वीकार करेंगे कि, मनुष्य समाजपर पूज्यपाद महर्षिगणकी कृपा अतुलनीय एवं सर्वोपरि है। इसीप्रकारसे अपने पितृगणके ऋणसे भी मनुष्यगण कदापि उत्तीर्ण नहीं हो सकते। यह माता पिताकी सत् प्रकृतिका ही कारण है कि, जिससे उन्नत ज्ञान प्राप्त करनेके उपयोगी उपयुक्त देह, मुमुक्षुको प्राप्त होता है। एवं परम्परा सम्बन्धसे सब पूर्वजोंका ऐसा ही कृपा सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करने योग्य है। ऐसे परम दयालु एवं परम माननीय पितृगणको स्मरणपूर्वक उनकी तृप्ति और सम्मानार्थ अन्नोदक प्रदान करनेसे पितृयज्ञका साधन हुआ करता है। अल्पदर्शी मनुष्यगण इसप्रकारके साधनोंके विषयमें नानाप्रकारकी युक्तिशून्य कल्पनायें किया करते हैं, एवं ऐसी

शङ्का करते हैं कि, परलोकगामी आत्मा किसप्रकारसे स्थूल पदार्थमय दान ग्रहण करनेमें समर्थ होसकते हैं ? दार्शनिक विज्ञानद्वारा यह स्वतःसिद्ध है कि, स्थूल सूक्ष्म सम्बन्धयुक्त यह विराट् ब्रह्माण्ड वास्तवतः समष्टि व्यष्टिरूपेण एक अद्वैत भावमें स्थित है, इसीकारण सूक्ष्म समष्टिरूपी मनोराज्यका स्थूल व्यष्टिरूपी स्थूल शरीरके-साथ एवं स्थूल समष्टिकेसाथ सूक्ष्म शरीरके व्यष्टिभावका एकत्व सम्बन्ध सदा मननीय होनेकेकारण अल्पमति जीवगणके वैसे प्रश्न विचारवान् सूक्ष्मदर्शी पुरुषके निकट उपेक्षाके ही विषय हैं। परलोकगत पितरोंका लक्ष्य करके प्रदत्त अन्नादिकोंकेद्वारा उनकी तृप्ति और प्रेतत्वादिसे मुक्ति कैसे हो सकती है ? इसका पूर्ण विज्ञान आगेके किसी समुल्लासमें वर्णन किया जायगा। परन्तु पञ्चमहायज्ञके साधनके विषयमें वैसे विचार करनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि महायज्ञ साधनका लक्ष्य आत्मोन्नति है, अपि च यज्ञरूपी धर्मका मुख्य सम्बन्ध क्रिया सिद्धांशकेसाथ न होकर केवल अपनी आत्माकेसाथ हुआ करता है। विशेषतः पितृयज्ञ साधन करनेकी विधिपर कुछ थोड़ासा मनन करनेपर ही विदित हो सकेगा कि, इस महयज्ञके साधनका अति महान् और सार्वभौम लक्ष्य है। शास्त्रमें कहा है। यथाः—

आब्रह्मभुवनाल्लोका देवर्षिपितृमानवाः ।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः ॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया ॥

ब्रह्मलोकसे लेकर समस्त संसार, देवता, ऋषि, पितर्, मानव, माता और मातामहादि पितर् हमारे किये हुए अनुष्ठानकेद्वारा तृप्त हों। समस्त नरकमें यातना-युक्त जितने जीव हैं, उनके उद्धारकेलिये, मैं यह जल प्रदान करता हूँ। अतः केवल अपने आत्मीय सम्बन्धयुक्त पितरोंकी ही पूजा करनेकी विधि नहीं है, परन्तु परलोक सम्बन्धसे महर्षिगणसे लेकर सबप्रकारकी आत्माकी तृप्तिकेअर्थही इस यज्ञका विधान कियागया है। ज्ञानराज्यके चालक पितृगण हैं। अपना शरीर स्वस्थ रहना, आत्मीयोंका शरीर स्वस्थ रहना, देशवासियोंका शरीर स्वस्थ रहना, जगत्‌के प्राणि-मात्रकी आधिभौतिक स्वस्थता, ऋतुओंका ठीक समयपर होना, इत्यादि सब नित्य पितरोंका कार्य है। अर्यमादि नित्यपितर् कहलाते हैं और पितृलोकमें गये हुए हमारे पूर्वज नैमित्तिक पितर् कहलाते हैं। इसप्रकारके पितृगणकी तृप्तिकेअर्थ जगत्कल्याण बुद्धिसे जो क्रिया की जायगी, वह क्रिया अवश्य महायज्ञ पदवाच्य होगी, इसमें सन्देह ही क्या है ?

विचारशील मनुष्यगण तर्पण व पितृयज्ञके मन्त्रोंपर निरपेक्षरूपेण जितना मनन करेंगे, उतना ही जान सकेंगे कि, केवल सार्वभौम मतयुक्त परार्थभाव, जगत्‌की सेवा और तृप्ति, एवं उसकेसाथ ही साथ विश्वजीवनकेसाथ ऐक्य सम्पादन करनेकेअर्थ यह यज्ञ कियाजाता है। यही पितृयज्ञकी परम महिमा है।

(नृयज्ञ)

मनुष्यजीवनके विचारसे जिसप्रकार एक मनुष्य समस्त मनुष्य समाजका एक अङ्ग होता है, उसीप्रकार यह स्थिर निश्चय है कि, मनुष्यजीवन विश्वजीवनका एक अङ्ग है। जिसप्रकार शरीरमेंसे एक अङ्गको भी हानि पहुँच जानेसे समस्त शरीर विकलाङ्ग कहलाता है, जिसप्रकार शरीरको पूर्ण नीरोग रखनेकेअर्थ मनुष्योंको स्नानादि नाना कार्योंकेद्वारा शरीरके प्रत्येक अङ्गकी सेवा करनी परमावश्यक है, जिसप्रकार शरीरके किसी एक अङ्गमें यदि कोई रोग उत्पन्न हो, तो समस्त शरीरकी शान्ति नष्ट होजाती है, जिस विचारानुसार शरीरका प्रत्येक अङ्ग ही अहं शब्दवाच्य शरीरके अन्तर्गत समझाजाता है, उसी समष्टि व्यष्टि विचारानुसार जीवजगत्‌केसाथ मनुष्यमात्रका एकत्र सम्बन्ध होना स्वतः सिद्ध है। पुनः यदि सृष्टिकी विशेषतापर ध्यान दिया जाय और यदि विश्वजीवनसे मनुष्यजीवनका तादात्म्य सम्बन्ध-माना-जाय, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, मनुष्यजीवनकेसाथ मनुष्यमात्रका ही सबसे नैकट्य सम्बन्ध है। फलतः मनुष्यत्व धर्म प्राप्तिकेअर्थ अतिथिसेवारूप नृयज्ञका साधन करना प्रथम कर्त्तव्य कर्म है। यदि च सन्न्यासाश्रमधारी मनुष्योंकेलिये वेदकी यही आज्ञा है कि, सब संसारको अपनी आत्माके समान दर्शन करके समानरूपेण सबकी सेवामें रत रहें, किन्तु सर्वसाधारण गृहस्थोंकेलिये केवल अतिथिसेवा ही युक्तियुक्त समझी गयी है। अतिथिसेवाकेअर्थ धर्मशास्त्रोंमेंऐसी आज्ञा है कि, गृहस्थोंकेलिये परमावश्यक अतिथिसेवा है। गृहस्थके घरमें जब अतिथि आवे, तो पाद्य अर्घ आदिकेद्वारा उनकी पूजा की जाय और विधिपूर्वक सदाचारकेसाथ अतिथिको अन्न आदिक प्रदान किया जाय। धर्मशास्त्रोंकी ऐसी आज्ञा है कि:—

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

आसनकेलिये तृण अर्थात् दर्भासन, विश्रामार्थ भूमि, पानार्थ जल और चौथा प्रिय वचन, सद्‌गृहस्थोंके घरमें इतनी बातें तो अवश्य होनी चाहियें। इस पञ्चम महायज्ञका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि, समस्त पृथिवीभरमें जितने मनुष्य समाज हैं और आज जो जो उपधर्म प्रचलित हैं, उन सबोंके निकट अतिथि-सेवा समानरूपसे आदरणीय है। और यह संसार अधिभूत प्रधान होनेकेकारण अपने शास्त्रोंमें भी इसी यज्ञकी सर्वोपरि आवश्यकता मानी गयी है। यदि गृहस्थ दरिद्रसे भी अतिदरिद्र होवे तौ भी, कदापि अतिथिसेवासे विरत होना उचित नहीं है। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति॥

अतिथि असत्कृतहो कर गृहस्थके घरसे लौट जानेपर उस गृहस्थका पुण्य अपने साथ लेजाया करते हैं। कोई वस्तु अतिथिको भोजन न कराकर गृहस्थको कदापि स्वयं भोजन करना उचित नहीं है। अतिथिके प्रसन्न होनेपर गृहस्थोंको धन, आयु, यश और

स्वर्गकी प्राप्ति हुआ करती है। अतिथिको देवता मानकर आसन, घर, शय्या और पानभोजनादि उनके योग्यतानुसार प्रदान करना उचित है। फलतः अतिथिको देवता मानकर सेवा करना योग्य है। विश्वजीवनके साथ अपनी आत्माका एकत्व संबन्ध स्थापन करनेसे मनुष्य मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। मनुष्यसमाजभरको अपना रूप देखनेसे साधक पूर्णाधिकारको प्राप्त कर सकता है। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने कहा है कि:—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

यह अपना है और यह पराया है, ऐसा भाव लघुचेता मनुष्योंका हुआ करता है। उदारचरित महानुभावोंकी तो सकल पृथिवी ही कुटुम्बरूप है। मनुष्य इसप्रकार अपने सङ्कोचित अहङ्कार भावको विस्तृत करते हुए, अन्तमें अपनेको विश्वरूप समझने लगता है, तभी मुक्त होता है। प्रथमावस्थामें मनुष्य अपने सुखसे ही अपनेको सुखी समझता है। तत्पश्चात् क्रमोन्नतिमें वह अपने स्त्री-मित्रादिको सुखी देख सुखी होता है। सदाचारी धार्म्मिकगण आत्मीय परिजनोंको सुखी देख प्रसन्न होते हैं। स्वदेश-हितैषी ज्ञानके उन्नत अधिकारिगण अपने स्वदेशवासियोंको सुखी देख कृतकृत्य होते हैं। उन्नतात्मा पूर्ण ज्ञानी जीवन्मुक्तगण जगत्के मनुष्य-समाजभरको सुखी देखकर सुखी होते हैं। यही आत्माकी कमोन्नतिका लक्षण है। अब इसभावको कार्यरूपमें परिणत करनेमें कठिनता यह है कि, एक मनुष्य कदापि संसार भरके सब मनुष्योंकी सेवा नहीं कर सकता। इसी कठिनताको सुसाध्य करनेकेलिये विशेष देश व विशेष कालसे परिच्छिन्न मनुष्यकी पूजा करनेको नृयज्ञ कहते हैं। अर्थात् भोजनकालतक घरपर चाहे किसी जाति वा चाहे किसी धर्मका मनुष्य क्यों न आवे वह देवतावत् पूजने योग्य है। यही नृयज्ञ है। हिन्दूशास्त्रमें अतिथिसेवाकी महिमा सर्वोपरि कीर्त्तन की गयी है, जो आगे वतायी जायगी।

ऊपर कथित महायज्ञ-विज्ञान और उदाहरणरूपसे आर्यशास्त्रोक्त पञ्चमहायज्ञोंमेंसे प्रत्येकका वैज्ञानिक रहस्य, जो ऊपर प्रकाशित किया गया, उसपर मनन करनेसे यज्ञ और महायज्ञ विज्ञानका भेद, महायज्ञकी विशेषता और महायज्ञ साधनके विषयमें अध्यात्मिक उन्नतिकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंका कर्त्तव्य, यथावत् परिज्ञात होगा। इसीप्रकारसे महायज्ञकी महिमाको जानकर अनुष्ठान करनेसे सब श्रेणी और सब जातिके मनुष्यमात्र ही अपने मनुष्यत्वके पूर्णपदपर प्रतिष्ठित हो सकते हैं, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं।

॥ प्रथम समुल्लासका सप्तम अध्याय समाप्त ॥

॥ श्री सत्यार्थविवेकका साधारणधर्म-वर्णन नामक प्रथम समुल्लास समाप्त ॥

द्वितीय समुल्लास ।

वेद ।

अनादि और अपौरुषेय वेद हिन्दू धर्मके मूलरूप हैं। वेदके लक्षणोंके विषयमें कहा गया है कि, वेद अपौरुषेय, सर्वथा नित्य, स्वतःप्रमाणप्रमित, सल्लक्षणलक्षित, सम्यगनुभवगम्य, अनधिगतार्थगन्ता, संशयविपर्ययादि-दोषशून्य, ईश्वरदेवर्षिक्रमादाविर्भूत और धर्मार्थकाममोक्षप्रद है। इस अध्यायमें क्रमशः इन सब लक्षणोंका पूर्ण विस्तार किया जायगा।

'विद्'धातुसे वेद शब्द निष्पन्न होनेकेकारण जिसकेद्वारा धर्माधर्मका तत्त्वज्ञान हो, वही वेद पदवाच्य है। वेद ज्ञानका भाण्डार है। सब शास्त्र वेदसे ही उत्पन्न हुए हैं; वेद काण्डरूप है और इतर शास्त्र शाखा प्रशाखारूप हैं। वेद प्रधानतः दोप्रकारके हैं। यथा—कण्ठाप्त और कल्प्य। जिन श्रुतियोंको ऋषियोंने प्रत्यक्ष किया था, उनको कण्ठाप्त कहते हैं और स्मृति या शिष्टाचारकेद्वारा जिनका अनुमान किया जाता है, वे कल्प्य श्रुतियाँ कहलाती हैं। कण्ठाप्त श्रुति मन्त्रभेदकेअनुसार त्रिविध है। यथाः—ऋग् यजुः और साम। इनका दूसरा नाम "त्रयी" है। ये ही कण्ठाप्त श्रुतियाँ अन्य प्रमाणसे चतुर्धा विभक्त हैं। यथाः—ऋग् यजुः साम और अथर्व। आजकलकी भाषामें जिसप्रकार गद्य पद्य और गीत ये तीन श्रेणीके तीन अङ्ग कथित हैं, उसीप्रकार वेदमें भी मिलते हैं। यथाः—प्रायः पद्यमें प्रकाशित मन्त्रोंका नाम ऋक्, गद्यमें प्रकाशित मन्त्रोंका नाम यजुः और गेय मन्त्रोंका नाम साम है। अथर्व वेदमें उक्त तीनोंके मिश्रित मन्त्र हैं। वेद विभागकर्त्ताओंके विषयमें दोप्रकारकी सम्मति मिलती है। पहली सम्मति यह है कि, भगवान् वेदव्यासने ही वेदोंको त्रिधा चतुर्धा विभक्त किया है, परन्तु किसी-किसीकी सम्मति यह है कि, यज्ञक्रियाओंकी सुविधाकेलिये अथर्व ऋषिने वेद विभाग किया था। उन्होंने यज्ञकार्यके उपयोगी सूक्तसमूहको वेदत्रयकेअन्तर्गत करके अन्यान्य सूक्तोंको अलग कर दिया था। प्रथम मतके लोग कहते हैं कि, ये ही अवशिष्ट सूक्त, अथर्व वेदके नामसे प्रकाशित हुए थे। परन्तु द्वितीय मतके लोग कहते हैं कि, अथर्व ऋषिके नामसे ही अथर्व वेद यह संज्ञा हुई है। इस रीतिसे दोप्रकारकी सम्मति है। इस विषयके प्रमाण भी श्रुतिमें मिलते हैं। शतपथमें लिखा है किः—

अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते वायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात्सामवेदः।

अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद और सूर्यसे सामवेद प्राप्त हुए हैं। मनुसंहितामें भी लिखा है किः—

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित्॥

ऋग् यजुः और विविधप्रकार साम मन्त्रोंको त्रिवृद्वेद कहते हैं। जो इसको

जानता है, वही वेदवेत्ता है। इसीतरहसे वेदके चार भागके विषयमें मुण्डकोपनिषद्में प्रमाण है। यथा:—

तत्राऽपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। इत्यादि।

ऋक्आदि चार वेद अपरा विद्या है। वाजसनेयि-ब्राह्मणोपनिषद्में भी कहा है कि:—

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासं पुराणं विद्या उपनिषदः इत्यादि।

ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद और इतिहास पुराणादि सब अपरा विद्या है। अतः पृथक्-पृथक् प्रमाणभेदानुसार वेदके दोप्रकारके विभाग ही माननीय हैं। इन्हीं निखिल ज्ञानाधार वेदोंसे समस्त शास्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है।

ज्ञान नित्य वस्तु है। इसकारण प्रलयके समय भी ज्ञानरूपी वेद ओंकार रूपसे नित्य स्थित रहते हैं। श्री भगवान् वेदव्यासजीने कहा है कि:—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी विद्या यतः सर्व्वाः प्रवृत्तयः॥

श्री भगवान्के वाक्यरूपी वेद, अनादि नाशविहीन व नित्य हैं। वेद ही सृष्टिकी प्रथम अवस्थामें प्रकाशित आदि विद्या है। इसीसे सकल प्रपञ्चका विस्तार होता है। अतः कुल्लूक भट्टजीने लिखा है कि:—

प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः।

प्रलयके समयमें भी परमात्मामें सूक्ष्मरूपसे वेदकी स्थिति रहती है। श्रीमेधातिथि आचार्यजीने भी लिखा है कि:—

नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि।

महाप्रलयमें भी वेदोंका नाश नहीं होता है। वेद मनुष्यकेद्वारा प्रणीत नहीं हुए हैं। इसकारण वे अपौरुषेय कहलाते हैं। वेद ईश्वरकृत हैं। ज्ञान नित्य और ब्रह्मका स्वरूप है। उसी ज्ञानके विकाशरूप वेद है। इसलिये वेदोंको श्रीभगवान्के निःश्वासरूपसे वर्णन किया गया है। यथा वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषद्में:—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः समवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः, इत्यादि।

समस्त वेद निःश्वासकी रीतिसे स्वाभाविक रूपसे परमात्माकेद्वारा प्रकट हुए हैं। कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद्में लिखा है कि:—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै ।

परमात्माने पहले ब्रह्माजीको उत्पन्न करके, उनको वेद प्रदान किया ।

अपरञ्च श्रुतौ ।

दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।

उस विराट् परम पुरुषकी श्रवणेन्द्रिय दिशायें हैं और वाक्य वेदरूप हैं। श्रीगीताजीमें लिखा है कि:—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

कर्म वेदसे उत्पन्न हैं और वेद अक्षर परमात्मासे उत्पन्न है । ऋषि लोग वेदके कर्त्ता नहीं, परन्तु द्रष्टामात्र हैं । वेद नित्य वस्तु हैं । केवल ऋषियोंके समाधि-शुद्ध अन्तःकरणमें प्रकाशको प्राप्त होते हैं । इसलिये कहा है कि:—

ब्रह्माद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मारका न तु कारकाः ।

ब्रह्मासेलेकर ऋषिपर्यन्त, कोई भी वेदके कर्त्ता नहीं हैं । सभी उसके स्मरण करनेवाले हैं । और भी स्मृतिमें कहा है कि:—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् सेतिहासान्महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥

प्रलयकालमें अन्तर्हित वेदोंको, सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीसे आज्ञाप्राप्त होकर तपस्याकेद्वारा महर्षियोंने प्राप्त किया था । मनुसंहितामें लिखा है कि:—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

परमात्माके चित्तमें सिसृक्षा उत्पन्न होनेपर, उन्होंने कारणवारिमें निजशक्ति-रूप बीज अर्पण किया । वह बीज स्वर्णवर्ण और सूर्यके समान प्रभायुक्त अण्डके आकारमें परिणत होगया । उसी अण्डमें पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए । अतः ब्रह्माजी ही सबसे प्रथम प्रकट हुए, इसमें कोई सन्देह नहीं है । मुण्डकोपनिषद्में लिखा है कि:—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव
विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।

ब्रह्माजी सब देवताओंके पहले उत्पन्न हुए, जो विश्वके बनानेवाले और संसारके रक्षक हैं।

अपरञ्च श्वेताश्वतरे :—

हिरण्यगर्ब्भं जनयामास पूर्वम् ।

सृष्टिके आदिमें ईश्वरने पहले ब्रह्मा जीको उत्पन्न किया। अतःपर मनुजीने कहा है कि, ब्रह्माजीने उस अण्डमें स्थित होकर, ध्यानवलकेद्वारा उसे द्विधा विभक्त करके ऊर्ध्व अधः समस्त लोक, देव मनुष्यादि और इन्द्रियादि सबकी सृष्टि की। कर्म-देवता, इन्द्रादि देवता, साध्यनामक देवताआदि सबको बनाया। तदनन्तर जैसा मनुजीने लिखा है:—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥

ब्रह्माजीने यज्ञक्रिया-सम्पादनकेलिये अग्नि वायु और सूर्यसे यथाक्रम ऋक् यजुः और सामवेदको दोहन किया। इसप्रकारसे परमात्माके निःश्वासरूपेण स्वभावतः प्रवाहित वेद ब्रह्माजीके हृदयमें स्थित होकर देवता और ऋषियोंके समाधि-शुद्ध अन्तःकरणमें विकासभावको प्राप्त होता हुआ, निखिल कल्याण साधन कर रहा है।

वेदकी उत्पत्तिके विषयमें ईश्वरसे लेकर देवता और ऋषितकका सम्बन्ध देखकर बहुतसे मनुष्योंके हृदयमें सन्देह होता है। वे कहने लगते हैं कि, जब वेदको ऋषियोंने प्रकाश किया है तो, वे क्यों नहीं इनके रचयिता कहलावेंगे? और ऐसा हुआ तो, वेद अपौरुषेय किस रीतिसे हो सकते हैं? क्योंकि वेदसंहिताओंमें, बहु रचयिता ऋषियोंके नाम देखनेमें आते हैं। दृष्टान्तरूपसे ऋग्वेदको लिया जाता है। ऋग्वेदके स्तोत्रसमूह दश मण्डलोंमें विभक्त हैं। उनमेंसे प्रथम और अन्तिम मण्डलोंके रचयिता ऋषि बहुत हैं। बाकी आठ मण्डलोंके रचयिता आठ ऋषियोंके नाम पाये जाते हैं। यथाः—द्वितीय मण्डलके रचयिता गृत्समद्, तृतीय मण्डलके रचयिता विश्वामित्र, चतुर्थके वामदेव, पञ्चमके अत्रि, षष्ठके भरद्वाज, सप्तमके वसिष्ठ, अष्टमके कण्व और नवमके रचयिता अङ्गिरा हैं। ऐसे स्पष्टरूपसे जब ऋषियोंके नाम लिखे हुए हैं तो, वेद उन्हींकी रचना है, ऐसा क्यों न कहा-जाय? द्वितीयतः एक ही वेद, कहीं ईश्वरके श्वासमें आ गया, कहीं ब्रह्माजीके मुखमें आ गया, कहीं अग्नि वायु आदि देवताओंमें रहा और कहीं ऋषियोंके हृदयमें प्रकट हो गया, इनमें कौनसी बात ठीक है और कौन नहीं? इसप्रकार हजारों सन्देह आज कल हो रहे हैं, इसलिये यथार्थतः वेद-आविर्भावका तत्त्व प्रकाशित करके समस्त सन्देहोंकी निवृत्ति की जाती है।

सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर विवेकी पुरुषोंको अवश्य मालूम होगा कि, परमात्मासे लेकर ऋषितकके अन्तःकरणमें वेदाविर्भावकी जो विधि बतायी गयी है,

सो सब एकही बात है। ज्ञान नित्य है। वेद ज्ञानरूप हैं। अतः वेदभी नित्य हैं। ईश्वर ज्ञानरूप हैं। इसलिए ज्ञानरूपी वेद प्रलयदशामें हृदयमें ज्ञानरूपेण स्थित रहता है। प्रलय निष्क्रियदशा है। अतः परमात्मा उस समय श्वासविहीन योगनिद्रामें शयान रहते हैं। जैसा कि, मनुजीने वर्णन किया है :—

यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति॥
एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम्।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः॥

जब श्रीभगवान् जाग्रत् रहते हैं, तो संसारकी चेष्टा रहती है और जब शान्त होकर योगनिद्रामें शयन करते हैं, तब संसारका प्रलय होता है। इसरीतिसे अव्यय परमपुरुष भगवान् जाग्रत् और स्वप्नावस्थाकेद्वारा चराचर विश्वकी उत्पत्ति और संहार कर रहे हैं। प्रलयके अनन्तर प्रलयविलीन जीवोंका संस्कार, जब क्रियोन्मुख होता है, तब स्वतः ही श्रीभगवान् योगनिद्रासे उत्थित होकर सृष्टिकी इच्छा करते हैं। श्वासशून्य योगनिद्रादशाकेअनन्तर श्वासयुक्त उनकी यही सृष्टि करने वाली अवस्था अर्थात् सिसृक्षा है। इसको ही पुराणादिकोंमें बहुतप्रकारसे वर्णन किया गया है। यही अवस्था वेदमें वर्णित हुई है। यथा :—

एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।

मैं एकसे बहुत होजाऊँ, प्रजाओंकी सृष्टि करूँ। यही श्रीभगवान्का सिसृक्षारूपी प्रथम भाव ब्रह्माजीको उत्पन्न करके पूर्वकल्पकेअनुसार सृष्टि विस्तार कराता है और यही क्रिया-दशागत निःश्वास वेद-राशिको प्रकट करता है। अतः सिद्धान्त हुआ कि, निष्क्रिय श्रीभगवान्में प्रथम क्रियाकी सूचना ही क्रियाशक्तिके अधिष्ठातारूप ब्रह्माजी और उसी क्रियाकेसाथ स्वाभाविक ज्ञानका विकासही निःश्वासरूपेण वेदका विकास है, क्योंकि श्रीभगवान्में ज्ञानबल क्रिया स्वाभाविकी है। यही परमात्मासे वेद-विकास और ब्रह्माजीके हृदयमें वेदकी स्थितिका हेतु भूत है। अतः वेद अपौरुषेय हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अब इस गम्भीर विज्ञानको मनुसंहितामें ब्रह्माजीकी उत्पत्तिकेसाथ मिलाते हैं।

मनुजीने लिखा है, जैसा कि इस प्रबन्धमें पहले कहा गया कि, परमात्माने अपने शरीरसे विविध प्रजा-सृष्टिकी इच्छा करके प्रथमतः जलकी सृष्टि की। यह "अप्" साधारण जल नहीं है। क्योंकि सृष्टि महत्तत्त्वआदि क्रमसे होती है। पहले ही पञ्चभूतात्मक जल नहीं होसकता है। इसका वृत्तान्त श्रुतिमें स्पष्ट किया गया है। यथा ऋग्वेदमें :—

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

इसके भाष्यमें सायणाचार्यजीने कहा है कि :—

सलिलं सल् गतौ औणादिकः इलच् इदं दृश्यमानं सर्वं जगत् सलिलं कारणेन संगतम् अविभागापन्नम् आ आसीत्।

कारणमें विलीन समष्टि संस्कारही यहाँ सलिल है। इसीको "अप्" या "कारणवारि" कहा गया है। परमात्मा सृष्टिकी इच्छा करके प्रथमतः इन संस्कार-राशियोंको उद्बोधन करते हैं। यही मनुजीका कारणवारिरूपी जलका विज्ञान है। इसप्रकारसे संस्कार राशि अव्याकृत दशामें जाग्रत् होनेपर परमात्मा उसमें अपने क्रियाशक्तिरूपी बीजको अर्पण करते हैं, जैसा कि, मनुजीने कहा है। यही क्रियाशक्ति परिपुष्ट होकर ज्योतिष्मान् महासूर्यकीतरह चमकती है और इसीसे ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि, भगवान्‌में सिसृक्षा होनेपर प्रायः विकारहीन प्रकृतिमें उनकी क्रियाशक्तिका जो सन्निवेश होता है, उसमें ही ब्रह्माजी प्रकट होते हैं। यह सृष्टिकी प्रारम्भावस्था मन वाणीसे अगोचर है। यही ज्योतिष्मती कारणवारिमें क्रियाशालिनी समष्टि प्राणशक्ति ब्रह्माजीका सूक्ष्म शरीर है। अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद्‌में इस विषयमें एक सुन्दर मन्त्र मिलता है। यथाः—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥

इसके भाष्यमें श्रीभगवान् शङ्कराचार्य प्रभुने कहा है किः

तपसा ज्ञानेन उत्पत्तिविधिज्ञतया भूतयोन्यक्षरं ब्रह्म चीयते उपचीयते उत्पिपादयिषदिदं जगदङ्कुरमिव बीजमुच्छूनतां गच्छति, पुत्रमिव पिता हर्षेण। एवम् सर्वज्ञतया सृष्टिस्थितिसंहार-शक्तिविज्ञानवत्तया उपचितात्ततो ब्रह्मणः अन्नम्, अद्यते भुज्यत इत्यन्नमव्याकृतं साधारणं कारणं संसारिणां व्याचिकीर्षिता-वस्थारूपेण अभिजायते उत्पद्यते। ततश्च अव्याकृताच्चिकीर्षिता-वस्थादन्नात्प्राणोहिरण्यगर्भो ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यधिष्ठितो जगत्साधारणोऽविद्याकामकर्मभूतसमुदायबीजाङ्कुरो जगदात्मा अभिजायते इत्यनुषङ्गः, इत्यादि।

इसका भावार्थ यह है कि, भूतयोनि ब्रह्म तपस्याकेद्वारा उपचित होते हैं। तदनन्तर उनसे अन्न अर्थात् अव्याकृत प्रकृति व्याकृतप्राय दशाको प्राप्त होकर प्रकट होती है। इसी भावको "अप एव ससर्जादौ" करके मनुजीने वर्णन किया है। तदनन्तर परमात्माकी तपःशक्ति-प्राप्त, उस अव्याकृतप्राय प्रकृतिसे समष्टि प्राणरूपी

हिरण्यगर्भ उत्पन्न होते हैं। यही ब्रह्माजीका सूक्ष्म शरीर है, जिसको "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" इत्यादि श्रुतियोंकेद्वारा वर्णन किया गया है। भगवान् भाष्यकारने हिरण्यगर्भको "ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यधिष्ठितो जगदात्मा" करके वर्णन किया है। इनमें क्रियाशक्ति सृष्टिकारिणी है, जिससे "मन" "सत्य" "लोकाः" आदि उत्पन्न हुए और ज्ञानशक्ति भगवान्की निःश्वासरूप वेदराशि है, जिसको पहले ही वर्णन किया गया है। इसप्रकारसे सृष्टिसे पहले स्वतः ही परमात्मासे ब्रह्माजीमें वेदका उदय होता है, अतः वेदके अपौरुषेय होनेमें कोई शङ्का नहीं है। अब ऋषियोंके अन्तःकरणमें कैसे और किस अवस्थामें वेद प्रकट होते हैं, जिससे अपौरुषेयत्वमें कोई हानि नहीं होती है, सो दिखाया जाता है।

जिसप्रकार समष्टि प्राण अर्थात् ब्रह्माण्ड-प्रकृतिगत व्यापक प्राणही ब्रह्माजीका सूक्ष्म शरीर है, जिस व्यापक प्राणसे भिन्न भिन्न जीव शरीरमें प्राणशक्ति बँटी हुई है, उसीप्रकार समष्टि अन्तःकरण अर्थात् ब्रह्माण्डप्रकृतिमें व्याप्त अन्तःकरण ही ब्रह्माजीका स्वरूप है। इसी व्यापक अन्तःकरणसे व्यष्टिरूपेण भिन्न भिन्न जीवकेन्द्रमें भिन्न भिन्न अन्तःकरणकी स्थिति है। इसका प्रमाण वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषद्में मिलता है। यथाः—

यदिदं मनः स ब्रह्मा स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः।

जो अन्तःकरण सो ही ब्रह्मा, सो ही मुक्ति अतिमुक्ति इत्यादि है। इसीप्रकार "मनो महान् मतिर्ब्रह्मा" आदि भी प्रमाण मिलते हैं। यहां मन शब्द अन्तःकरणवाचक है। इसलिये ब्रह्माजीके चार मुख हैं, क्योंकि अन्तःकरण मन बुद्धि चित्त अहङ्कार इन चार तत्त्वोंसे बनाहुआ है, इसीसे समष्टिमें जाकर ब्रह्माजीके चार मुख हुए। अब इसकेद्वारा सिद्धान्त हुआ कि, प्रत्येक अन्तःकरणकेसाथ ब्रह्माजीका सम्बन्ध है, क्योंकि प्रत्येक व्यष्टि अन्तःकरण समष्टि अन्तःकरणरूपी ब्रह्माजीका ही अंश है। अब विचार करना चाहिये कि, ऋषिलोग किस दशामें वेदके मन्त्रोंको देखते हैं। ऋषि लोग तपस्या और योगकेद्वारा समाधिस्थ होनेपर वेदके मन्त्रोंको देख सकते हैं। उस अवस्थामें वे सब मन्त्र उन्हें स्पष्ट दृष्टिमें आते हैं। वह अवस्था क्या है, यह विचार किया जाता है। जीव भावका लक्षण यह है कि, जिसमें अन्तःकरण, समष्टिसे च्युत होकर अपनी इन्द्रियोंमें फँसा हुआ रहता है। इसलिये व्यापक अन्तःकरणसे विच्छिन्न होनेकेकारण जीव अल्पज्ञ रहता है। परन्तु जब जितेन्द्रिय योगी अपने अन्तःकरणको इन्द्रियोंसे पृथक् करके व्यापक समष्टि अन्तःकरणकेसाथ मिला देता है, तभी उसको समाधि होती है। ऋषि लोग इसी समाधिकी अवस्थामें वेद देखते हैं। अतः इस दशामें व्यापक अन्तःकरण अर्थात् ब्रह्माजीकेसाथ सूक्ष्म राज्यमें ऋषियोंकी एकात्मता हो जाया करती है। इससे ब्रह्माजीकेद्वारा वेद प्राप्त होना और ऋषियोंके समाधिस्थ अन्तःकरणमें वेद प्रकट होना, एकही भूमिकी बात है। यह भी विचार्य है कि, परमात्माके जिस भावमें वेदके स्वतः प्रकट होनेसे वेद अपौरुषेय कहलाता है, वह भाव भी ऋषियोंके समाधिस्थ भावकेद्वारा लभ्य है, क्योंकि जीव और ब्रह्म एकही हैं। केवल अविद्याकेकारण जीव, देश काल व वस्तुकेद्वारा स्थूल-सूक्ष्मतः

परिच्छिन्न है। परमात्मा देशकाल और वस्तुकेद्वारा परिच्छिन्न नहीं हैं। विषय-परायण जीवका अन्तःकरण इन्द्रिय-पर होनेसे, उसमें परिच्छिन्नता रहती है। परन्तु समाधि दशामें व्यष्टि अन्तःकरणके इन्द्रियोंसे अलग होकर व्यापकमें विलीन होनेसे उसकी परिच्छिन्नता नष्ट होकर ब्रह्मभावकेसाथ सूक्ष्म राज्यमें एकाकारिता-प्राप्ति होती है। इसी एकाकारिताका फल ही वेद है। इसलिये उस समय जो कुछ बातें देखी जायँगी, सभी भगवान्के वाक्य होंगे और अपौरुषेय होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः वेद अपौरुषेय हैं तथा परमात्माके निःश्वासरूपी वेद, ब्रह्माजीके हृदयगत वेद, देवर्षि या ब्रह्मर्षियोंके अन्तःकरणमें प्रकाशित वेद, ये सभी सिद्धान्त एकही भूमिके हैं।

वेद अपौरुषेय हैं, वेद ईश्वरकृत हैं, इसके विषयमें वैज्ञानिक आलोचनाकी आवश्यकता नहीं, जिन भाग्यवान् पुरुषोंके निर्म्मल अन्तःकरणमें वेदकी ज्ञानज्योतिः प्रतिफलित होती है, वे स्वयं ही इस बातका विचार कर सकते हैं कि, इसप्रकार भाषा, भाव या पूर्णतायुक्त ग्रन्थ परिच्छिन्नप्रकृति मनुष्यकेद्वारा निर्मित होसकता है या नहीं? वेदकी भाषाकीओर दृष्टि डालिये, मनुष्योंकी विद्वत्ता जिस भाषाको प्रकाश करसकती है, वैदिक संस्कृत उससे कुछ विलक्षण ही है। वैदिक मन्त्रोंके विषयमें क्या कहा जाय? सर्वशक्तिमान् अनन्त भगवान्के मुखनिःसृत एक एक मन्त्रमें अनन्त शक्ति भरी हुई है, जिसके ठीक ठीक उच्चारण और सिद्धिसे सकल कामनाओंकी पूर्त्ति होसकती है; तथा अशुद्ध उचारण या प्रयोगसे बहुधा हानि भी हो सकती है। ये सब वेदके अपौरुपेयत्वके ही परम परिचायक हैं। इसके सिवाय प्रधान लक्षण यह है कि, पूर्ण भगवान्के वाक्यरूपी वेद सर्वथा पूर्ण हैं। मनुष्य-बुद्धि-विपाक-विरचित कोई भी ग्रन्थ हो, उस बुद्धिके परिच्छिन्न और अपूर्ण होनेसे ग्रन्थकी सर्वाङ्गीण पूर्णता कदापि नहीं होसकती है। परन्तु वेदमें यह बात नहीं है। वेदमें जीवके अभ्युदय व निःश्रेयस साधन करानेके विषयमें पूर्णता, वेदमें जीवकी त्रिविध शुद्धिका सम्पादन करके, मुक्ति पद प्राप्त करानेके अर्थ कर्म, उपासना और ज्ञानकी पूर्णता, वेदमें साधकको त्रिगुणमयी प्रकृतिका प्रत्येक स्तर निरीक्षण कराकर मुक्ति देनेकेलिये गुणोंकी पूर्णता, सब कुछ है। संसार भावमय है। भावमय भगवान्की सत्ता भी संसारमें ओत प्रोत है। अतः भावोंके सम्यक् परिज्ञानसे भावग्राही भगवान्की भी उपलब्धि होती है। इसलिये वेदमें त्रिविध भावों-की पूर्णता भी है। इसप्रकार जितनाही विचार किया जायगा, वेदकी सर्वाङ्गीण पूर्णता दृष्टिगोचर होकर अपौरुषेयत्वकी सम्यक् सिद्धि होगी, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। अब इन उपर्युक्त विषयोंपर अलग अलग विचार किया जाता है।

मनुष्योंकी बुद्धि अपने अपने अधिकारके अनुसार, ऐहलौकिक विषय सम्बन्धीय उन्नति, पारलौकिक स्वर्गादिकोंमें सुख-भोगरूप उन्नति और नित्यानन्दमय मोक्ष पदवीको चाहती है। इन तीनों उन्नतियों में ही मानवीय उन्नतिकी पूर्णता है। अपौ-रुषेय वेदने अनुपम युक्तियोंकेद्वारा तीनोंप्रकारकी उन्नतिकी विधि बतायी है। आज कल नवीन पदार्थविद्या-(सायन्स) की उन्नतिको देखकर मनुष्य मुग्ध होरहे हैं।

अपनी प्राचीन वेदविद्याकी गंभीरताको भूलकर उसे "कृषकोंका गान" कहनेमें भी संकुचित नहीं होते हैं। परन्तु दूरदर्शिताकेसाथ विचार करनेपर वेदकी गंभीर महिमा, उन अर्वाचीन पुरुषोंको स्पष्टतया मालूम होगी। ऋग्वेदके चतुर्थ और दशम मण्डलमें, जो कृषिकी उन्नतिके विषयमें स्तोत्रादि देखनेमें आते हैं, वे सब कृषिकार्य, कृषियन्त्र और गोमहिषादि गृह पशुओंकी उन्नतिकेलिये भगवान्से प्रार्थना हैं। सायन्सकी उन्नति आंखोंको मुग्ध कर सकती है, बुद्धिको प्रमादग्रस्त करसकती है; परन्तु दूरदर्शी, परिणामदर्शी उदारप्रकृति, करुणामय महर्षियोंको यह बात मालूम थी कि, सायन्सकी उन्नतिसे संसारके एक अंशके मनुष्य सुखी व धनी होजाते हैं और दूसरे अंशके मनुष्य अत्यन्त गरीब व भिखारी होजाते हैं। आजकल जिन देशोंमें सायन्सकी उन्नति होरही है, वहांकी दशाको देख सकते हैं, और उसकी हवा भारत-पर लगनेसे भारतकी प्राचीन और नवीन हालतको मिलाकर विचार करनेपर ही मालूम होगा कि, पहले भारत की आर्थिक दशा कैसी थी और अब कैसी है? ये सब विषय ऋषियोंकी तीक्ष्ण बुद्धिके अगोचर नहीं थे। इसीलिये साम्यप्रिय महर्षि-लोग स्थूल सम्पत्ति व सुखकेलिये कृषि और गोरक्षापर इतना जोर देते थे। इससे समस्त देश समानरूपेण सुखी व शान्तिमय था। यह भगवान्का अभीष्ट था। इसीलिये वेदमें कृषिकी उन्नतिकेलिये भगवान्से प्रार्थना है।

द्वितीयतः हमारे यहां सायन्सकी भी कमी नहीं थी। ऋग्वेदमें अर्णवयान, वृहन्नालिकादि युद्धास्त्र, बहुतप्रकारके आग्नेयास्त्र, युद्धविद्याआदिका भी प्रमाण मिलता है। आज प्राचीन मिस्र (Egypt) व बाबिलोन (Babylon) के प्रस्तर स्तम्भ देखकर लोग साश्चर्य होरहे हैं। परन्तु आर्य हिन्दुगण शिल्प कार्यमें किसप्रकार निपुण थे, ऋग्वेदके द्वितीय व पञ्चम मण्डलमें, उसका प्रमाण मिलता है। वहां सहस्र स्तम्भयुक्त विशाल अट्टालिकाका वर्णन है। इसके सिवाय बहुत-प्रकारके वयन कार्य, वाणिज्य, शिल्पकला, धातुद्रव्य निर्म्माणआदिकेद्वारा भारत वास्तवमें स्वर्णप्रसू भारत ही था, जिसके प्रमाण ऋग्वेदके प्रथम व चतुर्थ मण्डलमें बहुधा मिलते हैं। अतः ऐहलौकिक सुख और ऐश्वर्यकेलिये वेदमें सकलप्रकारके साधन मिलते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। स्मृतिमें लिखा है कि:—

प्रत्यक्षेणाऽनुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं वदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

जहांपर लौकिक प्रत्यक्ष नहीं पहुँच सकता है और अनुमान भी परास्तशक्ति होकर जहांसे लौट आता है, एतादृश अलौकिक पदवीपर साधकको प्रतिष्ठित करके दिव्य सुख और नित्यानन्दका अधिकारी कर देना ही वेदका वेदत्व है। वेदमें ज्योतिष्टोम, दर्शपौर्णमासआदि बहुविध यज्ञोंकी विधियाँ बतायी गयी हैं, जिनके अनुष्ठानसे सकाम साधक विविध स्वर्गीय सुखोंको भोग सकता है। यथा गीताजी में:—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥

वैदिक अनुष्ठाता यज्ञोंकेद्वारा भगवान्की पूजा करके, यज्ञशेष सोमरस पानकर निष्पाप हो, स्वर्गलोककी प्रार्थना करते हैं। वे लोग पुण्य विपाकरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर, उसमें देवताओंके योग्य उत्तम भोगोंको भोगते हैं। अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद्में लिखा है कि:—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्च्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥

ज्योतिष्मती आहुतियाँ यजमानको "आओ आओ" करके पुकारती हुईं, सूर्यरश्मियोंद्वारा पुण्यमय ब्रह्मलोकको लेजाती हैं। प्रिय वचन और पूजाकेद्वारा उनकी सेवा करती हैं। भगवती श्रुतिका सन्देश है कि:—

अपाम सोमम् अमृता अभूम ।

हमलोग सोमपान करके अमर होगये हैं, इत्यादि बहुविध देवलोकका अतुलनीय सुख-भोग, वेदके ही कृपासाध्य है।

तृतीयतः प्रकृति पारावार पारङ्गत, मन वाणीके अगोचर ब्रह्मका शास्त्रोंमें वर्णन है कि:—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

जहाँ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् अथवा अग्निकी पहुँच नहीं, जो सबसे अतीत है, जिनके तेज और ज्योतिसे समस्त संसार उद्भासित होरहा है; एतादृश आनन्दमय परम पुरुषके साक्षात्कारसे साधककी क्या अवस्था होती है, सो इसप्रकार वर्णित है कि :—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

साधककी हृदय निहित अविद्या ग्रन्थि खुल जाती है, समस्त सन्देहजाल छिन्न होजाते हैं और सञ्चित क्रियमाणआदि समस्त कर्मोंका क्षय होजाता है, जिस समय कि, उक्त परम पुरुषका दर्शन होता है। और भी कहा है कि :—

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ॥

जिनको प्रकट करनेमें असमर्थ होकर, वाणी निवृत्त हो जाती है, जहाँपर मनकी भी गति नहीं है, एतादृश आनन्दमय परमपदके जाननेसे संसार-भय नष्ट होजाता है। वहाँ सायन्सकी बात ही क्या ? प्लेटो (Plato) और काण्ट-(Kant) की गवेषणा भी परास्त है और सक्रेटिस (Socrates) भी उपलखण्डमात्र संग्रह कर रहे हैं। एतादृश ब्रह्मपदको प्राप्त कराकर निःश्रेयस-लाभ करानेकी शक्ति, यदि किसीमें है, तो सब रीतिसे पूर्ण भगवान्‌के निःश्वासरूपी वेदमें ही है। यही वेदकी अपौरुषेयताका अकाट्य प्रमाण है, इसमें सन्देह नहीं।

परमात्मा पूर्ण हैं, जीव अपूर्ण है। परन्तु जीवमें पूर्णताका बीज विद्यमान है। उसी बीजको परिपुष्ट और पूर्णतया प्रकट करके पूर्ण बनानाही सकल साधनों और शास्त्रोंका लक्ष्य है। जो शास्त्र जीवको पूर्ण बनाकर ब्रह्मरूप करदे, वही शास्त्र पूर्ण है। जितने मनुष्यकृत शास्त्र हैं, उनकी आलोचना करनेसे विचारवान् पुरुषको मालूम होगा कि, सभी शास्त्र प्रकृतिका आंशिक वर्णन करते हैं। कहीं किसी अंशका एवं कहीं और किसी अंशका वर्णन है। कहीं किसी विषयको मुख्य रखकर दूसरेको गौण किया है, इत्यादि। परन्तु अपौरुषेय वेदमें यह अपूर्णता कुछ भी नहीं है। यदि ऐसा होता, तो वेद, भगवान्‌का वाक्य नहीं होता। यह बात विज्ञान-सिद्ध है कि, पूर्ण प्रकृति ही पूर्ण ब्रह्मको प्रकट कर सकती है। भारत पूर्ण प्रकृतिसे युक्त है, इसलिये मोक्षभूमि कहलाता है। अपूर्ण जीवकी पूर्णता और ब्रह्मभाव-प्राप्तिकेद्वारा मुक्ति तभी होगी, जब जैवप्रकृति पूर्णताको प्राप्त करेगी। प्रकृति स्थूल, सूक्ष्म, कारण अथवा अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म, तीनों पर्वोंसे युक्त है। मनुष्यमें ये तीनों पर्व अधूरे हैं। अतः आधिभौतिक पूर्णता, आधिदैविक पूर्णता और आध्यात्मिक पूर्णता मनुष्योंको प्राप्त होनेपर, जीव (मनुष्य जीव) ब्रह्मरूप बन सकता है। इसलिये जिस शास्त्रमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रिविध शुद्धिकेलिये उपाय पूर्णतया बताये गये हैं, वही शास्त्र पूर्ण और भगवान्‌का वाक्य होगा। जीवकेलिये आधिभौतिक शरीर है, आधिदैविक मन है और आध्यात्मिक बुद्धि है। शरीरकी शुद्धि कर्मकेद्वारा, मनकी शुद्धि उपासनाकेद्वारा और बुद्धिकी शुद्धि ज्ञानकेद्वारा हुआ करती है। अतः जिस शास्त्रमें समानरूपसे कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंका उपदेश पूर्णतया हो, वही भगवद्वाक्य होगा। गीताके १८ अठारह अध्यायोंमें कर्म, उपासना और ज्ञानका उपदेश समानरूपसे है। प्रथम ६ छः अध्यायोंमें विशेष करके कर्मका दूसरे ६ छः अध्यायोंमें विशेष करके उपासनाका और तीसरे ६ छः अध्यायोंमें विशेष करके ज्ञानका वर्णन है। किसीओर थोड़ा भी पक्षपात नहीं है, क्योंकि गीता

साक्षात् भगवान्का मुखनिःसृत वाक्य है। यही गुण वेदोंमें भी देखनेमें आता है। इसीलिये वेद संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक या उसीके विस्ताररूप उपनिषद् इन तीन भागोंमें विभक्त है। इसमें गीताकी नाईं, तीनों भागोंमें ही कर्म, उपासना और ज्ञानका वर्णन होनेपर भी संहिता भागमें प्रधानतया उपासनाकाण्डका, ब्राह्मणभागमें प्रधानतया कर्मकाण्डका और उपनिषद् भागमें प्रधानतया ज्ञानकाण्डका वर्णन है। परमात्मा सच्चिदानन्दरूप हैं। उनकी सत्सत्ताकेसाथ कर्मका आनन्दसत्ताकेसाथ उपासनाका और चित्सत्ताकेसाथ ज्ञानका सम्बन्ध है। ये सब विषय प्रथम-समुल्लासमें कहे गये हैं। वेद अपने संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्रूपी तीनों भागोंकेद्वारा कर्म, उपासना और ज्ञानका पूर्ण साधन बताकर जीवको सच्चिदानन्दकी उपलब्धि करता है और पूर्ण ब्रह्मभावमें प्रतिष्ठित करता है। यही वेदका अपौरुषेयत्व है, इसमें सन्देह नहीं।

महर्षि अङ्गिराने दैवीमीमांसामें कहा है कि:—

गुणभावमयत्वाद्भगवद्वाक्यं वेदः।

वेदमें गुणोंकी और भावोंकी पूर्णता है। इसलिये वेद, भगवान्का वाक्य है। गुणमयी प्रकृतिके त्रिगुण-भेदानुसार प्रधानतः तीन स्तर हैं। इसलिये संसारमें सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, ये तीनप्रकारके जीव मिलते हैं। वेदका वेदत्व और अपौरुषेयत्व इस बातपर है कि, भवरोगवैद्य वेदने तीनोंप्रकारकेलिये आत्मोन्नतिकर उपाय बताये हैं। लौकिक शास्त्रोंका लक्षण यह है कि, उनमें किसी गुणको प्रधान रखकर उपदेश किया जाता है। कोई ग्रन्थ सत्त्वगुणको ही प्रधान मानकर उपदेश करता है। किसीमें रजोगुणकी विशेषतापर लक्ष्य रखकर उपदेश किया जाता है। किसीमें तमोगुणके विचारसे उपदेश होता है। यदि प्रकृतिमें एकही गुण होता, तो सबकेवास्ते एकप्रकारका उपदेश हो सकता या विधि बतायी जा सकती। परन्तु प्रकृतिमें जब तीन गुण हैं, तो पूर्ण ग्रन्थ वही होगा, जिसमें सब गुणोंके जीवोंके कल्याणकेलिये युक्ति बतायी जावे। पूर्ण वैद्य वही है, जिसकेपास सबप्रकारके रोग-निवारणकेलिये चिकित्सा हो। वेद पूर्ण हैं और भगवान्के वाक्य हैं, इसलिये वेदमें तीनों अधिकारियोंकेलिये उपदेश किये गये हैं। वेदमें सात्त्विक अधिकारीकी आत्मोन्नतिकेलिये ज्ञानयज्ञ, राजसिक अधिकारीके कल्याणकेलिये राजसिक सोमआदि यज्ञ, और तामसिक अधिकारीके सुधारकेलिये तामसिक श्येनयज्ञआदिका भी विधान है। यह वेदका दूषण नहीं परन्तु भूषण है, पूर्णताका आदर्श है और सार्वभौम उदार भाव है। इसको आजकलके परिच्छिन्न-बुद्धि लोग, नहीं समझकर बहुधा आक्षेप करते रहते हैं। यदि संसारमें सभी लोग सात्त्विक होते, तो वेद सभीकेवास्ते ज्ञानयज्ञका उपदेश करता। परन्तु जब संसारमें राजसिक तामसिक लोग भी बहुत हैं, तो वेदकी पूर्णता, अखिल जगत्कल्याणकारिता और अपौरुषेयता तभी होगी, जब उसमें उन राजसिक या तामसिक लोगोंपर भी कृपा करके, उनकेलिये भिन्न भिन्न आत्मोन्नतिकर उपाय बताये जायँगे। अन्यथा राजसिक,

तामसिक, अधिकारियोंको भी सात्त्विक ज्ञानयज्ञका उपदेश करनेसे उनकेलिये बुद्धि-भेद और अनधिकार चर्चा होगी, जिससे उनका कल्याण न होकर अनिष्ट होगा। श्रीभगवान्ने गीताजीमें लिखा है कि:—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
योषयेत्सर्वकर्म्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्नो विचालयेत्॥

अज्ञ, कर्म-मार्गमें आसक्त, सकाम पुरुषोंका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये। विद्वान् और युक्त पुरुष स्वयं अनुष्ठान करके, उनको उसी मार्गमें प्रवृत्त करें। मन्दमति अल्पदर्शी लोग प्रकृतिके गुणोंमें फँसकर गुण व कर्ममें लिप्त होते हैं। बहुदर्शी विचारवान् पुरुष, उनको एकाएक उससे न हटावें। परन्तु सुकौशलपूर्ण अधिकारानुरूप उपाय बताकर धीरे धीरे उनको उन्नत करें। यही श्रीगीताजीमें भगवान्की आज्ञा है और यही विज्ञान वेदमें पूर्णतया प्रकट है। वेदमें पशुहिंसाआदिके विधायक मन्त्रोंको देखकर बहुत लोग घबड़ाते हैं और बहुत लोग अपनी विद्वत्ताके मदमें आकर या साम्प्रदायिक अनुदार भावसे भावित होकर, अपने सिद्धान्तके-अनुसार उन मन्त्रोंका अर्थ करने लगते हैं। परन्तु यह सभी वेदके मर्मके न जानने-का फल है। यदि वेदमें कहीं पशुहिंसाका मन्त्र मिल जाय, तो इससे यह सिद्धान्त कदापि नहीं निकालना चाहिये कि, भगवान् जीवकी हिंसा करनेकेलिये उपदेश देते हैं। यह विचार भ्रमपूर्ण है। इसका तात्पर्य और ही कुछ है, जो नीचे लिखा जाता है।

यह बात पहले ही कही गयी है कि, त्रिगुणमय संसारमें सबप्रकारके मनुष्य होते हैं। और गुणोंके तारतम्यानुसार रुचि, प्रकृति व प्रवृत्तिमें भी बहुधा भेद पाये जाते हैं। सात्त्विक मनुष्य स्वभावतः ही अहिंसापरायण होते हैं। रजोगुणी लोग, ऐसे नहीं होते। और तमोगुणी लोग सम्पूर्णतया विपरीत ही होते हैं। इसलिये सबकेलिये सात्त्विक विधि तो हो ही नहीं सकती है और सबकेलिये विधि भी अलग-अलग न हो, तो वेद पूर्ण और भगवद्वाक्य नहीं। अतः यह विषय विचार करने योग्य है। राजसिक या तामसिक यज्ञमें, जहां हिंसाकी विधि है, वह विधि हिंसा बढ़ानेकेलिये नहीं, परन्तु घटानेकेवास्ते ही है। क्योंकि राजसिक या तामसिक होनेसे जिस मनुष्यकी प्रकृति ही जन्मसे हिंसापरायण बनी हुई है, जो मनुष्य यथेच्छ और अजस्र मांस भोजन करता है, उसको एकाएक मांस छोड़कर सात्त्विक बनजानेकेलिये उपदेश करना ही मूर्खता और अनधिकार चर्चा है। अतः उसके-लिये ऐसी युक्ति होनी चाहिये, जिससे वह मनुष्य मांस खाना धीरे धीरे कम करता हुआ, अन्तमें हिंसाको सम्पूर्णरूपेण त्याग दे। यही युक्ति वेदमें बतायी गयी है। वहां लिखा गया है कि, यदि मांस खाना हो, तो यज्ञ करके, देवताओंको निवेदन

करके, विविध पूजा करके, ब्राह्मण भोजन कराके, देवताओंके प्रसादरूपसे यज्ञशेष मांस भोजन करो, क्योंकि गीतामें लिखा है कि:—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

यज्ञशेष भोजन करनेसे सकलप्रकारके पापोंसे मुक्त होते हैं। इसप्रकार यज्ञ करके मांस खानेका फल यह होगा कि, कोई मांसाहारी मनुष्य जो कि, अनर्गल मांस खा रहा था, उसे यज्ञके सब कार्य करने पड़ेंगे, जिसमें सैकड़ों रीतियोंके अनुष्ठान बताये गये हैं, जिससे उसको व्ययाधिक्य होनेसे मांस खाना ही घट जायगा और पूजाआदिके करनेसे चित्तमें सात्विक भावका उदय धीरे धीरे होता जायगा, जिससे प्रवृत्ति घट जायगी। और तृतीयतः यज्ञ शेष प्रसादके ग्रहण करनेकी बुद्धिके उदय होनेमें मांसके ऊपर, जो लोभ था, वह लोभ धीरे धीरे कम होता जायगा। अन्तमें फल यह होगा कि, कुछ दिनोंकेबाद वही रजोगुणी या तमोगुणी मांसाहारी मांसको त्यागकर सात्विक ज्ञानयज्ञका अधिकारी बन जायगा। यही वेदकी उदारता और पूर्णता है। इसपर विचार करनेसे बुद्धिमान् मनुष्य अवश्य समझ सकेंगे कि, भगवान्के वाक्यमें ही इसप्रकार निष्पक्ष उदार भाव आ सकता है, जिससे सकल अधिकारीका ही कल्याण और आत्मोन्नति हो। तदतिरिक्त वेदोक्त कर्मविज्ञानकेअनुसार "स्वर्गकामो यजेत" इस प्रमाणसे वैदिक यज्ञके प्रभावसे उसको परलोकमें स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होगी। यही वेदका गुणविचारसे पूर्ण महत्त्व है।

वेदका और अपौरुषेयत्व, भावोंकी पूर्णतामें है। यह बात पहले समुल्लासमें सिद्ध हो चुकी है कि, परमात्माके तीन भाव प्रकृति-विलास या प्रकृतिलयकेअनुसार साधकको उपलब्ध होते हैं। उनके अध्यात्मभाव मायासे अतीत, मनवाणीसे अगोचर, निर्गुण, निष्क्रिय परब्रह्म हैं। उनके अधिदैवभाव मायोपहित चैतन्य सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्त्ता ईश्वर हैं। और उनके अधिभूत भाव अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय विराट् हैं। इसलिये सर्वकारण परमात्मामें जब तीन भाव हैं, तो कार्य-ब्रह्मरूपी इस संसारमें भी तीन भाव होने चाहियें। क्योंकि कार्य जब कारणका ही विस्तारमात्र है, तो कारणमें जो कुछ भाव है, सो कार्यमें भी अवश्य होगा। यही कारण है कि, संसारकी समस्त वस्तुओंमें तीन तीन भाव देखे जाते हैं। कार्यब्रह्ममें प्रकृति व पुरुषकी लीला, गुण व भावोंकी लीलारूपेण पर्यवसित है। इसलिये जो महात्मा, प्रकृतिपुरुषका तत्त्व जानकर मुक्त होना चाहते हैं, उनको प्रत्येक वस्तुमें त्रिगुण और त्रिभाव देखने चाहियें। अन्यथा मुक्ति नहीं होगी। संसारमें बहुत ग्रन्थ हैं, परन्तु वे सब प्रकृति माताके ग्रन्थके पढ़नेकेवास्ते सहायकमात्र हैं। वास्तविक ग्रन्थ प्रकृतिका ही है। इसीको महर्षि लोग तत्त्वतः जानकर निःश्रेयस लाभ करते थे। इसको जानना पूर्णतया तभी होसकता है, जब सर्वत्र, सकल वस्तुओंमें तीनोंगुणोंका विलास-तारतम्य और भावकी लीला देखी जाय। दृष्टान्तस्थलपर समझ सकते हैं कि, मन अध्यात्म है, मन्तव्य अधिभूत है और चन्द्र अधिदैव है। इस विषयमें यथेष्ट प्रमाण प्रथम-समुल्लासमें दिया गया है, अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। श्रीभगवान्ने गीताजी-

में भी "किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं" इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरमें त्रिभावकी लीला पूर्णतया दिखायी है। पूर्ण दृष्टि वही है, जो सब वस्तुओंमें तीन भाव देखे। आज कल इस विषयमें बहुत ही अन्धेर चला हुआ है। प्रायः मनुष्य एक ही या दो ही भावको देखकर विचार करते अथवा एक ही भावको मानकर दूसरेको उड़ा देते हैं। यह सब भूल है। जिस वस्तुका अध्यात्म सत्य है, उसका अधिदैव, और अधिभूत भी सत्य है। यथाः—मन सत्य है, तो मन्तव्य और चन्द्रमा भी सत्य है। चक्षु सत्य है, तो रूप तन्मात्रा और सूर्यभी सत्य है, और पूर्णद्रष्टा वही है, जिसको तीनों ही भाव दिखायी दें। अन्यथा अपूर्णदृष्टि होजायगी। इसीप्रकारसे पूर्ण ग्रन्थ वही कहलावेगा, जिसके प्रत्येक उपदेशमें तीन तीन भाव रहेंगे और वही पूर्ण भावयुक्त ग्रन्थ भगवद्वाक्य होगा। लौकिक ग्रन्थोंमें यह पूर्णता नहीं आसकती है। गीताजीके प्रत्येक श्लोकमें तीन तीन भाव भरेहुए हैं। क्योंकि गीता भगवद्वाक्य है। इसको गवेषणारायण, अन्तर्दृष्टिसम्पन्न लोग जानसकते हैं। इसीप्रकार वेदके प्रत्येक मन्त्रमें तीन तीन भाव, अध्यात्म, अधिदैव व अधिभूत, भरे हुए हैं। इसमें कोई ऐसा मन्त्र नहीं मिलेगा, जिसमें केवल एक ही भाव या केवल दो भाव हों। श्रुतियोंमें कहा है कि:—

त्रयोऽर्थाः सर्ववेदेषु।

सब वेदोंमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, इसप्रकारसे तीन तीन अर्थ हैं। स्मृतियोंमें भी कहा है किः—

यथा दुग्धश्च भक्तश्च शर्कराभिः सुमिश्रितम्।
कल्पितं देवभोगाय परमान्नं सुधोपमम्॥
तथा त्रैविध्यमापन्नः श्रुतिभेदः सुखात्मकः।
नयते ब्राह्मणं नित्यं ब्रह्मानन्दं परात्परम्॥

जैसे दुग्ध, चावल और शक्कर मिलानेसे सुमिष्ट एवं देवभोगयोग्य परमान्न बनता है, वैसेही अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत इन तीनों भावोंसे युक्त अमृतमयी श्रुति, ज्ञानी पुरुषको ब्रह्मानन्द प्राप्त कराती है। इससे स्पष्ट हुआ कि, वेदकी प्रत्येक श्रुतिके तीनप्रकारके भाव और तीनप्रकारके अर्थ हैं। ये तीनों मनुष्यकी साधारण बुद्धिसे गम्य नहीं है। आज कल वेदके तत्त्वोंको न जानकर, मनुष्य इस विषयमें बहुत ही भ्रमयुक्त हो रहे हैं। कोई कोई तो सब श्रुतियोंको स्थूल अधिभूतभावपर ही लगा देते हैं। कोई कोई क्लिष्ट कल्पना करके, सब तन्त्रोंको आध्यात्मिकभावमें लगा डालते हैं। यह सब अपूर्ण मानवीय बुद्धिका लक्षण है। यदि वेद मनुष्यकृत होता, तो ऐसी कल्पना सत्य होती। परन्तु वेद अपौरुषेय और ईश्वरकृत हैं, इसलिये ऐसी कल्पना सर्वथा मिथ्या है और तीनों भावोंका पूर्ण विलास ही सत्य है। एक दृष्टान्त देकर समझाया जाता है। वृहदारण्यकोपनिषद्में वर्णन है कि:—

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चाऽसुराश्च,
तत्र कानीयसा एव देवाः ज्यायसा असुरा-
स्त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त । इत्यादि ।

प्रजापतिकेद्वारा देवता और असुर दोनों ही उत्पन्न हुए। उनमेंसे देवता छोटे और असुर बड़े भाई हैं। ये दोनों इन लोकोंमें आपसमें स्पर्द्धा करते हैं। इस मन्त्रमें, जो देवासुर-संग्रामका वर्णन किया गया है। इसको केवल एक भावमें लेनेसे पूर्ण अर्थ नहीं होगा। इसको तीनही भावमें समझना चाहिये। इस भौतिक जगत्‌में, जो गीतोक्त दैवीसम्पत्तिवाले और आसुरीसम्पत्तिवाले जीवोंकी आपसमें सदा ही लड़ाई होती रहती है, वह तो इसका अधिभूत अर्थ है। ठीक इसीतरहसे दैवलोकमें, जो तमोगुणके अधिष्ठाता असुर और सत्त्वगुणके अधिष्ठाता देवताओंकी आपसमें लड़ाई होती रहती है, वह इन दोनों चेतनशक्तियोंकी लड़ाई अधिदैव देवासुर-संग्राम है। तृतीयत: अध्यात्म अर्थात् मनोराज्यमें, जो कुमति और सुमतिका द्वन्द्व सदा बना रहता है, जिससे मनुष्य कभी कुमतिके चक्रमें आकर पाप करते हैं और कभी सुमति-केद्वारा प्रेरित होकर कृतपापकेलिये अनुताप भी करते हैं, यह लड़ाई अध्यात्म राज्य-में देवासुर-संग्राम है। इस रीतिसे तीन तीन भाव देखनेसे, तब वेदोंके मन्त्रोंका पूरा पूरा अर्थ होसकता है, अन्यथा नहीं। पूर्ण भगवान् और भावमय भगवान्‌के निःश्वासरूपी वेदमें सर्वत्र ही एतादृश त्रिभाव-विलास देखकर भक्तजनहृदय प्रफुल्लित होता है। फलतः पूर्वकथित विचारकेअनुसार वेदोंमें त्रिगुणकी पूर्णता और त्रिभाव-की पूर्णता होनेकेकारण वेदका अपौरुषेयत्व सिद्ध हुआ।

वेदके इसप्रकार गभीर तत्त्वोंके समझनेकेलिये, किसप्रकार शिक्षा पहले प्राप्त करनी होगी, सो नीचे लिखा जाता है। प्रथम तो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष, इन छःहों अङ्गोंका भलीभाँति अध्ययन करके वेदार्थ समझनेकी शक्ति प्राप्त करनी पड़ेगी। इन छःहों अङ्गोंमेंसे यदि एक अङ्गकी भी न्यूनता रहेगी, तो विद्वान्‌की शक्ति पूर्ण नहीं होगी। इन अङ्गोंके ज्ञानका लाभ करने-केअनन्तर सप्त दर्शन, अन्य देशीय दर्शनोंके सदृश काल्पनिक भित्तिपर स्थित नहीं हैं। वे सप्त ज्ञानभूमिमें यथाक्रम प्रवेश करानेवाले सप्त अधिकारसे आविर्भूत हुए हैं। इसप्रकारसे षडङ्ग और सप्तदर्शनके रहस्योंको पूर्णरीतिसे हृदयङ्गम करने-पर और कर्म उपासना और योगादिकी सहायतासे चित्त निर्मल होनेपर पूर्ण ज्ञानयुक्त वेदोंकी उपलब्धि हो सकती है; अन्यथा अनन्त, अपार और गभीर वेदसमुद्रके पार जानेकी तो बात ही क्या है, उसमें प्रवेश करना भी असम्भव है।

वेदमें जो ऋषि छन्द और देवताका वर्णन आता है, उससे तात्पर्य यह है कि, जिन-जिन त्रिकालदर्शी महर्षिगणके चित्तमें स्वतन्त्र-स्वतन्त्र श्रुतियाँ प्रथम आविर्भूत हुई थीं, अर्थात् जिन-जिन आचार्योंकेद्वारा वे मन्त्र प्रकाशित हुए हैं, वे ही उन मन्त्रोंके ऋषि कहलाते हैं, जिन-जिन छन्दोंमें वे श्रुतियाँ कही गयी हैं, सो उन-उन वेदमन्त्रोंके छन्द कहलाते हैं और जिन-जिन श्रुतियोंकेद्वारा जिन जिन

भगवच्छक्तियोंकी उपासनाकी जाय, वे उपास्य शक्ति, उन उन श्रुतियोंके देवता कहलाते हैं। इसी नियमकेअनुसार प्रत्येक मन्त्रकेसाथ ऋषि देवता और छन्दके परिज्ञात होनेसे उस मन्त्रकी आधिभौतिक शक्तिका ज्ञान होगा, क्योंकि प्रत्येक वैदिक छन्दकी शक्ति, अलग अलग होती है। उक्त छन्दोंकेअनुसार स्वतन्त्र कार्य करनेकी व्यवस्था, वेदके ब्राह्मण भागमें बहुधा पायी जाती है। देवताके ज्ञानसे उक्त मन्त्रकी आध्यात्मिक शक्तिपर लक्ष्य होता है। वेदके कर्म व उपासनाकाण्डमें स्वर्गादि फलप्रद सकाम साधनोंका बहुधा वर्णन होनेसे उसमें इन्द्र, वरुण, अग्निआदि दैवी शक्तियोंकी स्तुतिकी गयी है। इस रहस्यको न समझ कर, बहुतसे वृथा वेद-ज्ञानाभिमानी मनुष्योंने धातुओंके अनेक अर्थ होनेसे, उन सब देवताओंके नामोंको एक ईश्वरके नामपर ही लगाकर, वर्णन किया है। संस्कृतभाषा कामधेनुकीतरह अभीष्ट फलदायिनी होनेपर भी, उसकी सम्पत्तिको पाकर स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त होना, कोई गुण नहीं है, अधिकन्तु धर्म और शास्त्रका अपलापमात्र है। केवल भाषा और धातुके जाननेसे वेदका ज्ञान नहीं होता है। वेदके जाननेकेलिये योगयुक्त बुद्धि होकर उसके गभीरतम प्रदेशका रहस्य निर्णय करना चाहिये। ऋग्वेदके दशम मण्डलके ७१ सूक्तमें लिखा है कि:—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच—
मुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे,
जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

बहुत लोग वेदको देखकर भी ठीक नहीं देख सकते हैं, बहुत लोग सुनकर भी ठीक नहीं सुनते। जिसप्रकार पतिव्रता सतीका अङ्ग उसके पतिही देख सकते हैं, उसीप्रकार जिस भाग्यवान् पुरुषको यथार्थ अधिकारी समझ कर वेद अपना रूप दिखाते हैं, वही वेदके तात्पर्यको समझ सकता है, और कोई नहीं। अब धीर व निष्पक्ष होकर विचार करनेकी बात है कि, यदि सब देवताओंका नाम एकही ईश्वरका नाम होता, तो भिन्न भिन्न नामसे स्तुति करनेका प्रयोजन ही क्या था? उसकेलिये केवल ईश्वरका नाम और तद्वाचक कुछ विशेषणोंकी ही आवश्यकता होती और प्रत्येक नाममें, जो धातु मिलते हैं, उन्हें उल्टी रीतिसे घुमाकर अत्यन्त क्लिष्ट कल्पनाकेसाथ अर्थ करनेकी भी आवश्यकता नहीं होती। और वेदके मन्त्र भी, बहुत थोड़े होजाते, क्योंकि यदि सब ऋचायें केवल ज्ञानकाण्ड प्रतिपादक होतीं, तो कर्मकाण्डका विस्तार, जो सबसे अधिक है, उसका होना असम्भव होता। वेदके रहस्य जाननेवाले विद्वान् पुरुषोंको यह बात अवश्य मालूम होगी कि, जगदादिकारण परमात्मा त्रिगुणमयी प्रकृतिसे परे हैं, परन्तु उनकी शक्तिको धारण करके जो देवता, ऋषि या पितर लोग संसारकी रक्षा करते हैं, वे सब प्रकृतिमें ही हैं। इसलिये सकाम स्वर्गआदि चाहनेवाले साधकोंकेलिये देवताओंको प्रसन्न करना, बहुत ही

सहज है। यह बात निश्चय है कि, जिसका चित्त इहलोकमें अथवा परलोकमें भोग सुख या सम्पत्ति चाहता है, वे पुरुष जहाँ तक हो सरल, जिसमें कष्ट कम हो, सिद्धि भी मिल जाय, ऐसे ही उपायको अच्छा समझेंगे। श्रीभगवान्ने गीताजीमें लिखा है किः—

काङ्क्षन्तः कर्म्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्म्मजा॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

सकाम कर्ममें सिद्धिकी इच्छा करके प्रवृत्तिपरायण लोग देवताके तुष्टकरणार्थ यज्ञ करते हैं, क्योंकि ऐसे उपायसे शीघ्र सिद्धि मिलती है। इसीतरहसे सकाम भावयुक्त प्रकृतिकी प्रेरणासे मुग्ध, वे लोग देवताओंकी साधना करते हैं। परन्तु इसप्रकारसे प्राप्त फल नाशवान् होता है, क्योंकि देवयज्ञ करनेवाला देवलोकको जाता है। मेरे भक्त लोग मेरे परम धामको ही प्राप्त करते हैं। जिसप्रकार क्षुद्र फलकी इच्छा करनेवाली प्रजा, छोटे राजकर्मचारीसे ही अपना काम निकाल सकती है, उसको सम्राट्के निकट जानेकी आवश्यकता नहीं होती और न वह जासकती है; उसीप्रकार क्षुद्र वासना रखनेवाले निम्न श्रेणीके सकाम साधकोंकेलिये भगवदंशरूपी देवताओंकी उपासना ही यथेष्ट है और शीघ्र फलप्रद है, यह मानना ही पड़ेगा। द्वितीयतः वेदमें इन्द्रआदि देवताओंको तुष्ट करके अभीष्ट सिद्धि करनेके लिये, जो कुछ युक्ति बतायी गयी है, अनुभवी पुरुष जानते हैं कि, उन सब युक्तियोंकेद्वारा दैवीशक्तियाँ ही प्रसन्न हो सकती हैं, भगवान्को तुष्ट करनेकेलिये वे सब युक्तियाँ यथेष्ट नहीं हैं। अतः उन सब मन्त्रोंको भगवान्के नामपर ही धातुका अर्थान्तर करके लगा देना, वेदके रहस्यज्ञानके अभावका ही परिचायक है, ऐसा कभी नहीं होना चाहिये। धीर होकर दैवीशक्तियोंकी लीलापर संयम करके सब बातें देखनी चाहिये। विचार करनेकी बात है कि, साधारण जड़शक्ति, यथा चुम्बककी शक्ति, बिजलीकी शक्तिआदिको काममें लाकर सायन्स वालोंने कैसा "कमाल" कर दिखाया है, जिसको देखकर मनुष्योंकी बुद्धि चक्कर खाने लग पड़ी है। जब भौतिक शक्तिमें यह सामर्थ्य है, तो दैवी शक्तिमें और कितनी सामर्थ्य होगी, विचारवान् पुरुष ही इसको समझ सकते हैं। स्थूल जगत्में भौतिक शक्तिकीनाई सूक्ष्म जगत्में दैवी शक्ति, संसारकी रक्षाकेलिये किस रीतिसे काम करती है, सो सब आगे समुल्लासमें बतायेंगे। मनुष्य यज्ञ-अनुष्ठानआदिकेद्वारा उन शक्तियोंको प्रसन्न करके सुख सम्पत्ति व अभीष्टफलको प्राप्त कर सकते हैं। श्रुतिने उसीकेअर्थ युक्ति बतायी है। अतः वे सब

नाम देवताओंके हैं और स्तोत्र भी देवताओंके प्रीत्यर्थ ही हैं। अवश्य जहाँ ज्ञान-यज्ञके साधनमें अथवा उपनिषदुक्त ज्ञानाधिकार या आध्यात्मिक तत्वोंके वर्णनमें इन्द्रआदि नाम प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ इन्द्रआदि शब्द परमात्माके वाचक होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं। जैसा कि "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इस मन्त्रमें इन्द्र शब्द-का अर्थ परमात्मा है, जो सृष्टिके समय मायाकेद्वारा बहुरूप होते हैं। यह विषय आध्यात्मिक सृष्टि व ज्ञानका है। इसलिये ऐसा अर्थ हुआ। सकाम दैवआदि यज्ञमें ऐसा नहीं होसकता है।

वेदोंकी भाषा साधारण संस्कृत भाषासे कुछ अपूर्व व विलक्षण ही है, जिस-पर विचार करनेसे वेदकी भाषाका लोकविलक्षणत्व और भाषाकी गभीरता स्वतः ही प्रमाणित हुआ करती है। अपने आर्य जातिगत विचारोंकेअनुसार सृष्टिकेआदि कालसे ही वेदोंका सम्बन्ध माना जाता है। स्मृतिमें लिखा है कि:—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्व्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

महर्षि लोगोंने ब्रह्माजीसे आज्ञा प्राप्त होकर सृष्टिके पहले प्रलयकालमें अन्त-र्हित इतिहासयुक्त वेदोंको तपस्याकेद्वारा प्राप्त किया। पाश्चात्त्य पण्डितोंने वेदका जन्मकाल निर्णय करनेकेलिये बहुत ही बुद्धि खर्च की है। किन्हीं किन्हीं पाण्डित्या-भिमानी पश्चिमी विद्वानोंने तो ईसामसीहके जन्मसे दो हजार वर्ष पहले वेद हुआ था, ऐसा कहा है। दूसरे लोगोंकी और हीप्रकारकी सम्मति है। परन्तु किसीको भी पता नहीं चला और अन्तमें सभीको कहना पड़ा कि, पृथ्वी भरमें वेदोंसे प्राचीन कोई भी ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। फलतः अभ्रान्त वैदिक विज्ञानके अनादित्व और वैदिक भाषाके अतिप्राचीनत्वको इस संसारके सभी बुद्धिमान् व विद्वान् लोग एक वाक्यसे स्वीकार करते हैं।

वेदोंमें ज्ञान और विज्ञान, दोनों ही विस्तृतरूपसे वर्णित हैं। अघटनघटना-पटीयसी महामायाकी लीला-भूमि और अनन्त आकाश एवं ग्रह नक्षत्रादि लोकोंसे सुशोभित यह संसार जिसप्रकार अनन्त है; उसीप्रकार वेदोंका स्वरूप भी अनन्त है। केवल एक ज्ञानदृष्टिसे ही हम इस संसारको अनन्त देख रहे हैं।प्रथम तो ज्ञानविस्तारसे यह स्थूल जगत् ही अनन्त है; पुनः विज्ञानसे सम्बन्धयुक्त अध्यात्म-राज्यका इस बहिर्जगत्से और भी विस्तृत होना सम्भव है। अपिच जब वेदोंमें ज्ञान और विज्ञान, दोनोंका ही वर्णन है, तब वह वेदरूपी शब्दब्रह्म कितने अनन्त रूपधारी होसकते हैं, यह विचारशील पुरुषमात्र ही समझ सकते हैं। इसीलिये श्रुतिमें कहा है कि:—

अनन्ता वै वेदाः।

वेद अनन्त हैं। वेदोंके अनन्त होनेपर भी इस कल्पके वेदोंकी संख्या पायी जाती है। इस संख्यामें मतभेद भी है। महाभाष्यमें लिखा है कि:—

चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः एकशत-
मध्वर्यशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशतिधा
बाह्वृच्यं नवधा आथर्वणो वेदः ।

अङ्ग और रहस्यसे युक्त चारों वेद बहुत शाखाओंमें विभक्त हैं । यथा यजुर्वेदकी १०१, सामवेदकी १०००, ऋग्वेदकी २१ और अथर्ववेदकी ९ शाखायें हैं । स्कन्दपुराणमें लिखा है कि:—

अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात् ।
उत्सन्नान्भगवान्वेदानुज्जहार हरिः स्वयम् ॥
ऋचः स ऋचमुद्धृत्य ऋग्वेदं कृतवान्प्रभुः ।
यजूंषि निगदाच्चैव तथा सामानि सामतः ॥
चतुर्धा व्यभजत्तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः ।
शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा ॥
कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थवित्तये ।
चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमञ्जसा ॥

स्कन्दपुराणकेअनुसार एक ही वेद पहले भगवान् वेदव्यासकेद्वारा ४ भागोंमें विभक्त हुए । तदनन्तर उन्हींके ११३७ भाग हुए, जिनको शाखा कहते हैं । यथा-ऋग्वेद की २४ शाखायें, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की १२ शाखायें हैं । इत्यादि । मुक्तिकोपनिषद्में वेदोंकी ११८० शाखाओंका प्रमाण मिलता है । यथा:—

ऋग्वेदस्य शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ! ॥
सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप ! ।
अथर्वस्य तु शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे ! ॥

ऋग्वेदकी २१ शाखायें, यजुर्वेद की १०९, सामवेदकी १०००, और अथर्ववेद-की ५० शाखायें हैं । परन्तु महान् शोकका विषय है कि, वर्त्तमान कालप्रभावके-कारण वेदोंकी इतनी शाखायें रहनेपर भी आजकल केवल सात आठ शाखायें दृष्टि-गोचर हो रही हैं । वेदका आविर्भाव तिरोभाव जीवोंके कर्मानुसार हुआ करता है । यह हमारे पापका और संशयात्मिका बुद्धिका ही फल है कि, अन्य युगोंमें इतनी शाखाओंके रहनेपर भी इस युगमें अल्पमात्र शाखायें रह गयी हैं । वेदके अर्थ ठीक

ठीक समझमें आने लगजायँ, वेदका रहस्य मालूम होजाय और वेदविद्या और वैदिकधर्मका पूर्णतया प्रचार हो, तो पुनः प्राचीनकालकीतरह महर्षि प्रकट होकर वेदका आविर्भाव करेंगे, इसमें सन्देह नहीं। वर्त्तमान सृष्टिके इस कल्पकी जितनी शाखाओंमें अपौरुषेय वेदका विस्तार हुआ था, उन प्रत्येक शाखाओंके स्वतन्त्र स्वतन्त्र मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग, आरण्यकभाग व उपनिषद्भाग हैं। वेदाङ्गोंमें सूत्रों और प्रातिशाख्योंके भेदसमूहपर ही विचार करनेसे परिज्ञात होगा कि, इस कल्पमें भी वेदोंका कितना महान् विस्तार था।

सर्वजीवहितकारी वेदोंमें ज्ञानसम्बन्धीय अनन्त विषय तो हैं ही, विज्ञानसम्बन्धीय गूढ़ रहस्य भी हैं। अपि च वेदोंकी भाषा बहुत सारगर्भ, संक्षिप्त, गम्भीर और वैज्ञानिकभावयुक्त होनेकेकारण साधारण बुद्धिगम्य नहीं है। इसीकारण अल्पदर्शी विद्वान् लोगोंके बहुधा वेदार्थ समझनेमें विचलित होनेकेकारण उनमें मतभेद और अनेक सन्देह व प्रमादकी वृत्तियोंका उदय हुआ करता है, परन्तु यथार्थमें शब्दब्रह्मरूपी वेद, मूर्त्तिमान् ब्रह्मरूपही हैं। जिसप्रकार एक अद्वितीय ब्रह्म त्रिगुणभेदानुसार ब्रह्मा विष्णु व शिवरूप त्रिदेवमूर्त्ति धारण कर, सृष्टिकी उत्पत्ति स्थिति और लय कार्य किया करते हैं; उसीप्रकार अपौरुषेय वेद भी उपासना कर्म और ज्ञानके प्रकाशार्थ संहिता ब्राह्मण और उपनिषद्रूपी त्रिमूर्त्तिको धारणकर सकल संसारके कल्याणमें प्रवृत्त हैं। वेद तीन भागोंमें विभक्त हैं। यथा–मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग और आरण्यक। आरण्यक ही उपनिषद्का मूल है। आराण्यकमें ब्रह्मतत्त्वके जो मूलसूत्र हैं, उन्हींका विस्तार उपनिषद्में किया गया है। उपनिषद् निवृत्तिसेवी वानप्रस्थ और सन्यासियोंकेलिये संगृहीत हुए हैं। जिसकेद्वारा ब्रह्मका सामीप्य लाभ हो, उसे उपनिषद् कहते हैं। उनका मूलभूत अरण्यकभाग, इसलिये आरण्यक कहलाता है कि, प्राचीनकालमें तपोवन अनेक थे, वानप्रस्थाश्रमी वहीं वास करते थे और संन्यासीलोग भी वहीं विचरण किया करते थे, अतः अरण्यमें ही प्रकाशित होनेसे आरण्यक नाम पड़ा है। परमपवित्र उपनिषद्समूह मुक्तिपद प्राप्तिके प्रधान अवलम्बन हैं। ब्राह्मणभाग और संहिताभाग प्रधानतः कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्डकेलिये अवलम्बनीय हैं। यद्यपि सब वेद एकही हैं, तथापि कर्माधिकार भेदसे उक्त प्रकारसे सङ्कलित किये गये हैं, और ऋक्, यजुः, साम और अथर्व श्रेणीकेअनुसार जो शाखाओंकी संख्या पहले कह आये हैं, उसमें प्रत्येक शाखाके अलग अलग मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग व आरण्यकभाग थे। परन्तु इस कल्पमें जितना वेद प्रकट हुआ था, उसका सहस्रांश भी नहीं मिलता। अनेक विप्लव, जातीय दुर्भाग्य और दुर्घटनाओंकेकारण वेदके प्रधान प्रधान अंश लुप्त हो गये हैं, तथापि अब जितना अंश मिलता है, वह भी आर्यजातिकेलिये इस आपत्कालमें विशेष कल्याणप्रद है।

अब चारों वेदोंके विषय, जितना सम्भव है, कुछ कुछ वर्णन किये जाते हैं। ऋग्वेदसंहिता दस मण्डलोंमें विभक्त है। उन मण्डलोंमें ८५ अनुवाक हैं। अनुवाकसमूहमें १०२८ सूक्त देखनेमें आते हैं। आज कलके प्रचलित ग्रन्थोंमें जिसप्रकार खण्ड परिच्छेद व भिन्न भिन्न विषय कहे जाते हैं, मण्डल अनुवाक व सूक्त-

आदि उन्हींके अनुरूप हैं। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें २४, द्वितीयमें ४ तृतीयमें, ५, चतुर्थमें ५, पञ्चम षष्ठ व सप्तम प्रत्येकमें ६, अष्टममें १०, नवममें ७, और दशम मण्डलमें १२ अनुवाक हैं। प्रत्येक मण्डलमें सूक्त संख्या, यथा:—प्रथम मण्डलमें १९१, द्वितीयमें ३, तृतीयमें ६२, चतुर्थमें ५८, पञ्चममें ८७, षष्ठमें ७५, सप्तममें १०४, अष्टममें १०३, नवममें ११४, और दशम मण्डलमें १९१ सूक्त हैं। सूक्तोंके बहुत भेद हैं। यथा-महासूक्त, मध्यमसूक्त, क्षुद्रसूक्त ऋषिसूक्त, छन्दसूक्त और देवता-सूक्त। मण्डल अनुवाक व सूक्तआदिके साथ ही शास्त्रमें ऋग्वेदकी मन्त्रसंख्या, प्रत्येक मन्त्रकी पदसंख्या और शब्दांशका परिमाण भी निर्दिष्ट है। परन्तु दुःखका विषय है कि, इसप्रकार पद संख्या व शब्द-समष्टियुक्त ऋग्वेद अब नहीं मिलते हैं। ऋग्वेदकी कविता संख्याको लेकर ही आजकल बहुत मतमतान्तर हो गये हैं। बहुत लोगोंकी गणनामें वे १०४०२ से १०६२८ तक हैं। उनकी शब्दसंख्या १५३८२६ और शब्दांशकी संख्या ४३२००० है। परन्तु इसमें मतभेद भी है। विष्णुपुराणके तीसरे व चौथे अध्यायोंमें वर्णित है कि, भगवान् वेदव्यासने वेद-विभाग करके पैलको ऋग्वेदसंहिता, वैशम्पायनको यजुर्वेदसंहिता, जैमिनिको सामवेदसंहिता और सुमन्तुको अथर्ववेदसंहिताकी शिक्षा दी थी। पुनः पैलऋषिने ऋक्संहिताको दो भागोंमें विभक्त करके इन्द्रप्रमिति और वास्कलनामक अपने शिष्यद्वयको प्रदान किया था। बौध्य, अग्निमातुर, जातुकर्ण और पराशर, वास्कल ऋषिके ये चार शिष्य थे। उन्होंने अपनी अधीत वेदसंहिताको चार भागोंमें विभक्त करके चार शिष्योंको सिखाया था। इन्द्रप्रमितिने जिस संहिताका अध्ययन किया था, उसे उसने अपने पुत्र माण्डुकेयको पढ़ाया। माण्डुकेयकेद्वारा उनके पुत्र शाकल्य एवं शिष्य वेदमित्र और सौभरिआदिके भीतर इसका प्रचार हुआ था। पुनः शाकल्यने भी पांच संहिता संकलित करके मुद्गल, गालव, वात्स्य, शालीय व शैशिरनामक अपने पांच शिष्योंको उपदेश किया था। इसतरहसे ऋग्वेद बहुतप्रकारसे बहुत शाखाओंमें विभक्त हो गया। शाखाओंकेअनुसार मण्डल व अनुवाकआदिके भी बहुत नाम हैं। शौनक मुनिने अपने रचित "चरणव्यूह" ग्रन्थमें लिखाहै कि, "ऋग्वेदसंहिताके आठ भाग या स्थान हैं। उनके नाम ये हैं:—श्रावक, चर्चक, श्रवणीयपार, क्रमरथ, क्रमजटा, क्रमशट और क्रमदण्ड। ये सब भेद चार पारायणोंमें विभक्त हैं। ऋग्वेदकी पांच शाखायें हैं। उनके नाम ये हैं:—आश्वलायन, साङ्ख्यायन, शाकल, वास्कल व माण्डुक। उसमें अध्याय ६४ हैं, मण्डल १०, वर्गसंख्या २००६, सूक्त १०१७, पदक्रम-वाशिष्ठके १५२५१४ और दूसरेके ५८, ऋक्के १०५८० पद पारायण नामसे अभिहित हैं। प्रथम अष्टकमें एक वर्ग और एक ऋक्, द्वितीय अष्टकमें दो वर्ग और दो ऋक्, तृतीयमें १०० ऋक्, चतुर्थमें १७५ ऋक्, पञ्चममें १२३५ ऋक्, षष्ठमें ३०० ऋक्, सप्तममें २० ऋक् और अष्टममें ५५ ऋक् हैं।" चरणव्यूहकी सम्मतिमें वेदके बहुत अध्याय अब नहीं मिलते हैं। लुप्त हो गये हैं। महाभाष्यकेअनुसार ऋग्वेदकी २१ शाखायें हैं। परन्तु २१ शाखाओंकी तो बात ही क्या, अब ५ शाखायें भी नहीं मिलती हैं। आजकल केवल शाकलशाखा ही प्रचलित है, ऐसा बहुत लोगोंका

विश्वास है। वास्कल शाखाकी कवितासंख्या १०६२२ और शाकल शाखाकी कविता संख्या १५३८१ है, परन्तु इस गणनामें भी मतभेद है। भारतवासियोंके दुर्भाग्यवशात् वेदका बहुधा लुप्त होना ही इसप्रकार मतभेदका प्रधान कारण है। ऋग्वेदके ब्राह्मण दो हैं। यथा—ऐतरेय और कौषीतकि या सांख्यायन। ऐतरेय ब्राह्मण ८ पञ्जिकासे विभक्त है। प्रत्येक पञ्जिका पांच अध्यायोंमें और प्रत्येक अध्याय बहुतसे काण्डोंमें विभक्त है। ऋग्वेदके आरण्यकका नाम ऐत्तरेय आरण्यक है। इसमें पांच आरण्यक और अट्ठारह अध्याय हैं।

यजुर्वेद प्रधानतः दो भागोंमें विभक्त है। यथा—शुक्ल और कृष्ण। कृष्ण यजुर्वेदसंहिताका अन्य नाम तैत्तरीयसंहिता है। चरणव्यूहके मतानुसार कृष्ण यजुर्वेदकी ८६ शाखायें हैं। यजुःकी शाखायें महाभाष्यके मतानुसार १०१ हैं और मुक्तिकोपनिषद्के मतानुसार १०९ हैं। परन्तु आजकल यजुर्वेदकी केवल १२ शाखाओं और १४ उपशाखाओंके नाम मिलते हैं। शाखाओंके नाम चरक, आहरक, कठ, प्राच्यकठ, कपिष्ठलकठ, औपमन्य, आष्ठलकठ, चारायणीय, वारायणीय, वार्त्तान्तवेय, श्वेताश्वतर और मैत्रायणीय हैं। तैत्तरीय शाखाकी दो उपशाखायें हैं, औक्ष्य और खाण्डिकेय। खाण्डिकेय उपशाखाकी पाँच प्रशाखायें हैं। आपस्तम्बी, बौधायनी, सत्याषाढी, हिरण्यकेशी और औथेय। मैत्रायणीय शाखाकी ७ उपशाखायें हैं। मानव, दुन्दुभ, चैकेय, वाराह, द्रवेय, श्याम और श्यामायनीय। इन सब उपशाखा व प्रशाखाओंकी संख्या चौदह हैं। मन्त्र ब्राह्मणात्मक कृष्ण यजुर्वेदमें अट्ठारह हजार मंत्र हैं। इसके मन्त्रभाग तैत्तरीयसंहितामें ७ अष्टक हैं। प्रत्येक अष्टक ७, ८ अध्यायोंमें विभक्त है। अध्यायोंको प्रश्न और अष्टकोंको प्रपाठक भी कहते हैं। प्रत्येक अध्यायमें बहुतसे अनुवाक हैं। इस ग्रन्थमें कुल ७०० अनुवाक हैं। प्रजापति सोमआदि देवता इसके ऋषि हैं। इसमें अश्वमेध, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, राजसूय, अतिरात्रआदि यज्ञोंका वर्णन है। कृष्ण यजुर्वेदके ब्राह्मणका नाम तैत्तरीय ब्राह्मण और आरण्यकका नाम तैत्तरीय आरण्यक है। ज्ञानकाण्डमें तैत्तरीय उपनिषद्केसिवाय शाखाओंकेअनुसार मैत्रायणीय शाखाके मैत्रायणीय उपनिषद्, कठ शाखाके कठोपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद् और नारायणोपनिषद्आदि मिलते हैं।

शुक्ल यजुर्वेदका दूसरा नाम वाजसनेयसंहिता है। इसके ऋषि याज्ञवल्क्य हैं। इसमें १९०० और इसके ब्राह्मणमें ७६०० मन्त्र हैं। शुक्ल यजुर्वेदकी १७ शाखायें हैं। यथा—जाबाल, औधेय, कण्व, माध्यन्दिन, ज्ञापीय, तापायनीय, कापाल, पौण्ड्रवत्स, आवटिक, पामावटिक, पाराशरीय, वैधेय, वैनेय, ओघेय, गालव, वैजव, कात्यायनीय। वाजसनेयी संहिता ४० अध्यायों २९० अनुवाकों और अनेक काण्डोंमें विभक्त है। दर्शपौर्णमास, अग्निष्टोम, वाजपेय, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, षोडशी, अश्वमेध, पुरुमेधआदि यज्ञोंके वर्णन इसमें मिलते हैं। इसमें वैदिक युगकी सामाजिक रीति नीतियोंका भी वर्णन है। प्रसिद्ध "शतपथब्राह्मण" इसकी माध्यन्दिन

शाखाके अन्तर्गत है। इसके दो भागोंमें १४ काण्ड हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् इन काण्डोंके अन्तर्गत है।

सामवेदकी सहस्र शाखायें थीं। उनमेंसे आसुरायणीय, वासुरायणीय, वार्त्तान्तवेय, प्राञ्जल, ऋग्वर्णभेदा, प्राचीनयोग्य, ज्ञानयोग्य, राणायनीय इतने नाम मिलते हैं। उनमेंसे राणायनीयके नौ भेद हैं। यथा—शाठ्यायनीय, सात्वल, मौद्गल, खल्वल, महाखल्वल, लाङ्गल, कौथुम, गौतम, और जैमिनीय। आज कल सामवेदकी केवल कौथुम शाखा मिलती है। सामवेदके दो भाग हैं। पूर्व और उत्तर। पूर्वसंहिताके छः प्रपाठक हैं। इसका दूसरा नाम छन्दआर्चिक है। सामवेदीय उद्गातागण इसीको गाते थे। इसको सप्तसाम भी कहते हैं। सामवेदके उत्तरभागका नाम उत्तरार्चिक या आरण्यगण है। सामवेदके ब्राह्मणभागमें आर्षेय, देवताध्याय, अद्भुत, ताण्ड्यमहाब्राह्मण, सामविधानआदि आठ ब्राह्मण हैं। इसमें दो उपनिषद् प्रधान हैं। छान्दोग्य और केनोपनिषद्।

चरणव्यूहमें अथर्ववेदकी मन्त्रसंख्याके विषयमें लिखा है कि :—

द्वादशानां सहस्राणि मन्त्राणां त्रिशतानि च।

अथर्ववेदमें १२३०० मन्त्र हैं। परन्तु आज कल इससे बहुत थोड़े मन्त्र मिलते हैं। इसकी नौ शाखा, यथा—पैप्पल, दान्त, प्रदान्त, स्नात, सौल्न, ब्रह्मदावल, शौनक, देवीदर्शती और चरणविद्या। पहले इसकी बहुत शाखायें थीं, परन्तु आज-कल केवल शौनक शाखा है। शौनक शाखा विंशति काण्डोंमें विभक्त है। अथर्ववेद-में शत्रुपीडन, आत्मरक्षा, विपद्दूरीकरणआदि कार्योंकेलिये बहुत मन्त्र हैं। वर्त्तमान तन्त्रशास्त्रकी उत्पत्ति अथर्ववेदसे ही मालूम होती है। अथर्ववेदके ब्राह्मणका नाम गोपथ ब्राह्मण है। इसके ज्ञानकाण्डमें बहुत उपनिषद् थे। अब भी जाबाल, कैवल्य, आनन्दवल्ली, आरुणीय, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, अमृतबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, नादबिन्दु, प्रश्न, मुण्डक, अथर्वशिरस, गर्भ, माण्डुक्य, नीलरुद्रआदि बहुतसे मिलते हैं।

अथर्ववेदके सङ्कलयिताओंके विषयमें तीन मत हैं। किसी किसीकी सम्मतिमें अथर्व और अङ्गिरा ऋषिके वंशधर लोग, और किसी किसीकी सम्मतिमें भृगुवंशियोंने इसका सङ्कलन किया था। कोई ऐसा भी कहते हैं कि, अथर्व ऋषिने यज्ञक्रियाकी प्रवर्त्तनाके समय अथर्ववेदका सङ्कलन किया था। ऋक्, साम, यजुः और अथर्व, इन चारोंमें ही बहुतसे समान सूक्त मिलते हैं। इससे मालूम होता है कि, एकसे ही क्रमशः वेदचतुष्टयका विभाग किया गया था। जैसा कि सूतसंहितामें लिखा है:

स पुनर्देवदेवस्य प्रसादादम्बिकापतेः।
सङ्क्षिप्य सकलान् वेदांश्चतुर्धा कृतवान्द्विजः॥
ऋग्वेदः प्रथमः प्रोक्तो यजुर्वेदस्ततः परः।
तृतीयः सामवेदाख्यश्चतुर्थोऽथर्व उच्यते।

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदो भेदितोऽमुना।
यजुर्वेदो द्विजा एकशतभेदेन भेदितः॥
नवधा भेदितोऽथर्ववेदः साम सहस्रधा।
व्यस्तवेदतया व्यास इति लोके श्रुतो मुनिः॥

महर्षि वेदव्यासजीने देवदेव अम्बिकापतिकी कृपासे निखिल वेदको चार भागोंमें विभक्त किया, जिसमें ऋग्वेद प्रथम, यजुः द्वितीय, साम तृतीय और चतुर्थ-अथर्ववेद है। अतःपर उन्होंने ऋग्वेदको २१ भागोंमें, यजुर्वेदको १०१ भागोंमें, अथर्वको ९ भागोंमें और सामवेदको १००० भागोंमें विभक्त किया था। ये ही ११३१ भाग वेदकी शाखायें हैं। वेदविभाग करनेसे ही उनका नाम वेदव्यास है। इसप्रकार चार भेद वेदोंके करनेका प्रयोजन भी है, क्योंकि यज्ञार्थ अभिप्रवृत्त वेदोंमेंसे ऋग्वेदकेद्वारा यज्ञीय होतृप्रयोग, यजुर्वेदकेद्वारा यज्ञीय अध्वर्युप्रयोग, सामवेदकेद्वारा उद्गातृप्रयोग (जिसमें ब्रह्मयजमानप्रयोग भी अन्तर्भूत होता है) और अथर्ववेदमें शान्तिक, पौष्टिक, आभिचारिकआदि यज्ञ, कर्म, देवता व उपासनाके रहस्य और ज्ञानके प्रतिपादक मन्त्रोंके होनेसे एक वेदके चतुर्धा विभाग सर्वथा युक्तियुक्त हैं। इसकेसिवाय शाखाओंके भेदमें भी मतभेद पाया जाता है, जैसा कि पातञ्जल महाभाष्य और सूतसंहिताकेअनुसार वेदकी ११३१ शाखायें मुक्तिकोपनिषद्केअनुसार ११८० शाखायें, और स्कन्दपुराणकेअनुसार ११३७ शाखायें हैं। इसप्रकार मतभेदका तात्त्विक कारण कुछ नहीं है, केवल किसी महर्षिने किसी शाखाको अन्य शाखामें अन्तर्भूत करके संख्या घटा दी है और किसीने ऐसा अन्तर्भाव न करके संख्याको बराबर रक्खा है। अतः वेदकी शाखाओं-की संख्यामें इसप्रकार मतभेद होनेपर भी महर्षियोंके वाक्योंमें कोई विरोध नहीं है, ऐसा समझना चाहिये।

यह बात पहलेही कही गयी है कि, भगवती श्रुतिके भवरोग-वैद्य होनेसे जीवकी त्रिविध शुद्धि सम्पादन करके, मुक्तिप्रदान करनेकेलिये वेद कर्म, उपासना व ज्ञानरूप त्रिविध काण्डोंमें विभक्त हैं। तदनुसार मन्त्र ब्राह्मण और आरण्यक वा उपनिषद्, वेदके तीन भाग हैं। यह भी पहले कहा गया है कि, वेदके प्रत्येक भागमें कर्म, उपासना और ज्ञान इन्हीं तीनोंके विषय रहनेपर भी प्रधानतया संहिता भागमें उपासना काण्डका, ब्राह्मणभागमें कर्मकाण्डका और आरण्यक या उपनिषद्भागमें ज्ञानकाण्डका उपदेश है। इनमेंसे आरण्यक वा उपनिषद्का लक्षण पहले कहा गया है। आरण्यक वा उपनिषदोंके संहिता और ब्राह्मणके ही अन्तर्भूत होनेसे प्रायः वेदको तीन भागोंमें वर्णन न करके मन्त्र और ब्राह्मण इन दो भागोंमें ही वर्णन किया जाता है। जैसा कि महर्षि आपस्तम्बने लिखा है :—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

मन्त्र और ब्राह्मणको वेद कहते हैं। महर्षि जैमिनीने मन्त्र और ब्राह्मण दोनों-को ही वेद माना है। यथा पूर्वमीमांसादर्शनके द्वितीयाध्यायमें :—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या:, शेषे ब्राह्मणशब्दः ।

चोदना या प्रेरणालक्षण श्रुति ही मन्त्र है। मन्त्रावशिष्ट वेदभाग ब्राह्मण हैं। अभिधानके प्रेरकके विषयमें जहाँ उपदेश किया जाता है, वहाँ "मन्त्रानधीमहे" मन्त्रोंको पढ़ते हैं "मन्त्रानध्यापयामः" मन्त्रोंको पढ़ाते हैं, इत्यादि चोदनालक्षण श्रुति मन्त्र है। इसके निष्कर्षरूपेण कहा गया है कि :—

याज्ञिकानां समाख्यातं लक्षणं दोषवर्जितम् ।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते ॥

जिन जिन श्रुतियोंमें याज्ञिक समाख्यातत्व, अनुष्ठानस्मारकत्व, स्तुतिरूपत्व, आमन्त्रणोपेतत्वआदि भाव विद्यमान हैं, उन्हें मन्त्र समझना चाहिये। एतदतिरिक्त श्रुति, ब्राह्मण है। साधारणतः कह सकते हैं कि, जो सब श्रुतियाँ यज्ञीय अनुष्ठानके वर्णनकेसाथ किसी न किसी देवतापर लक्षित की गयी हैं, वे सब मन्त्र हैं और जिन श्रुतियोंमें कौन मन्त्र किस कार्यमें प्रयुक्त होना चाहिये, इसका उल्लेख करके मन्त्रोंकी विशेष व्याख्या की गयी है, उनको ब्राह्मणभाग कहते हैं। ब्राह्मणभाग भी विधिरूप, अर्थवादरूप और तदुभय विलक्षण भेदसे तीनप्रकारका है। इनमें प्रभाकरने विधिका लक्षण, शब्दभावना व लिङ्गादिप्रयोग अर्थात् जहाँ शब्दोंकी भावना और लिङ्गादिका प्रयोग हो, ऐसा कहा है। "इष्टसाधनता विधिः" अर्थात् इष्टसाधनताको विधि तार्किकादि बतलाते हैं। सभी विधि उत्पत्ति, अधिकार, विनियोग और प्रयोग भेदसे चारप्रकारकी होती है। स्तुतिनिन्दाशून्य और विधिके अवशिष्ट वाक्य-समूह अर्थवादरूप हैं। यह अर्थवाद गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद भेदसे तीनप्रकारका है। विध्यर्थवादसे विलक्षण वेदान्तवाक्य हैं। वे अज्ञातज्ञापक होनेपर भी अनुष्ठानके अप्रतिपादक होनेसे विधि नहीं कहला सकते। सब विधियोंकी अन्तःकरण-विशुद्धिकेद्वारा उसीमें समाप्ति होनेसे "अन्यशेषत्वाभावात्" अर्थात् अर्थवाद भी नहीं है। अतः उभय विलक्षण हैं।

अर्वाचीन मनुष्योंने वेदके ब्राह्मणभागको "परतः प्रमाण है, अतः स्वतः प्रमाण संहिताभागसे भिन्न और न्यून है" ऐसा कहकर वैदिक जगत्में बहुत ही कोलाहल मचा दिया है। वेद क्या वस्तु है ? वेदका वेदत्व क्या है ? वेदकी पूर्णता, पूर्ण भगवान्का निःश्वास या वाक्यरूपता, और अपौरुषेयता तथा अखिलजीव-कल्याणकारिता किन किन भावोंपर निर्भर है ? ये सब बातें निष्पक्ष और उदाररूपसे विचार करते तो, उनको ऐसा भ्रम नहीं होता। प्रथम तो यह बात विचारणीय है कि, जो ११३१ अथवा ११८० शाखाओंसे ४ शाखायें छाँटकर उन्हीं चारोंको संहिता अर्थात् स्वतः प्रमाण वेद कहकर बाकीको परतः प्रमाण शाखारूपसे वर्णन कहीं कहीं अर्वाचीन मतावलम्बियोंके ग्रन्थोंमें देखनेमें आता है, वह सर्वथा भ्रान्तियुक्त है। वेद अलग और शाखा अलग, यह बात नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि शाखा परतः प्रमाण हो, तो चुने हुए ४ भी तो शाखा ही हैं, चारों स्वतः प्रमाण कैसे बन गये ? सभीको स्वतःप्रमाण या सभीको परतःप्रमाण कहना चाहिये। एकको स्वतः-

प्रमाण और एकको परतःप्रमाण कहना सर्वथा असत्य है वास्तवमें ११८० शाखाओं-की सब संहितायें ब्राह्मण और उपनिषद् , सभी वेद हैं, इसमें सन्देह नहीं। अनन्त वेद कल्पकी प्रथम दशामें एक मूर्तिमें विराजमान थे। उसीको श्रीभगवान् वेदव्यास-ने ४ भागोंमें विभक्त किया था। मन्त्रब्राह्मणात्मक चतुर्धा विभक्त, यही वेद पुनः अनेक शाखाओंमें विभक्त हो गये, जिसका प्रमाण पहलेही दिया गया है। यही बात शास्त्रानुमोदित है, अन्य कुछ भी शास्त्रानुमोदित नहीं है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष सिद्ध ही है कि, आजकल जो ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता और अथर्व-वेदसंहिता प्रचलित हैं, वे सब ११३१ या ११८० वेद शाखाओंकी कोई न कोई शाखाही हैं। यथा—सामवेदसंहिता कौथुमी शाखा, अथर्ववेदसंहिता शौनक शाखा, यजुर्वेदसंहिता तैत्तरीय शाखा, माध्यन्दिनी शाखाआदि सब पहलेही कह चुके हैं। अतः मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद ११३१ या ११८० शाखामय हैं। जिनमेंसे किन्हीं-किन्हीं शाखाओंकी संहितायें मिलती हैं और बहुतसी लुप्त होगयी हैं, सभी शाखायें अपौरुषेय, भगवद्वाक्य और स्वतः प्रमाण हैं। वेद अनन्त हैं। वेदवारिधिकी गम्भीरता-का निर्णय कौन कर सकता है, तथापि जहाँ तक विचारकी गति है, उससे यह सिद्धान्त निकाल सकते हैं कि, जब वेद मन्त्रब्राह्मणात्मक हैं, तब हरेक शाखाके मन्त्रकेसाथ हरेक शाखाके ब्राह्मण भी अवश्य होंगे। संहिताभागके मन्त्र, क्रिया-प्रणालीमें कैसे व्यवहृत होने चाहिये, ब्राह्मणभागमें, जब इसीका वर्णन है, तब हरेक मन्त्रके साथ उसकी क्रिया-विधिरूपसे ब्राह्मणका होना स्वतः सिद्ध है। कर्म, उपासना तथा ज्ञान, जब वैदिक शिक्षाकी मूलभित्तियाँ हैं, जिनके न रहने से वेदका वेदत्व, पूर्णत्व और मुक्तिप्रदातृत्व शक्तिका अभाव होता है, तो यह बात अवश्य सोचने योग्य है कि, जिस विषयकी आधिभौतिक, और आधिदैविक सार्थकता रहेगी, उसकी आध्यात्मिक सार्थकता कभी खण्डित नहीं हो सकती। इसलिये जिस मन्त्रमें कर्मकी शक्ति और उपासनाका भाव मौजूद है, उसमें ज्ञानशक्ति भी अवश्य रहेगी। यही कारण है कि, प्रत्येक शाखाके मन्त्र और ब्राह्मणके साथही साथ तदन्तर्गत आरण्यक वा उपनिषद् भी अवश्य होंगे। जैसा कि मुक्तिकोपनिषद्में लिखा है कि:—

एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता।

प्रत्येक शाखाकी एक एक उपनिषद् है। भारतके दुर्भाग्यकेकारण इस कल्पमें प्रकाशित वेदोंमेंसे बहुत अंश विलुप्त होगये और वेदके यथार्थ रहस्यको न जानकर, उसको वृथा अङ्गहीन करनेके पापने इस दुर्भाग्यको और भी बढ़ा दिया है। अतः इन सब विषयोंपर प्रणिधान करके हरेक आर्यसन्तानको भविष्यत्केलिये सावधान रहना चाहिये।

ब्राह्मणभागने क्या अपराध किया है कि, उसको भगवान्का वाक्य न कह कर परतः प्रमाण कहा जाय ? अगर ब्राह्मण, मन्त्रविषयिणी क्रियाविधि ही है, अथवा व्याख्यान या विवृत्तिरूपी है, तो इससे ब्राह्मण भागके वेद होनेमें सन्देह क्या हो सकता है ? मन्त्र यदि भगवान्के मुखसे निकल सकें अथवा निःश्वासरूपसे प्रवाहित

हो सकें, तो उसकी क्रियाविधिके ऐसे ही निकलने या प्रवाहित होनेमें क्या असम्भावना है ? इसप्रकार वृथा सन्देहोंको उठाकर, वेदको अङ्गहीन कर देना केवल पक्षपातसे भरी हुई कपोलकल्पनामात्र है। एतादृश अकिञ्चित्कर युक्तिमें तात्त्विकता कुछ नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणभाग वेद है या नहीं, इस विषयके निश्चय करनेकेलिये दो चार कल्पनायें कर देनी, अथवा अपनी तरफसे अर्थ बिगाड़ कर दो चार प्रमाण भर देने ही यथेष्ट नहीं होते। इसमें वेदका वेदत्व क्या है ? किंलक्षण वेद है ? किन किन विषयोंके रहनेसे वेद तत्पदवाच्य हो सकता है ? अथवा न रहनेसे अपूर्णताकी सम्भावना हो सकती है ? ब्राह्मण भागको वेदत्वसे च्युत करनेके पहले इन सब विषयोंपर विचार करना पड़ेगा। पहले ही कहा जा चुका है कि, वेदके वेदत्वके विषयमें स्मृति आज्ञा करती है कि, प्रत्यक्ष व अनुमानकेद्वारा जिस वस्तुकी प्राप्ति नहीं होसकती है, वेद उस वस्तुको प्राप्त कराता है, यही वेदका वेदत्व है। अब निष्पक्ष विचार करनेपर सभीको विदित होगा कि, लौकिक प्रत्यक्ष व अनुमानसे अतीत, जो आध्यात्मिक ब्रह्मपदकी प्राप्ति, उसमें ब्राह्मणभागकी ही सहायता अधिक ली जाती है, क्योंकि उपनिषद् ब्राह्मणभागके ही अन्तर्गत हैं, जिनमें ब्रह्मतत्त्वका पूर्णतया निरूपण किया गया है। अतः इस विषयमें सन्देह करना निरर्थक है। कर्म, उपासना और ज्ञान, तीनोंकी पूर्णता रहनेसे वेदकी पूर्णता और अपौरुषेयता है, क्योंकि पूर्ण भगवान्का वाक्य वेद तभी हो सकता है जब कि, इसमें जीवको ब्रह्मभावमें लानेकी पूर्ण शक्ति हो। ब्रह्मभावप्राप्ति तभी हो सकती है जब कि, सत्भाव, चिद्भाव और आनन्दभावकी पूर्णतया उपलब्धि हो। कर्मकेद्वारा सद्भाव, उपासनाकेद्वारा आनन्द और ज्ञानद्वारा चिद्भावकी उपलब्धि होती है। अतः वेदके तीनकाण्ड हैं। यथा-मन्त्रभाग उपासनाकाण्ड, ब्राह्मणभाग कर्मकाण्ड और आरण्यकभाग ज्ञानकाण्ड। इसलिये ब्राह्मणभाग और तदन्तर्गत आरण्यक व उपनिषद्भागके न रहनेसे वेदकी अपौरुषेयता तथा पूर्णता सर्वथा खण्डित होती है। भाग पदके कहनेसे ही यह बात सिद्ध होती है कि, केवल मन्त्र ही वेद नहीं हैं। क्योंकि भाग शब्द भागान्तरकी सूचना करता है। केवल मन्त्र ही वेद होता, तो मन्त्रभाग नहीं कहा जाता, केवल मन्त्र कहा जाता। परन्तु जब ऐसा कहा जाता है, तो इससे निश्चय होता है कि, मन्त्रभागके सिवाय वेदका और भी भाग है, जो ब्राह्मण और तदन्तर्गत आरण्यक है और इन सबके मिलनेसे ही समस्त भागसे पूर्ण वेदमूर्ति नयनगोचर होगी, जो साधकोंके कल्याण करनेमें सर्वथा समर्थ होगी। अधिकन्तु यह भी पहले कहा जा चुका है कि, मन्त्र, ब्राह्मण और आरण्यकमें प्रधानतः उपासना कर्म और ज्ञानका वर्णन होनेपर भी साधारणतः प्रत्येक भागमें ही तीनोंका वर्णन है, क्योंकि पूर्ण वस्तुके प्रत्येक अङ्गमें भी पूर्णताका आभास रहा करता है। इसप्रकारसे विचार करनेपर भी मालूम होगा कि कर्म, उपासना व ज्ञानकी पूर्णता एकाधारमें ब्राह्मणमें जितनी मिलेगी, संहितामें इतनी नहीं मिलेगी, क्योंकि ज्ञानकी पूर्णता तो ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद्में ही है। अस्पष्ट कर्म व उपासनाके मन्त्रोंको स्पष्टतया ब्राह्मणोंमें खोल दिया गया है। अतः इसमें पूर्णताका और जीवकल्याणकारिताका लक्षण अधिक है। इसलिये एतादृश विस्तार और विवृत्ति

ब्राह्मणभागका भूषण है, दूषण नहीं। अतः इसको परतः प्रमाण कहना भ्रान्तिमात्र है। इसके अतिरिक्त गुण व भावके विषयमें भी पर्यालोचना करनेसे ब्राह्मणभागके अपौरुषेय होनेमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। गुण व भावके विषयमें पहले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है। अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। त्रिगुण और त्रिभावकी जिसप्रकारकी पूर्णता होनेसे वेद भगवद्वाक्य कहा जा सकता है, वे सब लक्षण ब्राह्मणमें वर्त्तमान हैं। ब्राह्मणमें सात्त्विक, राजसिक, तामसिक अधिकारीके कल्याण व उन्नतिके अर्थ तीनप्रकारकी यज्ञविधि बतायी गयी है, ब्राह्मणभागकी प्रत्येक श्रुतिमें तीन तीन भाव भरे हुए हैं, जिनको गवेषणापरायण पण्डित लोग देख सकते हैं। येही सब बातें हैं, जिनपर विचार रखकर कौन भाग स्वतःप्रमाण है और कौन भाग नहीं, इसका विचार होना चाहिये। केवल दो चार प्रमाणभूत श्लोक या सूत्रका अर्थ बिगाड़नेसे तत्त्व निर्णय नहीं होता, किन्तु प्रगल्भतामात्र होती है। शब्दपर शास्त्रार्थ भिन्न वस्तु है एवं ज्ञानराज्यमें तथा भावराज्यमें प्रवेश और वस्तु है। अतः तत्त्वानुसन्धित्सु पुरुष इन सब बातोंपर ध्यान रखकर विचार करनेसे अवश्य जान सकेंगे कि, ब्राह्मण सर्वथा स्वतःप्रमाण है। इन्हीं सब विषयोंकेकारण ही महर्षि जैमिनीने अपने प्रणीत मीमांसादर्शनमें मन्त्र व ब्राह्मण दोनोंको वेद कहते हुए ब्राह्मणभागका ही प्रधान्य निर्देश किया है। यथा प्रथमाध्यायके द्वितीय पादका प्रथम सूत्रः—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य-
मतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते।

इस सूत्रमें उन्होंने क्रियार्थक श्रुति अर्थात् ब्राह्मणको ही वेद कहकर, जो श्रुति क्रियार्थक नहीं है, उसका वृथात्व प्रतिपादन किया है। इसप्रकार पूर्वपक्षमें ब्राह्मणभागकी श्रेष्ठता प्रतिपादन करके पश्चात् उत्तरपक्षमें मन्त्रभागको भी श्रुति कहकर दोनोंको ही सम्हाल लिया है। प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके सप्तम सूत्रमें कहा है कि :—

विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः।

मन्त्रभाग क्रियासम्बद्ध न होनेपर भी विधिके उद्देश्यसे एक ही प्रकारका होनेसे प्रमाणपदवीपर प्रतिष्ठा पानेयोग्य है, क्योंकि मन्त्रभाग स्तुतिमूलक है और स्तुतिकेद्वारा विधिके विषयमें प्ररोचना होती है। स्तुतिमूलक मन्त्रसमूह क्रियाओंकी प्रेरणा करके अनुष्ठाताका उपकार करते हैं, इसलिये मन्त्र भी वेदमें प्रमाण हैं। इसप्रकार महर्षि जैमिनिने ब्राह्मण व मन्त्र दोनोंको ही वेद कहकर ब्राह्मणभागका प्राधान्य निर्देश किया है।

द्वितीयतः केवल शाब्द प्रमाणपर निर्भर करनेसे भी ब्राह्मणभागका परतःप्रमाण होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि बहुत प्रामाणिक ग्रन्थोंमें भी अपौरुषेय वेदान्तर्गत है, अतः इसको स्वतः प्रमाण कहा गया है। पारस्कर गृह्यसूत्रमें वचन है कि :—

विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः ।

इसमें विधिनिषेधात्मक श्रुतिको स्पष्ट शब्दसे वेद कहा गया है । ब्राह्मण भाग विधि या निषेधात्मक है, क्योंकि इसमें ज्योतिष्टोम, गर्भाधानादि विधियोंका वर्णन है और विधेय मन्त्रभाग है । अतः पारस्करकी सम्मतिकेअनुसार दोनों ही वेदके अन्तर्भूत हैं । भगवान् मनुजीने भी ऐसा ही कहा है । मनुसंहिताके द्वितीय अध्यायमें स्पष्ट उल्लेख है कि :—

श्रुतिद्वैधन्तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥
उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥

जहाँपर दो श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत हों, वहाँ दोनोंको ही धर्मजनक समझना चाहिये; ऐसा मनीषिगणने कहा है । इसके दृष्टान्तरूप मनुजी कहते हैं कि, जैसा वेदमें वचन मिलता है कि, सूर्यके उदयकालमें होम करना चाहिये, अनुदयकालमें होम करना चाहिये और सूर्य या नक्षत्ररहितकालमें भी होम करना चाहिये । इसप्रकार परस्पर विरुद्ध श्रुति होनेपर भी अधिकारिभेदसे सभी माननीय है, यही भगवान् मनुके वचनका तात्पर्य है । इसमें मनुजीने उदितकालमें होम, अनुदितकालमें होम इत्यादि आज्ञाओंको वैदिकी श्रुति कहा है, परन्तु यह सब आज्ञा वेदके ब्राह्मणभागकी है । अतः ब्राह्मणभाग भी स्वतःप्रमाण वेदके अन्तर्गत है, ऐसा मनुजीका भी सिद्धान्त प्रमाणित हुआ ।

अर्वाचीन पुरुषोंकी दूसरी युक्ति यह है कि, ब्राह्मणभागमें बहुप्रकार ऋषि मुनि और राजाओंका इतिहास और पुराणादिकी बातें लिखी हैं । इसलिये ब्राह्मण वेद नहीं हो सकता है, क्योंकि इतिहास जिसका हो, उसके जन्मकेबाद ही लिखा जा सकता है, पहले नहीं । उन लोगोंने इससे यह भी सिद्धान्त निकाला है कि, ब्राह्मणभाग ही इतिहास पुराण गाथादि है, इससे अलग इतिहास पुराणादि नहीं है । यह युक्ति सर्वथा अकिञ्चित्कर है । पहले यह बात समझनी चाहिये कि, पुराण वेदसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है । जो इतिहास या गाथायें वेदमें हैं, उन्हींको पुराणोंमें सरल और विस्तार करके भिन्न-भिन्नप्रकारसे वर्णन किया गया है । जैसा कि, शतपथ ब्राह्मणमें जलप्लावनका इतिहास और अवतारोंकी कथा, ऐतरेय ब्राह्मणमें देवासुरसंग्रामका इतिहास और हरिश्चन्द्रकी गाथा । यही सब विषय पुराणोंमें वर्णन किये गये हैं । इनमें जो कहीं कहीं परस्पर विरोध पाये जाते हैं, वे विरोध तात्त्विक नहीं हैं, किन्तु भावकी भिन्नताकेअनुसार हैं । क्योंकि पुराणोंकी रचना भावोंकेअनुसार हुआ करती है, जिसके रहस्यको आगे बतायेंगे । इसलिये ब्राह्मणको ही पुराण मानकर अष्टादश पुराणोंके उड़ा देनेकी बुद्धि भ्रान्तियुक्त है, इसमें सन्देह नहीं । द्वितीयतः

इतिहास और पुराणके सम्बन्धसे ही ब्राह्मणभाग परतःप्रमाण हो जायगा, यह सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि वाजसनेयी ब्राह्मणोपनिषद्‌में लिखा है कि:—

अस्य महतोभूतस्य निश्वसितमेत-
दृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्व्वाङ्गिरस
इतिहासः पुराणम् ।

इस श्रुतिसे यह सिद्धान्त निकलता है कि, ऋक्‌आदि चार वेद, इतिहास, पुराणआदि सभी भगवान्‌के निश्वास हैं। प्रथम तो यह बात सत्य है कि, ऋगादि चार वेद ही मन्त्र-ब्राह्मणात्मक और ११८० शाखात्मक हैं, क्योंकि इसकी अन्यथा-सिद्धिमें कोई प्रमाण नहीं है। द्वितीयतः यदि ऋगादिको केवल संहिता मानकर इतिहास पुराणको ही ब्राह्मण माना जाय, तथापि इतिहास पुराण परतःप्रमाण कैसे हो सकते हैं? क्योंकि ऋग्वेद यजुर्वेदआदिकी नांई इतिहास पुराण भी भगवान्‌के निश्वास ही हैं। इसलिये एक ही निश्वाससे निकले हुए वेद स्वतःप्रमाण और इतिहास पुराण परतःप्रमाण होजाय, इसका कारण क्या ? भगवान्‌के निश्वासमें ऐसा गड़बड़ क्यों हो जायगा ? निश्वास शब्दमें दो भाव रक्खे गये हैं। पहला यह है कि, निश्वासकीतरह प्राकृतिकरूपसे सृष्टिके पहले वेद, इतिहास, पुराण, सभी ऋषियोंके अन्तःकरणमें प्रकट हुए, जिसका रहस्य पहले वर्णन किया गया है, और इसीकारण गाथायें वेदमें भी मिलती हैं। अतः इससे सिद्धान्त हुआ कि, संहिता और ब्राह्मण दो ही स्वतःप्रमाण हैं। निश्वास शब्दका दूसरा भाव यह है कि, जिसप्रकार निश्वास यावद्द्रव्य-भावी होता है, उसीप्रकार नित्य भगवान्‌के निश्वासरूपी वेद इतिहास और पुराण भी नित्य हैं, केवल युगमें पैदा होनेवाले जीवोंके कर्मानुसार प्रकट हुआ करते हैं। इसीलिये स्मृतिकारने कहा है कि:—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्व्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥

सृष्टिके पहले ब्रह्माजीसे आज्ञा-प्राप्त महर्षियोंने सेतिहास वेदोंको प्राप्त किया। इसमें सेतिहास अर्थात् इतिहासके सहित वेदोंको प्राप्त किया। ऐसा कहनेसे मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंकी ही वेद संज्ञा स्मृतिकारको अभिमत है, ऐसा सिद्ध होता है। इसप्रकार सेतिहास वेद अर्थात् मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद सृष्टिके पहले महर्षियोंके समाधि-शुद्ध अन्तःकरणमें प्रकट होते हैं। अतः दोनों ही स्वतःप्रमाण हैं, इसमें सन्देह नहीं। विचार करनेपर मालूम होगा कि, ब्राह्मण भागमें जो इतिहास मिलते हैं, उनसे ब्राह्मणभागके वेदत्वकी हानि नहीं होती है, अधिकन्तु पुष्टि ही होती है क्योंकि वेद जब पूर्ण हैं और सबल अधिकारियोंका कल्याण करना ही, जब वेदका वेदत्व है, तब जहाँ रजोगुणमूलक क्रिया-काण्डका वर्णन होगा, वहाँ क्रिया-काण्डसे सम्बन्ध रखनेवाले इतिहासका रहना भी आवश्यकीय है। ब्राह्मण भागमें वैदिकी क्रियाविधिका उपदेश है। अतः उसमें इतिहासका भी वर्णन होना स्वतःसिद्ध है।

इससे ब्राह्मणभागके स्वतः प्रमाणतामें कोई दोष स्पर्श नहीं करता है। ऋषि मुनि व राजाओंके इतिहास होनेसे ब्राह्मणभाग स्वतःप्रमाण नहीं होसकता, क्योंकि जिनके इतिहास हैं, वे उनके जन्मके बाद लिखे जाते हैं, ऐसी युक्तिका कोई मूल्य नहीं है। वेद जब ज्ञानस्वरूप है, तो वेदका वेदत्व तो यही होना चाहिये कि, भूत भविष्यत् और वर्त्तमान सभी वस्तुएँ उसमें पहलेसे ही वर्णित हों। ऋषि लोगोंकी योगशक्ति और तपःशक्तिमें ही जब ऐसा प्रभाव था कि, भविष्यत्को करामलकवत् देख सकते थे, तो जो भगवान् देश काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न और महर्षियोंके भी गुरु हैं, उनकी वाणीरूपी वेदने दो चार महर्षि, मुनि या राजाओंके इतिहास यदि पहलेसे ही कह दिये, तो इसमें इसप्रकार सन्देह और परतःप्रमाणताकी कल्पना कैसे हो सकती है? महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें कहा है कि :—

स एव पूर्व्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

वे ही सबके गुरु हैं क्योंकि वे कालसे परिच्छिन्न नहीं हैं। अतः इतिहास होनेसे ही ब्राह्मण परतःप्रमाण नहीं हो सकता है। ऐसा कहनेसे मन्त्रभागपर भी परतःप्रमाणापत्ति होजायगी, क्योंकि उसमें भी बहुतप्रकारके इतिहास हैं यथा— ऋग्वेदके चतुर्थ मण्डलके चतुर्थ सूक्तमें सुसज्जित गजस्कन्धारूढ राजाका युद्धगमन लिखा है, और उस मण्डलके तृतीय सूक्तमें ऐरावत हस्ती, उच्चैःश्रवाआदि अश्वका विवरण लिखा है। सप्तम मण्डलके १८ सूक्तमें सुदासका और चतुर्थ मण्डलके १८ और २८ सूक्तमें कुत्स व इन्द्रका शत्रुसंहार लिखा है। कुयव, अयु और कृष्णदस्युका विवरण प्रथम मण्डलके १०४ सूक्त तथा सप्तम मण्डलके ९६ सूक्तमें है। दुर्योणि राजाका विवरण प्रथम मण्डलके १७४ सूक्तमें है। इसी मण्डलके ११६ सूक्तमें वर्णन है कि, राजर्षि तुग्रने अपने पुत्र भुज्युको ससैन्य दिग्विजय करनेके लिये भेजा था। षष्ठ मण्डलके ७५ सूक्तमें घोड़ा और धनुर्बाणप्रभृतिका विशेष वर्णन है। क्या इन सब राजा, गज, मनुष्य, राजर्षि, घोड़ाआदिके इतिहास ऋग्वेदमें देखनेसे यह सिद्धान्त करना होगा कि, उन सब मनुष्योंके जन्मकेबाद ही ऋग्वेदसंहिताकी सृष्टि हुई थी? कदापि नहीं। क्योंकि ऐसा करनेसे मन्त्रभाग भी परतःप्रमाण और अनित्य होजायगा। इन सब मनुष्यों या राजाओंके नामोंका अर्थ बिगाड़कर दूसरा अर्थ कर देना भी केवल पाण्डित्याभिमान मात्र है, सत्य नहीं है। यह सभी वेदकी त्रिकाल-दर्शिताका परिचय है। जिसमें कल्पकल्पान्तरका ज्ञान दर्पणकी तरह झलक रहा है, उसके लिये भूत भविष्यत् वर्त्तमानका विषय पहलेसे ही कहदेना कोई असम्भव बात नहीं है। अतः ब्राह्मणभागके विषयमें ऐसा सन्देह नहीं होना चाहिये।

यह बात पहले ही सिद्ध कर दी गयी है कि, महर्षि जैमिनीने मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंको ही वेद माना है। उन्होंने स्वप्रणीत पूर्व-मीमांसादर्शनमें भी मन्त्र और ब्राह्मणका लक्षण वर्णन करते समय सूत्र कहा है कि:—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या।

शेषे ब्राह्मणशब्दः।

इनमें उन्होंने स्तुतिद्वारा प्ररोचक श्रुतियोंको मन्त्र कहकर, मन्त्रावशिष्ट वेद-भागको ब्राह्मण कहा है। यदि ब्राह्मण वेद न होता, तो जैमिनी महर्षि 'शेषे ब्राह्मण-शब्दः' ऐसा सूत्र नहीं करते, क्योंकि किसी वस्तुका शेष उससे भिन्न पदार्थ नहीं होता है, परन्तु उसीके अन्तर्गत होता है। इसलिये ब्राह्मणभाग जब मन्त्रभागका अवशेष अंश है, तो इसके स्वतः प्रमाण होनेमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। न्याय-दर्शनके प्रणेता गौतम ऋषिने भी वेदके प्रमाणोंपर कटाक्ष करनेके निमित्त सूत्र कहा है किः—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः।

अनृत व्याघातआदि दोष होनेकेकारण वेद अप्रमाण है। न्यायदर्शनके भाष्यकार वात्स्यायन ऋषिने इस सूत्रके भाष्यमें लिखा है किः—

पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेतेति नेष्टौ संस्थितायां पुत्रजन्म दृश्यते! दृष्टार्थस्य वाक्यस्य अनृतत्वाददृष्टार्थमपि वाक्यम् अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग कामः इत्याद्यनृतमिति ज्ञायते।

वेदमें लिखा है कि, जिसको पुत्रकी इच्छा हो, वह पुत्रेष्टिनामक यज्ञ करे, परन्तु उक्त यज्ञ करनेपर भी बहुत मनुष्योंको पुत्र नहीं होता है। अतः सिद्धान्त हुआ कि, जब प्रत्यक्ष फलमें मिथ्यात्व है, तो अदृष्ट फल, जैसा कि, अग्निहोत्र करनेसे स्वर्ग होता है, यह भी मिथ्या है। व्याघात दोष दिखानेकेलिये उन्होंने लिखा है किः—

हवने उदिते होतव्यं अनुदिते होतव्यं समयाध्युषिते होतव्यमिति विधाय विहितं व्याहन्ति, श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, शवलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति यो अनुदिते जुहोति, श्यावशवलौ वास्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति, व्याघाताच्चान्यतरन्मिथ्येति।

व्याघात दोषके होनेसे भी वेद-प्रामाण्य नहीं हो सकता है। जैसा एक स्थानमें कहा है कि, सूर्यके उदय होनेपर हवन करना चाहिये, फिर अन्यत्र कहा कि, सूर्योदय-के पहले होम करना चाहिये, ऐसे ही उदयकालमें होम करनेसे दोष और अनुदय-कालमें होम करनेसे दोष कहा है, ये दोनों बात परस्पर विरुद्ध होनेसे बाधित हैं, इसीको व्याघात दोष कहते हैं। इसतरहसे अनृत व्याघातआदि दोष वेदमें

दिखाकर उसका अप्रामाण्य बतानेकेलिये वात्स्यायन ऋषिने उदित होम, अनुदित होम, अग्निहोत्र, पुत्रेष्टिआदि यज्ञोंके जो दृष्टान्त दिये हैं, ये सब दृष्टान्त, ब्राह्मण-भागके हैं। अतः सिद्धान्त हुआ कि, वात्स्यायन ऋषिने भी ब्राह्मण भागको वेद माना है। यह बात पहले ही कही गयी है कि, इन्हीं दृष्टान्तोंकेद्वारा भगवान् मनुजीने भी ब्राह्मणभागको वेद माना है। अतः न्यायदर्शनके :—

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ।

इस सूत्रके भाष्यमें वात्स्यायन ऋषिने विधि, अर्थवाद और अनुवाद नामक तीनप्रकारके वचनोंके लक्षण लिखे हैं, उनका सम्बन्ध दिखाकर उन वचनोंको लौकिक वचन कहकर वात्स्यायन ऋषि ब्राह्मणभागको वेद नहीं मानते थे, ऐसा कह-देना सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि उन्होंने पहले सूत्रमें ही कईप्रकारके दृष्टान्तोंसे ब्राह्मणभागको वेद कहा है। और इसके भाष्यमें भी :—

विधिस्तु विनियोगोऽनुज्ञा वा यथा अग्निहोत्रं
जुहुयात् स्वर्गकामः ।

इसप्रकार कहकर उन्होंने पहले कही हुई अपनी सम्मतिकी पुष्टि ही की है, खण्डन नहीं किया है। दूसरी विचार करने योग्य बात यह है कि, वेद जब पूर्ण वस्तु है, तो उसमें लौकिक अलौकिक सभी तरहके विषय आवेंगे। जैसा कि पहले ही कहा गया है कि, वेदमें लौकिक पदार्थविद्या- (सायन्स)-की बातें भी हैं और अलौकिक ब्रह्मज्ञानकी बातें भी हैं। इसलिये ब्राह्मणभागमें विधि अर्थवादआदि वचनोंको देखकर, उसे अलौकिक राज्यसे गिराकर लौकिकमें ले डालना विचार और वेदके रहस्य-ज्ञानका परिचायक नहीं है। अतः ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिये। महाभाष्य-कारने वेदके दृष्टान्त देते समय किसी ब्राह्मणभागके मन्त्रका दृष्टान्त नहीं दिया है, इसलिये गौ अश्वआदि लौकिक दृष्टान्तोंको ब्राह्मणभागमें खींचकर उसको वेदत्वसे गिरा देना चाहिये, यह सिद्धान्त नितान्त अकिञ्चित्कर है। किसी बातका दृष्टान्त देनेकेलिये पहलेसे प्रतिज्ञा नहीं की जाती है, परन्तु दृष्टान्त प्रसङ्गोपात्त और प्रयो-जनानुसार हुआ करते हैं। इसलिये महाभाष्यकारने जैसा प्रसङ्ग देखा और जितने दृष्टान्तसे प्रयोजन सिद्ध होता था, उतनाही उन्होंने दिया होगा। उसमें मन्त्रभागसे दिया या ब्राह्मणभागसे दिया, ब्राह्मणभागसे न देनेपर उसकी अप्रमाणता हो जायगी, इस प्रकार चिन्ताका अवसर ही नहीं था। क्योंकि दृष्टान्त साधारणतया वेदविषयक था, वेदके भागविषयक नहीं था, और ब्राह्मणभागमें गौ अश्वआदिका दृष्टान्त है, इसलिये जहाँ कहीं गौ अश्वका दृष्टान्त होगा, वह सब ब्राह्मणभागका ही होना चाहिये, यह सिद्धान्त किसी कामका नहीं है। इसप्रकार श्रुति, स्मृति, पुराण, दर्शन, सूत्र, भाष्यआदि समस्त प्रमाणिक ग्रन्थोंपर प्रणिधान करनेसे विवेकी पुरुषको अवश्य मालूम होगा कि, मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेदके विभाग हैं। अतः कर्म-उपासना और ज्ञानकी शिक्षाकेद्वारा समस्त जीवोंको संसारसिन्धुके पार उतरनेकेलिये मन्त्र

ब्राह्मण और आरण्यकरूपी त्रिमूर्तिके द्वारा सुशोभित वेद एक मात्र आश्रयस्थल हैं, इसमें सन्देह नहीं।

पूर्व-कथित सिद्धान्तोंकेद्वारा निम्नलिखित विषय निश्चय हुए। वेद अनादि हैं। वेदके आविर्भावके विचारसे वेद भगवद्वाक्य हैं। वेद नित्य हैं। वेदोंका वास्तवत: कदापि नाश नहीं होता। वेदके प्रामाण्यके विषयमें कोई शङ्का करनी उचित नहीं है। वेद त्रिभावात्मक और त्रिगुणात्मक, भाव और अधिकारोंसे पूर्ण होनेकेकारण, पूर्ण ज्ञानमय हैं। वेद सब अज्ञात, परन्तु आवश्यकीय विषयोंके प्रकाशक हैं। वेद संशय, विपर्ययआदि सबप्रकारके दोषोंसे रहित हैं। वेद श्रीपरमात्मा, देवता और ऋषियोंके द्वारा यथाक्रम प्रकट हुआ करते हैं। वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारोंप्रकारके फलोंको समानरूपसे देनेवाले हैं। वेदकी श्रुतियाँ चाहे गद्यरूपमें हों, चाहे पद्यरूपमें हों और चाहे गानरूपमें हों एवं चाहे वेदके विभाग ऋक् यजुः साम और अथर्वरूपसे चार हों, वेद वस्तुत: एक ही है। महाप्रलय होनेपर भी वेदोंका नाश नहीं होता; महाप्रलयावस्थामें वे ज्ञानरूपसे परमात्मामें स्थित रहते हैं। प्रलयावस्थामें वेद परमात्मामें नित्यरूपसे विराजमान रहते हुए सृष्टि अवस्थामें श्रीब्रह्माजीकी आज्ञासे महर्षियोंके अन्त:करणमें आविर्भूत होकर, तत्पश्चात् ऋचाओंकेद्वारा जगत्में अक्षरमय स्थूल पुस्तकरूपसे प्रकट होते हैं। वेद पूर्णज्ञानमय, त्रिगुणमय, और त्रिभावमय होनेकेकारण वेदोंमें मनुष्यकी ऐहलौकिक उन्नति, पारलौकिक उन्नति और निर्वाणमुक्तिके उपयोगी सम्पूर्ण आवश्यकीय विषयोंका वर्णन प्रकाशित हुआ है। वेद मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग और उपनिषद्भाग, इन तीनों भागोंमें और कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इन तीनों काण्डोंमें विभक्त है। मन्त्रभागकी नाईं ब्राह्मणभाग और उपनिषद्भाग, ये भी वेद ही हैं, इसमें कोई भी कोई सन्देह नहीं। वेदकी प्रत्येक ऋचा त्रिगुण और त्रिभावसे पूर्ण होनेकेकारण वेद ईश्वरकथित हैं, इसमें भी सन्देह नहीं। वेदकी प्रत्येक श्रुति त्रिभावमय और तीन प्रकारके अर्थवाली हैं, जिनका पूरा-पूरा भावार्थ समझना साधारण बुद्धिगम्य नहीं है, वेदके तीनों अर्थ केवल योगी और तत्त्वज्ञानी ही समझ सकते हैं। शिक्षा कल्पआदि वेदके छः अङ्ग और वैदिक सप्तदर्शनशास्त्ररूपी वेदोपाङ्गके भलीभाँति अध्ययन कियेबिना विद्वान्केलिये भी वेदार्थ समझना असम्भव है; इसीकारण प्रत्येक व्यक्ति वेदार्थ समझ नहीं सकता। प्रत्येक ऋचाके छन्द, देवता और ऋषिके जाननेसे उक्त ऋचाकी अधिभूत अधिदैव और अध्यात्म शक्तिका पता लगता है। सब देशके सब श्रेणीके विद्वान् ही एकमत होकर स्वीकार करते हैं कि, वेदोंसे प्राचीन और कोई ग्रन्थ पृथिवीमें नहीं है। ज्ञान अनन्त होनेकेकारण वेद अनन्त हैं, परन्तु इस वर्त्तमान कल्पमें वेदकी ११८० शाखा प्रचलित थीं। यद्यपि शाखाओंकी संख्याके विषयमें कई एक मतभेद हैं, किन्तु यदि यही संख्या स्वीकार की जाय, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, इस कल्पमें ११८० मन्त्रसंहिता, ब्राह्मण और ११८० उपनिषद् विद्यमान थे, परन्तु कालप्रभावसे अब इससमय इसका सहस्रांश भी नहीं मिलता। जो अदूरदर्शी व्यक्ति केवल मन्त्रभागको ही वेद जानते हैं और ब्राह्मण-

भागको वेद नहीं कहते, उनका सिद्धान्त सर्वथा भ्रमपूर्ण है। पुराणोंकी समाधि भाषा, परकीय भाषा और लौकिक भाषाके अनुरूप वेदोंमें भी इतिहासादिक कई-प्रकारका वर्णन मिलना विज्ञानविरुद्ध नहीं है।

वेदाविर्भावके विज्ञानके समझनेके उपयोगी दो चार विषय यहाँ कहने योग्य हैं। ज्ञान आत्माका स्वरूप है। पूर्णज्ञानकी स्थिति परमात्मा ब्रह्ममें ही नित्य रहती है। ज्ञानाविर्भाव और तिरोभावकी चार दशायें तत्त्वज्ञानी महात्माओंने मानी हैं। उन्हीं चारों दशाओंका नाम आभासज्ञान, दार्शनिकज्ञान, तटस्थज्ञान और स्वरूप ज्ञान है। स्वरूपज्ञानसे ही मुक्तिदात्री महाविद्याका सम्बन्ध है। ज्ञानके प्रकाशक और ज्ञानके चालक श्रीभगवान्‌की नित्य विराजमान दैवी शक्तियाँ हैं, वे ऋषि कहलाते हैं। ज्ञानकी इन चारों अवस्थाओंका और ज्ञानके चालक ऋषियोंका विस्तारित वर्णन इस समुल्लासके अन्तिम अध्यायमें किया जायगा। जैसे अधर्मके नाश और धर्मकी रक्षाकेअर्थ श्रीभगवान्‌के अंशावतार और पूर्णावतारोंका प्राकट्य इस संसारमें समय समयपर हुआ करता है, उसीप्रकार अज्ञानका नाश और ज्ञानके विस्तारके अर्थ उक्त नित्य ऋषियोंके पूर्णावतार और अंशावतार समय समयपर संसारमें प्रकट हुआ करते हैं। उक्त ऋषियोंके पूर्णावतारोंका जन्म प्रायः मन्वन्तरके प्रथममें ही हुआ करता है। उस समय उपस्थित मन्वन्तरके उपयोगी ज्ञानके प्रकाशके अर्थ, ज्ञानकी बीजभूत ऋचायें, उक्त पूर्णावतार ऋषियोंके अन्तःकरणमें स्वतः ही प्रकाशित होती हैं। कालप्रभावसे वेद क्रमशः लुप्त होजाने पर, पुनः अन्य मन्वन्तरके प्रथममें इसीप्रकारसे प्रकाशित हो जाते हैं। वेदका सम्बन्ध यद्यपि आभास, दर्शन, ज्ञान और विद्या इन चारोंकेसाथ होनेपर भी वेदाविर्भावका सम्बन्ध, केवल ज्ञानजननी महाविद्याकेसाथ ही साक्षात्‌रूपसे रहनेकेकारण ऋषिगण विना अन्य सहायताके श्रीभगवद्‌कृपासे ऋचाओंको अपने अन्तःकरणमें प्राप्त करते हैं। यही वेदाविर्भावका अतिगूढ़ रहस्य है।

॥ द्वितीय समुल्लासका प्रथम अध्याय समाप्त ॥

वेदाङ्ग

वेदार्थ अतिदुर्ज्ञेय है। जिसप्रकार समाधिस्थ पुरुष ही ब्रह्मदर्शनमें समर्थ हो सकता है, उसीप्रकार समाधियुक्त अन्तःकरणद्वारा ही शब्दब्रह्मरूपी वेदका यथार्थ अर्थ समझा जा सकता है। योगीकी पदवी प्राप्त करनेवाले सौभाग्यवान्-महापुरुष तो कम ही होते हैं। श्रीगीताजीमें लिखा है कि:—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

हजारों मनुष्योंमें कोई ही योगी होनेका प्रयत्न करता है और अनेक यत्न करनेवालोंमेंसे कोई ही समाधिस्थ होकर भगवत्साक्षात्कार कर सकते हैं। वेदवाक्यही जब ज्ञान और विज्ञान पानेके एकमात्र लौकिक उपाय हैं, तो लौकिकरूपसे वेदको समझनेकी युक्ति ही सर्वसाधारणकेलिये हितकारिणी हो सकती है। परन्तु वेद जब अलौकिक ज्ञानभाण्डारके आधाररूप हैं, तो लौकिक पुरुषार्थद्वारा अलौकिक वैदिक ज्ञानके प्राप्त करनेकी उपयोगिनी बुद्धिका लाभ करनेकेअर्थ, कुछ असाधारण यत्नकी ही आवश्यकता है। अर्थात् जिसप्रकार साधारण व्याकरण एवं काव्य कोषआदिके पाठ करनेसे ही पण्डितगण सब अन्यान्य संस्कृत ग्रन्थोंके समझनेकी उपयुक्त बुद्धि प्राप्त कर लिया करते हैं, केवल वैसी ही साधारण योग्यताद्वारा वैदिक ज्ञानकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। विना षडङ्गोंमें पूर्ण योग्यता प्राप्त किये, जिज्ञासुगण कदापि वेदार्थ समझनेमें समर्थ नहीं हो सकते। जिसप्रकार किसी पुरुषकी परीक्षा की जाती है, तो पहले उसकी आकृति, चेष्टा, गुण, प्रकृति, चरित्रआदि अनेक बातोंके जाननेकी आवश्यकता होती है, और इन बातोंके जाननेसे उस व्यक्तिका पूर्ण रीतिसे परिचय हो सकता है, अन्यथा नहीं। उसी नियमकेअनुसार वेदपाठद्वारा वैदिक तात्पर्योंके समझनेकेअर्थ योग्य बुद्धिका सम्पादन तभी हो सकता है, जब षडङ्ग पूर्णरूपसे अभ्यस्त हो जाँय। वैदिकषडङ्गके नाम मुण्डकोपनिषद्‌में इसप्रकार हैं—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। शास्त्रोंमें लिखा है कि:—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

इस वेद पुरुषके छन्दःशास्त्र चरण, कल्पशास्त्र (कर्मकाण्ड ग्रन्थ) हस्त, ज्योतिषशास्त्र नयन, निरुक्तशास्त्र कर्ण, शिक्षाशास्त्र नासिका और व्याकरणशास्त्र मुखरूप हैं।

(शिक्षा शास्त्र)

शिक्षाशास्त्रमें, वेदके पाठ करनेकी शैली विस्तृतरीतिसे वर्णित है। वैदिक ज्ञानप्राप्तिकेअर्थ पाठ ही प्रथमस्थानीय है। इसकारण शिक्षाशास्त्रकी सर्वप्रथम आवश्यकता मानी गयी है। शब्दकेसाथ शाब्दिक-भावका और वाचककेसाथ वाच्यका तादात्म्य सम्बन्ध है, इस विषयको दर्शनशास्त्रोंने भलीभाँति सिद्ध कर दिखाया है। परन्तु शब्दकी शक्ति तभी पूर्णरूपसे प्रकाशित हो सकती है, जब शब्द अपने पूर्णरूपमें उच्चरित हो। फलतः अलौकिक शक्तिपूर्ण वेदके पदसमूहद्वारा तभी पूर्णलाभ हो सकता है, जब वे अपनी वैज्ञानिक शक्तियुक्त यथावत् ध्वनिकेसाथ बोले जायँ। वेद शब्दमय ब्रह्म हैं। अपिच शब्द-विज्ञानके यथावत् क्रमकेअनुसार

वेदपाठ व गान करनेकी शैली, इस शास्त्रमें आविष्कृत की गयी है। शब्द, वर्णात्मक व ध्वन्यात्मक भेदसे दो भागोंमें विभक्त हैं। इसीकारण वेद पाठके केवल वर्णात्मक शिक्षा अंशका ह्रस्वादि भेदसे साधारण शिक्षाशास्त्रमें वर्णन किया गया है, एवं ध्वन्यात्मक प्रकरणका षड्जआदि विभागकेअनुसार गान्धर्व उपवेदआदिमें वर्णन किया गया है। शब्दब्रह्मके ह्रस्वआदि विभाग अथवा गानोपयोगी षड्जआदि विभाग ही उनके पूर्णरूपका आविर्भाव किया करते हैं। स्वरके ह्रस्वादि तीन साधारण भेद और षड्जआदि सात असाधारण भेद हैं। साधारण और असाधारण होनेके-कारण उनकेद्वारा साधारण एवं असाधारण शक्तिकी उत्पत्ति हुआ करती है। मन्त्रोंमें सङ्गीतका सम्बन्ध हो जानेसे सामवेदको महिमा सर्वोपरि कही गयी है। वेदकी साधारण शिक्षामें केवल ह्रस्वादि तीन स्वरभेदोंका वर्णन, पाठकी शैली और हस्त-चालनादि बहिःक्रियाकी शैलीका वर्णन किया गया है, और सामवेदसम्बन्धीय सङ्गीत शिक्षामें इन तीनों स्वरभेदोंसे और सात स्वरोंकी उत्पत्ति दिखाकर उन्हींकी सहायता-मूर्छनाआदि और असाधारण सूक्ष्मशक्तिकी उत्पत्तिद्वारा शब्दविज्ञानकी ओर ही कुछ विशेष अलौकिकता आविष्कृत की गयी है। आज दिन जिसप्रकार सङ्गीतशास्त्र केवल लौकिक आनन्दसम्बन्धीय शिल्प समझा जाता है, वास्तवमें पूज्यपाद महर्षि-गणद्वारा आविष्कृत गान्धर्व उपवेद, वैसा शास्त्र नहीं है। आर्यजातिकी सङ्गीत विद्या, उच्च वैज्ञानिक शास्त्र है और इसी अलौकिक विद्याकी सहायतासे वेदमन्त्रोंसे अलौकिक शक्तियोंकी उत्पत्ति हुआ करती है। पूज्यपाद नारदआदि महर्षियोंके शिक्षाग्रन्थ पाठ करनेसे विदित हो सकेगा कि, ह्रस्वआदि तीन स्वरोंके विस्तारसे सप्तस्वर, इक्कीस मूर्छना, और बाईस श्रुति, तदनन्तर इनके विस्तारसे अनेक राग रागिनियोंकी किसप्रकार सृष्टि हुई है। सङ्गीतरत्नाकरमें लिखा है कि :—

श्रुतिभ्यस्तुः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः।
पञ्चमो धैवतश्चाऽथ निषाद इति सप्त ते॥
तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः।
दीप्तायता च करुणा मृदुर्मध्येति जातयः॥
श्रुतीनां पञ्च तासाञ्च स्वरेष्वेवं व्यवस्थिताः।
ते मन्द्रमध्यताराख्यस्थानभेदास्त्रिधा मताः॥
त एव विकृतावस्थाः द्वादश प्रतिपादिताः।

इन स्वरविभागोंकेद्वारा मनुष्यके चित्तपर कैसा प्रभाव पड़ना सम्भव है? यह मनुष्यशरीर भी एक क्षुद्र ब्रह्माण्ड है, जो सृष्टि प्रकरणका नियम ब्रह्माण्डमें स्थित है, वही नियम इस शरीरमें भी पाया जाता है। इसी सृष्टिनियमकेअनुसार शब्दसृष्टि त्रिगुणभेदसे प्रथम स्थूल अवस्थामें ह्रस्वआदि तीन भेदोंसे युक्त होती है और द्वितीय सूक्ष्म अवस्थामें सृष्टिके स्वाभाविक सप्तभेदकी नाईं सप्तभेदयुक्त

हुआ करती है। इन्हीं दोनों भेदोंकेअनुसार शिक्षाशास्त्रोंका प्रणयन किया गया है। पाणिनीयशिक्षामें लिखा है कि:—

आत्मा बुद्ध्यासमेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।

जिस समय इस शरीरमें स्वरसम्बन्धिनी सृष्टि होती है, उसी सृष्टिनियमकेअनुसार प्रथम आत्माकी प्रेरणासे बुद्धि, मन, प्राणशक्ति, और प्राणवायु क्रमशः प्रेरित होकर तदनन्तर शब्द आविर्भूत होते समय शरीरके विशेष विशेष स्थानोंका स्पर्श करते हुए शब्दोंको प्रकाशित करते हैं। फलतः प्रत्येक स्वरकेसाथ आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध रहा करता है। परन्तु वह आत्मशक्ति तभी पूर्णरूपसे प्रकाशित हो सकती है, जब वह यथावत् शब्दके आश्रयसे ध्वनित होने पावे। जिस अध्यात्मभावका जो अधिभूत स्वर है, वह तभी यथावत् प्रकाशित हो सकता है, जब बीचकी अधिदैवशक्ति कार्यकारिणी हो। अपि च यदि पूर्वक्रमकेअनुसार कार्यकारिणी अधिदैवशक्ति सकल स्थानोंमें स्थायी न हो सके और वायुको शब्दमें परिणत करनेके पूर्वही निर्बल हो जाय, तो जिस स्वरकेद्वारा जिसप्रकारकी शक्ति प्रकट होनेकी सम्भावना थी, वह नहीं हो सकेगी। इसकारण वेदमन्त्ररूप शब्दब्रह्मको अपने यथावत् शक्तियुक्त भावमें स्थिर रखनेकेअर्थ इस शिक्षाशास्त्रका प्रणयन किया गया है। प्रत्येक वेदकी प्रत्येक शाखाके उच्चारणकेनिमित्त इसप्रकार शिक्षाग्रन्थ थे, जिनको "प्रतिशाखा" भी कहा जाता था। इस समय साधारणशिक्षाके बहुत थोड़े ग्रन्थ मिलते हैं और सामशिक्षा, जिसका विस्तार अधिक था, उसके ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो गये हैं। सामशिक्षोंके लोप हो जानेसे आर्य जातिकी बड़ी भारी क्षति हुई है। सामगानकी यथार्थ शैली अनुसन्धानद्वारा आविष्कार करनेकी बड़ी प्रशंसा है।

(कल्प शास्त्र)

कल्पशास्त्र मन्त्रसम्बन्धीय क्रियासिद्धांशका वर्णन करनेवाला है। जिसप्रकार विना यथावत् ध्वनिके सहित प्रकाशित हुए शब्दब्रह्मरूपी वेदमन्त्र पूर्ण फलप्रद नहीं हुआ करते, उसी नियमकेअनुसार वैदिक क्रियासिद्धांशमें, जबतक प्रत्येक क्रियाकी वैदिककर्म-विज्ञानानुकूल साधनयुक्तिका अवलम्बन न किया जायगा, तबतक वे क्रियासिद्धांश कदापि पूर्ण फलदायी नहीं हो सकेंगे। इस वेदांगमें अग्निष्टोमआदि नाना याग, उपनयनआदि नाना संस्कार और ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्यआदि आश्रमसम्बन्धीय नाना कर्मोंकी बहिरङ्ग साधनविधिका पूर्णरूपसे वर्णन किया गया है। यह संसार कर्ममय है। इसलिये वेदोंमें कर्मका अधिकार सबसे अधिक होनेकेकारण कल्पशास्त्र भी बहुत विस्तृत है। जितनी शाखाओंमें वेद विभक्त है, उतने ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र कल्पशास्त्र हैं। ये शास्त्र सूत्रबद्ध होनेकेकारण कल्पसूत्र नामसे प्रसिद्ध हैं। संसारमें भी दृष्टिगोचर होता है कि, मुखसे जिस भावके शब्द प्रकाशित किये जायँ, उसी

भावसे युक्त बहिर्लक्षण प्रकाशित करनेसे शब्दोंकी शक्ति कुछ अधिक बढ़ जाती है। फलतः अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्, स्वरूपब्रह्म और शब्दब्रह्म, कारणब्रह्म और शब्द-ब्रह्म, कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म, इनका तादात्म्य सम्बन्ध रहनेकेकारण वैज्ञानिक युक्तिसे निर्णीत कर्मकाण्डके प्रक्रियासमूह वेदोक्त अध्यात्म लक्ष्यके साधनार्थ परम-आवश्यकीय हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। वेदकी ११८० शाखाओंमेंसे जिसकी जो शाखा हो, वह स्वशाखाकेअनुसार अपने अपने कल्पसूत्रोंकी सहायतासे अपने विहित कर्मको नियमबद्ध करके अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करें, यही कल्पशास्त्रका तात्पर्य है। इस समय जिसप्रकार वेदके संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक भागोंका शतांश भी नहीं रह गया है, उसीप्रकार अति विस्तृत कल्पसूत्रोंका शतांश भी नहीं रह गया है।

आजकल क्रियाकाण्डमें जितने कल्पसूत्रोंका व्यवहार होता है, वे प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त हैं; यथा—श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, और गृह्यसूत्र। श्रौतसूत्रमें यागयज्ञादिकी विधियाँ बतायी गयी हैं। सामाजिक जीवन यापन करनेकेलिये जितने प्रकारके नियम पालन करने होते हैं, उन सबोंकी व्यवस्था धर्मसूत्रोंमें की गयी है। गृहसूत्रमें गृहधर्मकी विधि वर्णित है, अर्थात् जन्मसे मृत्युपर्यन्त पिता, माता, पुत्र, पति पत्नीआदि गृहस्थ वर्गका परस्पर क्या क्या कर्त्तव्य है; इसका वर्णन उसमें है। अब भी गृहसूत्रकेअनुसार जातकर्म, विवाहआदि नित्य नैमित्तिक कर्म किये जाते हैं। उल्लिखित तीन श्रेणीके सूत्रोंकी पुनः अनेक शाखायें हैं। श्रौतसूत्रकी शाखाओंमेंसे आश्वलायन, साङ्ख्यायन, मशक, लाट्टायन, द्राह्यायन, बौधायन, भारद्वाज, आप-स्तम्ब, हिरण्यकेशीन व कात्यायन; धर्मसूत्रकी शाखाओंमेंसे वासिष्ठ, गौतम, बौधायन व आपस्तम्ब और गृहसूत्रकी शाखाओंमेंसे साङ्ख्यायन, आश्वलायन, पारस्कर व गोभिलआदि उल्लेख योग्य हैं। श्रौतसूत्रकी आश्वलायन व साङ्ख्यायन शाखा ऋग्वेदके अन्तर्गत हैं। मशक, लाट्टायन व द्राह्यायन शाखा सामवेदके अन्तर्गत हैं। बौद्धायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब व हिरण्यकेशीन कृष्णयजुर्वेदके अन्तर्गत हैं और कात्यायन शाखा शुक्ल-यजुर्वेदके अन्तर्गत है। मशक श्रौतसूत्रमें भिन्न भिन्न यज्ञोंके मन्त्रसमूह लिखे हैं। बौधायनादि श्रौतसूत्रोंमें कृष्ण-यजुर्वेदान्तर्गत यज्ञप्रणालीका वर्णन किया गया है। धर्मसूत्रोंमें मानवधर्मसूत्र ही प्रधान थे। प्राचीनकालमें इसकी बड़ी कदर थी। अब यह नहीं मिलता है। परन्तु वासिष्ठ व गौतम धर्मसूत्रोंमें उसके जो अनेक अंश उद्धृत किये गये थे, वे सब अब भी प्रचलित हैं। मनु याज्ञवल्क्यआदि-के संहितासमूह उन सब धर्मसूत्रोंमेंसे ही उत्पन्न हुए थे। विवाह, उपनयन, श्राद्ध-आदिके समय जो यज्ञकर्म होते हैं, वे सब गृह्यसूत्रकेअनुसार ही किये जाते हैं। श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र व गृह्यसूत्र तीनों मिलकर कल्पसूत्र कहलाते हैं। आपस्तम्बका कल्पसूत्र अब भी मिलता है। उसके पहले २४ भागोंमें श्रौत या यागयज्ञोंका विषय २६ व २७ वें भागमें गृह्यसूत्रका विषय और २८ व २९ वें भागमें धर्मसूत्रका विषय सन्निविष्ट है। उसके ३० वें या सुलभसूत्रमें यज्ञवेदी बनानेकी विधि बतायी गयी है, जिससे प्राचीन आर्योंमें ज्यामिति विद्याकी भी निपुणता प्रमाणित होती है।

(व्याकरण शास्त्र)

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः क्रम हैं। ये विद्यार्थियोंकी शिक्षा पानेकेअनुसार श्रेणीबद्ध किये गये हैं, परन्तु वास्तवमें शिक्षाके साथ छन्दका, व्याकरणकेसाथ निरुक्तका और कल्पकेसाथ ज्योतिषका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन छःहों अङ्गोंमें क्रियासिद्धांशके विचारसे शिक्षा और औपपत्तिक अंशके विचारसे व्याकरण प्रथम आवश्यकीय अङ्ग है। ये सब अङ्ग वैज्ञानिक-विचारसे पूर्ण हैं। व्याकरण शास्त्र शब्दानुशासनका द्वाररूप है। जिसप्रकार अन्तर्जगत्-सम्बन्धीय राज्यमें प्रवेश करनेकेलिये योगशास्त्र द्वारभूत हैं, और उसका भगवान् पतञ्जलिजीने "अथ योगानुशासनम्" कहकर प्रारम्भ किया है, उसीप्रकार शब्दब्रह्मरूपी स्थूलराज्यमें यावत् पदार्थोंका ग्रहण करनेकेलिये व्याकरण वेदका द्वाररूप है और इस शास्त्रका भी भगवान् पतञ्जलिजीने "अथ शब्दानुशासनम्" कहकर प्रारम्भ किया है। जिसप्रकार शब्दमय सृष्टिके होते समय भावसे वृत्तिसे शब्दकी उत्पत्ति होती है, एवं अन्तर्जगत्से बहिर्जगत्में शब्दोंका आविर्भाव होते समय शब्दोत्पत्तिकारिणी शक्तिके चार भेद किये गये हैं; यथा-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, उसीप्रकार शाब्दिक सृष्टिका लय होते समय अर्थात् शब्द जब अन्तर्राज्यमें प्रवेश करता है, तब शब्दसे अर्थ और अर्थसे भावकी उत्पत्ति होती है। संस्कृत भाषा अपने नामानुसार संस्कृत और अपने सब अङ्गोंमें पूर्ण होनेसे सर्वथा नियमबद्ध है। इसकारण संस्कृतभाषाकेलिये व्याकरणकी सर्वोपरि आवश्यकता है। व्याकरणकेद्वारा जब शब्द शुद्ध लिखे और पढ़े जायँगे, तभी उनसे ठीक अर्थका बोध होनेसे दुर्ज्ञेय भावोंको समझनेमें सहायता प्राप्त होगी। व्याकरण शास्त्रकी एक विशेष महिमा यह भी है कि, ज्योतिषके सदृश यह शास्त्र मनुष्योंको वैदिक और लौकिक दोनों कार्योंमें पूर्ण रीतिसे सहायता प्रदान करता है। इस शास्त्रके अनेक बड़े बड़े ग्रन्थ लुप्त होगये हैं, तौ भी कुछ आर्षग्रन्थ अब भी उपलब्ध हैं।

(निरुक्त शास्त्र)

व्याकरणशास्त्रद्वारा प्रथम शब्दार्थका बोध होता है। तदनन्तर निरुक्त शास्त्रोक्त विज्ञानद्वारा वेदका भावार्थ समझनेमें सहायता प्राप्त हुआ करती है। निरुक्तशास्त्रका भी निघण्टु नामसे एक अन्तर्विभाग है। निघण्टुद्वारा केवल वैदिक शब्दज्ञानमें सहायता प्राप्त होती है। इस शास्त्रको वेदका कोष भी कह सकते हैं। वैदिक वर्णन-विचारकेअनुसार वेदमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, इन त्रिविध भावोंका भी वर्णन पाया जाता है। इन सबका विस्तृत ज्ञान निरुक्तशास्त्रके भलीभाँति जाननेसे प्राप्त हुआ करता है। निरुक्तविज्ञानका सार यह है कि, जिसप्रकार व्याकरणशास्त्र शब्दको नित्य मानता है, उसीप्रकार निरुक्तशास्त्र भावको नित्य मानता है। जिसप्रकार व्याकरण-विज्ञानद्वारा ओंकाररूपसे वेदकी नित्यता विज्ञानसिद्ध है, उसीप्रकार निरुक्तके और भी उच्च विज्ञानद्वारा भावमय अध्यात्म-स्वरूपकी नित्यताकी सिद्धिद्वारा ज्ञानमय वेदकी नित्यता प्रमाणित होती है। स्थूल

बहिर्जगत्से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्यात्मपदपर्यन्त सब ही भावमय है। सृष्टिकी आदि, मध्य और अन्त इन तीनों अवस्थाओंमें एकमात्र भावमय चेतनसत्ता ही समानरूपसे स्थित रहा करती है। इसकारण भावसे ही जगत्की उत्पत्ति सर्वथा स्वीकार्य है। फलतः भाव प्रधान होनेकेकारण शब्दके अवलम्बनसे भावराज्यकी यथार्थ भूमिमें पहुँचा देना ही, इस शास्त्रका पुरुषार्थ है। प्राचीनकालमें निरुक्त शास्त्रका बहुत ही विस्तार था। पूज्यपाद महर्षिगण इस शास्त्रके अगणित बड़े बड़े ग्रन्थ रच गये हैं, परन्तु नाना कारणोंसे अब उन ग्रन्थोंके नामोंतकका संग्रह करना कठिन हो गया है। चतुर्विंशतिमत नामक असाधारण पुस्तकका जितना अंश स्थान स्थानपर पाया जाता है, उसके पाठ करनेसे ही निरुक्त शास्त्रकी अलौकिकता और उसके असाधारण विस्तारके विषयमें कुछ अनुमान किया जा सकता है। आज कल निरुक्तका एक छोटासा अंश यास्कमुनिका, जो षडङ्ग निरुक्तके नामसे देखनेमें आता है, वह प्राचीन निरुक्तके कङ्कालकी छायामात्र है। वेदोंमें लाघव गौरव विचार (इशारोंके शब्दोंसे बहुत कुछ भाव समझ लेना) होनेकेकारण बिना निरुक्त शास्त्रकी पूर्ण सहायताके भावावबोध होना असम्भव है। पूज्यपाद महर्षिगण-कथित दर्शनशास्त्रोंमें लाघव-गौरवकी अधिकता किसप्रकार है, सो वे विद्वान् लोग स्वतः ही अनुमान कर सकते हैं, जिन्होंने कभी बिना भाष्योंकी सहायताके दार्शनिक सूत्रोंके समझनेकेलिये यत्न किया होगा। वेद यावत् दार्शनिक तत्त्वों तथा विज्ञानों-की खानि हैं। इसकारण उनका लाघव-गौरव विचार पराकाष्ठाका ही होगा, इसमें सन्देह ही क्या है ? श्रुतियोंका यह लाघव-गौरव विचार कई कोटियोंमें विभक्त है। प्रथम तो त्रिभावात्मक, जिसका हम वर्णन पहले कर चुके हैं और पुनः सप्तविज्ञा-नात्मक, जिसका वर्णन सप्तदर्शनोंमें संक्षेपसे किया जायगा। यजुर्वेदमें लिखा है कि :—

ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति
विशतारुशन्तः। सिनन्तु सर्वेऽनृतं वदन्तं
यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु।

ये त्रिविधभावही क्रमशः जीवके त्रिविध सुख और त्रिविध दुःखके अनुभवके हेतु हुआ करते हैं। यह सप्तविज्ञानमय सप्तदार्शनिक भूमियाँ ही साधकोंको मुक्तिपद प्राप्त करनेकेअर्थ सात नियमबद्ध सोपान हैं। तदतिरिक्त त्रिगुणभेदसे सत्त्व, रज और तमोगुणकेअनुसार उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अधिकारके रहस्योंका भेद श्रुतियोंमें रहना अवश्यम्भावी है, क्योंकि वे भेद भी त्रिगुणात्मक विश्वके अन्तर्गत शब्दब्रह्मही हैं और कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डोंमें ही अन्तर्याग और बहिर्यागरूपसे दोप्रकारके यजन होना भी सर्वमान्य है। ऋग्भाष्यमें लिखा है कि :—

सर्वे वेदा अन्तर्यागपरा बहिर्यागपराश्चेति।

फलतः वेदके लाघव-गौरव विचारके विषयमें भावुकगण भावोंका जितना

अधिक अनुसन्धान कर सकेंगे, उतनी ही वेदके अनन्त भावोंकी अलौकिकताकी छटा दृष्टिगोचर होगी। इस वैदिक अनन्त भावराज्यका प्रकाश करानेमें निरुक्त शास्त्र प्रधानतया अवलम्बनीय है।

(छन्दःशास्त्र)

छन्दःशास्त्र कुछ विलक्षण ही है। जिसप्रकार शिक्षाशास्त्र स्वरकी सहायतासे वैदिक कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्डमें नितान्त उपयोगी सिद्ध होता है, उसीप्रकार यह छन्दःशास्त्र भी छन्दोविज्ञानकी सहायतासे अलौकिक शक्तियोंका आविष्कार करके वैदिक ज्ञानके विस्तार करनेमें और कर्मोंमें सफलता प्राप्त करानेमें बहुत ही उपकारी है। सिद्ध और साधकरूपसे जिसप्रकार ध्वनिकेसाथ अक्षरका सम्बन्ध होता है, उसी नियमकेअनुसार शिक्षाशास्त्रका सम्बन्ध छन्दःशास्त्रसे समझना चाहिये। यदि च स्वरसंयुक्त ध्वनि ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक दोनों भावोंसे ही संयुक्त रहा करती है, परन्तु अन्तर्विभागरूपसे सार्थक ध्वनिमें छन्दकी स्थिति सदा रहती है। मुखसे जो कुछ शब्द उच्चारित हो, वह जिसप्रकार अवश्य स्वरमय होगा, उसीरीतिपर वह अवश्य ही छन्दोमय भी होगा। फलतः स्वरके स्वतन्त्र स्वतन्त्र विभागोंके विचारद्वारा जिसप्रकार स्वतन्त्र स्वतन्त्र शक्तियाँ मनुष्यके अन्तःकरणमें प्रकट होती हैं, उसी-प्रकार स्वतन्त्र स्वतन्त्र छन्दोमय विशेष-विशेष प्रतिक्रियाकी विशेष विशेष शक्तिद्वारा कुछ और ही विशेष शक्तियोंका प्रादुर्भाव जीवके अन्तःकरणमें हुआ करता है। चूँकि छन्दःसमूह विशेष शक्तियुक्त होते हैं। अतः छन्दोज्ञानकेद्वारा विशिष्ट शक्तिलाभार्थ पूज्यपाद महर्षियोंने इस शास्त्रका प्रणयन किया है। जिसप्रकार शिक्षाशास्त्रद्वारा ह्रस्वादि अथवा षड्जादि स्वर, श्रुति, मूर्च्छना और रागरागिनी समूह स्वतन्त्र स्वतन्त्र-रूपसे अपनी अपनी प्रकृतिशक्तिकेअनुसार शान्त, करुणआदि रसोंका आविर्भाव किया करते हैं, उसी नियमकेअनुसार स्वतन्त्र स्वतन्त्र छन्दःसमूह भी अपनी अपनी स्वतन्त्र स्वतन्त्र प्राकृतिक शक्तिकेअनुसार स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावोंका उदय करके वैदिकक्रियाके कुछ विलक्षण कार्यमें ही तत्पर रहा करते हैं। इसीकारण स्वतन्त्र स्वतन्त्र छन्द स्वतन्त्र स्वतन्त्र कार्यमें काम आया करते हैं। वेदों और शास्त्रोंमें छन्दोंके विषयमें इसप्रकार लिखा है :—

त्रिष्टुभौ भवतः सेन्द्रियत्वाय गायत्र्यौ त्विष्टकृतः संयाज्ये
कुर्वीत तेजस्कामो ब्रह्मवर्च्चस्कामः तेजो वै ब्रह्मवर्च्चः
गायत्री तेजस्वी ब्रह्मवर्च्चस्वी भवति य एवं विद्वान्
गायत्र्यौ कुरुते उष्णिहा वायुष्कामः कुर्वीत अनुष्टुभौ
स्वर्गकामः कुर्वीत द्वयोर्वा अनुष्टुभोश्चतुःषष्टिरक्षराणि
त्रय इम उद्र्ध्वा एकविंशा लोका एव विंशत्यैकविंश-
त्यै वेमाँल्लोकान्रोहति स्वर्ग एव।

वैदिक सात छन्द, जो दार्शनिक सप्त प्राकृतिक परिणामके मूलभूत हैं, उनपर विचार करनेसे वैदिक छन्दोंकी वैज्ञानिक भित्तिका कुछ प्रमाण मिल सकेगा। चाहे साधकका लक्ष्य स्वर्ग अथवा लौकिक भोगभावनायें हों अथवा मोक्षसिद्धि हो, परन्तु छन्दोविज्ञानमय वैदिकमन्त्रसमूह यदि छन्दोविज्ञानकेअनुसार काममें लाये जायँ, तो सफलता प्राप्त करनेमें सुविधा रहेगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। वैदिक अनुष्ठानादिमें छन्दोंका अधिक विचार रहनेकेकारण छन्दोंकी यह और भी विलक्षणता पायी जाती है कि, अदृष्टफलोत्पादक वेदमन्त्रकी शक्तिको छन्दोविज्ञान भी पूर्णरूपसे सहायता किया करता है। प्रकृतिका विस्तार अनन्त है। इसकारण छन्दभी अनन्त हैं तथा छन्दशास्त्रके वक्ता महर्षियोंने जीवोंके कल्याणार्थ प्रधान प्रधान छन्दोंको नियमबद्ध करके छन्दःशास्त्रमें प्रकट किया है। वैदिक छन्दःशास्त्रके ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो गये हैं। इस शास्त्रका थोड़ा ही अंश अब पाया जाता है। इसका बीज संहितामें, अङ्कुरोद्गम आरण्यकमें और शाखा प्रशाखा उपनिषद्में है, ऐसा कह सकते हैं। छन्दके ज्ञानके विना यज्ञकर्म या वेदाध्ययन असम्पूर्ण रह जाता है। वेदमें ७ छन्दोंका उल्लेख देखनेमें आता है; यथा—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुभ्, व जगती। प्रात्याहिक संध्यामें इन सबोंके वर्णन मिलते हैं। २४ अक्षर, और तीन चरणोंमें निबद्ध छन्द गायत्री है। उष्णिक्छन्दमें २८ अक्षर, अनुष्टुभ्में ३२, बृहतीमें ३६, पङ्क्तिमें ४०, त्रिष्टुभ्में ४४ और जगतीमें ४८ अक्षर हैं। महर्षि कात्यायनने अपने सर्वानुक्रमणिका ग्रन्थमें इन सातों छन्दोंका उल्लेख किया है। परवर्त्तीकालमें और जितने छन्द प्रचलित हुए हैं, वे सब लौकिक छन्द हैं। संस्कृत साहित्यमें २ सौसे अधिक छन्द प्रचलित हैं, उनमेंसे ५० छन्द साधारणतः व्यवहारमें आते हैं। वृत्त और मात्रावृत्त ये दो भेद लौकिक छन्दके हैं। गुरु लघु व स्वर संख्याके नियमानुसार वृत्त और केवल मात्राके नियमानुसार मात्रावृत्त छन्दकी रचना हुई है। लौकिक छन्दोंके जितने ग्रन्थ आजकल प्रचलित हैं, उनमें पिङ्गलाचार्यकृत छन्दोग्रन्थ और छन्दोमञ्जरी प्राचीन व प्रसिद्ध हैं। लौकिक छन्दके अनेक भेद और काव्यशास्त्रमें उनकी अनन्त माधुरी होनेपर भी आप्त प्रमाणके विचारसे वैदिकछन्दमें ही आध्यात्मिक शक्तिका रहना निश्चित है। ऋग्वेदकी प्रतिशाखाके शेष अंशमें वैदिक छन्दोंके विषयमें कई एक अध्याय हैं। सामवेदान्तर्गत निदानसूत्रमें भी छन्दकी आलोचना की गयी है। कई ब्राह्मणोंमें भी छन्दरहस्यका वर्णन पाया जाता है।

(ज्योतिष शास्त्र)

समष्टि और व्यष्टिरूपसे ब्रह्माण्डकी यह संसार और पिण्डरूपी प्रत्येक मनुष्यका देह एकत्व सम्बन्ध युक्त हैं। इसीकारण आर्यशास्त्रमें वर्णित है कि, जो कुछ बाहर ब्रह्माण्डमें है, उन्हीं देवता, भूतसमूह और ग्रह नक्षत्रआदिका केन्द्र सब इस देहमें स्थित है। शिवसंहितामें लिखा है कि:—

देहेऽस्मिन्वर्त्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥

ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्त्तन्ते पीठदेवताः ॥

ऐसा सिद्धान्त पश्चिमी विद्वानोंने भी किया है। फलतः मनुष्य अनन्त आकाशव्यापी सौरजगत्की एक क्षुद्र प्रतिकृति है। सौरजगत्केसाथ इसप्रकार एकत्व सम्बन्ध रहनेकेकारण सौर जगत्के अनुसार उसमें परिवर्तन होना युक्तियुक्त है। जिसप्रकार प्राकृतिक अन्तर्राज्यकी मूलशक्ति चेतन और जड़रूपसे दो भागोंमें विभक्त है, उसीप्रकार प्रतिकृतिकी बहिःशक्ति भी सम और विषमरूपसे दो भागोंमें विभक्त है। इन्हीं दोप्रकारकी सम और विषम तडित् शक्तियोंद्वारा दोप्रकारके स्वतन्त्र कार्य हुआ करते हैं अर्थात् एक शक्तिद्वारा आकर्षण (Attraction) और दूसरी शक्तिद्वारा विकर्षण (Repulsion) की चेष्टा हुआ करती है। अपने इस विज्ञानका यह रहस्य है कि, जिसप्रकार अन्तःकरणमें इन दोनों शक्तियों, इनके आकर्षण-विकर्षण, इनकी सहायतासे मानसिक प्रवृत्तिमें परिवर्तन एवं मनुष्योंकी आन्तरिक वृत्तियोंमें भी परिवर्तन उत्पन्न हुआ करते हैं, उसी नियमकेअनुसार समष्टि ब्रह्माण्डकी शक्तियोंकेद्वारा भी इस बहिर्जगत्में सृष्टिस्थितिलयात्मक नानाप्रकारके परिवर्त्तन हुआ करते हैं। अपिच मनुष्यके अन्तःकरणमें जिसप्रकारसे ये शक्तियाँ विद्यमान हैं, उसीप्रकार ग्रह, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रआदिमें भी विद्यमान हैं। उनकी इसप्रकारकी शक्तियोंका प्रभाव जैसे उनके ऊपर रहा करता है, उसीप्रकार जहाँतक उनकी शक्ति पहुँच सकती है ; वहाँ तकके अन्यान्य ग्रह नक्षत्र तथा ग्रहनक्षत्रवासी जीवसमूहपर भी यथाक्रम प्रभाव पड़ा करता है। इस वैज्ञानिक सिद्धान्तकेअनुसार प्रत्यक्षसिद्ध गणितज्योतिषका तादात्म्य सम्बन्ध अप्रत्यक्षसिद्ध फलित ज्योतिषकेसाथ रहना युक्ति और विज्ञानसे सिद्ध है। सूर्यसिद्धान्तमें कहा है कि :—

गणितं फलितञ्चैव ज्योतिषन्तु द्विधा मतम् ।

गणित और फलितरूपसे ज्योतिष दोप्रकार का है। प्राचीनकालमें इस अलौकिक विज्ञानकी चरम उन्नति भारतवर्षमें हुई थी, एवं पूज्यपाद महर्षियोंमें अनेकही इस दिव्यशास्त्रके आचार्योंकी श्रेणीमें देख पड़ते हैं, उनमें बहुतेरोंकी ज्योतिषसंहितायें अबतक भी पायी जाती हैं। ज्योतिष शास्त्र प्रवर्त्तक आचार्योंके नाम सूर्यसिद्धान्तमें इसप्रकार लिखे हैं :—

सूर्य्यः पितामहो व्यासो वशिष्ठात्रिपराशराः ।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिराः ॥
लोमशः पैलिशश्चैव च्यवनो यवनो गुरुः ।
शौनकोऽष्टादशश्चैते ज्योतिः शास्त्रप्रवर्त्तकाः ॥

यह शास्त्र अन्यान्य वेदाङ्गोंकी अपेक्षा अतिविस्तृत और परम आवश्यकीय

है। पूज्यपाद महर्षिगण भी षडङ्ग वर्णन करते समय षडङ्ग ज्योतिषमें आज्ञा करगये हैं कि :—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्द्धनि स्थितम् ॥
वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः,
कालानुपूर्व्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं,
यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान् ॥

जैसे मयूरोंकी शिखा और सर्पोंकी मणि उनके सिरपर रहती है, उसीप्रकार वेदाङ्गशास्त्रोंमें ज्योतिष सब अङ्गोंमें मुख्य है। वेद यज्ञोंकेलिये प्रवृत्त हैं और यज्ञ कालकेअनुसार किये जाते हैं। ज्योतिष काल निर्णय करनेवाला शास्त्र है, इसको जो जानता है, वही यज्ञोंको जानकर कर सकता है।

यदि च सृष्टिके मूलकारणरूपी कारण ब्रह्म विश्वकर्त्ता सृष्टिसे अतीत हैं, परन्तु कार्य ब्रह्मरूपी यह प्राकृतिक ब्रह्माण्ड देश कालसे परिच्छिन्न हैं। अपि च कर्मकेसाथ कालका साक्षात् सम्बन्ध रहनेकेकारण कर्मको कालकी अधीनता माननी पड़ती है। फलतः काल-ज्ञानकेसाथ जो कर्म किया जाता है, उसका ही पूर्णरूपसे सुसिद्ध होना सम्भव है। ज्योतिष कालके स्वरूपका प्रतिपादक है और उत्तराङ्ग फलितज्योतिष कालके अन्तर्गत रहस्योंका प्रकाशक है। इसकारण वेदोंके कर्मकाण्डका ज्योतिषशास्त्रके साथ अतिघनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है; क्योंकि कर्म जब कालके अधीन हैं, तो कर्मकाण्ड भी ज्योतिषशास्त्रके अधीन रहकर करना हितकारी होगा। आज दिन इस ज्योतिषशास्त्रकी घोर अवनति भी आर्य जातिके सदाचार और कर्मकाण्डकी हानिकी प्रधान कारण है। गणितज्योतिषद्वारा बहिर्जगत् सम्बन्धीय ग्रहनक्षत्रसमूहके परिवर्तन और कालके विभागका निर्णय किया जाता है और फलितज्योतिष-द्वारा ग्रहनक्षत्रआदिकी गतियोंकी सहायतासे इस जगत्के एवं इस जगत्सम्बन्धीय यावत् सृष्टि व मनुष्योंके आन्तरिक परिवर्त्तनोंका निर्णय हुआ करता है। ज्योतिष-शास्त्रके ये दोनों ही अङ्ग मानवगणकेलिये बहुतही उपकारी हैं। ज्योतिषग्रन्थोंमें इस शास्त्रकी सर्वोपरि आवश्यकता, सर्वजीवहितकारिता और सर्वशास्त्रोंमें प्रधानता वर्णित है। प्रथम तो ज्योतिषशास्त्रके अनेक प्रधान प्रधान आर्षग्रन्थ लुप्त होगये हैं। यद्यपि अन्य वेदाङ्गोंसे इस वेदाङ्गके ग्रन्थ अब भी अधिक उपलब्ध होते हैं, परन्तु प्रधान प्रधान सिद्धान्तग्रन्थोंमें बहुतसे लुप्त होगये हैं। द्वितीयतः इस शास्त्रका संस्कार बहुत दिनोंसे नहीं हुआ है। इस शास्त्रका अधिक सम्बन्ध आधिभौतिक सृष्टिकेसाथ रहनेकेकारण प्रकृतिकी स्वाभाविक त्रिगुणात्मक चेष्टाकेअनुसार ग्रहआदिकी गतिमें भी क्रमशः परिवर्तन होना स्वतः सिद्ध है। प्रत्येक शताब्दीमें ग्रहनक्षत्रोंकी चालमें

फेर पड़ जाया करता है, उस त्रुटिको दूर करनेके दो उपाय हैं, प्रथम योगदृष्टिद्वारा जिसका वर्णन योगदर्शनके तृतीयपादमें है और दूसरा उपाय यह है कि, लौकिक बुद्धिद्वारा यन्त्रालय निर्माणपूर्वक दृग्गणितकी सहायतासे संस्कार किया जाय। योग-सहायताकी शैली इस समय लुप्तप्राय हो गयी है। ज्योतिषशास्त्रका आविर्भाव आदि-कालमें आर्यजातिमें ही हुआ था, इसमें सन्देह ही क्या है? क्योंकि यह वेदाङ्ग है और परम्परारूपसे इस शास्त्रका ज्ञान भारतवर्षसे ही अन्यत्र विस्तृत हुआ है, एवं अब उद्यमशील पाश्चात्त्य जातियोंने इसमें विशेष उन्नति की है। इस समय ज्योतिप यन्त्रालय निर्माणके विषयमें और दृग्गणितकी सहायतासे गणित ज्योतिपके संस्कारके विषयमें पाश्चात्त्य जातियोंने बहुत कुछ उन्नति की है। उनकी गणना प्रत्यक्ष फलप्रद भी होने लगी है। आर्य जातिमें अनेकानेक विप्लव और दुर्दैवोंके कारण कई शताब्दियोंसे गणितज्योतिषकी सारणीका संस्कार नहीं हुआ है, इस कारण भारतवर्ष-में ज्योतिष यन्त्रालयके निर्माणद्वारा अपने प्राचीन ग्रन्थोंकी व पाश्चात्त्य जातिकी नवीन दृग्गणितकी शैलीकी सहायतासे इस शास्त्रके अभ्युदयमें यत्न करनेसे अवश्य सफलता प्राप्त होगी।

ज्योतिर्विद्याके तत्त्वको न समझनेसे आजकल फलित ज्योतिपकी सत्यताके विषयमें बहुत सन्देह हो रहा है। जब कर्मकेद्वारा ही जीवको सुख दुःख प्राप्ति होती है, तो जड़ग्रहोंका सम्बन्ध बीचमें मानकर जन्मपत्र बनाकर गृहस्थोंको सुख दुःखके फन्देमें क्यों फँसाया जाय, ऐसा करना सर्वथा अनुचित है, इत्यादि अनेकप्रकारकी शंकायें होरही हैं। अतः यह विषय विचारने योग्य है। ग्रह जड़ हैं या चेतन हैं, इसके विचारकी इस समय आवश्यकता नहीं। तथापि हिन्दुशास्त्रके मार्मिक सिद्धा-न्तोंके जाननेवाले लोग अवश्य स्वीकार करेंगे कि, जड़ वस्तु जब निष्क्रिय है, तो जितने जड़पदार्थ संसारमें काम करते हुए दिखाई देते हैं, उनमें कोई चेतनसत्ता अवश्य होगी, जिसके द्वाराही उनमें नियमित कार्य होता रहता है। प्रकृति जड़ है, परन्तु प्रकृतिमें चेतन परमात्माके रहनेसे ही प्रकृति नियमबद्ध कार्य करनेमें समर्थ हो रही हैं। अन्यथा "अन्धगति"से कार्य होता और सृष्टि स्थिति प्रलयका धारा-वाहिक क्रम नहीं रहता, क्योंकि क्रम परिवर्तन व कार्यशृङ्खला चेतनसत्ताकी स्थिति ही सूचित करती है। प्रकृतिमें परमात्मा न होते, तो सृष्टिपरायण प्रकृति सृष्टि ही करती रहती, कभी प्रलय नहीं होता और कभी किसी प्रकारसे प्रलय होनेपर भी बरा-बर प्रलय ही रह जाता, उसका परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि जड़शक्तिका बल अन्ध-बल है, उसमें भावान्तर या क्रम नहीं हो सकता है। रेलके इञ्जिनमें गाड़ी खींचनेका बल है, परन्तु चेतनरूपी चलानेवाला न हो, तो इञ्जिन खींचता ही रहता, कभी ठहरता नहीं। ऐसाही सर्वत्र समझना चाहिये। इसी विज्ञानपर हिन्दूशास्त्रोंमें दैवी महिमाकी प्रतिष्ठाकी गयी है। जितने जड़पदार्थ हैं, उनकी चालक अलग अलग चेतन शक्तियाँ मानी गयी हैं, जिनको देवता कहा जाता है। उन्हींकी संचालनकारिणी चेतनशक्तिके द्वारा जड़पदार्थोंमें ठीक ठीक नियमित क्रिया होती है, अन्यथा प्रकृतिके किसी कार्यमें भी नियम नहीं रहता। अवश्य यह सब शक्तिही भगवच्छक्ति है,

क्योंकि सिवाय उनकी शक्तिके जड़चेतनात्मक जगत्‌में और कोई शक्ति नहीं है। वही शक्ति जड़पदार्थमें जड़शक्तिरूपसे, मनुष्योंमें मानवीय विविध शक्तिरूपसे, दैवीजगत् तथा ग्रहादिकोंमें देवतारूपसे या असुररूपसे, ज्ञानराज्यमें ऋषिशक्तिरूपसे और आधिभौतिक प्रकृतिमें पितृशक्तिरूपसे प्रकाशित है; जिससे समस्त विश्वकी रक्षा और नियमित कार्य-परिचालन हुआ करता है। जलके भीतर जिस चेतनशक्तिके रहनेसे विश्वप्रकृतिके अन्तर्गत जलीय रस सर्वत्र ठीक ठीक काममें आता है, उसका नाम वरुणदेव है। वायुमें जिस चेतनशक्तिके रहनेसे ब्रह्माण्डव्यापी वायुकेद्वारा जीवोंकी प्राणरक्षा होती है, उसको पवनदेव कहते हैं। इसीतरहसे पृथ्वीमें जिस चेतनशक्तिके रहनेसे वसुन्धरा सुजला सुफला शस्यश्यामला होकर अखिल जागतिक जीवोंकी रक्षा करसकती है, उसे पृथ्वी माता कहते हैं। इसीप्रकार और ग्रहोंमें भी समझना चाहिये, अर्थात् तत्तद्ग्रहोंमें चेतनसत्ताके रहनेसे ही तदन्तर्गत जीवोंकी रक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं। यही आस्तिक हिन्दूशास्त्रका सिद्धान्त है। इसको पश्चिमी लोग अभी तक जान नहीं सके, हैं क्योंकि उनकी दृष्टि स्थूलपदार्थोंमें बद्ध है, योगदृष्टि या अन्तर्दृष्टि उनमें नहीं है। और भारतके दुर्भाग्यकेकारण हिन्दू-सन्तानोंमें भी यह ज्ञान दिनबदिन नष्ट होता चला जाता है। अब इन ग्रह उपग्रहों-केसाथ जीवका क्या सम्बन्ध है, सो बताया जाता है।

भौतिक-जगत् या स्थूल जगत् सूक्ष्मका ही विस्ताररूप होनेसे सूक्ष्मशक्तिका ही घनीभाव स्थूलशक्तिरूपसे प्रकट होता है, ऐसा सिद्धान्त पश्चिमी वैज्ञानिक लोगोंने भी किया है। अनन्त शून्य आकाशमें विराट्के गर्भमें अनन्तकोटि ग्रह उपग्रह चन्द्र सूर्य नक्षत्रआदिका जो नियमित निज निज कक्षामें आवर्त्तन है, उसमें भी यही विश्वव्यापिनी शक्ति कार्य कर रही है। प्रत्येक ग्रह उपग्रहके भीतर आकर्षण और विकर्षण, दो परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ विद्यमान हैं। आकर्षणशक्तिद्वारा पदार्थ परस्पर आकृष्ट होते हैं और विकर्षणशक्तिद्वारा परस्पर पृथक् हो जाते हैं। इनमें किसी एक-द्वारा भी या एकके प्रबल होनेपर भी संसारकी रक्षा नहीं हो सकती है। स्थिति दोनों शक्तियोंके सामञ्जस्यका ही फल है। अतः सिद्धान्त हुआ कि, ग्रहोंमें परस्पर आकर्षण विकर्षण बना हुआ है। जब ग्रह उपग्रह आपसमें आकर्षण विकर्षण करते हैं, तो ग्रहोंके या उपग्रहोंके भीतर जो जीव हैं, उनपर भी उस आकर्षणकी या विकर्षणकी क्रिया असर करेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह बात सभी लोग जानते हैं कि, पृथ्वी ग्रहमें मध्याकर्षण शक्ति है, जिससे समस्त जीवोंको पृथ्वी माता खींचती है। मानो पृथ्वी एक बड़ा भारी चुम्बक है, जिसकी शक्ति उत्तरकी ओरसे जारी है। इसीप्रकार और सब ग्रहोंमें या उपग्रहोंमें या अन्यान्य ज्योतिष्क पिंडों (नानाप्रकार-के ग्रहादि)-में समझना चाहिये। फलतः प्रकृतिके भीतर अण्डसे लेकर ब्रह्माण्ड-पर्यन्त कोई भी इस आकर्षण विकर्षण शृंखलासे बाहर नहीं है, क्योंकि मूल महाकर्षण-शक्ति सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं, जो समस्त संसारका अपनी ओर आकर्षण करते हैं इसलिये ही उनका नाम हरि और कृष्ण है। उन्हींका ही महाकर्षण, कहीं मध्याकर्षण कहीं चुम्बकाकर्षण, कहीं आकर्षण-विकर्षणआदि रूपोंसे संसारमें जारी है। यही

स्थूल आकर्षण-विकर्षण सूक्ष्मराज्य अर्थात् मनोराज्यमें आकर रागद्वेषरूपेण परिणत हो जाता है। जब तक जीव प्राकृतिक आकर्षण विकर्षणमें रहता है, तबतक जीवका जीवत्व और वैषयिकभाव बना रहता है। जब जीव प्राकृतिक समस्त आकर्षण विकर्षणके मूलमें भगवान्‌की सर्वशक्तिमयी महाकर्षणशक्तिको अनुभव कर लेता है, तबही संसारसे वैराग्य अवलम्बन करके भक्तिमार्गके द्वारा मुक्त हो जाता है। परन्तु ये सब तत्त्व भक्तिशास्त्रके हैं। इसलिये इनको भक्तिके प्रबन्धमें बतायेंगे। यहाँपर इतनाही सिद्धान्त हुआ कि, ग्रह उपग्रह और समस्त ज्योतिष्कमण्डली, यथा—सूर्य चन्द्रआदिकेसाथ जीवमात्रका ही आकर्षण-विकर्षण-सम्बन्ध प्राकृतिकरूपसे बना हुआ है। इस आकर्षण वा विकर्षणका तारतम्य ग्रहों उपग्रहोंकी अपनी अपनी कक्षापर स्थितिके अनुसार हुआ करता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, चन्द्रकेसाथ पृथिवीका और पृथिवीस्थ सब जीवोंका आकर्षण सम्बन्ध है। यह आकर्षण सर्वदा रहनेपर भी पूर्णिमाके दिन चन्द्रके बहुत पास रहनेसे बहुत अधिक हो जाता है, जिससे समुद्रका जल उछलने लगता है और मनुष्यके शरीर और मनमें भी भावान्तर होता है। इसको सभी लोग जानते हैं। स्थूल आकर्षण शरीरपर होता है। इसलिये पूर्णिमाके दिन ऋषियोंने उपवास व्रतआदि करनेको लिखा है, अन्यथा रसाधिक्ययुक्त शरीरपर आकर्षण होनेसे मनुष्यशरीर बीमार हो सकता है। मनके देवता चन्द्र हैं। इसलिये मनकेसाथ भी अधिक आकर्षण सम्बन्ध हो जानेसे मानसिक प्रेम चाञ्चल्यआदि पूर्णिमाके दिन स्वभावतः ही होते हैं। इसलिये व्रत संयम भगवद्ध्यानआदिकी विधि उस दिन ऋषियोंने बतायी है, जिससे अधिक आकर्षणका असर चित्तपर होकर उसकी अवनति न हो। इसीप्रकार अन्यान्य ग्रहों उपग्रहोंकेसाथ भी आकर्षण सम्बन्ध है। अब कर्मके विषयपर विचार किया जाता है।

मनुष्यका शरीर प्रारब्धकर्मसे ही उत्पन्न होता है। पूर्व जन्मोंमें कृत कर्मोंमेंसे बलवान् फलोन्मुख कर्म प्रारब्ध बनकर जीवका स्थूल शरीर उत्पन्न करते हैं। प्रारब्ध कर्मकेअनुसार ही मनुष्यको पिता माता भी प्राप्त होते हैं। जाति, आयु और भोग सभी प्रारब्ध कर्मोंके फलरूप हैं। योगदर्शनमें लिखा है कि :—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः।

प्रारब्धकर्मके मूलमें रहनेसे ब्राह्मण क्षत्रियादि जाति, आयु और भोग उसीके परिणामरूपसे प्राप्त होते हैं। जब कर्मका सम्बन्ध शरीरसे हुआ और ग्रहोंका भी प्राकृतिक आकर्षण-विकर्षण-सम्बन्ध शरीरसे हुआ तो प्रारब्धकर्मकेअनुसार मनुष्यके जन्मके समय ग्रह उपग्रहोंकी स्थिति भी सम या विषम होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। जिसका प्रारब्धकर्म जिसप्रकार है, उसके जन्मके समय ग्रह उपग्रहोंकी अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति ठीक उसी कर्मकेसाथ सम्बन्धकेअनुसार नभोमार्गमें हुआ करती है। और आकर्षण, विकर्षणका प्रभाव भी ऐसा ही हुआ करता है, इसमें सन्देह नहीं। अतः जो लोग केवल कर्मको ही मानकर ग्रह उपग्रहोंका सम्बन्ध उड़ा देते हैं,

वे गलती पर हैं, क्योंकि कर्मके ही अनुसार जीवकेसाथ प्राकृतिक आकर्षण-विकर्षण सम्बन्धयुक्त ग्रह उपग्रहोंकी स्थिति जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त रहा करती है और कर्मके परिवर्त्तनकेअनुसार उनकी स्थिति और प्रभावमें भी परिवर्त्तन हुआ करता है। जब ज्योतिषी लोग ग्रह उपग्रहोंके विषय गणितविद्याकेद्वारा सब कुछ जान सकते हैं, तो किस ग्रहकी कहाँ पर स्थिति होनेसे कौन कर्म प्रबल या दुर्बल होना चाहिये, यह भी वे कह सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं हो सकता है, क्योंकि कर्मकेसाथ शरीरका और शरीरकेसाथ ग्रहोंका सन्बन्ध है। अब ग्रहशान्तिका क्या प्रयोजन या सम्बन्ध है, सो बताते हैं। यह बात विज्ञानसिद्ध है कि, कर्म नष्ट न होनेपर भी अच्छे कर्मकेद्वारा बुरे कर्म दब जाते हैं। अतः अगर किसी मनुष्यका कोई प्रारब्ध या क्रियमाण प्रबल कर्म अशुभ हुआ, तो उसका ग्रह भी उसकेअनुसार मन्द होगा, अर्थात् जिस स्थानपर वह ग्रह उसीके कर्मानुसार रहेगा, उस स्थानसे उसके शरीर या मनपर आकर्षण विकर्षणका कार्य मन्द करेगा। अब यदि ऐसा कोई अनुष्ठान या क्रिया हो, जिसकेद्वारा वह असत् कर्म दब जाय, तो यह बात आवश्यक है कि, मन्द कर्मके दब जानेसे उसका ग्रह भी शान्त हो जायेगा; अर्थात् मन्द कर्मानुसार जो ग्रहोंके आकर्षण विकर्षणका प्रभाव अशुभ था, वह सुधर जायगा। यही ग्रहशान्तिका तत्त्व है। फलितज्योतिषके इस तत्त्वको न जानकर अज्ञानी पुरुषोंने बहुत ही कोलाहल मचा रक्खा है और पाण्डित्याभिमानसे उन्मत्त होकर ग्रहोंके नामोंका धात्वर्थ बिगाड़कर कुछसे कुछ कर डाला है, परन्तु धीर होकर विचार करनेसे यथार्थतत्त्व विदित होगा और वेदोक्त उन सब शान्तिपाठ या शान्तिक्रियाओंका ठीक ठीक तात्पर्य हृदयङ्गम होगा। अथर्ववेदमें लिखा है कि:—

"शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्याश्च राहुणा"।

"शन्नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्वान्"।

"आरेवती चाश्वयुजौ भगं म आमेरयिं भरण्या आवहन्तु"।

ग्रह, चन्द्र, आदित्य व राहु हमारेलिये शान्तिदाता हों। मित्र, वरुण और विवस्वान् हमारा कल्याण करें। रेवती, अश्विनी, भरणीआदि हमको ऐश्वर्य और धन दें। इत्यादि बहुत शान्तिमूलक मन्त्र वेदमें मिलते हैं। इसीतरह अपदेवताकी भी शान्ति हो सकती है। अपदेवता दैवी जगत्की तामसिक शक्तियाँ हैं। जिसप्रकार ग्रहोंका स्वाभाविक सम्बन्ध जीवोंकेसाथ रहता है, उसीप्रकार उन सब तामसिक शक्तियोंका सम्बन्ध तामसिक कर्ममय प्रकृतिकेसाथ रहता है, क्योंकि दोनोंके ही तामसिक होनेसे उनमें प्राकृतिक मेल है। अतः मनुष्योंका प्रारब्ध या बलवान् क्रियमाणकर्म असत् अर्थात् तामसिक हो, तो उन सब शक्तियोंका मनुष्यपर अत्याचार हो सकता है। इस अत्याचारकी शान्ति ग्रहशान्तिकी रीतिपर अच्छे सात्त्विक कर्म या अनुष्ठान करनेसे हो सकती है, क्योंकि पूर्वकथित विज्ञानानुसार अच्छे कर्मसे बुरे कर्म दब जायँगे और बुरे कर्मके दब जानेसे तामसिक शक्तियोंका प्रभाव जीवके

ऊपर नहीं हो सकेगा। इसलिये अपदेवता पिशाचादिकी भी शान्ति वेदमें लिखी है। यजुर्वेदमें लिखा है कि :—

न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजंह्येतत्।
योबिभर्तिदाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनष्येषु
कृणुते दीर्घमायुः।

जो सुवर्ण धारण करते है, राक्षस और पिशाच उनपर आक्रमण नहीं करसकते यह देवताओंका प्रथमतेज है। इस दाक्षायण तेजको जो धारण करता है, वह देवलोक मनुष्यलोक सकल स्थानोंमें दीर्घायु होता है। इन सब तामसिक कर्मोंको दूर करनेकेलिये जो सात्त्विक अनुष्ठान होना चाहिये, उसको करनेवाला कोई न हो या जो करता है वह ठग हो, मतलबी हो, धूर्त्त हो या लुटेरा हो, इसका दोष शास्त्रपर नहीं आ सकता है। अर्वाचीन लोगोंने क्रियाकाण्ड करनेवाले आजकलके बहुत ठग लोगोंका दृष्टान्त देकर जो शास्त्रोंका खण्डन किया है, यह उनकी सर्वथा भूल है। संसारके नास्तिक होनेपर भी ईश्वरका अस्तित्व नष्ट नहीं होता, उनकी सत्ता ऐसीही रहती है। इसलिये यदि क्रिया या अनुष्ठानका फल ठीक नहीं होता या ठग लोग दुनियामें लूटते खाते हैं, तो कर्त्तव्य है कि, शास्त्रोंको न उड़ाकर उन ठगोंको सजा दें, उन्हें समाजसे बहिष्कृत करें और अच्छे पुरोहित तैयार करें। इसप्रकार दोष दूसरेपर डालना बुद्धिमत्ता व सद्विचार नहीं है।

इसीप्रकार फलितज्योतिषके जन्मपत्र-आदिका ठीक ठीक फल अगर नहीं मिलता, तो इससे फलित ज्योतिष झूठा नहीं बन सकता है। ऐसा सिद्धान्त करना और कोलाहल मचाकर मनुष्य बुद्धिपर अज्ञानका प्रभाव डालना धर्मजगत्में महापाप है। ग्रहों, उपग्रहोंकेसाथ जीवका तथा कर्मका क्या सम्बन्ध रहता है, सो पहले ही दिखाया गया है, उसपर विचार करनेसे फलितज्योतिषकी सत्यता मालूम होजायगी। अब विचार करनेकी बात है कि, किसलिये जन्मपत्र आजकल झूठे बनते हैं क्योंकि ग्रहोंका आकर्षण और कर्मके साथ उनका सम्बन्ध ठीक हो, तो जन्मपत्रमें भूल नहीं होनी चाहिये। भूल होनेके कई कारण हैं, सो बताये जाते हैं। पहला कारण तो यह है कि, आजकल ज्योतिषशास्त्रके जाननेवाले योग्य लोग ही कम रहगये हैं। अधूरे पण्डितोंसे इसप्रकार जन्मपत्र बनानेपर भूल तो होही जायगी और जन्मपत्र शोकपत्र होजायगा, इसमें सन्देह क्या? परन्तु बनानेवालेकी मूर्खताका दोष फलित ज्योतिषशास्त्रपर नहीं लगना चाहिये। किसी धूर्त्त या ठगने यदि जोतिष ज्ञानका भान करके रुपया कमाया, तो इससे ज्योतिषशास्त्र झूठा नहीं होसकता। कर्त्तव्य है कि, उन सब ठगोंका बहिष्कार करके शास्त्रको सच्चे विद्वानोंके हाथमें रक्खा जाय और उन्हींसे सब काम कराया जाय। दूसरा कारण यह है कि, जन्मकालमें जिस होराके जिस मिनट या सेकण्डपर बालक भूमिस्थ होता है, उसको गृहस्थ लोग ठीक ठीक विचारसे नहीं देखते। कई कारणोंसे दो चार मिनट इधर उधर हो ही

जाता है, इससे ग्रहोंके स्थानोंमें बहुत अन्तर पड़नेसे और उसी भ्रमपूर्ण समयके-अनुसार जन्मपत्रके बननेसे जन्मपत्र झूठा होता है, इसका दोष गृहस्थपर है, फलितज्योतिषपर नहीं है। तीसरा और चौथा कारण पहलेही कहा गया है यथा—तीसरा कारण, ज्योतिषशास्त्रके बहुत ग्रन्थ लुप्त होगये हैं, जिससे सब विषयका पता नहीं चलता है और गणितमें ही त्रुटि होसकती है। चौथा कारण यह है कि, प्राकृतिक परिवर्तनोंकेअनुसार ग्रहोंकी भी गतिमें परिवर्तन होगया है, इसको ठीक ठीक जाननेके लिये या तो योगशक्ति या दृग्गणितकी सहायता चाहिये, सो दोनोंही बातोंका आजकल अभाव है, अतः फलितज्योतिषपर दोषारोप न करके उसका संस्कार कियाजाय। धनी लोगोंका रुपया वृथा खर्च न होकर इस काममें लगना चाहिये। यन्त्रालयआदि बनना चाहिये। पाण्डित्याभिमानी लोगोंका मस्तिष्क शास्त्रके उड़ानेमें खर्च न होकर शास्त्रकी जो दुर्दशा हो रही है, उसके सुधारमें खर्च होना चाहिये। ऐसा करनेपर भारतका भाग्य सुप्रसन्न होगा और जन्मपत्र भी शोक-पत्र न होकर यथार्थ जन्मपत्र होजायगा।

अपौरुषेय वेदके गम्भीर अर्थ जाननेकेलिये इसप्रकार छहों वेदाङ्गोंका तत्त्वनिर्णय और सम्यक् परिज्ञान अत्यावश्यक है, विना छहों अङ्गोंके भलीभाँति जाने वेदपारावारमें प्रवेश करना असम्भव है। प्राचीन कालमें इन छहों अङ्गोंकी समानरूपसे उत्तम शिक्षा हुआ करती थी। इसकारण वैदिकज्ञानके लाभ करनेमें प्रजा समर्थ होती थी। अब इन सब अङ्गोंके योग्य ग्रन्थ प्रायः उपलब्ध नहीं होते और इनकी यथावत् शिक्षा वेदार्थ समझनेके उपयोगी न होनेसे इस समयके रहे सहे वेद भी दुर्ज्ञेय हो रहे हैं। ऊपर कथित छः शास्त्र वेदके अङ्ग कहाते हैं और वैदिक सप्तदर्शन-शास्त्र वेदके उपाङ्ग कहाते हैं। वेदाङ्गोंकेद्वारा वेदका बहिःस्वरूप, वेदकी क्रियाशक्ति और वेदकी क्रियाशक्तिकेसाथ सूक्ष्मराज्यका सम्बन्ध ज्ञात होता है। वैदिक ज्ञान प्राप्त करनेमें भी इनसे सहायता होती है। वेदोंके ये उपाङ्ग जिज्ञासुकी अन्तर्राज्यकी शुद्धि उसके बुद्धितत्त्वकी उन्नति कराते हुए उसको वेदोक्त आध्यात्मिक ज्ञानका लाभ कराते हैं। वेदाङ्गोंके अध्ययनके विना वेदोंमें प्रवेश करना ही असम्भव है। शिक्षाशास्त्र स्थूल अक्षरमय वेदकी स्थूलशक्तिके यथावत् प्रकाशका क्रम और प्रकाश करनेकी शैली बताकर स्थूल अक्षरमय वेदके यथार्थस्वरूप प्रकट करानेमें पूर्णरूपसे सहायता देता है। कल्पशास्त्र वैदिक क्रियाकलापका रहस्य और वैदिक कर्मकाण्डकी यथाक्रम पद्धति सिखलाकर वैदिक क्रियाशक्तिकी पूर्णता करते हैं। व्याकरणशास्त्र वेदोक्त अक्षरयोजना, योजनाक्रम और योजनाक्रमसे अक्षरार्थनिर्णय कराकर वेदमें प्रवेश करनेका द्वार खोल देते हैं। निरुक्तशास्त्र वेदोक्तशब्दोंसे वेद सम्मतभावका, पता बताकर शब्दकी सहायतासे अनादि अनन्त और अलौकिक भावराज्यमें जिज्ञासु को प्रवेश कराते हैं। छन्दःशास्त्र स्थूल वेदमयी ऋचाओंकी अन्तर्निहित दैवीशक्तिका पता लगाकर उनकेद्वारा दैवी कार्य लेनेकी शक्ति बतलाते हुए, उनके प्रयोग करनेका दैवीमार्ग बताते हैं। ज्योतिषशास्त्र साधकको जगत्के आधाररूपी कालका स्वरूप ज्ञान कराकर कालसेवाकी रीति बताते हुए, साधकको वेदोक्त साधनादिमें सफलता

पानेके उपयोगी बना देते हैं। इसी कारण वेदोंके इन छःहों अङ्गोंमें बिना पूर्ण अधिकारप्राप्त किये वेदपारावारमें प्रवेश करनेकी इच्छा करना दुराशामात्र है।

द्वितीय समुल्लासका द्वितीय अध्याय समाप्त।

दर्शनशास्त्र।

(वेदोपाङ्ग)

जिसप्रकार बहिर्जगत्सम्बन्धीय उन्नतिका प्रथम सोपान शिल्पसम्बन्धीय उन्नति समझी जासकती है; उसीप्रकार अन्तर्जगत्सम्बन्धीय उन्नतिका प्रथम सोपान दार्शनिक उन्नतिको मानता है। इसप्रकार राजसी बुद्धिका विकास शिल्प, कलाआदिकी उन्नतिद्वारा प्रमाणित होता है; उसीप्रकार सात्त्विकी बुद्धिका विकाश दार्शनिक उन्नतिद्वारा समझा जा सकता है। संसार में जो जो जातियाँ ज्ञानोन्नतिमें अग्रसर होती हैं, उनमें दार्शनिक बुद्धिका उदय होना स्वतःसिद्ध है। प्राचीन अरब मिसर और रोमन जातियोंमें, अर्वाचीन यूरोप और अमेरिकन जातियोंमें भी इस ज्ञान परिणामकेअनुसार दार्शनिक ज्योतिका विकाश यथासम्भव हुआ है। परन्तु आर्य-जातिके दार्शनिकज्ञानके आविर्भावकी तुलना उनके दार्शनिक ज्ञानोदयकेसाथ नहीं हो सकती। प्राचीन आर्यजाति तथा अर्वाचीन अन्य जातियाँ, इन उभय जातियोंके दर्शनशास्त्रोंके ज्ञाता साधारण विचार मात्रसे समझ सकेंगे कि, अर्वाचीन अन्य जातियाँ अपने दार्शनिक विचारमें अभीतक वृद्धगुरु भारतके सन्मुख बालक विद्यार्थी-के समान ही हैं। इस संसारमें दो प्रकारकी शक्तियाँ प्रतीत होती हैं, एक जड़ दूसरी चेतन, एक शारीरिकशक्ति दूसरी जीवनीशक्ति, एक प्रकृतिशक्ति दूसरी पुरुषशक्ति इनमें जड़शक्ति स्थूल और चेतन-शक्तिके अतिसूक्ष्म अतीन्द्रिय है। जड़ शक्तिका राज्य जगत्सृष्टिके विस्तारमें है और चेतन भावका राज्य उससे परे है। जड़शक्ति साधारणरूपसे अनुभवयोग्य है, किन्तु चेतनभाव जड़ राज्यकी शेष सीमामें पहुँचनेपर केवल अनुमान करने योग्य ही है। आज दिन अर्वाचीन अन्य जातियोंमें जितने दर्शनशास्त्र प्रकाशित हुए हैं, वे सब अभीतक जड़ जगत्में ही भ्रमण कर रहे हैं, यद्यपि उन्होंने जड़ जगत्में बहुत कुछ अन्वेषण कर लिया है, तथापि चेतन जगत्का वे दूरसे भी निरीक्षण नहीं कर सके हैं। यदि च अर्वाचीन अन्य विद्वानोंने जड़ राज्य-की कुछ छानबीन की है, तथापि उनको अभी तक वह ज्ञान नहीं है कि, इस जड़ भावके अतिरिक्त और कोई चेतनभाव है या नहीं? जब उनकी यह दशा है, जब देखते हैं कि, वे प्रकृति राज्यमें ही भ्रमण कर रहे हैं और उन्होंने प्रकृतिको ही सब कुछ मान रखा है, जब देखते हैं कि, पुरुषका सामान्य ज्ञानमात्र भी उनको अभीतक नहीं मिला है, जब देखते हैं कि, जीवभाव, पुरुषभाव, ईश्वरभाव, ब्रह्मभावआदि चेतन जगत्सम्बन्धीय किसी भावका भी यथार्थरूप उनके अनुमानमें नहीं आया है,

और जब देखते हैं कि, अभी तक अर्वाचीन दार्शनिक गण जड़ जगतके माया राज्यमें ही भूल रहे हैं; तब कैसे नहीं विश्वास करेंगे कि, वे दार्शनिकज्ञानमें अभी बालकही हैं ? अन्तर्जगत्सम्बन्धीय विचाररूप महासागरके दो तट हैं, एकओरका तट तो यह विस्तृत संसार है और दूसरी ओरका तट ब्रह्मसद्भावरूप निर्वाण पद है। इस विचार-भूमिके एकओर संसाररूप इन्द्रियगम्य विषय और दूसरीओर अतीन्द्रिय ब्रह्मपद है। अर्वाचीन दार्शनिकगण यदि च प्रथम तटकीओरसे आगे बढ़ गये हैं परन्तु वे इस विस्तृत महाज्ञान समुद्रमें थोड़ी दूर अग्रसर होते ही निराश हो पुनः पीछेकीओर देखने लगे हैं और अपनी असम्पूर्ण ज्ञानशक्तिकेकारण यही समझने लगे हैं कि, इस महासमुद्रके चारोंओर पूर्वभूमिके सदृश दृश्य-विषय संसारही है। केवल एक तटका ही संवाद विदित होनेकेकारण वे केवल इस महाज्ञानसागरके बीच दिग्भ्रान्त हो रहे हैं। इसकारण उनको यही प्रतीत होता है कि, जो कुछ है, सो जड़ प्रकृतिही है। इसका प्रधान कारण यह है कि, आर्यजातिमें जिसप्रकार दार्शनिक ज्ञानका आविर्भाव हुआ है, उसप्रकारसे अर्वाचीन जातियोंमें नहीं हुआ है। आर्यजातिकी अन्तर्दृष्टि पानेकी शैली यह है कि, प्रथम वर्ण श्रेष्ठ ब्राह्मणगण स्वधर्म पालनपूर्वक विशुद्धचित होते हैं, तत्पश्चात् विषय-वैराग्यसम्पन्न होकर निवृत्ति-मार्गगामी होते हुए योग-साधनपरायण होते हैं। उक्त योगिजनोंकी समाधिस्थ बुद्धिद्वारा जो दार्शनिक सिद्धान्त प्रकट होता है, सो अवश्यही अभ्रान्त होता है। अर्वाचीन जातियोंमें आर्य-जनोचितशैलीका नाममात्र भी नहीं है। उनमें केवल साधारण बुद्धिद्वारा अनुसन्धान करते हुए बाहरसे भीतरकीओर चलनेका यत्न होता है। फलतः वहाँके दार्शनिकोंमें अभ्रान्त सिद्धान्तका प्रकट होना सम्भव नहीं है।

आध्यात्मिक-उन्नतिके सात क्रम हैं। उन्हीं सात क्रमोंके अनुसार वैदिक दर्शन शास्त्रोंको भी पूज्यपाद महर्षियोंने केवल सात श्रेणीमें ही विभक्त किया है। इन सातों-में विरोध प्रतीतिका कारण श्रीभगवान् वेदव्यासने कहा है किः—

सप्तानां ज्ञानभूमीनां साधकस्याखिलस्य च।
भेदाद्विरोध इत्येवं दर्शनेषु प्रतीयते ॥

सातों ज्ञानभूमियाँ और उनके साधक भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। इसकारण दर्शनशास्त्रोंमें विरोध प्रतीतिं होती है। उनमें वास्तवमें विरोध नहीं है। यह अगले किसी समुल्लासमें प्रतिपादित किया जायगा। ये सातों दर्शन त्रिभावोंकेअनुसार तीन भावोंमें विभक्त हैं। यथाः-न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन पदार्थवाद सम्बन्धीय, योग-दर्शन और सांख्यदर्शन सांख्यप्रवचनसम्बन्धीय एवं दैवीमीमांसा, कर्म-मीमांसा, और ब्रह्ममीमांसा, ये तीनों वेदोंके काण्डत्रयकेअनुसार मीमांसासम्बन्धीय दर्शन हैं। इन सातोंके अतिरिक्त और किसी दार्शनिक सिद्धान्तको आर्यगण स्वीकार नहीं करते। जो कोई और दर्शन देखने व सुननेमें आते हैं, वे अन्तर्भावरूपसे इन्हीं सातोंमें प्रविष्ट हैं। इन सातोंमेंसे सर्वदर्शनका ही मुख्य उद्देश्य आत्यन्तिक दुःखनाश और नित्यानन्दकी प्राप्ति है। प्रकृति विलासरूप संसार दुःखमय है। उसमें जो कुछ सुख

हैं, वह भी क्षणभंगुर और दुःखका ही पूर्वरूपमात्र है। इसलिये नित्यानन्दमय अमृत के पुत्र जीव, नश्वर सुखमय दुःखपूर्ण इस संसारमें सुख लाभ नहीं कर सकते। इसीलिये जीव आत्यन्तिक दुःखनाश और सुखप्राप्तिकेलिये इतस्ततः भ्रमण करते हैं। दर्शन शास्त्र जीवको दुःखमय संसारसे मुक्तकर आनन्दमय ब्रह्मधाममें पहुँचाता है। इसलिये इसका नाम दर्शनशास्त्र है। सकल दर्शनशास्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय दुःख-नाश और सुखप्राप्ति होनेपर भी प्रथम ज्ञानभूमियोंके दर्शनोंकेसाथ प्रकृतिका सम्बन्ध अधिक होनेसे, उनमें प्रधानतः दुःखनाश ही लक्षीभूत है और अन्तिम ज्ञानभूमियोंकेसाथ प्रकृतिसे परे आनन्दमय ब्रह्मभावका सम्बन्ध अधिक होनेसे उनमें नित्यानन्दमय स्वरूप स्थिति अधिक लक्षीभूत की गयी है। इन सात दर्शन सिद्धान्तोंके तीनों विभागोंको इसप्रकार भी समझ सकते हैं कि, प्रथम दो स्थूलविज्ञान, अर्थात् अनुमानसे दुःखकी निवृत्तिकी भूमिके उपदेष्टा, दूसरे दो सूक्ष्म विज्ञान अर्थात् बीचकी भूमिमें ठहरकर दोनों ओरका पता लगानेवाले और तीसरे तीनों कारण-विज्ञानमय हैं, अर्थात् उनमें क्रमशः उत्तरोत्तर अत्यन्त दुःख निवृत्तिकी अवस्थाका स्वरूप निर्णय होता है। अब इन सातों दर्शनोंके संक्षेप वृत्तान्त और बताये हुए इन विषयोंपर आलोचना करेंगे।

(न्यायदर्शन)

न्यायदर्शन महर्षि गौतमप्रणीत है, इसको आन्वीक्षिकी व अक्षपाददर्शन भी कहते हैं। प्रमाणकेद्वारा पदार्थोंका निरूपण, अथवा दूसरोंके समझानेकेलिये प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, इन पाँच अवयवोंकी अवतारणाका नाम न्याय है। न्यायदर्शनको प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, यथा—तर्क, न्याय और दर्शन। तर्कांशमें तर्कनिर्णय, वाद, जल्प, वितण्डाआदि विषय हैं। न्यायांशमें प्रमाणआदिके विषयोंमें चर्चा की गयी है और दर्शनांशमें आत्मा अनात्माकी आलोचना है। न्यायदर्शन पाँच अध्यायोंमें विभक्त है। प्रत्येक अध्यायमें दो दो आह्निक हैं। इससे मालूम होता है कि, महर्षि गौतमजीने न्यायदर्शको दश दिनमें बनाया था। न्यायदर्शनका प्रतिपाद्यविषय दुःखनिवृत्ति है। संसार दुःखमय है। इसमें जो कुछ सुख है, वह भी दुःखयुक्त होनेकेकारण दुःख ही है। जन्म होनेसे ही दुःख होता है। अतः यदि दुःखका नाश करना हो, तो जन्मका नाश करना पड़ेगा। जन्मका कारण प्रवृत्ति है। प्रवृत्तिका कारण रागद्वेष मोहात्मक दोष है। दोष भी मिथ्या ज्ञानसे उत्पन्न होता है। अतः मिथ्याज्ञान नष्ट होना चाहिये, नहीं तो दुःखनिवृत्ति नहीं होगी। इसलिये महर्षि गौतमने सूत्र किया है किः—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरो—
त्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

ऊपर उल्लिखित दुःख जन्मआदिकोंका उत्तरोत्तर नाश होकर अन्तमें मिथ्या ज्ञानके नाश होनेसे जीवकी मुक्ति होती है। मिथ्याज्ञान नष्ट करनेका उपाय क्या

है ? न्यायदर्शनकी सम्मतिमें तत्त्वज्ञान ही मिथ्याज्ञान नष्ट करनेका उपाय है अतः तत्त्वज्ञानके लाभसे ही अपवर्ग अर्थात् आत्यन्तिक दुःखनाश होता है।

तत्त्वज्ञान किसका होना चाहिये ? इसके उत्तरमें न्यायदर्शनमें लिखा है कि:—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसि-
द्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा-
हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां
तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥

निःश्रेयस पदवी या आत्यन्तिक दुःखनाशकेलिये प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान इन षोडश पदार्थोंका तत्त्वज्ञान होना चाहिये। न्यायदर्शनमें इन षोडश पदार्थोंका लक्षण-विचार अच्छी तरहसे किया गया है, जिसका संक्षेपवर्णन नीचे किया जाता है।

इनमें प्रथम पदार्थ प्रमाण है। यथार्थज्ञानका नाम प्रमा और प्रमाका जो करण अर्थात् यथार्थज्ञान लाभ करनेका जो उपाय है, उसको प्रमाण कहते हैं। न्यायदर्शनके मतमें प्रमाण चारप्रकारके हैं। यथाः—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन्द्रियोंकेद्वारा उपलब्ध ज्ञान प्रत्यक्ष है। अनुमानके सम्बन्धमें महर्षि गौतमने कहा है कि :—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत्
शेषवत् सामान्यतो दृष्टञ्च।

अनु पश्चात् अर्थात् लिङ्गदर्शनके पश्चात् जो मान या ज्ञान अर्थात् लिङ्ग लिङ्गीका जो सम्बन्धज्ञान है, उसे अनुमान कहते हैं। अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक है, क्योंकि लिङ्गके प्रत्यक्ष न होनेसे लिङ्ग-लिङ्गीका सम्बन्ध स्मरण नहीं हो सकता है। यथाः चूल्हेमें आग (लिङ्गी) धुँआं (लिङ्ग) का एक साथ रहना पहलेसे देखनेपर ही पीछे कभी पर्वतपर धूम देखनेसे अग्निका अनुमान होता है। अनुमान तीन तरह का होता हैः—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। मेघको देखकर वृष्टिका अनुमान पूर्ववत् अनुमान है। इसमें कारणको देखकर कार्यका अनुमान है। नदीमें जलवृद्धि देखकर पर्वतपर वृष्टिका अनुमान शेषवत् अनुमान है। इसमें कार्यको देखकर कारणका अनुमान है। कारण अथवा कार्यके न रहने पर भी सामान्यतः देखकर जो अनुमान है, वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।

जहाँ एकके साथ दूसरेकी उपमा दी जाती है, वह उपमान है। न्यायदर्शनके मतमें सादृश्यज्ञानका साधक उपमान है। यथा :—

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्।

किसीपशुमें गौका सादृश्य या मुखमें चन्द्रमाका सादृश्य इत्यादि ज्ञान जिससे हो, उसे उपमान कहते हैं। शब्दके लक्षणमें गौतमजीने कहा है कि :—

आप्तोपदेशः शब्दः।

भ्रम और प्रमादसे शून्य वाक्यको आप्तवाक्य कहते हैं। प्रमेय अर्थात् प्रमाणका विषय १२ बारहप्रकारका है। यथा:—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। आत्मा द्रष्टा और भोक्ता है। इच्छा द्वेष प्रयोजन सुख दुःखआदि आत्माका लिङ्ग है। आत्माका भोगायतन शरीर और भोगसाधन इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ पाँचप्रकार की हैं, घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र। इन्द्रियाँ भूतोंसे उत्पन्न होती हैं। भूत पाँचप्रकारके हैं, पृथ्वी अप् तेज वायु और आकाश। घ्राणेन्द्रिय पार्थिव, रसनेन्द्रिय जलीय, चक्षुरिन्द्रिय तैजस, त्वगिन्द्रिय वायवीय और श्रोत्रेन्द्रिय आकाशीय है। इन्द्रियोंके विषयोंका नाम अर्थ है। यथा: - घ्राणेन्द्रियका विषय गन्ध, रसनेन्द्रियका विषय रस, चक्षुरिन्द्रियका विषय स्पर्श और श्रोत्रेन्द्रियका विषय शब्द है। स्मरण, अनुमान, संशय, सुख-आदि प्रत्यक्षका करण मन है। प्रवृत्ति तीनप्रकारकी है। यथा: -- शारीरिक वाचिक और मानसिक। दोष तीनप्रकारका है। यथा:—राग द्वेष और मोह। काम तृष्णा-आदि राग, क्रोध ईर्षाआदि द्वेष, मिथ्याज्ञान प्रमादआदि मोह है। पुनः जन्ममरणका नाम प्रेत्यभाव है। दोष और प्रवृत्तिजनित सुख दुःखका अनुभव फल है बाधना अर्थात् तापलक्षण दुःख है।

अनवधारणा ज्ञानका नाम संशय है। साधारण धर्मज्ञान, असाधारण धर्म-ज्ञान, विप्रतिपत्ति, उपलब्धि और अनुपलब्धि, ये पाँच संशयके कारण हैं। जिसको लक्ष्य करके प्रवृत्ति होती है, उसका नाम प्रयोजन है। जिस विषयमें साधारण अर्थात् लौकिक और उत्कृष्टबुद्धि अर्थात् परीक्षक लोगोंका मतभेद नहीं होता है, उसका नाम दृष्टान्त है। अर्थके अभ्युपगम या निश्चयको सिद्धान्त कहते हैं। जिन शब्दोंके या वाक्योंके अनुसार साधनीय अर्थ अर्थात् साध्यकी सिद्धि होती है, उसे न्याय कहते हैं। न्यायका एकदेश अवयव है। अवयव पाँचप्रकारका है। यथा: – प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इस न्यायांश में पहले एक प्रस्ताव या प्रतिज्ञा की जाती है, तदनन्तर उसका हेतु निर्दिष्ट किया जाता है। तदनन्तर उदाहरणके द्वारा हेतुका कारण दृढ़ किया जाता है, इस तरहसे हेतु निर्दिष्ट होनेपर कार्यस्थलमें उसका उपनय अर्थात् प्रयोग होता है। अन्तमें उसकेद्वारा निगमन अर्थात् सिद्धान्त होता है। जिस विषयका तथ्य ज्ञात नहीं हो रहा है, उस विषयमें तथ्यज्ञानकेलिये कारणको उपपत्तिके अनुसार एक पक्षकी जो सम्भावना होती है, उसको तर्क कहते हैं। किसी विषयका तत्त्व अज्ञात होनेपर उसको जाननेकी इच्छा स्वतः हुआ करती है, जानने-की इच्छा होनेसे ही परस्पर विरुद्ध बातोंकी चर्चा होती है। इसप्रकार सन्दिह्यमान दोनों धर्म्मोंमें से जिस धर्मके कारणकी उपपत्ति होती है, उसके लिये "यह ऐसा हो सकता है" ऐसी सम्भावना भी होती है। इस सम्भावनाको ही तर्क कहते हैं। प्रमाण और तर्कका जो फल है, उसे निर्णय कहते हैं; अर्थात् स्वपक्षस्थापनकेद्वारा लक्षीभूत अर्थका जो निश्चय है, उसका नाम निर्णय है। तत्त्वनिर्णयके उद्देश्यसे जो

कथा प्रवर्त्तित होती है, उसे वाद कहते हैं; अर्थात् अपनी जय या प्रतिपक्षीकी पराजय, इसपर कुछ भी लक्ष्य न रखकर केवल तत्त्व निर्णयके विचारसे जो कथोपकथन, वही वाद है। तत्त्वनिर्णयकेप्रति लक्ष्य न रखकर प्रतिपक्षीको पराजय और स्वपक्षकी जयके लिये जो शास्त्रार्थ प्रवर्त्तित होता है, उसका नाम जल्प है। जल्पमें वादी और प्रतिवादी दोनोंकाही स्वपक्षस्थापन और परपक्ष प्रतिषेध लक्ष्य रहता है। अपना कोई भी पक्ष न रख करके केवल परपक्षके खण्डनकेलिये जो शास्त्रार्थ होता है, उसका नाम वितण्डा है। दुष्ट हेतुका नाम हेत्वाभास है; अर्थात् जो हेतुकीतरह प्रतीत होता हो, परन्तु वास्तवमें हेतु न हो, उसे हेत्वाभास कहते हैं। जिस अर्थकेलिये वाक्यप्रयोग करते हैं, उसका विपरीत अर्थ कल्पना करके दोष उद्भावन करनेका नाम छल है। जैसा कि "नवकम्बलोऽयंमनुष्यः" इस वाक्यमें वक्ताका अभिप्राय यह है कि, यह मनुष्य नूतन कम्बलसे युक्त है, परन्तु छल वादी कहेंगे कि, इस मनुष्यकेपास ९ कम्बल हैं। व्यावृत्तिकी अपेक्षा न करके केवल साधर्म्य और वैधर्म्यके बलसे जो दोष निकाला जाय, उसका नाम जाति है। इसके चौबीस भेद हैं, जो मूलदर्शनमें द्रष्टव्य हैं। जिसकेद्वारा विचारकार्यका विपरीत ज्ञान या प्रकृत विषयमें अज्ञान प्रकाश होता है, उसका नाम निग्रहस्थान है। पहले एकप्रकार-की प्रतिज्ञा करके पीछे उसका त्याग कर देना, दूसरे पक्षमें दोष होनेपर भी दोष उद्भावन न करना, दूसरेद्वारा अपने ऊपर दिये हुए दोषोंका खण्डन न करना इत्यादि निग्रहस्थानके लक्षण हैं। महर्षि गौतमकी सम्मतिमें इन षोडश पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है।

शरीरसे आत्माका संयोग होनेसे अहं ज्ञानका उदय होकर आत्माको दुःख होता है। इसलिये शरीरसे आत्माको पृथक् कर देनाही इस दर्शनकेअनुसार मुक्ति है। न्यायदर्शनमें ईश्वरका प्राधान्य और मुक्तिके हेतु न होनेपर भी इसमें ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। बहुतप्रकारके तर्कवादकेद्वारा वेदका भी प्रामाण्य स्वीकार किया है। इन सब विषयोंपर आगेके समुल्लासोंमें चर्चा की जायगी।

(वैशेषिकदर्शन)

न्याय और वैशेषिक एक श्रेणीके दर्शन हैं। महर्षि कणाद इस दर्शनके प्रवर्त्तक हैं। इसमें "विशेष" नामक एक अतिरिक्त पदार्थ स्वीकृत होनेसे इसका नाम वैशे-षिक दर्शन हुआ है। वैशेषिक दर्शनमें ३७० सूत्र हैं, जो दस अध्यायोंमें विभक्त हैं। एक एक अध्यायमें दो दो आह्निक हैं। इससे मालूम होता है कि, २० दिनमें यह दर्शन बनाया गया है। प्रथम अध्यायके प्रथम आह्निकमें जातिमान् अर्थात् द्रव्य गुण कर्म एवं द्वितीयाह्निकमें सामान्य या जाति और विशेष पदार्थका निरूपण किया गया है। द्वितीयाध्यायके प्रथमाह्निकमें भूतपदार्थ, द्वितीयाह्निकमें काल और दिक् एवं तृतीयाध्यायके दोनों आह्निकोंमें आत्माका निरूपण किया है। अधिकन्तु इस अध्यायके द्वितीयाह्निकमें मनका निरूपण किया गया है। चतुर्थाध्यायके प्रथमा-ह्निकमें जगत्का मूल कारण व कतिपय प्रत्यक्षका कारण वर्णित है। द्वितीयाह्निमें शरीरपर

विचार किया गया है। पञ्चमाध्यायके प्रथमाह्निकमें शारीरिक कर्म, द्वितीयाह्निकमें मानसिक कर्म एवं षष्ठाध्यायके प्रथमाह्निकमें दान और प्रतिग्रह, द्वितीयाह्निकमें आश्रम धर्म तथा सप्तमाध्यायके दोनों आह्निकोंमें रूप आदि गुण व सामान्यपर विचार किया गया है। अष्टमाध्यायके प्रथमाह्निकमें प्रत्यक्ष ज्ञान, द्वितीयाह्निकमें ज्ञानसापेक्ष ज्ञान व ज्ञानसाधन इन्द्रिय, नवमाध्यायके प्रथमाह्निकमें अभाव व कतिपय प्रत्यक्ष कारण, द्वितीयाह्निकमें अनुमान स्मृतिआदि तथा दशमाध्यायके प्रथमाह्निकमें सुख दुःख और द्वितीयाह्निकमें समवायीआदि कारणोंपर विचार किया गया है। प्रसङ्गतः इन सब अध्यायोंमें और सब विषय भी वर्णन किये गये हैं।

वैशेषिकदर्शनका प्रतिपाद्य आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति है। दर्शनकार इसप्रकार ग्रन्थको प्रारम्भ करते हैं :—

अथाऽतो धर्मं व्याख्यास्यामः।
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥

अब धर्मकी व्याख्या करेंगे। जिससे अभ्युदय व आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति होती है, वही धर्म है। महर्षि कणादकी सम्मतिमें निःश्रेयस या अत्यन्त दुःखनिवृत्ति तत्त्वज्ञानसे होती है, अतः इसी दर्शनमें कहा है कि:—

धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्य-
विशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवै-
धर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।

धर्मविशेषसे उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय, इन छः पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्य-ज्ञानजनित तत्त्वज्ञानकेद्वारा निःश्रेयसलाभ होता है। इसप्रकारसे निःश्रेयसलाभका उपाय बतानाही वैशेषिक दर्शनका उद्देश्य है। साधर्म्य अर्थात् साधारण धर्म, यथा—पृथिवी जलआदि द्रव्योंका साधारण धर्म द्रव्यत्व है। द्रव्यका वैधर्म्य गुणत्व है क्योंकि द्रव्यका गुणत्व दृष्ट नहीं होता है। द्रव्य नवप्रकारके हैं, यथा—क्षिति, अप्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। क्षिति अप्, तेज वायु ये चार भूत नित्य अनित्य भेदसे द्विविध हैं। परमाणुरूपमें नित्य हैं और परमाणु संघातसे उत्पन्न शरीर इन्द्रिय और विषयरूपमें अनित्य हैं। वैशेषिकके मतमें पृथिव्यादि चारप्रकारके द्रव्यके परमाणु और आकाशादि पाँच द्रव्य नित्य हैं। आत्मा ज्ञानका आश्रय है। आत्माका मानस प्रत्यक्ष होता है। आत्मा प्रत्येक शरीरमें भिन्न भिन्न है। वैशेषिकके मतमें मन अणुप्रमाण है और आत्मा, सुख, दुःखादि प्रत्यक्षका करण है। द्रव्य गुणका आश्रय है। शून्य होकर द्रव्य नहीं रह सकता है। वैशेषिकके मतमें आकाश किसी द्रव्यका आरम्भक नहीं है। आकाश विभु और शब्दका आश्रय है। जागतिक कोई पदार्थ आकाशसम्बन्धसे रहित नहीं है। जिस पदार्थमें गुणत्व जाति है, उसे गुण कहते हैं। गुण २४ प्रकार के हैं। यथा—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग,

विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुणत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म और अधर्म। परिमाण चारतरहका है; अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ। गुणोंके अलग अलग लक्षण मूलग्रन्थमें द्रष्टव्य हैं।

कर्म पाँचप्रकारका है; उत्क्षेपण अर्थात् ऊर्ध्वक्षेपण, अवक्षेपण अर्थात् निम्नक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। सामान्यका अर्थ जाति है। जाति दोतरहकी होती है, परा और अपरा; अधिकदेशवृत्ति जाति परा और अल्पदेशवृत्ति जाति अपरा है; यथा—मनुष्यत्व, अश्वत्व, गोत्वआदि अपरा और प्राणित्व परा जाति है। विशेषका अर्थ किसी किसीने व्यक्ति कहा है; यथा—सामान्य अर्थ जाति और विशेष अर्थ व्यक्ति है, परन्तु सबकी सम्मति ऐसी नहीं है। उनके विचारमें जिस असाधारण धर्मकेद्वारा निरवयव पदार्थोंकी परस्पर भेदसिद्धि होती है, उसीका नाम विशेष है। वैशेषिक मतावलम्बी लोग कहते हैं कि, द्व्यणुकसे लेकर घटादिपर्यन्त समस्त सावयव द्रव्योंका परस्पर भेद अपने अपने अवयवभेदसे सिद्ध होता है, परन्तु धर्मकेद्वारा निरवयव जातिके दोनों परमाणुओंमें पारस्परिक भेद सिद्ध होता है, उसीका नाम विशेष है। इसी विशेष पदार्थके विश्लेषणरूप हेतुसे ही इसका नाम वैशेषिकदर्शन हुआ है। समवाय नित्य सम्बन्ध है। तन्तुकेसाथ वस्त्रका, गुणकेसाथ गुणीका घटकेसाथ मिट्टीका या जातिकेसाथ व्यक्तिका जो नित्य सम्बन्ध है, उसीको समवाय सम्बन्ध कहते हैं। अभावके दो भेद हैं, संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव अर्थात् सम्बन्धका अभाव तीनप्रकारका है; यथा—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। सूत्रमें वस्त्रका प्रागभाव है, घट चूर्ण होजानेसे या देह भस्म होजानेसे पूर्व उसमें उसका प्रध्वंसाभाव और जड़में चेतनका अत्यन्ताभाव है। अन्योन्याभाव; यथा—अश्व गज नहीं। इसलिये अश्वमें गजका जो अभाव है, या गजमें अश्वका जो अभाव है, उसे अन्योन्याभाव कहते हैं। महर्षि कणादकी सम्मतिमें ऊपरके छः पदार्थ हैं और भावका अभाव ही अभाव पदार्थ है।

वैशेषिकदर्शनकेअनुसार इन षट् भाव पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है। इसमें प्रधानतः सप्त पदार्थोंकी अर्थात् छः भाव और एक अभावकी संज्ञा निर्देश करके इसकेबाद तत्तद्विभागान्तर्गत विभागोंकी संज्ञा निर्देश की गयी है। इसीकारण वैशेषिकदर्शनको सप्तपदार्थ वादी भी कहते हैं। इसमें क्षिति क्या है ? जल क्या है ? तेज क्या है ? उत्क्षेपण आकुञ्चनआदि भी क्या हैं ? इन सबोंकी व्याख्या सूत्ररूपसे की गयी है। पृथिवीआदिके लक्षणोंमें महर्षि कहते हैं कि:—

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी। रूपरसस्पर्शवत्य आपोद्रवाः स्निग्धाः।
तेजोरूपस्पर्शवत्। स्पर्शवान् वायुः। त आकाशे न विद्यन्ते॥

जिसमें रूप रस गन्ध और स्पर्श है, वही पृथिवी है। रूप रस स्पर्शसे युक्त द्रव और स्निग्ध जल है। जिसमें रूप और स्पर्श है, वह तेज है। जिसमें स्पर्श है, वायु है। जिसमें रूप वह रस, गन्ध, और स्पर्श कुछ भी नहीं है, वह आकाश है। इसप्रकारसे प्रत्येक पदार्थकी संज्ञा निर्देश करके कारण परम्पराका अनुसन्धान करते हुए महर्षि कणादने यह सिद्धान्त किया है कि :—

सदकारणवन्नित्यम् ।

सत्पदार्थोंमें, जिसका कारण न हो, वह नित्य है। इस दृष्टिसे परमाणु ही सत् और नित्य पदार्थ है। इसका कोई कारण नहीं है। परमाणुवाद तत्त्वतः महर्षि कणादकेद्वाराही प्रचलित हुआ है। उनकी समतिमें यह संसार परमाणुके संयोगसे उत्पन्न हुआ है। यह संयोग किसी अव्यक्त कारणसे होता है। प्रशस्तपाद आचार्यने इसको भगवान्की इच्छा कहा है। पृथिवीके सकल पदार्थ परमाणुके समष्टिमात्र हैं। विभाग करते करते सभी पदार्थ एक सूक्ष्मतम दशाको प्राप्त होते हैं। जिस दशामें उनको फिर विभक्त नहीं किया जा सकता है, वही अविभाज्य सूक्ष्मतम पदार्थ नित्य परमाणु हैं। वैशेषिकदर्शनमें ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किया गया है, परन्तु जीवकी मुक्तिकेसाथ उसका सम्बन्ध विशेष नहीं बतलाया गया है। उनकी समतिमें पदार्थोंके तत्त्वज्ञानकेद्वारा अदृष्टका नाश होता है, जिससे जीवको मुक्ति मिलती है। इन सब बातोंका विचार आगेके समुल्लासोंमें किया जायगा। वैशेषिकके मतमें प्रमाण दो तरहके हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान। शब्दप्रमाण अनुमानके ही अन्तर्गत है। किसी द्रव्यके लानेकेलिये कहनेसे शब्द सुनकर ही उस द्रव्यके विषयमें अनुमान होता है। अतः शब्द भी अनुमान प्रमाणके अन्तर्गत है। प्रत्यक्ष धूमके देखनेसे, जिसप्रकार अप्रत्यक्ष वह्निका अनुमान होता है; उसीप्रकार प्रत्यक्ष शब्द सुननेसे अप्रत्यक्ष पदार्थका अनुमान होता है। लिङ्गदर्शनसे हो या शब्दश्रवणसे हो; अप्रत्यक्ष पदार्थका ज्ञानमात्र ही अनुमिति है। अतः नैयायिक सम्मत उपमान भी वैशेषिकके मतमें अनुमान प्रमाणके अन्तर्गत है। इसप्रकार पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे जीवको निःश्रेयस लाभ होता है

(योगदर्शन)

योगदर्शनके प्रवर्त्तक श्री भगवान् पतञ्जलि हैं। इसमें कुल १९५ सूत्र हैं, जिनपर श्रीभगवान् वेदव्यासने भाष्य किया है। योगदर्शनके चार पाद हैं, यथा— समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। प्रथमपादमें योगका उद्देश्य और लक्षण, वृत्तिका लक्षण, योगका उपाय, फल और प्रकारभेद वर्णित हुआ है। दूसरे पादमें क्रियायोग, क्लेश कर्म विपाक और उसका दुःख, हेय, हेयहेतु, हान और हानोपायरूपी व्यूहचतुष्टयका वर्णन किया गया है। तृतीयपादमें योगका अन्तरङ्ग परिणाम, संयमकेद्वारा प्राप्त विभूति और विवेकसे उत्पन्न ज्ञानका प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थपादमें मुक्तिके योग्य चित्त, परलोकसिद्धि, बाह्यार्थसद्भावसिद्धि, चित्तातिरिक्त आत्माकी सिद्धि, धर्ममेघसमाधि, जीवन्मुक्ति व विदेह कैवल्यका वर्णन है। पातञ्जलदर्शनका और एक नाम साङ्ख्य प्रवचन है। इसका कारण यह है कि, श्रीभगवान् पतञ्जलिने साङ्ख्यदर्शनके प्रवर्त्तक महर्षि कपिलके दार्शनिक सिद्धान्तोंको ग्रहण किया है। सांख्योक्त पञ्चविंशति तत्त्व अर्थात् पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय और पञ्च महाभूत इसमें स्वीकृत हुए हैं। परन्तु पतञ्जलिने इसकेसिवाय और एक तत्त्वका प्रचार किया

है, वह तत्त्व ईश्वर है। ईश्वर सांख्योक्त पुरुष नहीं है, परन्तु पुरुषविशेष है। पातञ्जल सूत्र है कि :—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

जो विशेष पुरुष क्लेश, कर्म, कर्मफल और संस्कारके सम्बन्धसे रहित हैं, वही ईश्वर हैं। उनमें चरम ज्ञानका बीज है। कालकेद्वारा अवच्छिन्न न होनेसे वे ब्रह्मादिके भी गुरु हैं। अन्यान्य पुरुष अर्थात् सांख्यकथित बहुपुरुष इस दर्शनकथित ईश्वरकी तरह नहीं हैं। उनमें क्लेश, कर्म, कर्मफल और संस्कारका सम्बन्ध है। क्लेशादि भोगके हेतु हैं। ईश्वरमें क्लेशादिके न रहनेसे उनका भोग नहीं है। क्लेशादि अन्तःकरणके धर्म होनेपर भी सान्निध्यवशात् पुरुषमें भी उपचरित होते हैं। पुरुष उनके भोक्ता हैं। गीतामें कहा है कि :—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

पुरुष प्रकृतिसे युक्त होकर प्रकृतिके विषयोंका भोग करता है। जिसप्रकार युद्धका जय वा पराजय स्वामी (राजा) पर ही आरोपित होता है, उसीप्रकार बुद्धिस्थ भोगादि पुरुषमें उपचरित होते हैं।

क्लेश पाँचप्रकारके हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। मिथ्या ज्ञानको अविद्या कहते हैं। योगदर्शनमें कहा है कि:—

अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या।

अनित्य वस्तुमें नित्यत्वज्ञान, अशुचि शरीरादिकोंमें शुचित्व ज्ञान, दुःखमें सुखज्ञान और अनात्मा देहादिकोंमें आत्मज्ञान अविद्या है। संसारके सब सुखोंके साथ दुःख मिला हुआ है। इसलिये अज्ञानीलोगोंके परिणाम ताप संस्कारदुःखमिश्रित सांसारिक सुखमें मत्त होनेपर भी विवेकी लोग उसे दुःख ही समझते हैं। बुद्धि और पुरुष वास्तवमें परस्पर भिन्न होनेपर भी दोनोंकी एकरूपताज्ञानका नाम अस्मिता है। राग द्वेषके विषयमें योगदर्शनमें लिखा है :—

सुखानुशायी रागः।

दुःखानुशायी द्वेषः॥

सुखके विषयमें अभिलाषका नाम राग और दुःखसाधनमें चित्ताके विरागका नाम द्वेष है। अभिनिवेश अर्थात् मृत्युभय, जो प्राकृत संस्कारकेकारण विद्वान् अविद्वान् सभीको होता है। यही पाँचप्रकारके क्लेश हैं। इनकेद्वारा संसारमें जीवको दुख मिलता है। योगदर्शन इसी दुःखसे मुक्त करके पुरुषको स्वरूपमें प्रतिष्ठित करता है। पातञ्जलदर्शनके मतमें तत्त्व २५ पच्चीस नहीं हैं। २६ छब्बीस हैं, परन्तु इन

तत्त्वोंकी आलोचना योगदर्शनका मुख्य विषय नहीं है। योग ही इस दर्शनका मुख्य विषय है। योगका स्वरूप, साधन, गौणफल विभूति और मुख्य फल कैवल्यका तत्त्व-निर्णय, इसका प्रतिपाद्य विषय है।

योगशास्त्र चिकित्साशास्त्रकीतरह चार पर्वोंमें विभक्त है। जिसप्रकार चिकित्साशास्त्र रोग, निदान, आरोग्य व औषध इन चार अध्यायोंमें विभक्त है; उसीप्रकार योगशास्त्रके भी चार पर्व हैं। यथा—हेय, हेयहेतु, हानि और हानोपाय। अन्यान्य-दर्शनोंकीतरह पातञ्जल दर्शनके मतमें भी संसार दुःखमय है, अतः हेय है। सूत्रमें कहा है कि:—

दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

विवेकीकेअर्थ सब संसारही दुःखमय है। हेयरूपी संसारका हेतु, हान और हानोपायके लक्षण सूत्रोंमें निम्नलिखित रीतिसे वर्णित हैं—

द्रग्द्रश्ययोः संयोगो हेयहेतुः

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेःकैवल्यम्।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

इस हेय संसारका निदान, अर्थात् हेतु प्रकृति पुरुषका संयोग है। परन्तु प्रकृतिपुरुषसंयोगजन्य इस संसारका उच्छेद होना सम्भव है, इसीको हान कहते हैं। इस हानका उपाय प्रकृति पुरुषका यथार्थतः भेद ज्ञान है। इसप्रकार प्रकृति पुरुषका भेदज्ञान ठीक ठीक होनेसे मोक्ष होता है। सांख्यदर्शनके मतमें २५ तत्त्वोंके ज्ञानसे यह ज्ञान होता है, परन्तु योगदर्शनके मतमें योगकेद्वाराही एतादृश विवेक हो सकता है। योगका लक्षण यह है:—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम योग है। चित्तकी पाँच अवस्थायें या भूमियाँ हैं। यथाः—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें प्रथम तीन अवस्था योगावस्थाके नीचे व्युत्थानदशामें होती हैं। तमोगुणके आधिक्यसे प्रमाद या मोहकेद्वारा आच्छन्न अवस्थाही मूढ़ है। रजोगुणके आधिक्यसे चञ्चलअवस्था क्षिप्त है। और कभी-कभी सत्त्वगुणके उदय होनेसे चित्तकी जो वृत्तिशून्य निश्चल अवस्था होती है, उसका नाम विक्षिप्त है। यह अवस्था क्षणिक होती है। इन तीनों-केअतिरिक्त एकाग्र दशामें योगद्वारा चित्तवृत्तिनिरोध होना प्रारम्भ होता है। इस एकाग्रवृत्तिसे परे निरुद्धवृत्तिका उदय होता है, वही पाँचवीं वृत्ति है और इसी वृत्तिमें योगकी प्राप्ति होती है। चित्तकी पञ्चावयववृत्ति क्लिष्ट व अक्लिष्ट भेदसे द्विधा विभक्त है। साधारणतः राजस तामस वृत्ति क्लिष्ट और सात्त्विक वृत्ति अक्लिष्ट है। इसप्रकार द्विधा भिन्न वृत्ति पञ्चावयव है। यथाः—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाण तीनप्रकारका है:—प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम। विपर्यय अर्थात्

मिथ्याज्ञान, यथा–शुक्तिमें रजतज्ञान। वस्तु न होनेपर भी शब्दज्ञानकेकारण जो वृत्ति है, उसे विकल्प कहते हैं। यथा–आकाशकुसुम शशश्रृङ्ग। सुषुप्तिकालीन चित्तवृत्तिका नाम निद्रा है। निद्राकेअनन्तर निद्राकालका सुख याद रहता है। इस लिये निद्रा भी वृत्ति कही गयी है। चित्तमें रहे हुए विषयका पीछेसे स्मरण करना स्मृति है। इन पाँचोंसेअतिरिक्त और वृत्ति नहीं है। चित्तकेसाथ पुरुषका संयोग रहनेसे वे सब वृत्तियाँ पुरुषमें उपचरित होती हैं। योगकेद्वारा इनके निरोध होनेसे इनका प्रतिविम्व पुरुषपर नहीं पड़ता है। उस समय क्या अवस्था होती है, सो श्रीभगवान् पतञ्जलिजी वर्णन करते हैं कि: —

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

तव पुरुष अपने स्वरूपमें अवस्थान करते हैं। इसप्रकारसे योगकी प्राप्तिद्वारा स्वरूप–साक्षात्कार होनेसे कैवल्यकी प्राप्ति होती है। यही योगका फल है। इसी योग फलकी प्राप्तिके उपायके विषयमें पूज्यपाद महर्षिने यह कहा है कि:—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

चित्तवृत्ति निरोधका उपाय अभ्यास व वैराग्य है। स्वरूपमें स्थित होनेके-लिये यत्न करना अभ्यास है। दृष्ट व अदृष्ट विषयोंमें वितृष्णाका नाम वैराग्य है। अभ्यास और वैराग्यद्वारा चित्तकी एकाग्रता पूर्ण होकर पश्चात् निरुद्ध दशा प्राप्त होती है। इसीका नाम योग या समाधि है। समाधिकी भी दो अवस्थायें हैं, यथा–सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञातके भी चार भेद हैं। यथा—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। जब स्थूल सूक्ष्म जगत्केसाथ, उससे परे जो पुरुष उसका सम्बन्ध रखकर वृत्ति निरोध होता है, वह दशा वितर्क है। जगत्को छोड़कर केवल पुरुषसत्ताके अवलम्बनपूर्वक निरोधका नाम विचार है। पुरुषमें प्रतिष्ठित आनन्दभावमें चित्तनिरोध करके उसकी ही उपभोगदशा आनन्दपदवाच्य है। उससे भी परे केवल अपने अस्तित्वका अनुभव करानेवाली निरोध दशाका नाम अस्मिता है। सविकल्प या सम्प्रज्ञात समाधिकी इन चारों दशाओंमें ही प्रकृतिका सूक्ष्म सम्बन्ध रहता है। इससे परे असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधिकी भूमि है, जिसमें प्रकृतिका सम्बन्ध बिलकुल नहीं रहता है।

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात इन दोनों दशाओंके बीचमें एक योग विघ्न होता है, जिसका नाम भवप्रत्यय है। कोई-कोई साधक चित्तको एकाग्र करता हुआ अन्तमें उसको प्रकृतिके ही सूक्ष्म भावमें लय कर देता है। इसप्रकारसे प्रकृतिविलीन चित्तको वुद्धि-प्रतिविम्बित चैतन्यका आभास सुख मिलने लगता है। वह साधक उस प्रतिविम्बित सुखको ही वास्तविक आनन्द मानकर वर्षोंतक उसीतरह जड़समा-धिग्रस्त रहता है। हठ लयआदि वितर्क-विचार-विहीन योगोंकी समाधिमें ऐसी जड़ समाधिरूप भ्रान्ति होती है। यह एकप्रकारका योगविघ्न है। अतः भवप्रत्यय अर्थात् पुनः संसारका कारण है, क्योंकि पुरुषमें चित्तका लय न होकर इसकेद्वारा प्रकृतिमें ही लय होनेसे उसप्रकारकी समाधिसे युक्त साधकका पुनः पतन होता है। दुःखका

विषय है कि, आजकल योगके वास्तविक तत्त्वको न जाननेसे बहुत लोग इसप्रकारके जड़समाधिग्रस्त लक्ष्यभ्रष्ट योगियोंको ही सच्चे योगी मानने लगे हैं। बहुतसी हठादि योगोंकी क्रियाओंकेद्वारा श्वासप्रश्वासरहित अप्राकृतिक समाधि या मूर्च्छाका अभ्यास करके बहुतसे झूठे योगी भोलेभाले गृहस्थोंको फँसाकर स्वार्थसिद्धि, धनसञ्चय और योगविद्याका व्यापार भी करने लग गये हैं। बीस रोजतक समाधि चढ़ायी, ६ महीने जमीनके अन्दर गाड़ दिये गये थे इत्यादि अनेक सिद्धाईकी बातोंसे संसारमें बहुत भ्रष्टता फैल रही है। सच्चा विचार करनेपर मालूम होगा कि, वे सब बातें यथार्थ योगकी और आध्यात्मिक उन्नतिकी नहीं हैं, परन्तु जड़समाधि या उससे भी नीचे साधारण प्राणायामआदिकी सिद्धिकी बातें हैं, जिससे योगीकी उन्नति न होकर उल्टा पतन होता है। अतः इन सब दुकानदार योगियोंसे सबको सावधान रहना चाहिये।

सम्प्रज्ञात समाधिके इस भवप्रत्ययरूपी विघ्नको दूर करनेकेलिये योगिराज पतञ्जलिने कहा है कि :—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।

श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, एकाग्रता और विवेकके रहनेसे भवप्रत्यय न होकर असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्विकल्प समाधि होती है, जो योगका चरम फल है। जिस अभ्यासके परिपाकसे योगीको असम्प्रज्ञात समाधिदशा प्राप्त होती है, योगदर्शनमें उसे अष्टाङ्गमें विभक्त किया गया है। यथाः—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इनका नाम यम है। शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं। जिसप्रकार स्थिर और सुखसे बैठा जाय, वह आसन है। श्वासप्रश्वासके नियमनसे प्राणसंयम करनेको प्राणायाम कहते हैं। इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेका नाम प्रत्याहार है। अन्तर्जगत्के एकदेशमें चित्तके धारण करनेका नाम धारणा है। ध्यानका लक्षण यह है कि :—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

चित्तवृत्तिके एकतान प्रवाहका नाम ध्यान है। ध्यानके समय ध्याता अर्थात् ध्यान करनेवाला, ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य इष्ट और ध्यान यह त्रिपुटी रहती है। समाधिका लक्षण श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने किया है कि :—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

जिस समय ध्यान परिपक्व होनेसे ध्याता ध्येय ध्यान तीनों एक होजाते हैं, उसीका नाम समाधि है। समाधि दोप्रकारकी है। सवीज व निर्वीज या सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात। सवीजमें त्रिपुटीका लय होनेपर भी सूक्ष्म संस्कार रहता है। निर्वीजका लक्षण सूत्रकारने किया है किः—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।

निर्बीज समाधिमें उस सूक्ष्म संस्कारका भी निरोध होजानेसे सकलवृत्तियोंका निरोध होजाता है। कोई भी वृत्ति नहीं रहती है। इस निर्बीज समाधिके होनेसे पुरुष स्वरूपमें अवस्थान करते हैं। यही पातञ्जलदर्शनका परम लक्ष्य है। इस अवस्थामें अविद्याआदि क्लेश और कर्मरूप आवरणसे जीव मुक्त होता है। तब प्रकृति उसकेलिये भोग व संसारका विस्तार नहीं कर सकती है।

समाधिसिद्धिकेलिये अभ्यास और वैराग्यके अतिरिक्त महर्षि पतञ्जलिजीने और एक उपाय बताया है। यथा :—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।

ईश्वरभक्तिकेद्वारा भी समाधि लाभ होता है। ईश्वर प्राणिधानसे क्या क्या होता है, इसकेलिये उन्होंने कहा है कि:—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

ईश्वर प्राणिधानके फलसे व्याधि, संशय, प्रमादआदि चित्तविक्षेपक अन्तराय-समूह दूर होते हैं और पुरुषकी उपलब्धि होती है।

चित्तको स्थिर और विक्षेपोंको दूर करनेकेलिये योगदर्शनमें और भी कई उपाय वर्णित किये गये हैं। यथा:—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ।

चित्तके विक्षेपोंको दूर करनेकेलिये एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां

भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा, और पापीकेप्रति यथाक्रम मैत्री, करुणा, सन्तोष व उपेक्षा बुद्धि रखनेसे चित्तप्रसाद लाभ होता है।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।

प्राणवायुके निस्सारण व धारणकेद्वारा भी चित्तकी स्थिरता होती है।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ।

रूप, रस, गन्धआदि किसी इन्द्रियके विषयमें मुग्ध न होकर उसमें चित्तकी धारणा करनेसे चित्त स्थिर होता है।

विशोका वा ज्योतिष्मती ।

शोकरहित सात्त्विक प्रकृतिकी ज्योतिमें भी चित्तको धारण करनेसे चित्त शान्त होता है।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ।

वीतराग पुरुषोंके ध्यानसे भी चित्त स्थिर होता है।

स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बनं वा।

स्वप्न व सुषुप्तिकी बीचकी दशामें ज्ञान रखनेसे चित्त स्थिर होता है।

यथाऽभिमतध्यानाद्वा।

प्रकृतिके अनुकूल ध्यान करनेसे भी चित्त स्थिर होता है। इसप्रकारसे चित्त स्थिर होनेपर योगी उसे स्थूल, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म, जिस जिस अवस्थामें डालते हैं, वहाँ ही चित्त निर्लिप्तरूपसे स्फटिकवत् तदनुरूप बन जाता है। इस दशाका नाम समापत्ति है। इसके चार भेद हैं, सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार। इसकेलिये कहा है कि :—

ता एव सबीजा समाधिः।

ये सब सबीज समाधिके ही अन्तर्गत हैं। इसका फल क्या होता है ? सो कहते हैं :—

ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा।

इसके फलसे योगीमें ऋतम्भरा प्रज्ञाका उदय होता है। इससे स्थूल सूक्ष्म सब विषय योगीके करतलामलकवत् हो जाते हैं। उससे उत्पन्न संस्कारके विषयमें कहा है कि :—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।

उससे उत्पन्न संस्कार अन्य संस्कारको बाधित करता है। उस अन्य संस्कारको बाधित करनेवाले संस्कारके विषयमें भी लिखा है कि :—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।

योगी जब उस संस्कारका भी निरोध करते हैं, तो उनको निर्बीज समाधि या असम्प्रज्ञात समाधिका लाभ होता है।

साधनावस्थामें योगाभ्यासके फलसे योगीको बहुत सी अलौकिक शक्तियाँ मिलती हैं, जिनको सिद्धि या विभूति कहते हैं। योगदर्शनके तृतीय पादमें इसका वर्णन है। यथा:—सूर्यमें संयमसे भुवन-ज्ञान, चन्द्रमें संयमसे ताराव्यूह-ज्ञान, संस्कारमें संयमसे परचित्त-ज्ञान, कण्ठकूपमें संयमसे क्षुत्पिपासानिवृत्ति, बलमें संयमसे हस्तिबलप्राप्तिआदि। ये सब सिद्धियाँ प्रथम साधनदशामें रुचिकर होनेपर भी आध्यात्मिक उन्नतिके मार्गमें बाधाजनक हैं। यथा:—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

समाधिरहित पुरुषकेवास्ते ये सब सिद्धिरूप हैं, परन्तु समाधियुक्त योगीकेवास्ते उपसर्गमात्र हैं।

वेदान्तआदि दर्शनोंमें प्रारब्धआदि तीनप्रकारके कर्म माननेपर भी इस दर्शनमें दृष्ट व अदृष्ट दो ही कर्म माने गये हैं। यथाः—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

कर्माशय अविद्याआदि क्लेशोंका मूल है, जिसमें दृष्टजन्मवेदनीय अर्थात् इस जन्ममें भोगनेयोग्य और अदृष्टजन्मवेदनीय अर्थात् दूसरे जन्ममें भोगनेयोग्य, ये दोप्रकारके कर्म होते हैं। योगके प्रभावसे दृष्ट भी अदृष्ट और अदृष्ट भी दृष्ट बन-सकता है।

योगदर्शन सब दर्शनोंसे निर्विरोधी और सबका हितकारी है।

(साङ्ख्यदर्शन)

सांख्यदर्शनके प्रवर्त्तक महर्षि कपिल हैं। तत्त्वसमास सांख्यप्रचवनआदि इसके कई ग्रन्थ मिलते हैं। ईश्वरकृष्णकी सांख्य कारिका भी आजकलके प्रामाणिक ग्रन्थोंमें है। सांख्यदर्शनका कौन ग्रन्थ प्राचीन है, इस विषयमें मतभेद होनेपर भी विज्ञानभिक्षुने सांख्यप्रवचनका ही प्रामाण्य निरूपण किया है। सांख्य-प्रवचनके सूत्र छः अध्यायोंमें विभक्त हैं। प्रथम अध्यायमें हेय, हेयहेतु, हान और हानहेतुका निरूपण किया गया है। दुःख हेय है, प्रकृतिपुरुषका अविवेक अर्थात् अभेदज्ञान दुःखका हेतु है, दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिही हान है और विवेक-ज्ञान अर्थात् प्रकृति व पुरुषका पार्थक्यज्ञान हानहेतु अर्थात् अत्यन्त दुःखनिवृत्तिका हेतु है। यही सब विषय प्रथम अध्यायमें वर्णित किये गये हैं। द्वितीय अध्यायमें प्रकृतिका सूक्ष्म कारण और तृतीय अध्यायमें स्थूल कार्य, लिङ्ग शरीर, स्थूल शरीर, अपरवैराग्य व परवैराग्यका तत्त्व निरूपण किया गया है। चतुर्थाध्यायमें शास्त्र-प्रसिद्ध बहुतसी आख्यायिकाओंका उल्लेख करके विवेकज्ञानका उपदेश और पञ्चम अध्यायमें परपक्षका खण्डन किया गया है। षष्ठ अध्यायमें शास्त्रके मुख्य विषयोंकी व्याख्या और शास्त्रार्थका उपसंहार किया गया है।

पूर्वकथित दर्शनोंकीतरह सांख्यदर्शनका भी प्रतिपाद्य दुःखनिवृत्ति है। संसार दुःखमय है, पुरुषार्थकेद्वारा वह दुःख दूर होता है, ज्ञान ही परम पुरुषार्थ है। ज्ञानकेद्वारा मनुष्योंका दुःखनाश और उनको मुक्तिलाभ होता है, इसलिये सांख्य-सूत्रमें लिखा है किः—

ज्ञानान्मुक्तिः।

ज्ञानसे मुक्ति होती है। वह ज्ञान प्रकृति और पुरुषका पार्थक्यज्ञान है। महर्षि कपिलदेवजीने कहा है किः—

कुत्राऽपि कोऽपि सुखीति तदपि दुःखशबल-
मिति दुःखपक्षे विक्षिपन्ति विवेचकाः।

संसारमें सुख बिलकुल नहीं है। संसारमें जो कुछ सुख है, वह भी दुःखसे मिश्रित होनेकेकारण दुःखरूपी है, ऐसा विवेचक लोग निश्चय करते हैं। सांख्यदर्शनमें

इस दुःखको तीनप्रकारसे विभक्त किया है। यथा—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। आध्यात्मिक दुःख दोप्रकारके हैं, शारीरिक और मानसिक। रोगादि-जनित दुःख शारीरिक और काम, क्रोध, लोभ, ईर्षा, शोकआदि-जन्य दुःख मानसिक है। देवतासे अर्थात् वात, वृष्टि, वज्रपातआदिसे उत्पन्न दुःख आधिदैविक है। मनुष्य पशु पक्षीआदि भूतोंसे उत्पन्न दुःख आधिभौतिक है। जबतक शरीर है, तबतक ये तीन दुःख भोगनेही पड़ेंगे। दुःख उपादेय नहीं हैं, हेय हैं। उनका हान अर्थात् निवृत्ति सकल जीवोंको अभीप्सित है और क्षणिक निवृत्तिमें विशेष लाभ नहीं है। अतः दुःखनिवृत्ति आत्यन्तिक होनी चाहिये। यही जीवका पुरुषार्थ है। इसलिये सांख्यकारने सूत्र कहा है किः—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति अत्यन्त पुरुषार्थ है। लौकिक उपायकेद्वारा त्रिविध दुःखकी निवृत्ति होनेपर भी अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि देखनेमें आता है कि, औषधिसेवनकेद्वारा शारीरिक दुःखकी और इष्टसाधनकेद्वारा मानसिक दुःखकी निवृत्ति होनेपर भी उसका फल क्षणिक होता है, स्थायी नहीं होता है। अतः लौकिक उपायसे दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकती। दुःखनिवृत्तिकेलिये वैदिक उपाय है। वेदोक्त यज्ञादिके अनुष्ठानसे जीवको सुखमय स्वर्गलाभ हो सकता है, परन्तु वह भी उपाय समीचीन नहीं है, क्योंकि कर्मके तारतम्यानुसार स्वर्गसुखमें भी तारतम्य होता है, इससे स्वर्गवासियोंमें ताप-दुःख होना अवश्यम्भावी है। द्वितीयतः पुण्यकर्मकेक्षय होनेसे स्वर्गवासियोंको पुनः दुखमय संसारमें लौट आना पड़ता है। इसलिये सांख्या-चार्यने कहा है कि, दुःखनिवृत्तिकेलिये लौकिक या वैदिक कोई भी उपाय ठीक नहीं है। सांख्यकारिकामें उन्होंने कहा है किः—

दुःखत्रयाऽभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे सा पार्था चेन्नैकान्ताऽत्यन्ततोऽभावात्॥

दुःखत्रयके अभिघात होनेसे उनके नाशकेलिये जिज्ञासा होती है, परन्तु दृष्ट उपायकेद्वारा दुःखका नाश होनेपर भी आत्यन्तिक नाश नहीं होता है। सांख्य-सूत्रमें कहा है किः—

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनात्।

दृष्ट उपायकेद्वारा वह फल नहीं होता है, क्योंकि उससे दुःखकी निवृत्ति होनेपर भी पुनः दुःखोत्पत्ति होती है। और भी लिखा है किः—

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।

दुःखनाशकेलिये दृष्ट उपायकीतरह अदृष्ट उपाय भी यथेष्ट नहीं है, क्योंकि उसमें अविशुद्धि और क्षय दोष होता है। तब दुःखनिवृत्तिका यथार्थ उपाय कौनसा है, इसीको ही निश्चय करना सांख्यशास्त्रका उद्देश्य है।

सांख्यदर्शनकी सम्मतिमें दुःखनिवृत्तिका ऐकान्तिक उपाय प्रकृति और पुरुषका विवेक है। सांख्यकारिकामें कहा है किः--

तद्विपरीतः श्रेयान्व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात्।

प्रकृति और पुरुषका भेदसाक्षात्कार ही श्रेष्ठतर उपाय है, वह व्यक्त अर्थात् विकृति, अव्यक्त अर्थात् प्रकृति और ज्ञ अर्थात् पुरुष, इन तीनोंके विशेष ज्ञानसे उत्पन्न होता है। सांख्यकारिकामें कहा है किः--

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्य्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

तत्त्वोंके पुनः पुनः अभ्यास करनेसे भ्रमरहित विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे पुरुषको मालूम होता है कि, वह प्रकृतिका कर्त्ता भोक्ता कुछ भी नहीं है, उससे बिलकुल अलग निष्क्रिय ज्ञानरूप और साक्षीरूप है। इस दशामें सुख दुःख दोनोंका ही तिरोधान होता है। सांख्यसूत्रमें कहा है किः--

नोभयञ्च तत्त्वाख्याने।

तत्त्वोंके साक्षात्कार होनेसे सुख दुःख दोनों ही नहीं रहते हैं। ये तत्त्व विकार सहित प्रकृति और पुरुषको लेकर २५ पच्चीस हैं। सांख्यसूत्रमें कहा है किः-

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः,
प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारा-
त्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः
स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः।

तत्त्वसमासके सूत्रमें लिखा है किः—

अष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः पुरुषः।

सत्त्व रजः तमः इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था मूल प्रकृति है, उसका विकार महत्तत्त्व, महत्तत्त्वका विकार अहङ्कारतत्त्व, अहङ्कारतत्त्वका विकार पञ्चतन्मात्रा और एकादश इन्द्रियां, पञ्चतन्मात्राका विकार पञ्चमहाभूत, एवं पुरुष, यही पञ्चविंशति तत्त्व हैं। प्रकृतिके लक्षणके विषयमें कहा गया है किः—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं,
तथा च नित्यं रसगन्धवर्जितम्।
अनादिमध्यं महतः परं ध्रुवं,
प्रधानमेतत्प्रवदन्ति सूरयः॥

प्रकृति नित्य, अव्यय, इन्द्रियों और महत्तत्त्वकेपरे, आदिमध्यहीन और ध्रुव है। श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में लिखा है किः—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

प्रकृति एका, अजा, त्रिगुणमयी और सजातीय विकारोंकी सृष्टि करनेवाली है । सांख्यसूत्रमें लिखा है किः—

परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ।
प्रकृतेराद्योपादानता ।
मूले मूलाभावान्मूलममूलम् ।
प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम् ।

जगत्का जो अपरिच्छिन्न निर्विशेष और मूल उपादान है, वही सांख्यकी प्रकृति है, प्रकृतिका आदि अन्त नहीं है, प्रकृतिका उत्पादक कोई नहीं है, प्रकृति नित्य है । श्रीगीताजीमें लिखा है किः—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

प्रकृतिका नाम अव्यक्त है, क्योंकि प्रलय कालमें व्यक्त जगत्का अव्यक्त प्रकृति में तिरोधान होता है और सृष्टिके समय अव्यक्त प्रकृतिसे व्यक्त जगत्का आविर्भाव होता है । प्रकृतिका परिणाम होकर रूपान्तरमात्र होता है, क्योंकि प्रकृति अज, ध्रुव, नित्य और सद्वस्तु है । सांख्यसूत्रमें लिखा है किः-

नासदुत्पद्यते न सद्विनश्यति

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी स्पष्ट उल्लेख है किः—

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः,

असत्की उत्पत्ति और सतका विनाश नहीं होता । सांख्यकी सम्मतिमें परिणाम प्रकृतिका स्वभाव है, अर्थात प्रकृति प्रसवधर्म्मिणी है, इसलिये साम्यावस्था प्रकृतिमें परिणाम होता है । प्रथम परिणाम महत्तत्त्व और उसका भी परिणाम अहङ्कारतत्त्व है, जिससे रूप रस गन्ध स्पर्श एवं शब्द ये पञ्चतन्मात्रायें और एकादश इन्द्रियाँ अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्म्मेन्द्रियाँ एवं मनकी उत्पत्ति होती है । प्रकृति जड़ होनेपर भी पुरुषके भोग और मोक्षकेलिये स्वतः ही सृष्टि करती है । सांख्यसूत्रमें लिखा है कि:—

प्रधानसृष्टिः पदार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुंकुमवहनवत् ।
अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितम्प्रधानस्य कर्म्मवद्दृष्टेर्वा कालादेः ।

प्रकृति स्वयं ही सृष्टि करती है, वह सृष्टि अपनेलिये नहीं करती है, परन्तु उष्ट्र-के कुंकुमवहनकी नांई पुरुषके भोग और मोक्षके साधनकेलिये करती है । जिसप्रकार

वत्सकी पुष्टिकेलिये अचेतन दुग्धकी स्वतः प्रवृत्ति होती है। अथवा एक ऋतुकेबाद एक ऋतु स्वतः ही आता है, उसीप्रकार अचेतन प्रकृति भी पुरुषके भोग और मोक्ष-केलिये स्वतः ही परिणामको प्राप्त होती है। सांख्यकारिकामें कहा है कि:—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य,
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥

वत्सकी वृद्धिकेलिये जिसप्रकार अचेतन दुग्धकी प्रवृत्ति होती है, उसीप्रकार पुरुषकी मुक्तिकेलिये अचेतन प्रकृतिकी प्रवृत्ति होती है। प्रकृतिका इसप्रकार परि-णाम चेतन पुरुषके सान्निध्यमात्रसे सम्पन्न होता है। सांख्यदर्शनमें कहा गया है:-

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वन्मणिवत् ।

चुम्बकके कुछ न करनेपर भी केवल सामने रहनेपर जिसप्रकार लोहेमें प्रवृत्ति होती है, उसीप्रकार निष्क्रिय पुरुषके सान्निध्यमात्रसेही प्रकृतिका महदादिरूपेण परिणाम होता है। प्रकृतिकी साम्यावस्था नष्टहोनेपर जो पहला परिणाम होता है, उसको महत्तत्त्व कहते हैं। महत्तत्त्वका विकार अहंतत्त्व है। निर्विशेष सूक्ष्म पञ्चभूतको पञ्चतन्मात्रा-की संज्ञा प्रदान करते हैं। अहंकारतत्त्वके विकारसे यथाक्रम पञ्चतन्मात्रायें और एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्म्मेन्द्रियाँ और मन, ये एकादश इन्द्रियाँ हैं। अविशेष पञ्चतन्मात्रासे विशेष पञ्च स्थूलभूत क्षिति, अप् , तेज, मरुद् और व्योम उत्पन्न होते हैं।

सांख्यके मतमें जगत् त्रिगुणात्मक है, क्योंकि प्रकृति त्रिगुणमयी है। प्रत्येक विषयमें सुख दुःख मोहात्मक तीन गुणके अधिष्ठान रहनेसे एकही विषय अवस्थाभेद-से कहीं सुखकर, कहीं दुःखकर और कहीं मोहकर होता है। यथा—एकही स्त्री प्रिय-जनकेलिये सुखकी हेतु, सपत्नीकेलिये दुःखकी हेतु और निराश प्रेमीकेलिये मोह-की हेतु होती है। सांख्यका पचीसवां तत्त्व पुरुष है। सांख्यके मतमें पुरुष असङ्ग नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव है। प्रकृति जड़ और पुरुष चेतन, प्रकृति परिणा-मिनी और पुरुष निर्विकार, प्रकृति गुणमयी और पुरुष निर्गुण, प्रकृति दृश्य और पुरुष द्रष्टा, प्रकृति भोग्य और पुरुष भोक्ता, कूटस्थ, असङ्ग, अकर्त्ता एवं साक्षीमात्र है। सांख्यके मतमें प्रकृति एक, परञ्च पुरुष बहु हैं। सांख्यसूत्रमें कहा है कि:—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ।

बहुत पुरुष स्वीकार नहीं करनेसे जन्मादिकी व्यवस्था नहीं होती है। सांख्य-कारिकामें कहा है कि:—

जन्ममरणकरणानाम्प्रतिनियमादयुगप—
त्प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्च ।

सकल जीवोंका एकहीसाथ जन्म मृत्यु या इन्द्रियवैकल्य नहीं होता है, एकही कालमें सबकी प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती है, किसी पुरुषमें कोई गुण प्रबल है, किसी किसी पुरुषमें और कोई गुण प्रबल है, इसलिये पुरुष बहुत होने चाहियें। इसप्रकार-

की युक्तियोंकेद्वारा सांख्यकारने बहुपुरुषवाद सिद्ध किया है। सांख्यज्ञान-भूमिमें आरोहण करनेपर साधकको भी ऐसी उपलब्धि होने लगती है। सांख्य ज्ञानभूमिके-अनुसार जो स्वरूपकी उपलब्धि होती है, सो व्यष्टि शरीरावच्छिन्न कूटस्थ चैतन्यकी उपलब्धि है। उससमय अद्वितीय व्यापक चैतन्यके साक्षात्कार न होनेसे बहुपुरुष-वाद सांख्यज्ञान-भूमिकेअनुसार ठीक है। सांख्यके मतमें सृष्टिदशामें प्रकृति और पुरुष परस्पर संयुक्त रहते है, इसीकारण पुरुषका गुण प्रकृति और प्रकृतिका गुण पुरुषमें उपचरित होता है। सांख्यकारिकामें लिखा है कि:—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः ॥

प्रकृति और पुरुषके पास पास रहनेसे अचेतन प्रकृति चेतनवत् प्रतीत होती है और अकर्त्ता पुरुष कर्त्तावत् प्रतीत होता है। जिसप्रकार स्फटिकके सामने जवा-पुष्प रखनेसे पुष्पका रंग स्फटिकमें प्रतिफलित होता है, उसीप्रकार प्रकृतिगत सुख-दुःखादि पुरुषमें उपचरित होते है। स्वच्छ दर्पणमें कालिमा प्रतिबिम्बित होकर दर्पणगत स्वच्छताको जिसप्रकार मलिन कर देती है, उसीप्रकार सुखदुःखविकृता प्रकृति भी पुरुषको आच्छन्न कर देती है। प्रकृति और पुरुषका भोग्य भोक्तृत्वभाव अनादि अविवेककेद्वारा सिद्ध है। प्रलयकालमें अविवेक वासनारूपसे पुरुषमें संलग्न रहता है। सृष्टिदशामें उसी अविवेककेकारण भोग्यभोक्तृभाव निष्पन्न होता है। सांख्यकारिकाके आचार्य ईश्वरकृष्णने प्रकृति पुरुषके संयोगको अन्धपङ्गु संयोग रूपसे वर्णन किया है। यथाः—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥

जिसप्रकार अन्ध और पङ्गुकी अलग अलग होकर किसी कार्यके करनेकी शक्ति नहीं है, परन्तु दोनों के मिलनेपर कार्य सम्पन्न होता है। अन्धके पङ्गुको कन्धेपर लेनेसे दर्शन शक्तिसम्पन्न पङ्गु और चलनेवाला अन्ध, दोनों मिलकर अच्छे मनुष्य-कीतरह कार्य कर सकते हैं; ठीक उसीप्रकार निष्क्रिय व चेतन पुरुष और सक्रिय व अचेतन प्रकृति, दोनोंके संयोगसे सृष्टिक्रिया होती है। सृष्टिका उद्देश्य पुरुषका भोग और मोक्ष साधन है। जिसप्रकार कार्यसिद्धि होजानेकेबाद अन्ध और पङ्गु अलग अलग हो जाते हैं, उसीप्रकार विवेककेद्वारा पुरुष प्रकृतिको देखकर अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त असङ्ग अकर्त्ता और निष्क्रिय स्वभावको समझकर प्रकृतिसे अलग होजाता है। यही सांख्यशास्त्रानुसार पुरुषकी मुक्ति है। गीतामें कहा है किः—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥

प्रकृतिकेद्वाराही समस्त कार्य होता है, पुरुष निष्क्रिय है और पुरुष अकर्त्ता

है, इसप्रकार जो देखता है, वही तत्त्वदर्शी है। तत्त्वदर्शनसे जीवको कैवल्यप्राप्ति और उसके त्रिविध दुःखका अत्यन्त नाश होता है।

साङ्ख्यदर्शनमें उसकी ज्ञानभूमिकेअनुसार ईश्वरके सिद्ध नहीं होनेपर भी अलौकिक प्रत्यक्ष विज्ञानकेअनुसार ईश्वरसिद्धिकी आवश्यकता न होनेपर भी ईश्वर-की सिद्धि प्रकारान्तरसे करनेसे सांख्यदर्शनकी आस्तिकता और भी बढ़ गयी है। किसी किसी भाष्यकारने इसको समझा नहीं है। इस तत्त्वको न जानकर बहुतलोग इस दर्शनको निरीश्वर सांख्य कहा करते हैं, वे सर्वथा भ्रान्त हैं। उसका पूरा तत्त्व आगेके किसी समुल्लासमें बताया जायगा।

(कर्ममीमांसा दर्शन)

वेदका प्रथम काण्ड कर्मकाण्ड है। उसकी मीमांसा करनेवाले दर्शनशास्त्रको कर्ममीमांसा दर्शन कहते हैं। कर्म साधारण और विशेषरूपसे दो भागोंमें विभक्त होनेकेकारण कर्ममीमांसाके ग्रन्थ दो हैं। एकके प्रधानाचार्य महर्षि भरद्वाज और दूसरेके प्रधानाचार्य महर्षि जैमिनि हैं। प्रथम जैमिनिकृत दर्शनका वर्णन किया-जाता है।

वेदके कर्मकाण्डका प्रतिपादक कर्ममीमांसा दर्शन है। इसको पूर्वमीमांसाभी कहते हैं। महर्षि जैमिनि इसके प्रवर्त्तक हैं। इसमें बारह अध्याय हैं। यज्ञ, अग्नि-होत्र, दानआदि विषय इसमें वर्णित हैं।

इस कर्ममीमांसा दर्शनके मतमें वेदका कर्मकाण्डही सार्थक है, यन्य काण्डों-का कोई भी प्रयोजन नहीं है। इस मीमांसामें कहा है किः—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

कर्मही वेदका प्रतिपाद्य होनेसे कर्मके अतिरिक्त वेदका और अंश वृथा है। वेदमें जो तत्त्वज्ञानका उपदेश किया गया है, उसका उद्देश्य, देहसे भिन्न आत्माका अस्तित्व प्रमाणित करके जीवको अदृष्ट स्वर्गआदिके साधन रूप यागयज्ञमें प्रवृत्त करना है, ऐसा जैमिनिमीमांसाका सिद्धान्त है।

इस मीमांसा दर्शनके मतमें वेद नित्य अभ्रान्त और अपौरुषेय है। वेदके रच-यिता और कोई नहीं हैं। ऋषिलोग मन्त्रोंके द्रष्टामात्र हैं। वेदका प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है। उसमें जीवोंके कल्याणकेलिये यज्ञधर्म्मका प्रतिपादन किया गया है। यथाः —

यजेत स्वर्गकामः।

स्वर्गकी कामनासे यज्ञ करना चाहिये। स्वर्गसुखका लक्षण शास्त्रोंमें कहा है किः—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्।

जिस सुखकेसाथ दुःख मिला हुआ नहीं है, जिसके परिणाममें दुःख नहीं

होता है और जो इच्छामात्रसेही प्राप्त होता है, स्वर्गमें वही सुख मिलता है। यज्ञ करनेसे इसप्रकारका स्वर्ग सुख मिलता है क्योंकि यज्ञका फल अलौकिक है। वेद और शास्त्रोंमें कहा है कि:—

यजतेर्जातमपूर्व्वम्। अपाम सोममृता अभूम।
अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति॥
सर्व्वान् लोकान् जयति, मृत्युं तरति, पाप्मानं,
तरति ब्रह्महत्यां तरति, योऽश्वमेधेन यजते॥

यज्ञद्वारा अमृतत्व लाभ होता है। हम लोग यज्ञीय सोमपान करके अमर हो गये हैं। चातुर्मास्य याग करनेवालेको अक्षय्य पुण्यका लाभ होता है। अश्वमेध यज्ञ करनेसे समस्त लोकोंको जय करते हैं, एवं मृत्यु, पाप व ब्रह्महत्यासे उत्तीर्ण होते हैं। इत्यादि वैदिक सिद्धान्त इस पूर्वमीमांसाका प्रतिपाद्य है।

इस मीमांसाने वेदको पांच भागोंमें विभक्त किया है। यथा—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद। वेदके जिन वाक्योंकेद्वारा कर्त्तव्यका उपदेश किया गया है, उसे विधि कहते हैं और जिनकेद्वारा अकर्त्तव्यका निषेध किया गया है, वह निषेध है। यथा:—

स्वर्गकामो यजेत।
मा दिवा स्वाप्सीः॥

स्वर्गकी इच्छासे यज्ञ करना चाहिये, यह विधि है और दिनमें लेटना नहीं चाहिये, यह निषेध है। विधि ४ प्रकारकी है। यथा-उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग व अधिकार। जिस विधिमें केवल कर्ममात्रका विधान है, उसे उत्पत्तिविधि कहते हैं यथा:-

अग्निहोत्रं जुहोति।

अग्निहोत्र होम करना उचित है। परन्तु होमकेलिये इतना जाननाही यथेष्ट नहीं है। किसप्रकारसे, किसद्रव्यसे और किसको लक्ष्य करके होम करना चाहिये, यह भी जानने योग्य है। इसकेलिये विनियोगविधिका उपदेश है। यथा:—

दध्ना जुहोति। इन्द्राग्नी उदं हविः॥

दधिसे हवन करना चाहिये। इन्द्र व अग्निके उद्देश्यसे यह हविः है, इत्यादि। परन्तु इतना भी जानना यथेष्ट नहीं है, क्योंकि किस यज्ञमें, किस क्रियाकेबाद किस क्रियाका अनुष्ठान होना चाहिये, यह भी जानने योग्य है। यथा:—

अग्निहोत्रं जुहोति। यवागूं पचति।

इसमें अग्निहोत्र होम और यवागू पाक दोनों क्रियाओंका उपदेश है। इसीका नाम प्रयोग विधि है। तदनन्तर कौन किस यज्ञका अधिकारी है, यह भी विचारने योग्य है। यथा:—

राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत ।

इससे मालूम हुआ कि, स्वाराज्यकेलिये राजसूय यज्ञ करनेमें राजाका ही अधिकार है, दूसरेका नहीं। इसीका नाम अधिकार विधि है। पुनः विधिके विचारमें नियम और परिसंख्याकी भी आवश्यकता है। यथाः—

श्राद्धे भुञ्जीत पितृसेवितम् ।

श्राद्ध-शेष भोजन करना चाहिये, यह नियम विधि है। जिस विषयमें मनुष्य स्वेच्छासे प्रवृत्त हो सकता है और नहीं भी हो सकता है, उसमें प्रवृत्ति देनेकेलिये नियम विधि है। "श्राद्धशेष भोजन करना चाहिये" ऐसा उपदेश न होने से शायद कोई पहलेही भोजन कर लेता, इसलिये यह नियम विधि बतायी गयी है। जिस विधिसे मनुष्योंकी प्रवृत्तिमें सङ्कोच हो, उसे परिसंख्याविधि कहते हैं। यथाः—

प्रोक्षितं मांसं भुञ्जीत ।

मन्त्रद्वारा संस्कृत मांसको खाना चाहिये, क्योंकि मांस खानेमें राजसिक तामसिक मनुष्योंकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है, वह एकाएक रुक नहीं सकती। इसलिये उस हिंसाप्रवृत्तिको धीरे धीरे घटानेकेलिये विधि बतायी गयी है कि यदि मांस खाना किसीसे बंद न होसके, तो यथेच्छ मांस न खाकर मंत्रसे संस्कार किया हुआ मांस खाना चाहिये। यही परिसंख्या विधिका तात्पर्य है। यज्ञके लक्षीभूत देवताओंको आवाहन या स्तुतिकेलिये प्रयुक्त वैदिक शब्दोंको मन्त्र कहते हैं। यथाः—

अग्निमीले पुरोहितम्, इत्यादि ।

इसमें अग्नि देवताकी स्तुति की गयी है। मन्त्रमें क्रमभङ्ग, शब्द-विपर्य्यय या उच्चारण-दोष होनेसे कार्यसिद्धि नहीं होती है और कभी कभी अशुद्ध उच्चारणसे उल्टा फल होता है। महाभाष्यमें लिखाहै किः—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा,
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

स्वरसे या वर्णसे मन्त्रका मिथ्या प्रयोग हो, तो वह वाक्य कल्याणदायक न होकर उल्टा वज्रकी नाईं यजमानका हनन करता है, जिसप्रकार "इन्द्र-शत्रु" शब्दके उच्चारण दोषसे हुआ था। वेदका संहिताभाग इसप्रकारके मन्त्रोंसे गठित है। विधेय विषयका सङ्कोच करना "नामधेय" का उद्देश्य है। यथाः—

उद्भिदा यजेत पशुकामः ।

इसमें साधारण यज्ञ विधिका सङ्कोच किया गया। अर्थात् यज्ञमात्रसे ही इष्टसिद्धि नहीं होती है, परन्तु उद्भिदानामक यज्ञसे होती है। जिसवाक्यसे विधि या

निषेधकी प्रशंसा या निन्दा होती है, उसे "अर्थवाद" कहते हैं। अर्थवाद तीनप्रकार के हैं। यथा:–गुणवाद, अनुवाद व भूतार्थवाद। गुणवाद, यथा:—

आदित्यो यूपः।

सूर्य्य यूपकाष्ठ नहीं हो सकते हैं, अतः इसका अर्थ यह है कि यूपकाष्ठ सूर्य्यके सदृश उज्ज्वल है। यह दृष्टान्त गुणवादका है। अनुवाद, यथा:—

अग्निर्हिमस्य भेषजम्

अग्निहिमकी औषधि है, इसको सब लोग पहलेसे ही जानते हैं, वेदके ऐसा न कहनेपर भी कोई हानि नहीं होती, इसलिये यह "अनुवाद" है। भूतार्थवाद, यथा:—

इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्।

इन्द्रने वृत्रासुरको मारनेकेलिये वज्र उठाया। इसप्रकार इस पूर्व मीमांसा-कारने प्रतिपादन किया है कि, वेदने कहीं साक्षात् और कहीं परम्परारूपसे यज्ञरूप धर्मका ही रहस्य उद्घाटित किया है।

इस मीमांसाके मतमें यज्ञ ही मुख्य है। इन्द्रादि देवताओंके नामसे यज्ञ करनेपर भी वे गौण हैं, प्रयोजक नहीं हैं। इसमें लिखा है कि:—

देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात्।
अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यज्ञकर्म प्रधानं स्याद्गुणत्वे देवताश्रुतिः।

इस मीमांसाके सिद्धान्तानुसार देवताकी पृथक्सत्ता नहीं है। मन्त्रही देवता हैं। महर्षि जैमिनिके मतमें यज्ञ ही मोक्षफलका देनेवाला है, परन्तु क्रिया क्रम व उच्चारण ठीक ठीक न होनेसे यज्ञद्वारा अभीष्ट लाभ नहीं होता है। इस दर्शनमें ईश्वरका नाम नहीं है, परन्तुः—

ब्रह्मापीति चेत्।

इस सूत्रमें ब्रह्मका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। महर्षि जैमिनिने वेदको अपौरुषेय कहा है परन्तु ईश्वरवाक्य नहीं कहा है। उनके मतमें वेदका कर्त्ता कोई नहीं हो सकता है। शब्दका नित्यत्व और एकत्व ही वेदका मूल है। इसीलिये महर्षि कई एक सूत्रोंमें शब्दकी नित्यत्व सिद्धि की है। यथा:—

नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्।
सर्वत्र यौगपद्यात्। संख्याभावात्।
अनपेक्षत्वात्। लिङ्गदर्शनाच्च।

उच्चारणमात्रसे ही शब्दका अर्थ ग्रहण होता है, शब्द नष्ट नहीं होता है, इसलिये नित्य है, सर्वदा सब जगहपर एक शब्दका एक ही अर्थ होता है। इसलिये

भी शब्द एक और नित्य है, शब्दका क्षय और वृद्धि नहीं है क्योंकि एक ही शब्द बार बार उच्चरित होनेसे भी उसकेद्वारा वस्तुकी संख्यावृद्धि नहीं होती है और शब्द नष्ट होनेका भी कोई कारण देखनेमें नहीं आता है। ये ही नित्य और अपौरुषेय शब्द वेद हैं एवं वेदविहित कर्मका अनुष्ठान ही मोक्षलाभका उपाय है।

जिसप्रकार सांख्यदर्शनमें जो पच्चीस तत्त्वोंका निर्णय करते समय ईश्वरतत्त्व-की आवश्यकता तत्त्व-ज्ञान-लाभ करनेकेअर्थ न समझकर ईश्वरतत्त्वका प्राधान्य नहीं दिखाया गया है, परन्तु अपने मतकेअनुसार ईश्वरकी सिद्धि न होनेपरभी वेदोक्त विज्ञानकी आस्तिकताके समर्थनकेअर्थ अलौकिक प्रत्यक्षके उदाहरणमें ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किया गया है; उसीप्रकार महर्षि जैमिनिकृत वैदिक कर्मकाण्डके मीमांसादर्शनमें यज्ञकी प्रधानता प्रतिपादित होनेसे यज्ञका महत्त्व स्थापन करनेके-अर्थ देवताओंको गौण माना गया है और ईश्वरके विषयमें भी अधिक नहीं कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि, यदि दैवीमीमांसादर्शनके अनुरूप ईश्वर-भक्ति और ऋषि देवता व पितरोंकी शक्तिकी अधिकता मानी जाती, तो वेदोक्त यज्ञ-की महिमा घट जाती। इस दर्शनमें वेदोक्त यज्ञोंको ही मुख्य माना गया है। इस दर्शनका प्रधान सिद्धान्त यह है कि, वेदोक्त कर्मकाण्ड साधकको सब कुछ फल दे सकते हैं। इस दर्शनका सिद्धान्त यह है कि, साधक वेदोक्त कर्म करता हुआ स्वर्गादि सब उन्नत लोकोंको सुगमतासे प्राप्त कर सकता है और मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है। इसप्रकारसे वेदोक्त कर्मोंकी पूर्ण शक्ति प्रतिपादन करनेसे, अगत्या इस दर्शनशास्त्रको ईश्वर और उसके अंश देवताओंका गौणत्व दिखाना पड़ा है एवं इसीकारण इस दर्शनशास्त्रमें सकाम कर्मकाण्डको ही मुख्यता दी गयी है। इसप्रकार महर्षि कपिलकृत सांख्यदर्शन और महर्षि जैमिनिकृत कर्ममीमांसादर्शनोंमें ईश्वरको परम्परा सम्बन्धसे माननेसे कुछ दूषण नहीं है, किन्तु अपने विज्ञानके बाहर स्थित ईश्वरको प्रकारान्तरसे माननेसे उक्त दोनों दर्शनोंका भूषण ही है।

कर्म्मराज्यके साधारण विस्तार, साधारण गति और साधारण शक्तिके विज्ञा-नोंका प्रतिपादक महर्षि भरद्वाजकृत कर्म्ममीमांदर्शन है। यह दर्शन ग्रन्थ जैमिनिदर्शन ग्रन्थके अनुरूप एकदेशी न होनेकेकारण इसमें अनेकप्रकारके विज्ञानोंका रहस्य वर्णन किया गया है। यह दर्शनशास्त्र चार पादोंमें विभक्त है, इस दर्शन शास्त्रके विना पाठ किये कर्म्मका अनादि अनन्त स्वरूप और कर्म्मके विस्तृत रूप समझमें नहीं आ सकते। श्रीमहाभारतमें कहा है कि:—

कर्मणाऽमी भान्ति देवाः परत्र,
कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा।
अहोरात्रे विदधत्कर्मणैव,
अतन्द्रितः शश्वदुदेति सूर्यः॥
मासाऽर्द्धमासानथ नक्षत्रयोगा-
दतन्द्रितश्चन्द्रमाश्चाऽभ्युपैति।

अतन्द्रितो ददते जातवेदाः,
समिध्यमानः कर्म कुर्वन्प्रजाभ्यः ॥
अतन्द्रिता भारमिमं महान्तम्,
बिभर्त्ति देवी पृथिवी बलेन ।
अतन्द्रिताः शीघ्रमपो वहन्ति,
सन्तर्पयन्त्यः सर्वभूतानि नद्यः ॥
हित्वा सुखं मनसश्चाऽप्रियाणि,
देवः शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप ।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार,
समाहितः संशितात्मा यथावत् ॥
हित्वा सुखं प्रतिरुध्येन्द्रियाणि,
तेन देवानामगमद्गौरवं सः ।
तथा नक्षत्राणि कर्मणाऽमुत्र भान्ति,
रुद्राऽऽदित्या वसवोऽथाऽपि विश्वे ॥

कर्मकेद्वाराही ये देवतालोग स्वर्गमें प्रकाशमान हैं। कर्मकेद्वाराही इस संसारमें वायु बहता है और कर्मकेद्वाराही अतन्द्रितभावसे दिन और रात्रिको सम्पादन करता हुआ सूर्य निरन्तर उदय होता है और चन्द्रमा निरालस्य होता हुआ मास, पक्ष, नक्षत्र एवं योगादिको प्राप्त करता है। अग्निदेव आलस्यको छोड़कर कर्म करते हुए मनुष्योंकेद्वारा हवन किये जानेपर प्रजाओंको फलप्रदान करते हैं। पृथ्वी-देवी आलस्यरहित हो सामर्थ्यसे इस गुरु भारको धारण करती है तथा नदियाँ अतन्द्रितभावसे शीघ्र शीघ्र बहती हुईं निखिल प्राणियोंको संतृप्त करती हैं। देवताओंके राजा इन्द्रने अपने मनकी प्रिय वस्तु तथा सुखको त्याग करके कर्महीके बलसे श्रेष्ठत्वको प्राप्त किया है। बृहस्पतिजीने संयतचित्त हो सुखको छोड़ इन्द्रियोंको रोक ब्रह्मचर्य पालन किया, इससे देवोंके मध्यमें गौरवको प्राप्त किया। अन्य नक्षत्र, देवता, रुद्र, आदित्य, वसुआदि सब कर्मकेद्वारा प्रकाशित होते हैं।

एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय ।

नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीं नाऽऽसीद्रजो नो व्योमपरो यत्, किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नाऽम्भः किमासीद् गहनं गभीरं। न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्याह्नआसीत् प्रकेतः। आसीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्न्यो न परः किञ्चनास।

कामस्तदग्रे समवर्त्तताऽधिमनसो रेतः प्रथमं यदाऽऽसीत्, सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतिष्या कवयो मनीषा।

जीवदशाका विकास सर्वप्रथम होते समय कर्म ही जीवका साथी होता है और पूर्णज्ञानयुक्त मानव जब जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त करके शरीरके अन्त होनेपर विदेह लयको प्राप्त करता है, उस समय भी कर्म ही अन्तपर्यन्त साथी बना रहता है। इसीकारण कर्मका प्राधान्य माननेवाले मुनियोंमें दो मत देखनेमें आते हैं। प्रथम दशामें रहनेवाले मुनि ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं समझते क्योंकि वे आदिसे अन्तपर्यन्त कर्मकी ही शक्ति उपलब्ध कर रहे हैं। इसी सिद्धान्तको आश्रय करके पृथ्वीमें जैन बौद्धादि अनेक सम्प्रदाय प्रकट हुए हैं और भविष्यत्में होंगे। ऐसा होना स्वतःसिद्ध है। कर्मके प्राधान्यको माननेवाले मुनियोंमें जो दूसरा मत है, वह सर्ववादिसम्मत है। वेदानुकूल तथा सर्वहितकारी पूर्ण सिद्धान्तयुक्त मत, जिसको पूज्यपाद महर्षियोंने एकमत होकर स्वीकार किया है, वह इस कर्ममीमांसादर्शनद्वारा प्रतिपादित है। कर्मकी पूर्णगति, कर्मकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्था कर्मबीजके संस्कारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय, कर्मकी जड़ क्रियामें चेतनत्वकी आवश्यकता इत्यादि समाधिगम्य भावोंके समझनेवाले मुनि विना वादके ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार करते हैं क्योंकि पूर्णदर्शन पूर्णज्ञानसहायक हैं। पूर्णज्ञानमें भ्रमकी सम्भावना नहीं रहती।

वर्णाश्रमधर्मकी भित्तिको दृढ़ करनेकेलिये यह कर्ममीमांसादर्शन परम आश्रय है। ईश्वरभक्ति और आस्तिकता प्रदान करनेकेअर्थ यह कर्ममीमांसादर्शन परम हितकर है। नास्तिकआदि मतोंका निराकरण करके जन्मान्तरवाद सिद्ध करनेकेअर्थ यह कर्ममीमांसादर्शन एकमात्र अवलम्बन है। विना इस कर्ममीमांसादर्शनके हृदयङ्गम किये, दैवीमीमांसा दर्शन और ब्रह्ममीमांसादर्शनका सिद्धान्त उपलब्ध नहीं हो सकता। इसीकारण यह कर्ममीमांसादर्शन परम आवश्यकीय और सर्वहितकर है। जैसे राजानुशासनकेसाथ राजाका सम्बन्ध है, उसीप्रकार कर्मकेसाथ ब्रह्मका सम्बन्ध है। ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिमें जिसप्रकार भेद नहीं है, उसीप्रकार कारण ब्रह्म और कार्यब्रह्ममें भेद नहीं है। अस्तु यदि कोई व्यक्ति राजाको साक्षात् रूपसे न भी माने, परन्तु राजाके राजानुशासनको यथावत् माने, तो जिसप्रकार राजा उस प्रजापर अप्रसन्न नहीं होते और यदि कोई प्रजा राजाके सामने सिर झुकानेपर भी उसके राजानुशासनकी अवज्ञा करे, तो वह राजदण्डकी अधिकारिणी होती है। इसी विज्ञानकेअनुसार जो लोग ईश्वरको कदाचित् भ्रमसे न भी मानते हों, तोभी कर्मके विज्ञानको यथावत् माननेपर ईश्वरकी कृपा प्राप्त करके उन्नत हो सकते हैं। ऐसेही विज्ञानकी सहायतासे अपने अपने दर्शन ग्रन्थ प्रणयनपूर्वक और अपनी अपनी साधनशैली प्रवर्त्तित करके जैनआदि धर्मसंप्रदाय अभ्युदयको प्राप्त करते हैं। परन्तु जो प्रजा राजानुशासन और राजा दोनोंका समान आदर करती है, वह प्रजा जिसप्रकार शिक्षित और सर्वयोग्य प्रजा कहलाती है, उसीप्रकार जिस दर्शनशास्त्रमें कर्म

और ईश्वर दोनोंकाही समानरूपसे विज्ञान निर्णीत है, वही दर्शनशास्त्र अभ्रान्त और पूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं।

जिसप्रकार वायुकी सहायतासे जलाशयमें तरङ्गें उठती रहती हैं, उसीप्रकार अनादि वासनासे प्रकृतिराज्यमें कर्मकी उत्पत्ति अनादिसिद्ध है। जिसप्रकार घात प्रतिघातसे तरङ्गोंका स्वरूप अनन्त होता है, उसीप्रकार त्रिगुणके वैषम्यसे कर्मकी गति अनन्त हुआ करती है। वैषम्यावस्था प्रकृतिकेसाथ कर्मका स्वाभाविक सम्बन्ध है। कार्य ब्रह्मरूपी इस ब्रह्माण्डका एक परमाणु भी कर्मसम्बन्धसे रहित नहीं है, इस ब्रह्माण्डका एक तृणभी सर्मसम्बन्धसे रहित होकर न स्थित रह सकता है और न अवस्थान्तरको प्राप्त हो सकता है। इसकारण कर्मकी शक्ति सर्वोपरि है। जिसप्रकार महासमुद्रके बीच बहता हुआ एक तृण यदि अनुकूल तरङ्गोंकी सहायता प्राप्त करे, तो वह समुद्रतटको पहुँच सकता है, अन्यथा उसका कुछ भी पता नहीं रहता; उसी-प्रकार मनुष्य यदि अनुकूल कर्मोंका संग्रह करे, तो उसकी क्रमोन्नति होकर अन्तमें मुक्ति होना अवश्य सम्भावी है। यदि ऐसा न हो तो उसका पता नहीं रहता। सुतरां अनुकूल कर्म और प्रतिकूल कर्मके रहस्यको जानकर जो पुरुषार्थमें प्रवृत्त रहते हैं, वे ही अभ्युदयको प्राप्त होते हैं और जो तत्त्वज्ञानकेद्वारा कर्म अकर्म, और विकर्मकी दशाको अनुभव करनेमें समर्थ होते हैं, वे ही कर्मके बन्धनसे बचकर निःश्रेयसको प्राप्त करते हैं।

महर्षि भरद्वाजकृत यह मीमांसादर्शन शास्त्र साधारण कर्मका रहस्य प्रतिपादक है, इसकारण इसके प्रथमपादमें धर्मका लक्षण, धर्मके अङ्ग, धर्मके उपाङ्ग, धर्म और अधर्मकी शक्ति, ईश्वरका स्वरूप, ईश्वर ही धर्मके अधिष्ठाता हैं—इसका विज्ञान, धर्मके उपाङ्गोंकी अनन्तता, पुरुषधर्म और नारीधर्मका रहस्य, आचारका लक्षण, वर्ण-धर्मका रहस्य, आश्रमधर्मका रहस्य, ब्रह्मतेज और क्षात्रतेजका वर्णन, सतीत्वधर्मका वर्णन, प्रवृत्ति और निवृत्तिधर्मका वर्णन इत्यादि अनेक आवश्यकीय कर्मरहस्य-विज्ञान वर्णित हैं। इस पादका नाम धर्मपाद है। और इसके प्रथम दो सूत्र ये हैं:—

अथाऽतो धर्मजिज्ञासा।

धारणाद्धर्मः।

अब धर्म मीमांसाका वर्णन किया जाता है। धारण करता है, इसकारण धर्म है।

दूसरे पादका नाम संस्कार पाद है। इस पादका प्रथम सूत्र यह है:—

कर्मबीजं संस्कारः।

कर्मके बीजको संस्कार कहते हैं। इस दूसरे पादमें संस्कारका लक्षण, संस्कार-का विज्ञान, सृष्टिसे संस्कारका सम्बन्ध, संस्कारके दो प्रधान भेद, त्रिविध शुद्धिका उपाय, संस्कारका कलाभेद, वेदोक्त षोडशसंस्कारोंका विज्ञान, उद्भिज्जादि योनियोंमें पञ्च कोषके क्रम-विकासका विज्ञान, मनुष्योंमें पञ्चकोषोंकी पूर्णताका विज्ञान, संस्कारशुद्धिसे मुक्तिका सम्बन्ध, रज और वीर्यकी शुद्धिका महत्त्व और उसकेसाथ

वर्णधर्मके सम्बन्धका विज्ञान, मुक्तिप्राप्तिमें वर्णधर्म और आश्रमधर्मकी सहायताका विज्ञान, आर्यजातिका लक्षण, आर्यजातिसे अनार्य जातिकी पृथकता, जातिधर्मरक्षामें नारीका प्राधान्य, जीवोत्पत्ति-प्रवाहका विज्ञान, संस्कारकी क्रम-शुद्धिसे जीवकी क्रमोन्नतिका विज्ञान, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरका विज्ञान, जन्मान्तरवादका विज्ञान, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरका विज्ञान, जन्मान्तरवादका विज्ञान, जन्मान्तरमें जानेवाले आतिवाहिक देहका विज्ञान, स्वर्ग नरकका विज्ञान, प्रेतत्वका विज्ञान, संस्कारशुद्धिकेसाथ अज्ञानके नाशका सम्बन्ध, संस्कारशुद्धिसे वासनानाशका विज्ञान, इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं ।

तीसरे पादका नाम क्रियापाद है । इस पादके प्रथम दो सूत्र यह हैं :—

प्राकृतिकः स्पन्दः क्रिया ।

संस्कारक्रिये बीजाङ्कुरवत् ॥

प्राकृतिक हिल्लोल वा कम्पनको क्रिया कहते हैं । संस्कार और क्रिया बीज और अंकुरवत् हैं । इस पादमें कर्मका स्वरूप, कर्मका वैज्ञानिक रहस्य, संस्कारकेसाथ कर्मका सम्बन्ध, कर्मकेसाथ सृष्टिका एकत्व सम्बन्ध, संस्कार अङ्कित होनेके स्थान, उन स्थानोंका स्वरूप, संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि होनेका विज्ञान, सृष्टिके भेद, प्रत्येक ब्रह्माण्डके विभागके प्रत्येक अधिदैवका अस्तित्व कर्मकी गति, जड़ राज्यमें कर्मका प्रवाह और चेतन राज्यमें कर्मके प्रवाहकी विचित्रता, बन्धन करनेवाले और मुक्ति देनेवाले कर्मोंके भेद, कर्मही ब्रह्मस्वरूप हैं—इसका विज्ञान, यज्ञका लक्षण, महायज्ञका लक्षण, उनकेसाथ सृष्टिका सम्बन्ध, कर्मके भेद, पाप और पुण्यके रहस्य, पाप और पुण्यके फल, कर्म करनेमें मनुष्यकी स्वाधीनता, पुण्यकर्मका माहात्म्य, त्रिविध शुद्धिकी आवश्यकता, देश और कालका स्वरूप, कर्मप्रवाहका अनादि अनन्तत्व, देशकालके सम्बन्धसे कर्मका वैचित्र्य, युक्त कर्म और अयुक्त कर्मके भेद, कर्मभोगके भेद, श्राद्धका विज्ञान, कर्मकेसाथ व्यष्टि और समष्टिका सम्बन्ध, प्रकृतिके तीन भेद और सातभेदका विज्ञान, ज्ञानकृत कर्म और अज्ञानकृत कर्मके भेद, पुण्य कर्मकेद्वारा जीवकी क्रमोन्नतिका विज्ञान, धर्मके अङ्गोंकेसाथ कर्मकेद्वारा क्रमोन्नतिका विज्ञान, युक्त कर्मद्वारा मुक्तिपदलाभका विज्ञान, इत्यादि अनेक विषय इस पादमें वर्णित हैं ।

चौथे अर्थात अन्तिम पादका नाम मोक्षपाद है । इस पादमें कार्यब्रह्म और कारणब्रह्मकी एकता, बन्धन और मोक्षकेकारणका वर्णन, बीज और अंकुरका विज्ञान, सत्कर्मानुष्ठानद्वारा मोक्षभूमिमें पहुंचनेका क्रम, क्रियाबीजके भेद, क्रियाकी गतिके नाशका वर्णन, जीवन्मुक्तके कर्मकी गतिका वर्णन, कर्मकी उत्पत्ति और लयका विज्ञान, भोगकी निष्पत्तिका विज्ञानवर्णन, वैराग्यका रहस्य वर्णन, निवृत्ति मार्गका वर्णन, यज्ञमाहात्म्य वर्णन, यज्ञ और महायज्ञसे प्रकृतिका सम्बन्ध वर्णन, प्रकृति-जयका उपाय, प्रकृति-जयसे स्वस्वरूप विकासका सम्बन्ध, स्वरूपका लक्षण, स्वरूपमें प्रकृतिका लय, शुक्लगति और कृष्णगति, जीवन्मुक्तकी गति, संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि, क्रियाशुद्धिसे मोक्ष, कर्मयोगका लक्षण, जीवन्मुक्तकी अन्तःकरणकी वृत्तिका लक्षण, कर्मके अभ्यास-

की सात अवस्थायें, कर्म अकर्मादिके भेद, कर्म-साधनका महत्त्व, जीवन्मुक्तके कर्मके लक्षण, जीवन्मुक्तका कार्य भगवत्कार्यही होता है, इत्यादि अनेक गहन विषय वर्णित हैं।

इसप्रकारसे श्रीजैमिनिदर्शन वेदोक्त विशेष कर्म-विज्ञान और श्रीभरद्वाज-दर्शन यावत्कर्मरहस्य और साधारण कर्मविज्ञानका सिद्धान्तनिर्णायक है। इन दोनों दर्शन ग्रन्थोंके विना अध्ययन किये अन्य मीमांसादर्शनोंमें प्रवेश करना सुविधाजनक नहीं होता। इसीकारण इसको पूर्वमीमांसादर्शन कहते हैं।

(दैवीमीमांसादर्शन)

भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनका पूर्ण रूपसे साक्षात्कार करना हो, तो सद्भाव और आनन्दभावकी प्राप्तिकेद्वारा ही उनका साक्षात्कार हो सकता है। इसी कारण इन तीनोंप्रकारके भावोंकी प्राप्तिकेलियेही तीनों मीमांसाके विज्ञान कहे गये हैं। सद्भावकेसाथ कार्यब्रह्मका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इसीकारण पूर्वमीमांसा (कर्ममीमांसा) दर्शन कर्ममार्गके सहारेसे ही मुमुक्षुको विराट्रूपी कार्यब्रह्ममें व्यापक सद्भावकी प्राप्ति कराता है। चिद्भासकेसाथ कारणब्रह्मका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इसीकारण उत्तरमीमांसा (वेदान्त) दर्शन ज्ञानमार्गके सहारेसेही मुमुक्षुको प्रकृतिसे अतीत कारणब्रह्मके चिद्भावकी प्राप्ति कराता है। आनन्दभाव चित् एवं सद्भावमें व्यापक है, इसीकारण दैवीमीमांसा (मध्यमीमांसा) दर्शन मुमुक्षुको ऊपर लिखित दोनों मीमांसाओंकेसाथ विरोध न रखता हुआ ब्रह्मानन्दसागरमें लीन करके कृतार्थ करता है। ये ही तीनों भाव एक ही परमभावके अङ्गरूप होनेसे परस्पर इन भावोंमें इसप्रकार सम्बन्ध है कि, एक भावकी प्राप्तिसे अन्य दोनों भाव स्वतः प्राप्त होते हैं। एवं इसीकारणसे तीनों मीमांसाओंका साधनमार्ग भिन्न भिन्न होनेपर भी लक्ष्य एक होनेसे इनमें वास्तवमें भेद प्रारम्भसे ही रक्खा नहीं गया है। अन्नके परिणामरूप शरीरकी रक्षाकेलिये शरीरके यन्त्रोंमेंसे मुख प्रधान है, अन्य मतसे पाकस्थली मुख्य है, तृतीय मतसे हृद्यन्त्र प्रधान है। इसप्रकार मतभेद विचारवान् पुरुषकेलिये कुछ भी नहीं कर सकता है, क्योंकि अन्न प्रथम मुखकेद्वारा ही पाकस्थलीमें प्रवेश करके रसरूपसे हृदयमें प्रवेश करता है और वहां रक्त बनकर सारे शरीरकी रक्षा करता है। इसकारण शरीर-की रक्षाकेलिये तीनों यन्त्र जिसप्रकार समान उपकारी और सहयोगी हैं, उसीप्रकार एक ही ब्रह्मके तीनप्रकारके भावोंके सहारेसे ब्रह्ममार्गमें चलनेवाली तीनों मीमांसाओं-का लक्ष्य एक ही होनेसे सब परस्पर उपकारी और सहयोगी हैं, इसमें सन्देह नहीं। जो उन्नत ज्ञानके पदपर स्थित हैं, वे कर्म और भक्तिके लक्ष्यरूप अन्तिमभावमें अवश्य ही पहुंचे हुए होंगे। इसीप्रकारके यथार्थ कर्मयोगी और भक्तकेलिये भी दूसरे दो अधिकार प्राप्त करना सुगम होता है। इसीकारण तीनों मीमांसाओंमें मतभेद देखकर संदेह करनेकी आवश्यकता नहीं है।

ऊपर लिखित मतभेद हानिकारक न होनेपर भी दैवीमीमांसादर्शनमें विशेषता यह है कि, योगदर्शनके समान इसकेसाथ किसी दर्शनका भी मतभेद नहीं है। कारण

यह है कि, दैवीमीमांसादर्शनका प्रतिपादन करनेका विषय परमात्माकी आनन्दसत्ता है, एवं आनन्दसत्ताके सत् और चित् दोनोंमें ही व्यापक होनेसे सद्भाव और चिद्भाव दोनोंमेंही आनन्दभावकी प्राप्ति होती है। दैवीमीमांसादर्शनके प्रथम पादमें दोनों-ओरसे प्राप्त होनेवाले इसी आनन्दकाही वर्णन किया है। इसके प्रथद पादका नाम रसपाद है। भगवान् रसरूप हैं। वेदमें कहा है कि:—

"रसौ वै सः" "आनन्दरूपं परमं यद्विभाति"

इन मन्त्रोंकेद्वारा श्रीभगवान्को रसरूप अर्थात आनन्दरूप कहा है। उनकी यही आनन्दसत्ता सत् और चित् दोनोंके भीतर होकर ही प्राप्त होती है। सत्केसाथ कार्यब्रह्मका सम्बन्ध होनेसे सद्भावसे मिला हुआ आनन्द प्रकृतिमें प्रतिबिम्ब-युक्त होकर जीवके अनुभवमें आता है। इसीकारण इस आनन्दको सुख कहते हैं। पुत्रके प्रति स्नेह, स्त्री मित्रादिकेप्रति प्रेम, गुरुजनोंपर श्रद्धाआदि, यही सब लौकिकरसमें गिनेजाते हैं, परन्तु जब साधकका चित्त लौकिकरसका लौकिकपन और नाशवान् होना जानकर उससे वैराग्ययुक्त होता हुआ अलौकिक (साक्षात् चित्सम्बन्धयुक्त) आनन्दमें डूबनेकेलिये परिश्रम करता है, तभी यह रस भगवद्भक्तिरूपसे प्रकट होकर साधकको क्रमपूर्वक "वैधी" और "रागात्मिका" रूप भक्तिकी दो कक्षाओंमें धीरे धीरे उन्नत करता हुआ अन्त में "पराभक्ति" के पदपर स्थापित करता है और आनन्द-समुद्रमें डुबा देता है। वैधी और रागात्मिका दोनोंही गौणी भक्ति हैं। भक्तिकी वैधी अवस्थामें साधक श्रवण, कीर्त्तन, पादसेवन, अर्च्चन, वन्दनआदि नौप्रकारकी सीढ़ियों-पर क्रमपूर्वक चढ़ते चढ़ते भगवान्में अनुराग होनेकेलिये अभ्यास करता है। तत्प-श्चात् इसीप्रकार अभ्यास करते करते जब उसके ऊपर भगवान्की कृपा होती है, तब उसी अभ्यासके फलसे भगवान्केप्रति अनुराग प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। इसीका नाम रागात्मिका भक्ति है। विषयीका जिसप्रकार विषयमें अनुराग होता है, भक्तके चित्तमें इस दशामें ठीक वैसाही भगवान्केप्रति अनुराग वा एकप्रकारकी आसक्ति होती है। इस दर्शनका मत यह है कि, भावरूप दृश्यमान संसार चौदह भागोंमें विभक्त होनेसे वह आसक्तिप्रकाशक रस भी चौदहप्रकारका होता है। उनमेंसे वीर, करुण, हास्य, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और रौद्र, ये सात रस गौण, एवं दास्य, सख्य, कान्त, वात्सल्य, आत्मनिवेदन, गुणकीर्त्तन और तन्मय, ये सात रस मुख्य हैं। दैवीमीमांसादर्शनमें ऐसा कहा है कि:—

रसज्ञानमपि चतुर्दशधा तत्र सप्त मुख्याः सप्त गौणाः। हास्यादयो गौणाः दास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्स-ल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तिगुणकीर्त्तनासक्तितन्मयासक्तयश्च मुख्याः।

इन चौदह रसोंकेद्वाराही साधक भगवान्के राज्यमें आगे बढ़ सकता है। तोभी मुख्य रसोंकेद्वारा साक्षात् रूपसे, एवं गौण रसोंकेद्वारा परम्परारूपसे उन्नत

होता है। भावके वैचित्र्यकेकारण मुख्य आसक्तिसे युक्त भक्तोंमेंसे कोई उनको दास-भावसे, कोई सख्यभावसे, कोई कान्तभावसे, कोई वात्सल्यभावसे, कोई आत्मनिवे-दनभावसे; कोई गुणकीर्तनभावसे, कोई तन्मय भावसे, इसीप्रकार अनेक भावोंसे भगवान्‌केप्रति अनुरागवान् होकर साधक संसारकी लौकिक वासनाओंको त्याग करता हुआ अत्यन्त आनन्द और शान्ति प्राप्त करता है। इसीप्रकार उनके आनन्द-भावमें भाववान् भक्त तीव्र संवेगके (परावैराग्यके) आश्रयसे जगत्‌की सब वस्तुओंको त्याग करके जब रातदिन मनरूपी भ्रमरको भगवान्‌के चरणकमलके मकरन्दके पीनेमें तत्पर रखता है, एवं अन्य सब विषयोंको त्याग करताहुआ उनके ही ध्यानमें उन्मत्त रहता है, तब धीरे धीरे भगवान्‌की कृपासे साधककी ऐसी एक उन्नत अवस्था आ उपस्थित होती है, जिस समय वह तन्मय होकर ध्येयरूप भगवान्‌केसाथ अपनी "जुदाई" भूल जाता है। इसी तन्मयभावकी पूर्णता होनेपर उसकी ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटी नहीं रहती है। वह परमात्माकेसाथ एकता प्राप्त होकर "वासुदेवः सर्वम्" अर्थात् सब स्थानोंमें ही परमात्माकी सत्ता देख सकता है। यही पराभक्तिकी अवस्था है। इस अवस्थामें भक्तिकेसाथ ज्ञानका कोई भेद नहीं रहता है, एवं इसीप्रकारका ज्ञानी भक्त निर्विकल्प समाधिकी पदवीपर आरोहण करता है। प्रकृतिमें प्रतिबिम्बित आनन्दकेसाथ उसका सम्बन्ध इसीस्थानमें आकर सम्पूर्ण रूपसे बन्द हो जाता है; तब वह साक्षात् चिदानन्द सागरमें मग्न होता हुआ जीवभावसे मुक्त होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। यही दैवी-मीमांसादर्शनके रसपादका अन्तिम प्रतिपाद्य विषय है। इसी पादमें भक्तिका श्रेष्ठत्व और उसकी उपकारिता प्रतिपादित है। इसकेलिये अनेक सूत्र हैं। भक्तिकेद्वारा अमृतत्वलाभ होता है। इसके आस्वादनसे पतनका भय दूर होता है और सब वास-नाओंका विलय होता है। सामान्य भक्तिके उदयसे ही महापापोंका नाश होता है। भक्ति सकल उपासनाओंकी प्राणस्वरूप है। सकल धर्माङ्गोंकी आश्रयस्वरूप है। सब जाति और सब अधिकारियोंकी समानरूपसे कल्याण करनेवाली है, पूर्णता लाभ न होनेपर भी इसकेद्वारा अधोगति नहीं होती है, सालोक्यादि पद प्राप्त होते हैं, इत्यादि अनेक विषयोंके सूत्र इसमें हैं। इस पादके अन्तमें भक्तिकी अन्तिम दशामें भी भावभिन्नताकेकारण ऐश्वर्यपरा, आत्मैकपरा और उभयपरानामक भक्तिके त्रिविध भावभेदोंका वर्णन करते हुए मध्यमीमांसाकेसाथ परमात्माकी आनन्दसत्ताकी घनि-ष्ठता अच्छी रीतिसे प्रतिपादित हुई है।

इस मीमांसादर्शनके द्वितीय पादका नाम उत्पत्तिपाद है। उत्पन्न होनेवाले संसारकी लयकी विधि न जाननेसे, किसीके भी चित्तमें संसारचक्रकी निस्सारता और परिणाममें दुःखप्रदता देखकर वैराग्य नहीं हो सकता है एवं लौकिक स्नेहलताका बन्धन त्याग करते हुए परमानन्दलाभकेअर्थ चित्तकी व्याकुलता नहीं होती है। इसी-कारण मरण है परिणाम जिसका, ऐसी उत्पत्ति दिखानेकेअर्थ उत्पत्तिपाद इस दर्शनमें रक्खा गया है। सृष्टिकी उत्पत्तिके कार्यमें ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिरूपिणी प्रकृतिका एकमात्र सम्बन्ध है। प्रकृति जडा है। जड़ वस्तुकी स्वयं कार्य करनेकी शक्ति नहीं होती है। इसकारण सृष्टिकार्यमें चेतन ब्रह्मकी आवश्यकता होती है। यही सृष्टि

तीन प्रकारकी है-आध्यात्मिकी, आधिदैविकी और आधिभौतिकी। प्रकृति अनादि और अनन्ता है। इसीकारण प्राकृतिकी लीलावैभव-स्वरूपिणी अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-रूपा आध्यात्मिक वा विराट् सृष्टि भी अनादि और अनन्त है; परन्तु विराट् सृष्टि नित्य होनेपर भी एक एक ब्रह्माण्डका अथवा जीव शरीररूपी पिण्डका लय होता है। इसकारण आधिदैविकी और आधिभौतिकी सृष्टि सादि और सान्त है। एक ब्रह्माण्ड वा सौर जगत् कालानुसार उत्पन्न होता है, अनेक युग पर्यन्त स्थितिको भी प्राप्त होता है एवं कालानुसार लयकोभी प्राप्त होता है। इसीप्रकार चित् और जड़की ग्रन्थिद्वारा उत्पन्न एक एक जीव भी लक्ष लक्ष योनि पर्यन्त जन्ममृत्युचक्रमें परिभ्रमण करके अन्त-में पराभक्तिकेद्वारा ग्रन्थिभेद करता हुआ विमुक्त होता है। इन सब सिद्धान्तोंकेलिये इस पादमें ये सूत्र हैं:—

अनाद्यनन्ताध्यात्मिकी सृष्टिः।

आधिदैविकाधिभौतिकसृष्टिः सादिः सान्ता।

चिज्जडग्रन्थिर्जीवः। तद्भेदनादुभयमुक्तिः।

सृष्टि दोप्रकारकी है-वैजी और मानसी। वैजी सृष्टि प्राकृतिक है, परन्तु ऋषि लोग मनके बलसे मानसी सृष्टि भी करते थे। सप्तर्षियोंने प्राथमिक सृष्टि करने-के समय मनके द्वाराही सृष्टि की थी। "मनसा प्रजा असृजन्त" इत्यादि शास्त्रीय वचन भी मिलते हैं। जिस कार्यकेद्वारा यही सृष्टिकी धारा विपरीत होकर लयकीओर अग्रसर होती है, उसीका नाम साधन है। वह प्रवृत्ति और निवृत्तिनामक मार्गभेदसे द्विधा विभक्त हुआ है। प्रवृत्तिमार्ग गौण और निवृत्तिमार्ग मुख्य है। प्रवृत्तिमार्गमें अध्यात्मचिन्तन, शक्तिपूजन एवं भावशुद्धिकेद्वारा उन्नति और मुक्ति होती है। परन्तु सकल क्रिया, सकल उपासना एवं सकल चेष्टामें ही समर्पण बुद्धि रहनेसे मुक्तिका द्वार शीघ्र खुल जाता है। अहङ्कारही बन्धन और जीवभावकाकारण है एवं उसीकेद्वाराही स्वार्थ-बुद्धि प्रबल होती है। समर्पणकेद्वारा इसी अहङ्कारके नाशकेसाथही साथ स्वार्थमूलिका वासनाके नाश होनेपर जीवभावके दूर होनेसे शिवभावकी प्राप्ति होती है। श्रीभगवान्‌को अर्पित वस्तुपर आत्मीय बुद्धि नहीं रखना, उनके विग्रह (मूर्त्ति) पर लौकिक बुद्धि नहीं रखना और उनके प्रसादपर भोगबुद्धि नहीं रखना, ये सब विषय साधनमार्ग-सम्बन्धीय उन्नतिके सहायक होते हैं। इस उत्पत्तिपादमें साधककी उन्नतिके लक्षणके सम्बन्धमें भिन्न भिन्न ऋषियोंके मतोंका वर्णन किया है। यथा—महर्षि पराशरके मतमें पूजादिमें रति, महर्षि गर्गके मतमें कथादिमें रति, महर्षि शाण्डिल्यके मतमें एकान्त आत्मरति, महर्षि भरद्वाजके मतमें गुणकीर्त्तनमें रति, महर्षि वशिष्ठके मतमें जगत्सेवामें रति एवं महर्षि कश्यपके मतमें सकल विषयोंमें समर्पण बुद्धि, ये भक्त साधकके भगवद्राज्यमें उन्नतिके भिन्न भिन्न लक्षण हैं। देवर्षि नारद कहते हैं कि, भगवान्‌केप्रति भक्तका चित्त जब ऐसे भावमें आसक्त होता है, जिसके विरह-में, पतिके विरहमें सती स्त्रीके समान, साधकका चित्त बड़ाही व्याकुल होता है, तभी निश्चय होता है कि, यथार्थ उन्नति और भक्तिका उदय हुआ है। परन्तु

सकलप्रकारकी भक्ति ही-माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक होनी चाहिये, अन्यथा प्रीति जार-प्रीतिवत् होती है। यदि माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक यथार्थ प्रीति हो, तो भक्तका कभी भी पतन नहीं होता है। वह धीरे-धीरे अध्यात्म राज्यमें प्रविष्ट होगा, यही उत्पत्तिपादका अन्तिम सिद्धान्त है।

उत्पत्तिकी द्वितीय अवस्था स्थिति है। अतः इस दर्शनमें उत्पत्तिपादके पश्चात् स्थितिपाद कहा गया है। प्रकृति गुणमयी है एवं भगवान् भावमय हैं। इसकारण जगत्की स्थितिदशामें सर्वत्र गुण और भावकी लीला परिदृष्ट होती है। भगवान्में गुण और भाव हैं, किन्तु वे गुण और भावमें नहीं हैं। वेद गुण और भावकेद्वारा पूर्ण है। इसकारण वेद भगवान्का वाक्य और स्वतःपूर्ण है एवं अभ्रान्त और नित्य है। वेद गुण और भावका प्रकाश करते हैं। इसकारण स्मृतिआदि शास्त्र भी वेदके समान प्रामाणिक हैं। इन सिद्धान्तोंकेलिये इस दर्शनमें सूत्र हैं कि—

"तद्वान्नासौ गुणभावेषु।" "गुणभावमयत्वाद्भगवद्वाक्यं वेदः।"
"स्वतःपूर्णोऽभ्रान्तो नित्यश्च।" "तत्समानीतराणि तदर्थद्योतकत्वात्।"

गुण और भावसे पूर्ण सृष्टिकी रक्षाकेअर्थ त्रिविध शक्ति सन्नद्ध हैं। इसकारण भगवान्की शक्ति, सृष्टिके आदिमें भगवान्से ही प्रकाशित होकर पुनः लयके समय भगवान्में ही विलीन होती है। प्रकृतिके प्रधान तीन विभागकेअनुसार यही शक्ति त्रिविध है। अध्यात्म विभागके रक्षणार्थ ऋषिशक्ति, अधिदैव विभागके रक्षणार्थ देवशक्ति और अधिभूत विभागके रक्षणार्थ पितृशक्ति है। जगत्में ज्ञानका प्रचार एवं काल और युगानुकूल वेदका आविर्भाव ऋषियोंकी कृपासे ही होता है। ऋषिशक्ति नित्यशक्ति है। जीवोंके कर्मोंकेअनुसार देवता लोग उनकी ऊर्द्ध्व या अधोगति कराते हैं। दैवी जगत्में नानाप्रकारके कार्योंका सम्पादनआदि अधिदैव कार्य देवतागणकी कृपासे होता है। देवशक्ति नित्य और नैमित्तिक है। इन सिद्धान्तोंके विषयमें कहा है कि :—

ऋषिदैवतमाध्यात्मिकं नित्याश्च। पितृदैवतमाधिभौतिकम्।
देवदैवतमाधिदविकम्। नित्यनैमित्तिकाश्चैते।

इन्द्रादि लोकपालगण नित्य देवशक्ति हैं एवं जगत्में किसी दैवकार्यके सम्पादनार्थ श्रद्धा, क्रिया और मन्त्रादिकेद्वारा जिस नित्यशक्तिको किसी केन्द्रमें आवाहन किया जाय, वही देवगणकी नैमित्तिक शक्ति है। यथा—ग्राम्यदेवताआदि। स्थूल जगत्में ऋतुओंकी विकास-शृङ्खला, स्थूल जगत्का रक्षणावेक्षण, स्वास्थ्यप्रदान, अन्न जनादिकी देशकालानुसार व्यवस्था, ये सब पितृशक्तिके अधीन हैं। पितृशक्ति नित्य और नैमित्तिक है। अग्निष्वात्ता, अर्यमाआदि पितृगण नित्य हैं एवं जो पितृगण देह छूटनेपर चन्द्रलोकमें जाकर निज निज कर्मफल-भोगकेअनुसार नित्य पितृगणके लोकमें वास करते हैं, उनका नाम नैमित्तिक पितृगण है। ब्रह्मयज्ञकेद्वारा ऋषियोंका संवर्द्धन होता है एवं उनका संवर्द्धन होनेपर व्यष्टि और समष्टि जगत्में ज्ञानशक्तिकी वृद्धि होती है। यज्ञकेद्वारा देवताओंका संवर्द्धन होता है एवं देवता-

ओंके तुष्ट होनेपर शक्ति और सुखकी प्राप्ति होती है। इसीप्रकार पितृयज्ञकेद्वारा पितरोंका संवर्द्धन होता है एवं उनकी तुष्टिके फलसे जीवको स्वास्थ्य और वीर्यलाभ होता है। भगवान्‌के अवतारकी तरह ऋषि और देवताओंके भी अवतार होते हैं। जब समष्टि जगत्‌में आसुरीशक्तिका प्रभाव इसप्रकार वृद्धिगत होता है कि, दैवीशक्ति हीनबल होकर अधर्मका अभ्युत्थान और धर्मके पतन होनेका उपक्रम होता है, इस-प्रकारकी आसुरीशक्तिके प्रकोपको दूर करना व्यष्टि या समष्टि जीवोंके साध्यातीत हो पड़ता है; तभी भगवान् आवश्यकतानुसार अंशरूपसे अथवा पूर्णरूपसे अवतीर्ण होकर धर्मकी रक्षा और आसुरीशक्तिका दमन करते हैं। इसीप्रकार प्रकृतिके आध्या-त्मिक अथवा आधिदैविक विभागमें, ज्ञानराज्यमें अथवा कर्मराज्यमें किसीप्रकारके अलौकिक गड़बड़ होनेपर ऋषिगण अथवा देवतागणके अंश वा पूर्णरूपसे अवतार होते हैं। गुरुदेवमें दीक्षादानके समय विशेष शक्ति और आवेशावतारमें आवेशके समय अविशेष शक्तिका प्रकाश होता है अन्तःकरणमें इनके नित्य अवतार जीवको पापकर्मसे रक्षा करके निरन्तर कल्याण विधान करते हैं। परमात्माकी साक्षात् शक्ति मुख्यतः तीनप्रकारकी है; यथा-ब्रह्मा विष्णु और रुद्र। इन्हीं तीन देवताओंसे तैंतीस देवता एवं प्रकृतिके विशाल राज्यमें कार्यवैलक्षण्यकेकारण तैंतीस देवतासे विस्तृत होकर तैंतीस करोड़ देवता हुए हैं। भगवान्‌की सत् और चित्, उभयविध सत्ता सर्वत्र विद्यमान रहनेपर भी देवतागणमें चित्सत्ता और देवीगणमें सत्सत्ताका प्राधान्य रहता है। श्रद्धा और उपासनाकेद्वारा भगवान् एवं भगवच्छक्तिसमूहकी कृपाका लाभ होता है। यही उपासना वा चतुर्विध योग है; यथा-मन्त्र, हठ, लय और राजयोग। कार्यब्रह्म वा जगत् नामरूपात्मक होनेकेकारण, दिव्य नाम अर्थात् मन्त्र एवं स्थूलमूर्त्तिके अवलम्बनकेद्वारा जिस योगका अनुष्ठान होता है, उसका नाम मन्त्रयोग है। स्थूल शरीर-केसाथ सूक्ष्म शरीरका घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि स्थूल शरीर सूक्ष्मशरीरकाही विकास मात्र है। इसीकारण स्थूलशरीरपर आधिपत्यविस्तार किया जा सके, ज्योतिर्ध्यानात्मक इस योगका नाम हठयोग है। समष्टि और व्यष्टि विचारसे ब्रह्माण्ड और पिण्डदेह एकही सम्बन्धसे युक्त हैं। इस कारण ब्रह्माण्डमें जो कुछ है, इस पिण्डदेहमें भी उन सबका केन्द्र स्थान विद्यमान है। कुलकुण्डलिनीरूपा प्रकृति शक्ति एवं चैतन्यरूप शिवका स्थान इस शरीरमें है। इसीकारण जिस योगकेद्वारा उक्त कुण्डलिनी शक्तिको जाग्रत् करके सहस्रारस्थित शिवमें लय किया जाय, विन्दुध्यानात्मक उसी योगका नाम लययोग है। अन्तःकरणही संसारमें बन्ध और मोक्षका कारण है। इसीकारण केवल अन्तःकरणकी सहायतासे जो साधन होता है, ब्रह्मध्यानात्मक उसी योगका नाम राजयोग है। राजयोगकेद्वाराही निर्विकल्प समाधिका लाभ होता है। इसी अवस्थामें पराभक्ति, परवैराग्य, परज्ञान, जीवन्मुक्तिआदि सकल दर्शनोंके सब लक्ष्यही एक भावमें परिणत होते हैं। एवं ज्ञानी भक्त सच्चिदानन्दसागरमें उन्मज्जन और निमज्जनके सुखको अनुभव करता हुआ कृतार्थ होता है। इसप्रकारकी भक्ति महात्मागणकी कृपा एवं भगवत्कृपा-द्वाराही प्राप्त हो सकती है। महत्सङ्ग दुर्लभ, अमोघ और विचित्र है। भगवान् और भगवद्‌भक्तमें कोई भेद नहीं है। इन्हीं भगवद्‌भक्तकी कृपा देवर्षि नारदके मतमें भगवत्कृपाकेद्वारा प्राप्त होती है। दीनबन्धु भगवान्‌की दया होनेपर वे साधुसङ्गके-

द्वारा भक्तको उद्धार करते हैं। महर्षि शाण्डिल्यके मतमें अहङ्कार निरोध होनेसे और महर्षि द्वैपायनके मतमें दीनता आनेपर तब महत्सङ्ग लाभ करके भक्त मुक्ति-पदवीपर प्रतिष्ठित हो सकता है। यही स्थितिपादका अन्तिम सिद्धान्त है।

संसारका यह अमोघ सिद्धान्त है कि, जो कुछ उत्पत्ति और स्थितिके अधीन है, वह लयके भी अधीन होता है। संसार चक्रके इस नियमित परिवर्त्तनके क्रमकेद्वारा अनुलोम विधिकेअनुसार ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होती है एवं ब्रह्माकी शतायुके पूर्ण होनेपर विलोम विधिकेअनुसार ब्रह्माण्डका प्रलय होता है। यही प्रलय व्यष्टि और समष्टि विचारसे चतुर्धा विभक्त हुआ है; यथा—नित्य, आत्यन्तिक, नैमित्तिक और प्राकृतिक। इनमेंसे जगत्का निरन्तर परिवर्त्तनरूप नित्य प्रलय और मुक्तिद्वारा आत्यन्तिक प्रलय ये दोनों व्यष्टिमें एवं खण्डप्रलय वा नैमित्तिकप्रलय और महाप्रलय वा प्राकृतिकप्रलय, ये दोनों समष्टिमें होते हैं। महाप्रलयमें समस्त ब्रह्माण्ड ध्वंस होकर विराट् प्रकृतिके गर्भमें विलीन होनेके पूर्व सृष्टि और स्थितिकी जो कुछ दशा देखनेमें आती है, वह नास्तिमें अस्तित्वरूप भ्रमको उत्पन्न करनेवाली मायाका ही लीला-विलासमात्र है। माया त्रिगुणमयी है, किन्तु भक्त चतुर्विध हैं; क्योंकि आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त गुणमयी प्रकृतिकेअन्तर्गत होनेपर भी ज्ञानी भक्त गुणातीत ब्रह्मपदवीपर प्रतिष्ठित होनेमें समर्थ होता है। उसका निर्मल अन्तःकरण तटस्थ दशामें ध्यानके परिपाकमें सविकल्प समाधि लाभ करता हुआ ब्रह्मके अधिदैव वा ईश्वरभाव एवं अधिभूत वा विराट् स्वरूपका साक्षात्कार प्राप्त होता है और तत्पश्चात् क्रमशः स्वरूप दशागत सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार करता हुआ निर्विकल्प समाधि लाभ करके जीवन्मुक्ति पदवीपर प्रतिष्ठित होता है। मन्त्र, हठ, और लय, इन तीनों योगोंके ही ध्यान सगुण होनेसे तत्तत् समाधि भी सविकल्प होती है। मन्त्रयोगकी समाधिका नाम महाभाव, हठयोग की समाधिका नाम महाबोध एवं लययोगकी समाधिका नाम महालय है। अतःपर निर्गुण निराकार ध्यानके परिणाममें निर्विकल्प समाधि होती है। भक्तको निर्विकल्प समाधि होनेपर, इस पराभक्तिकी दशामें उसका अहम्भाव पूर्वकथितप्रकारसे नाशहोकर समर्पणबुद्धिका उदय होता है। समर्पणबुद्धिकी प्रथम दशामें "वे मेरे हैं", द्वितीय दशामें "में उनका हूं", एवं तृतीय दशामें "मैं ही वे हूं" इसप्रकार भावको प्राप्त होते हैं। सृष्टिके विस्तृत सप्त भेदकेअनुसार इन्हीं सकल भावोंकी दशामें भक्त भगवान्को सात भावोंमें देखनेमें समर्थ होता है। प्रथम दर्शन दिव्य नाममें होता है। इसी समय मन्त्र और देवताके एकताभावद्वारा भगवान्के दर्शन होते हैं। द्वितीय दर्शन दिव्यरूपमें होता है। इसी समय उनके सगुण मूर्त्तिसमूह भावके उद्बोधक होकर भगवान्के साक्षात्कारके कारण होते हैं। तृतीय दर्शन विभूतिमें होता है। तब जगन्मय और जगत् व्याप्त उनके विभूतिसमूह साधकको उनके भावमें भावित करते हैं। चतुर्थ दर्शन स्थूल सूक्ष्म शक्तिमें होता है। तब उनकी सूक्ष्म शक्तिके विकास स्थल अन्तःकरणमें एवं स्थूल शक्तिके विकास स्थल स्थूल जगत्में उनके दर्शन होते हैं। पञ्चम दर्शन गुणों में

होते हैं। तब त्रिगुणमय जगत्‌में त्रिगुण विकासके विचारसे उनके दर्शन होते हैं। षष्ठ दर्शन भावमें होते हैं। तब भावमय ब्रह्मके आदित्रिभाव कार्यब्रह्ममें होनेके कारण, इसप्रकार भाव-तत्त्वानुसन्धानमें भगवान्‌के दर्शन होते हैं। सप्तम दर्शन स्वरूपमें होता है। तब निर्विकल्प समाधिकी दशामें स्वरूपमें उनकी अद्वितीय ब्रह्म-सत्ताका साक्षात्कार लाभ होता है। ब्रह्म अद्वितीय होनेपर भी ब्रह्मदर्शनके इसीप्रकारके सप्तभेद केवल प्रकृति, प्रवृत्ति और शक्तिभेदसे होते हैं। उनकी अद्वितीय सत्ता, जिस दर्शनशास्त्रमें जिस भावसे ही वर्णित क्यों न हो, सब दर्शनोंका तत्त्वानुसन्धान करनेपर स्पष्ट देखा जाता है कि, कहीं उनको प्रतिपिण्डमें देखकर संख्यारूपसे अनन्त एवं कहीं पिण्ड-समूहकी पृथक्‌ता बतानेवाली प्रकृतिके विलयमें व्यापकरूपसे उनकी अनन्तसत्ता प्रतिपादित हुई है। यही सांख्यके बहुपुरुष और मीमांसाके एकात्मवादका अलौकिक तात्पर्य्य है। यही द्वैत और अद्वैतवादका गूढ़रहस्य है। उनकी सत्ता उपाधिरूपसे भिन्न-भिन्न प्रतीयमान होनेपर भी तत्त्वत: एक अद्वितीय भिन्न द्वितीय कदापि नहीं है। अनन्यभक्तिकेद्वारा तटस्थ दशाके विलय होनेपर इसप्रकारके स्वरूपज्ञानका उदय होनेसे हृदयग्रन्थिका भेदन होता है, समस्त संशयजाल भिन्न होता है एवं वासनाके क्षय होनेपर कर्म्मका भी क्षय होता है। ये ही पराभक्ति वा परमज्ञानकी दशा है। जो भाग्यवान् भक्त अनन्त कोटि जन्मकी सुकृतिके फलसे इस दशाको प्राप्त करता है, उसको पुनः सुखदु:खमय संसारचक्रमें परिभ्रमण करना नहीं होता है। वह आत्यन्तिक प्रलय वा विदेह मुक्तिलाभ करके आनन्दमय ब्रह्ममें विलीन होता है। उसका उस समयका अनुभव मीमांसात्रयके लक्ष्यकेअनुसार त्रिभावापन्न होकर अन्तमें एक भावमेंही मिलजाता है। "यह जगत् हो वे हैं" यह कर्ममीमांसाका अनुभव है, "वे ही यह जगत् हैं" यह दैवी मामांसाका अनुभव है एवं "मैं ही वे हूँ" यह ब्रह्ममीमांसाका अनुभव है। साधक श्रद्धा और भक्तिके प्रभावसे एक दशाके अनुभवोंको प्राप्त करके सकल दशाओंका ही सामञ्जस्य कर सकता है, क्योंकि जहाँ अद्वितीय ब्रह्मके यथार्थ ज्ञानका विकास है, वहाँ फिर असामञ्जस्यका अवकाश कहाँ है? यही मध्यमीमांसा वा दैवामीमांसामें प्रतिपादित लयपाद है। यही जीवकी अन्तिम गति है।

(ब्रह्ममीमांसा दर्शन)

वेदान्तदर्शन (ब्रह्ममीमांसा दर्शन) का लक्ष्य वेदोक्तज्ञानकाण्डकी प्रतिष्ठा है। यह दर्शन सप्तम ज्ञानभूमिका होनेसे और सब दर्शनोंका शीर्षस्थानीय है। इसके प्रवर्त्तक महर्षि वेदव्यास हैं। वेदके अन्तिम अर्थात् ज्ञानकाण्डका प्रतिपादक हानेसे इस दर्शनको उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है और ब्रह्म ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य होनेसे इसका नाम ब्रह्मसूत्र भी है।

वेदान्तदर्शनमें चार अध्याय और प्रत्येक अध्यायमें चार चार पाद हैं। प्रथम अध्यायका साधारण नाम समन्वय है। इसमें अनेकप्रकारके श्रुतिवाक्योंका समन्वय कियागया है। यथा-प्रथम अध्यायके प्रथम पादमें स्पष्टज्ञापक श्रतिसमूहका,

द्वितीय पादमें अस्पष्ट ब्रह्मभावात्मक श्रुतिसमूहका, और तृतीय व चतुर्थ पादमें संशयात्मक श्रुतिसमूहका समन्वय किया गया है। द्वितीय अध्यायका साधारण नाम अविरोध है। इसके प्रथम पादमें स्वमत-प्रतिष्ठाकेलिये स्मृति-तर्कादि-विरोध-परिहार, द्वितीय पादमें विरुद्धमतोंकेप्रति दोषारोप, तृतीय पादमें ब्रह्मसे तत्त्वोंकी उत्पत्ति और चतुर्थ पादमें भूतविषयक श्रुतिसमूहका विरोध-परिहार किया गया है। फलतः इस अध्यायमें विरोधी दार्शनिक मतोंका खण्डन करके युक्ति व प्रमाणकेसाथ महर्षि वेदव्यासने वेदान्तमतका अविरोध प्रतिपादन किया है। तृतीय अध्यायका साधारण नाम साधन है। इसमें जीव व ब्रह्मका लक्षण निर्देश करके मुक्तिके बहिरङ्ग व अतरङ्ग साधनका उपदेश किया गया है। चतुर्थ अध्यायका साधारण नाम फल है। इसमें जीवन्मुक्त, जीवकी उत्क्रान्ति, सगुण व निर्गुण उपासनाके फलके तारतम्यपर विचार कियागया है।

वेदान्तदर्शनका मुख्य उद्देश्य जीवको दुःखमय संसारसे मुक्त करके आनन्दमय ब्रह्मपदमें स्थापित करना है। शास्त्रोंमें कहा है किः—

जीवो ब्रह्मैव नापरः।

जीव और ब्रह्म एकही है। भेदभावका मूल अविद्या है। अविद्याके आवरणमें आवृत होकरही जीव अपनेको ब्रह्मसे पृथक् समझता है, इसलिये तत्त्वज्ञानके उदय होनेसे जीवकी यह अविद्या जब दूर होती है, तभी जीव ब्रह्मकी एकता होनेपर जीवकी मुक्ति होती है। जीव ब्रह्मका इसप्रकार औपाधिक भेदभाव उपनिषदोंमें बहुधा वर्णित है। ब्रह्मविन्दूपनिषद्में लिखा है किः—

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

एकही आत्मा भूत भूतमें विराजमान हैं। जलमें चन्द्रकीतरह वे एक व बहुरूपमें देखेजाते हैं। योगवासिष्ठमें भी लिखा है किः—

स्वमरीचिबलोद्भूता ज्वलिताग्नेः कणा इव।
सर्वा एवोत्थिता राम ! ब्रह्मणो जीवराशयः ॥

अग्निसे स्फुलिङ्गके सदृश ब्रह्मसे जीव उत्पन्न हुए हैं। इसीलिये वेदके महावाक्योंमें जीव ब्रह्मकी एकता प्रतिपादितकी गयी है। यथाः—

"तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्माऽस्मि", "सोहऽम्"।

त्वं अर्थात् जीव, तत् अर्थात् ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ। जीव और ब्रह्ममें जो भिन्नता बोध होती है, वह तात्त्विक नहीं है, भेदकी प्रतीति उपाधिकृत है। पञ्चदशीमें लिखा है किः—

कोपोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्।

कोषरूप उपाधिको लक्ष्य करकेही जीवभावकी प्रतीति होती है। सुख, दुःख, काम, क्रोध, रोग, शोकआदि शरीर व मनके धर्म हैं। जीवात्माके धर्म नहीं हैं। केवल शरीर व मनकेसाथ संयोग होनेसे जीव अपनेको सुखी व दुःखी समझता है। इसका कारण माया है। शास्त्रोंमें कहा है किः—

माहेश्वरीति या माया तस्या निर्माणशक्तिवत्।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ॥
मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति।

महेश्वरकी जो माया है, उसकी मोहशक्तिसेही जीव मुग्ध होता है और उसी मोहके वशमें आकर जीव ब्रह्मभावको भूलकर अपनेको कर्त्ता भोक्ता सुखी दुःखी समझता है। यह भ्रम रज्जुमें सर्पभ्रम या शुक्तिमें रजतभ्रमके सदृश है। इसी भ्रमकी निवृत्तिसेही जीव व ब्रह्मका पार्थक्य दूर होकर आनन्दमय ब्रह्मभावमें जीवकी स्थिति होती है।

वेदान्तदर्शनका प्रथम सूत्र यह हैः—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।

श्रीभगवान् शङ्कराचार्यजीने इस सूत्रके अन्तर्गत "अथ" शब्दके भाष्यमें लिखा है किः—

विधिवदधीत वेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थः अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जन पुरस्सर-नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेननिर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाताऽधिकारी।

विधिके अनुसार वेद वेदाङ्ग अध्ययनकर वेदका अर्थ ठीक ठीक जिसने समझा है, इस जन्ममें या जन्मान्तरमें काम्य और निषिद्ध कर्मको त्याग करके नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित्त उपासनाआदिके अनुष्ठानसे निष्पाप और निर्मलचित्त होकर शमदमादि साधनचतुष्टयसम्पन्न जो हुआ है, वही ब्रह्मज्ञान लाभ करनेका अधिकारी है। साधनचतुष्टय, यथा—नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोग विराग, शमदमादि षट्सम्पत्ति, और मुमुक्षुत्व। ब्रह्म नित्य है और समस्त संसार अनित्य है, इसप्रकार विचारका नाम नित्यानित्यवस्तुविवेकहै। स्रक्चन्दनवनितादि ऐहलौकिक और स्वर्गादिभोगरूप पारलौकिक सुखकेप्रति वितृष्णाका नाम इहामुत्र फलभोगविराग है। ब्रह्मके सिवाय और विषयोंसे मनकी निवृत्तिका नाम शम है, बाह्येन्द्रियोंकी विषयोंसे निवृत्तिका नाम दम है, वैषयिक वस्तुओंसे चित्तको अलग करनेका नाम उपरति है, शीतोष्णादि द्वन्द्वसहिष्णुताका नाम तितिक्षा है, गुरु व वेदान्त वाक्यमें विश्वासका नाम श्रद्धा है, और ब्रह्ममें चित्तकी एकाग्रताका नाम समाधान है। यही शमदम उपरति तितिक्षा समाधान और श्रद्धा ये षट्सम्पत्तियाँ कहलाती हैं। चौथा साधन

मुमुक्षुत्व अर्थात् मुक्तिलाभकी इच्छा है। इसप्रकार साधनचतुष्टयसम्पन्न होनेसे वेदान्त पढ़नेमें साधकका अधिकार होता है। इन्हीं चारों अधिकारोंके देखनेसे सिद्ध होगा कि, वेदान्तका अधिकार कितना उन्नत है और वेदान्तकी ज्ञानभूमि सब ज्ञानभूमियोंमें श्रेष्ठ है क्योंकि इसीमें अद्वैतभावकी सिद्धि हो सकती है। तदनन्तर अधिकारानुरूप साधन करते करते जीव मुक्तिभावको प्राप्त करता है।

वेदान्तमें ब्रह्मके दो लक्षण वर्णन किये गये हैं। एक तटस्थ और दूसरा स्वरूप। वेदान्तदर्शनमें लिखा है कि:—

जन्माद्यस्य यतः।

जिस परमात्मासे संसारका जन्मादि अर्थात् सृष्टि स्थिति प्रलय सम्पन्न होता है, वही ब्रह्म हैं। इस सूत्रकेद्वारा ब्रह्मका तटस्थ लक्षण कहा गया है। परन्तु ब्रह्मके स्वरूप लक्षणके प्रतिपादक निम्नलिखित सूत्र हैं:—

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः। प्रतिषेधाच्च।

तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षणको सगुण और निर्गुण ब्रह्म भी कहते हैं। ब्रह्म में ये दोही भाव हैं-यथा:—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्।

जिसप्रकार सर्पके कुण्डल बांधकर रहनेसे सर्प भी कह सकते हैं और कुण्डल भी कह सकते हैं। उसीप्रकार ब्रह्ममें भी दो भाव समझने चाहियें। स्वरूपभाव माया-से अतीत निर्गुण निष्क्रिय है और तटस्थभाव मायोपहित चैतन्य ईश्वर है। इस विषयमें उपनिषद्के अनेक प्रमाण मिलते हैं। वेदान्तके सिद्धान्तमें ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है। जो कुछ जगत्की प्रतीति होरही है, सो सब ब्रह्ममें नामरूप-मयी मायाका विलास मात्र है। सांख्यदर्शनके परिणामवादानुसार प्रकृतिकी विकृति ही यह संसार है; अर्थात् जिसप्रकार दुग्धके परिणामसे घी माखनआदि वस्तुएँ बनती हैं, उसीप्रकार प्रकृतिके परिणामसे सृष्टि होती है। परन्तु वेदान्तका सिद्धान्त इसप्रकार नहीं है। वेदान्तदर्शनकेअनुसार जगत् ब्रह्मका विवर्त्त है। परिणाम अर्थात् विकार व विवर्त्तके लक्षण ये हैं:—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः॥

विवर्त्त अर्थात् वस्तुका स्वरूप न बदलकर अन्यथा प्रतिति है। ब्रह्म जगत्रूपेण परिणत नहीं होते हैं, परन्तु मायाके सम्बन्धसे उनमें जगत्की भ्रान्ति होती है। जिसप्रकार मरीचिकामें जल न होनेपर भी अज्ञानी पुरुषको उसमें जलभ्रान्ति होती है, उसीप्रकार अद्वितीय ब्रह्ममें द्वैतभावमय संसारकी प्रतीति होती है। वास्तवमें संसार भ्रममात्र है। अविद्याकेद्वारा उपहित चैतन्य जीव मिथ्या जगत्को सत्यरूप मानकर संसार-बन्धनमें बद्ध होता है। यह बन्धन अनादि है क्योंकि वेदान्तदर्शन-में मायाको अनादि कहा गया है। मायाकी दो शक्तियाँ हैं, यथा-आवरण और

जिसमें परिवर्त्तन व बाध है, जो किसी कालमें है, किसी कालमें नहीं है, किसी अवस्थामें है, किसी अवस्थामें नहीं है, वह सब मिथ्या है। इस लक्षणकेअनुसार ब्रह्महो एकमात्र सत्य वस्तु है, अन्य सब मिथ्या है। यथा:—

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः।

ब्रह्मव्यतिरेकेन कार्यजातस्याऽभावः विकारजातस्याऽनृताभिधानात् ॥

ब्रह्महो सत्य है, कार्य मिथ्या है, क्योंकि कार्य विकार है, विकार मिथ्या है, ब्रह्मभिन्न और कुछ भी नहीं है. जो कुछ जगत्‌रूपसे भ्रान्ति हो रही है, वह सब ब्रह्ममें नाम रूपका भेदमात्र है। जिसप्रकार कुण्डल, वलयआदि बाह्य दृष्टिमें भिन्न होनेपर भी एक सुवर्णही हैं, उसीप्रकार वैचित्र्यमय संसार ब्रह्महो है। केवल नाम व रूपका भेद है, वस्तुगत तात्त्विक कोई भेद नहीं है। यथा:—

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

मिट्टीके विकारसे जो घटआदि बनते हैं, उनमें नामकाही भेद है, वास्तवमें सब मिट्टीही है और मिट्टीही सत्य है। यथा:—

अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।

परमात्माने जीवरूपमें प्रवेश करके नाम और रूपका भेद सम्पादन किया है।

तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत।

नाम और रूपकेद्वारा परमात्मासे द्वैतरूप संसारकी उत्पत्ति हुई है। इसप्रकार उपनिषदोंके वचनोंकेद्वारा सिद्ध होता है कि, ब्रह्मको छोड़कर जीवभाव या जड़ किसीकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। सबकी सत्ता व्यावहारिक है। जो जीव है, वही ब्रह्म है। केवल नामरूपमयी मायाके विलाससे भिन्नताप्रतीति हो रही है।

मायामय जीवके ब्रह्मभाव प्राप्त करनेकेलिये वेदान्तशास्त्रमें तीनप्रकारकी उपासना बतायी गयी है। यथा—अङ्गावबद्ध, प्रतीक और अहंग्रह। अङ्गावबद्ध उपासनामें यज्ञके अङ्गोंमें ब्रह्मभावना की जाती है। यथा :—

इदं उद्गीथं ब्रह्म इत्युपासीत।

इसमें उद्गीथ अर्थात् यज्ञके अङ्गमें ब्रह्मभावनाका उपदेश किया गया है। द्वितीय प्रतीकोपासना है। इसमें ब्रह्मभिन्न पदार्थमें ब्रह्मभावनाकी जाती है। यथा :-

मनो ब्रह्म इत्युपासीत।

आदित्यो ब्रह्म इत्युपासीत।

मनमें ब्रह्मकी भावना कर उपासना करनी चाहिये, आदित्यमें ब्रह्मकी भावना कर उपासना करनी चाहिये, इत्यादि प्रतीक उपासनाका दृष्टान्त है। तृतीय अहङ्ग्रह उपासना है। यही अद्वैतवादियोंकी यथार्थ उपासना है। इसमें "सोऽहं"

"अहं ब्रह्माऽस्मि" इत्यादि, जीव ब्रह्मसे अभिन्न भावनाकेद्वारा उपासना होती है। यथा :--

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।

जीवात्मा ही परमात्मा है, ब्रह्मसूत्रोक्त इसप्रकार मनन और भावना ही अद्वैतवादकी उपासना है। यथा :--

तं यथा यथोपासते तदेव भवति।

जो जिसकी उपासना करता है, वह उसीका रूप प्राप्त होता है। इसलिये ब्रह्मभावनाके परिपाकसे साधक ब्रह्मभाव प्राप्त करते हैं। उस समय उनकेलिये समस्त संसार ब्रह्ममय बन जाता है। और इसप्रकार स्वरूपस्थित राजयोगी आनन्दमय ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठा लाभ करते हैं। स्वरूपस्थित इसप्रकारके योगी संसारकीओर दृष्टि डालनेसे, प्रस्तरमें खोदी हुई मूर्त्ति जैसे प्रस्तर ही है; वैसे ही इस विचित्र समस्त संसारको ब्रह्ममय देखते हैं। स्वरूपकीओर भावना करनेसे माया और सृष्टिसे अतीत परमपदकी उपलब्धि करते हैं। इसप्रकारके योगियोंके शरीर जबतक संसारमें रहते हैं, तबतक वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। जीवनमुक्तके संस्कारके विषयमें ब्रह्मसूत्रमें कहा गया है कि :--

तदधिगम उत्तरपूर्व्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् इतरस्याऽप्येवं असंश्लेषः पाते तु। अनारब्धकार्ये एव तु पूर्व्वे तदवधेः।

ब्रह्मकी उपलब्धि होनेसे तत्त्वज्ञानी जीवनमुक्त पुरुषके समस्त सञ्चित कर्म्मका विनाश और क्रियमाण कर्म्मका असंस्पर्श होता है। जिसप्रकार पद्मपत्रमें जलस्पर्श नहीं करता, उसीप्रकार तत्त्वज्ञानीको भी कर्म्म स्पर्श नहीं करता। वे पाप पुण्य दोनों-से बाहर हो जाते हैं। केवल प्रारब्धकर्म्म ही अवशिष्ट रहताहै, जिसको भोगकेद्वारा जीवन्मुक्त क्षय करते हैं। यथा :-

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये।

जबतक प्रारब्धक्षय पूर्ण नहीं होजाता है, तबतक जीवन्मुक्तका शरीर रहता है। तदनन्तर विदेहमुक्तिकी दशामें जीवन्मुक्त ब्रह्ममें मिलकर शरीरका त्याग कर देते हैं। ब्रह्मसूत्रमें लिखा है कि:-

विदुष ऐकान्तिकी कैवल्यसिद्धिः।
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

ब्रह्मज्ञानीकी ऐकान्तिकी कैवल्यसिद्धि या विदेहमुक्ति होती है। ब्रह्मको जान वे ब्रह्म होते हैं। इनकेलिये उपनिषद्में लिखा है कि:-

यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

विक्षेप। आवरणशक्तिसे जीव अपनेको पृथक् समझता है और विक्षेपशक्तिसे जगद् भ्रमरूप अघटनघटना होती है। इसलिये ही माया अघटनघटनापटीयसी कही गयी हैं। जगत् है नहीं, ब्रह्म ही है, पर उसमें जगत् है, ऐसी घटना उत्पन्न करती है, यही मायाकी शक्ति है। जैसा कि इन्द्रजालमें ऐन्द्रजालिक सूत्रकी सहायतासे शून्यमार्गमें खेलता है, मनुष्योंकी आखोंके सामने जीवित मनुष्योंको खण्ड खण्ड करके काट देता है, आगमें शरीरको दग्ध करदेता है, परन्तु यह सभी मिथ्या है। ठीक इसीप्रकार संसारभी मिथ्या है। जीव इसको न जानकर बद्ध होता है। जिसप्रकार सूर्यदेव मेघाच्छन्न होनेसे दृष्टिपथमें नहीं आते हैं, उसीप्रकार सत्य ज्ञानरूप ब्रह्मके असत्य अज्ञानके अन्धकारसे आच्छन्न होनेपर जीव उनके स्वरूपको नहीं जानसकते हैं। एक छोटा खण्डमेघ लाखों योजन-व्याप्त सूर्यको नहीं ढांक सकता है, परन्तु अज्ञानी पुरुष ऐसा ही समझ लेता है और मेघसे सूर्यको प्रभाहीन समझ भ्रममें पड़ता है। इसीप्रकार मिथ्या जगत्‌को सत्यरूप समझकर जीव भ्रान्तिमें पड़ा हुआ है। यथाः—

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं,
यथा निष्प्रभं मन्यते चाऽतिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽयमात्मा॥

नेत्रके ऊपर मेघ आनेसे जिसप्रकार मूढ व्यक्ति सूर्यको ही मेघाच्छन्न व तेजहीन समझता है, उसीप्रकार जीव ब्रह्मरूप होनेपर भी अज्ञानसे अपनेको बद्ध समझता है। जीवका बन्धन तात्त्विक नहीं है, परन्तु कल्पनामात्र है क्योंकि जीव मुक्तस्वभाव है। गौडपादाचार्यने लिखा है किः—

न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

वास्तवमें आत्माकी उत्पत्ति नहीं है, विनाश नहीं है, बन्धन नहीं है, मोक्ष नहीं है, साधन नहीं है और मुक्तिकी इच्छा नहीं है, वेदान्तके मतमें मुक्ति साध्य नहीं है, परन्तु सिद्ध वस्तु है। जीव स्वतः ही मुक्त है। इस विषयका दृष्टान्त यह है किः—

कण्ठचामीकरवत्।

किसी शिशुके गलेमें कण्ठहार था, एक दिन उसे भ्रम हुआ कि, गलेमें कण्ठहार नहीं है, व्याकुल होकर ढूँढ़ने लगा। कहीं हारका पता नहीं लगा। अन्तमें किसी दूसरेने कह दिया कि, उसके गलेमें हार तो पहलेसे ही है, ढूँढ़ता क्यों है? तब बालकका भ्रम दूर हुआ। जीवकी मुक्ति भी ऐसी ही है। जीव स्वभावतः मुक्त ही है। केवल अनादि अविद्याकी छायासे अपनेको बद्ध मान लेता है। सद्गुरुकी कृपासे तत्त्वज्ञान होनेपर अविद्या दूर होती है। उस समय जीव अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावको जान जाता है। यही जीवकी मुक्ति है।

जगत् भ्रममात्र है। ब्रह्म मायाशक्तिद्वारा जगद्भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं। वे ऐन्द्रजालिक हैं। इन्द्रजाल विस्तार करके मिथ्या संसारको सत्यरूप दिखारहे हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्में लिखा है किः—

य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः।
सर्वान् लोकान् ईशत ईशनीभिः।

जो एक मायावी सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं, वे ही समस्त लोगोंको मायाशक्तिसे पालनकरते हैं, स्वप्नमय संसारको आखोंके सामने प्रकट करते हैं, वास्तवमें सब शून्य ही है, इसप्रकार विचार करते करते ह्यूम (Hume) मिल (Mill) आदि पश्चिमी बहुतसे दार्शनिक पण्डित बौद्धोंके शून्यवादपर पहुंच गये हैं। परन्तु वेदान्तका अद्वैतवाद इसप्रकार शून्यवाद नहीं है। इस मतमें जगद्भ्रमका आधार शून्य नहीं है, परन्तु सच्चिदानन्दमय ब्रह्म है। श्रीभगवान् शङ्कराचार्यजीने शून्यवादके परिहार करनेकेलिये कहा है किः—

न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गात्।
किञ्चित् हि परमार्थमालम्ब्य अपरमार्थः प्रतिषिध्यते
यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः।

जगत् व जगत्का आधार दोनोंकाही प्रतिषेध ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा होनेसे शून्यवाद-प्रसङ्ग हो जायगा। कोई परमार्थ अवश्य है, जिसको आश्रय करके अपरमार्थ बाधित होता है। "नेति" "नेति" द्वारा कार्यका प्रतिषेध ही सङ्गत है, क्योंकि कार्य असत् और कल्पित है। जिसप्रकार रज्जुमें सर्पका प्रतिषेध होता है; इसीप्रकार उपदेशसे ब्रह्ममें कल्पित अवस्तुओंका प्रत्याख्यान करके ब्रह्मका स्वरूप प्रतिपादन किया गया है। इसमें कार्य, जिसका आधार ब्रह्म है, उसका ही प्रतिषेध कियागया है। ब्रह्मका प्रतिषेध नहीं कियागया है, क्योंकि ब्रह्ममेंही सकल कल्पनाओंका विस्तार है। कल्पित असत् प्रपञ्च बाधित है, सत् वस्तु ब्रह्म अबाधित है।

अद्वैतवादिगण जगतकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं। व्यावहारिक रूपसे जगत् सत्य है, परन्तु परमार्थतः सत्य नहीं है। परमार्थके विषयमें कहा है कि:—

एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमाऽर्थः।

जो वस्तु सर्वदा सर्वत्र एकही रूपमें रहती है, वही सत्य और परमार्थ है। ब्रह्म सर्वदा निर्बाध, एक, अद्वितीय है, अतः ब्रह्मही परमार्थ है। इसके विषयमें लिखा है किः—

एकत्वमेव एवं पारमार्थिकं दर्शयति।

एकत्वही पारमार्थिक है, नानात्व व्यावहारिक है। अद्वैत मतमें सत्य मिथ्याका लक्षण ऐसा किया है कि, भूत भविष्यत् वर्त्तमान, त्रिकालमें और जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति व तुरीया दशामें जो वस्तु निर्बाध और एक रूपमें रहती है, वही सत्य वस्तु है और

जिस बुद्धिकेद्वारा प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय बन्ध व मोक्ष-का ठीक ठीक ज्ञान हो, उसीको सात्त्विकबुद्धि कहते हैं। जिनसे धर्म्म, अधर्म्म और कार्य, अकार्यका यथार्थज्ञान हो, परन्तु कुछ सन्देह युक्त ज्ञान हो, उसका नाम राजसिकबुद्धि है। और जिस अज्ञानाच्छन्न बुद्धिके निकट सब विषय विपरीतरूपसे ही प्रतीत हों, यथा-धर्ममें अधर्म-बुद्धि या अधर्ममें धर्मबुद्धि हो, उसको तामसिक-बुद्धि समझना चाहिये। यद्यपि स्मृतिशास्त्रमें तीनोंप्रकारके मनुष्योंकेलिये ही धर्मो-पदेश वर्णित हैं, परन्तु प्रधानत: राजसिकबुद्धि और तामसिकबुद्धिके मनुष्योंको सहा-यता देनेकेअर्थ ही स्मृतिशास्त्रोंका आविर्भाव हुआ है। योगदर्शनमें कहा है कि :—

ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा।

शुद्ध सात्त्विकबुद्धिको प्रज्ञा अथवा ऋतम्भरा कहते हैं। राजसिक तामसिक शक्तिसम्पन्न बुद्धि ही प्राय: बुद्धिशब्दवाच्य होती है। त्रिविधबुद्धिकेअनुसार धर्मा-नुशासन भी तीनप्रकारके होते हैं; यथा-योगानुशासन, शब्दानुशासन और राजानु-शासन। संसारमें तम:प्रधान मनुष्योंकेलिये राजानुशासन, रज:प्रधान मनुष्योंकेलिये शब्दानुशासन और पूर्णप्रज्ञ सत्त्वप्रधान मनुष्योंकेलिये योगानुशासन है। स्मृतियोंमें राजानुशासन और शब्दानुशासन दोनोंकाही समावेश है। श्रुति अर्थात् वेदके द्रष्टा महर्षियोंकी स्मृतिकी सहायतासे जो धर्म्मशास्त्र प्रणीत हुए हैं, वे ही स्मृति कहलाते हैं। श्रुतिरूपी वेदमन्त्रोंमें मन्त्रद्रष्टा महर्षियोंने कुछ न्यूनाधिक्य नहीं किया है; अर्थात् सृष्टिके आदिकालमें उनके समाधियुक्त अन्त:करणमें जब जब जिसजिसप्रकारके सत्य ज्ञानमय भावोंका आविर्भाव हुआ था, उसी समय उन्होंने वैसेही यथार्थ वैदिक शब्दोंमें उन्हीं सत्य स्वरूपोंका प्रकाश किया था। पूज्यपाद महर्षियोंने शब्दब्रह्मरूपी श्रुतियोंका प्रकाश करते समय अपने विचारकी कोई आवश्यकता नहीं समझी थी। परन्तु वैदिक कालकेअनन्तर जब धर्म्ममर्यादा बांधनेकेअर्थ विशेष अनु-शासन वाक्योंकी आवश्यकता हुई, तब उन्होंने अपने पूर्व्व विज्ञानमय वेदज्ञानयुक्त स्मृतियोंका आश्रय लेकर जिन वर्णधर्म्म, आश्रमधर्म्म, राजधर्म्म, प्रजाधर्म्म एवं लोक-हितकारी साधारण धर्म्मकेअनुशासन शास्त्रोंका प्रणयन किया है, वे ही 'स्मृति' हैं। स्मृतिशास्त्रोंमें पूर्णरूपसे वैदिकज्ञान और विज्ञानका सम्बन्ध रखा गया है। किसी स्मृतिशास्त्रका अनुशासन वेदविरुद्ध नहीं है। वेदोंमें लाघव और गौरवके विचारका सम्बन्ध अधिक है। परवर्त्ती कालमें प्रजाकी बुद्धि प्रभाहीन होनेकेकारण उस गम्भीर विज्ञानद्वारा अपना कल्याण साधन करनेमें असमर्थ हुई थी। फलत: वेदके शब्दानु-शासन भाग अर्थात् त्रिविध अधिकारमेंसे द्वितीय अधिकारके प्रकाशार्थ विस्तृत शब्दानुशासनरूपसे जीवोंके कल्याणार्थ पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने स्मृति शास्त्र प्रकाशित किया है।

वेदोंमें ज्ञान और विज्ञान दोनोंका ही सम्बन्ध रहनेकेकारण योगानुशासन एवं शब्दानुशासन दोनोंका ही विस्तृत विवरण है। इसीकारण वैदिक ज्ञान और विज्ञानके पथप्रदर्शक पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलिप्रभुने दोनों अनुशासनोंके द्वारका उद्घाटन करनेकेअर्थ प्रवेशाधिकाररूप दोनों शास्त्रोंका प्रणयन किया है। अनु-

शासन शास्त्रोंमें प्रधान स्मृतिशास्त्र जिसप्रकार अनुशासनके विचारसे जगत्‌की रक्षा कर सकते हैं, वैसे और शास्त्र नहीं करसकते, इसकारण स्मृतिशास्त्रकी इतनी महिमा है। स्वतन्त्र स्वतन्त्र कल्पोंमें जिसप्रकार वेदोंकी संख्या स्वतन्त्र स्वतन्त्र रीतिसे हुआ करती है, उसीप्रकार अनुशासन शास्त्रोंमें प्रधान स्मृतिशास्त्रोंकी संख्या भी नियमित हुआ करती है। इस कल्पके स्मृतिग्रन्थोंकी संख्या ये है:—

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्त्ताः कात्यायनबृहस्पती॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वष्सिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥

मनु, अत्रि, विष्णु, याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, और वसिष्ठ, ये धर्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) के प्रयोजक हैं। इनके नामोंकी प्रधान स्मृतियाँ हैं। तदतिरिक्त गोभिल, जमदग्नि, विश्वामित्र, भरद्वाज, छागलेय, जाबालि, च्यवन, मरीचि और कश्यपआदि ऋषियोंकी उपस्मृतियाँ भी हैं। सब स्मृतियोंमें धर्म-लक्ष्य एकही होनेपर भी किसी स्मृतिकारने किसी विषयका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, किसीने किसी विषयका स्वल्प रूपसे वर्णन किया है। सब स्मृतियोंका अनुशासन एकप्रकारका न होनेका कारण यह है कि, सृष्टिविचित्रताकेकारण वैदिक सिद्धान्तोंकी स्मृति जिस आर्ष अन्तःकरणमें जिस भावसे प्रकाशित हुई है, उन आचार्य महर्षियों-केद्वारा वैसे ही भाववाले स्मृतिशास्त्र प्रकाशित हुए हैं। इसकारण सब स्मृतियोंका अध्ययन करना युक्तियुक्त है।

स्मृतियोंमें कहीं कहीं कुछ मत-विरोध भी प्रतीत हुआ करता है, जिससे जिज्ञासुओंके हृदयमें प्रायः शङ्का उत्पन्न होना सम्भव है परन्तु पूज्यपाद महर्षियोंने अपने अपने संहिताग्रन्थोंमें भली भांति प्रकाशित कर दिया है कि, ऐसे मतोंके अनैक्यका कारण क्या है? जहां पदार्थकी गुरुता और विज्ञानकी सूक्ष्मता हो वहां मतविरोध होना सम्भव है, परन्तु जहां पदार्थकी सूक्ष्मता और विज्ञानकी प्रबलता हो वहां आचार्योंके मतमें विरोध होना सम्भव ही नहीं है। उदाहरणस्थलपर समझ सकते हैं कि, कन्याके पाणिग्रहण कालके विषयमें तो किसी महर्षिके मतमें विरोध न होगा; अर्थात कन्यामें रजोधर्मके प्रारम्भसे पूर्व विवाह कर देनेकी आज्ञा सब पूज्य-पाद देते ही हैं। परन्तु जब कन्याकी अवस्थाका विचार किया जायगा, तो अवश्य मतविरोध होना सम्भव है क्योंकि पूर्व विचारमें विज्ञानकी दृढता और दूसरे विचार-में विज्ञानकी सूक्ष्मता है। इस विषयको प्रमाणोंकेसाथ आगेके समुल्लासमें और भी कहा जायगा। इसीविषयको दूसरे उदाहरणमें भी समझ सकते हैं कि, सामुद्रिक-लक्षणोंसे मनुष्यके भविष्यत्‌का विचार करते समय भविष्यद्वक्तागणमें मतभेद हो सकता है, परन्तु शुद्ध गणितकी सहायतासे ज्योतिषशास्त्रके फलद्वारा भविष्यत्‌का निर्णय करते समय प्रायः मतभेद होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसकारण यह

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः,
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

जिसप्रकार नदियोंके समुद्रमें मिलनेपर, उनका नाम रूप और अस्तित्व समुद्रमें ही लयको प्राप्त होता है, उसीप्रकार ब्रह्मज्ञानी महात्मा नामरूपमय जीवभावको त्याग करके ब्रह्मानन्द महोदधिमें अपनी आत्माको विलीन करदेते हैं। यही वेदान्तदर्शनमें प्रतिपादित सप्तम ज्ञानभूमिकी मुक्ति है। उपासनाके भेदसे यह मुक्ति दोप्रकारसे प्राप्त होती है। निर्गुण उपासक इस संसारमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके जीवन्मुक्तिकेपश्चात् विदेहमुक्ति प्राप्त करते हैं। यथा :—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते ।

ब्रह्मज्ञानीका प्राण उत्क्रान्त नहीं होता, यहां ही विलीन हो जाता है। द्वितीय सगुण ब्रह्मके उपासक लोग अपने अपने इष्टदेवकेसाथ सालोक्य सायुज्यआदि मुक्ति प्राप्त करते हैं। वे लोग उत्तरायण गति लाभ करके क्रमशः उदूर्ध्व लोकोंमें जातेहुए अन्तमें सप्तम लोकमें पहुंचते हैं। वहां महाप्रलयतक निवास करके ब्रह्म-दिवाके अवसानमें परब्रह्ममें विलीन होते हैं। यथा :—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

क्रममुक्ति प्राप्त तत्त्वज्ञानी महापुरुष कल्पके अन्तमें विलीन होते हैं। यही पहली सहजगति और दूसरी क्रमोदूर्ध्वगति वेदान्तशास्त्रने बतायी है।

संक्षेपसे सातों दर्शनोंके तत्त्व प्रकट किये गये। इनका समन्वय ज्ञानभूमिके-अनुसार आगेके समुल्लासमें किया जायगा। पूर्वकथित सातों दर्शन सातों ज्ञान-भूमियोंसे यथाक्रम सम्बन्ध रखते हैं।

सनातनधर्मकेविज्ञानानुसार जीवकी अधःपतित दशाकी जिसप्रकार सप्त अज्ञान-भूमियाँ मानीगयी हैं, उसीप्रकार साधककी क्रमोन्नतिको सप्त ज्ञानभूमिमें विभक्त किया गया है। उक्त सातों ज्ञानभूमियों और इनके सातों दर्शनोंके अनुभवके विषयमें महर्षियोंने ऐसा कहा है कि :—

ज्ञानदा ज्ञानभूमेर्हि प्रथमा भूमिका मता ।
संन्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया यागदा भवेत् ॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी वै पञ्चमी सत्पदा स्मृता ।
षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा ॥
यत्किञ्चिदासीज्ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेतिधीः
प्रथमो भूमिकायाश्चाऽनुभवः परिकीर्त्तितः ॥
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः ।
प्राप्या शक्तिर्मया लब्धाऽनुभवो हि तृतीयकः ॥

मायाविलसितश्चैतद्दृश्यते सर्वमेव हि ।
न तत्र मेऽभिलापोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः ॥
जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्त्तितः ।
ब्रह्मएव जगत् षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते ॥
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम् ।
ब्रह्माऽहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः ॥
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्मसायुज्यमाप्यते ॥

पहली ज्ञानभूमि ज्ञानदा, दूसरी संन्यासदा, तीसरी योगदा, चौथी लीलोन्मुक्ति, पांचवीं सत्पदा, छठी आनन्दप्रदा और सातवीं परात्परा है। जो कुछ जानने योग्य था, वह मैंने जान लिया है, ऐसा विचार हो जाना प्रथम ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है। त्यागने योग्य जो कुछ है, सो मैंने त्याग दिया है, इसप्रकारका अनुभव दूसरी ज्ञानभूमिका है। प्राप्त करने योग्य शक्तिको मैंने प्राप्त किया है, यह तीसरी ज्ञानभूमिका अनुभव है। यह सब जगत् मायाका विलासरूप दिखायी देता है, अतः इसमें मेरी कुछ भी इच्छा नहीं है, यह चौथी ज्ञानभूमिका अनुभव है। जगत्ही ब्रह्म है, यह पाँचवीं ज्ञानभूमिका अनुभव है। ब्रह्मही जगत् है, यह छठी ज्ञानभूमिका अनुभव कहा जाता है। अद्वितीय निर्विकार सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा विचार होना सातवीं ज्ञानभूमिका अनुभव है। इस ज्ञानभूमिको प्राप्त होकर ही साधक ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त होता है।

॥ द्वितीय समुल्लासका तृतीय अध्याय समाप्त ॥

—:❋:—

स्मृतिशास्त्र

त्रिगुण-भेदकेअनुसार मनुष्यकी बुद्धि तीनप्रकारकी होती है। यथा-सात्त्विक, राजसिक व तामसिक। इनके लक्षणोंके विषयमें गीतामें लिखा है कि :—

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च कार्याऽकार्ये भयाऽभये ।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥
यया धर्म्ममधर्म्मञ्च कार्यञ्चाऽकार्यमेव च ।
न यथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥
अधर्म्मं धर्म्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥

अवश्य विचार रखना उचित है कि, पूज्यपाद महर्षिगणके मतोंमें यदि कहीं विरोधसा प्रतीत हो, तो उससे जिज्ञासुगणको विचलित होना उचित नहीं है, किन्तु देश, काल और पात्रके विचारद्वारा अनुशासनके रहस्य समझनेमें यत्न करना मुख्य कर्त्तव्य है।

कहीं कहीं ऐसा मत भी देखनेमें आता है कि, प्रधान स्मृतियाँ दो हैं, उपस्मृतियाँ अट्ठारह हैं और औपस्मृतियाँ भी अट्ठारह हैं। प्रधानस्मृति याज्ञवल्क्य और मनु, एवं अट्ठारह उपस्मृतियोंके नाम हम ऊपर लिख चुके हैं, तथा कुछ औपस्मृतियोंके नाम भी गिना चुके हैं। कोई कोई श्रीमहाभारतको पञ्चमवेद कहते हैं और कोई कोई इसके बहुतसे अंशको स्मृति भी कहते हैं। कोई कोई आचार्य इसीप्रकार सब पुराणोंके विशेष विशेष अंशको भी स्मृति कहते हैं। परन्तु प्राचीन कालमें ऊपरकथित तीनप्रकारकी स्मृतियाँ सूत्राकारमें प्रचलित थीं, इसके प्रमाण तो बहुत मिलते हैं। जिसप्रकार कल्पशास्त्र सूत्रबद्ध हैं, उसीप्रकार स्मृतिशास्त्र भी सूत्रबद्ध थे। स्मृतिसूत्र प्रायः लुप्त होगये हैं परन्तु अब भी कई एक स्मृतियाँ सूत्राकारमें मिलती हैं। ऐसा कहा जाता है कि, मूलस्मृतिकारोंने स्मृतिशास्त्रको सूत्रबद्ध ही बनाया था, परन्तु परवर्ती कालमें अल्पबुद्धि मनुष्योंकी सहायताकेअर्थ उनकी शिष्य-परम्पराने स्मृतियोंको श्लोकबद्ध किया है। स्मृतियाँ बहुत हैं और एक एक विषयपर कई कई स्मृतियोंने सम्मतियाँ दी हैं, इसकारण इस समय ऐसे स्मृतिशास्त्रके संग्रहग्रन्थ बड़े उपकारी होंगे, जिनमें वर्तमान देश कालोपयोगी विषयोंका यथाक्रम समावेश हो। आज दिन स्मृतिशास्त्रका अधिक प्रचार न रहनेसे ही वर्णाश्रमधर्म, सदाचार तथा कर्म्म, उपासनाआदिकी सुव्यवस्थामें फेर पड़ने लगा है। स्मृतिशास्त्रका अध्ययन अध्यापन कार्य जितना अधिकरूपसे प्रचलित होगा, उतनी ही आर्य जातिकी पुनरुन्नति हो सकेगी। यह स्मृतिशास्त्र-ज्ञानके लोप होनेका ही कारण देख पड़ता है कि, एक देशके ब्राह्मणके आचारसे दूसरे देशके ब्राह्मणका आचार नहीं मिलता और जो अग्रजन्मा ब्राह्मणरूपसे सब एक ही थे, वे अब अपने अपनेको अलग अलग मानकर देश और जातिका अकल्याण कर रहे हैं। यह स्मृतिशास्त्रके ज्ञानके लोपका ही कारण है कि, सनातनधर्म्मका लक्षण तक लोग नहीं कह सकते। यह स्मृतिशास्त्रज्ञानके लोपका ही कारण है कि, चार वर्णोंसे अनन्त जातियाँ बन गयीं हैं। जहाँ तक हो सके स्मृतिशास्त्रके ग्रन्थोंका अनुसन्धान करना चाहिये और उनके छोटे बड़े संग्रहग्रन्थ बनने चाहियें। पाठशालाकी निम्नश्रेणीसे लेकर उच्चश्रेणी पर्यन्तमें इस शास्त्रका अध्ययन कराना हितकारी होगा। इसीप्रकार इस सर्वजीवहितकारी शास्त्रका जितना प्रचार होगा, उतनी ही धर्म्मोन्नति हो सकेगी।

अन्य सब उपदेशोंके अतिरिक्त स्मृतियोंमें प्रतिदिनके कार्यकलाप व सामाजिक रीतिका चित्र पूर्णतया प्रकटित किया गया है। जिसप्रकार जीवनचर्यासे सामाजिक व व्यक्तिगत जीवन, लौकिक या पारलौकिक उन्नतिके शिखरपर पहुँच सकता है और जिसप्रकार निषिद्ध कर्म्मोंके त्यागसे मनुष्य अधोगतिसे बच सकता है, ये सभी विधि निषेध स्मृतियोंमें स्पष्टरूपसे वर्णित हैं। प्रातःकालसे सन्ध्यापर्यन्त और सन्ध्यासे प्रातःकालपर्यन्त किस किसप्रकारके मनुष्योंका क्या क्या कर्त्तव्य है,

वह सभी इनमें वर्णित है। ब्राह्मणआदि चार वर्णोंके स्त्री पुरुषोंकी नित्य नैमित्तिक कर्म्मविधि बतानी ही स्मृतियोंका लक्ष्य है। स्वधर्म्मपालन और सदाचाररक्षाके विषयमें सभी स्मृतियोंने समानरूपसे शिक्षा दी है। बहुतसे अर्वाचीन पुरुष यह समझते हैं कि, ब्राह्मणोंने अपनी जीविका और प्रतिष्ठा बढ़ानेकेलिये कई स्मृतियाँ बनायी हैं। यह बात मिथ्या है, क्योंकि धीर होकर विचार करनेसे विदित होगा कि, स्मृतियोंमें यथार्थ ब्राह्मणोंकी जिसप्रकार प्रतिष्ठा की गयी है, निन्दित धर्म्महीन ब्राह्मणोंकी उसीप्रकार निन्दाभी की गयी है। मनुसंहितामें लिखा है कि :—

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाऽभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥

संसारका सभी धन ब्राह्मणका ही है, सकल वर्णोंमें श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित होनेसे सब धनमें ब्राह्मणका अधिकार है। इसप्रकार ब्राह्मणकी प्रतिष्ठा बताकर मनुजीने पुनः लिखा है कि :—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्म्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥
यथा षण्डोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाऽफला।
यथा चाऽज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥

लकड़ीसे बनेहुए हाथी व चमड़ेसे बने हुए मृगके सदृश मूर्ख ब्राह्मण भी किसी कामके नहीं हैं। वे सब नामके ही हैं। क्लीवका स्त्रीसम्बन्ध, गौका गौसे सम्बन्ध व अज्ञको दान, जैसा निष्फल है, मूर्ख ब्राह्मण भी ऐसाही है। ब्राह्मणका सम्मान करना चाहिये, इसप्रकार सब वर्णोंको उपदेश करनेपर भी ब्राह्मणकेलिये मनुजी लिखते हैं कि :—

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानञ्च सर्व्वदा ॥

ब्राह्मणको लौकिक सम्मानसे विषके सदृश नित्य पृथक् रहना चाहिये और अवमाननाको अमृतके समान चाहना चाहिये। आपस्तम्ब संहितामें भी लिखा है कि :—

अपमानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तपसः क्षयः।
अर्च्चितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव सीदति ॥

अवमानसे ब्राह्मणकी तपोवृद्धि और सम्मानसे तपःक्षय होता है। जिस-प्रकार दोहन करनेसे गौ क्षीण होती है, उसीप्रकार ब्राह्मण भी पूजित व सम्मानित होनेसे अवसादग्रस्त होते हैं। अतः इसप्रकार निष्पक्षपात व समतायुक्त उपदेशोंके ऊपर विचार करनेसे कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य स्मृतियोंपर पक्षपातका दोष नहीं लगा

सकते हैं। पाप करनेसे और वर्णोंको जितना दण्ड लिखा है, ब्राह्मणको उससे कई गुणा अधिक दण्ड स्मृतिकारोंने बताया है। सुरापानके दण्डमें मनुजी लिखते हैं कि :—

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया स्वकाये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः॥

यदि द्विजाति मोहसे कभी सुरापान करें, तो उन्हें पापमोचनकेलिये अग्निवर्ण गरम सुरापान कर दग्ध होना चाहिये। अन्यथा पाप क्षय नहीं हो सकता है। परदारगमन करनेसे ब्राह्मणकेलिये जो भीषण प्रायश्चित्त लिखा है, ऐसा और किसी वर्णकेलिये नहीं है, इत्यादि विषय विचारने योग्य है। मनुसंहितामें उच्चवर्णकेलिये नीच वर्णकी कन्याकेसाथ विवाह विहित होनेपर भी उसकी अत्यन्त निन्दाकी गयी है। यथा :—

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्॥
शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते॥

द्विज यदि मोहसे हीनजातीय स्त्रियोंकेसाथ विवाह करें, तो सन्तानोंके साथ उनको शीघ्र ही शूद्रत्वप्राप्ति होती है। शूद्राकेसाथ गमन करनेसे ब्राह्मणकी अधोगति होती है और उसमें पुत्र उत्पन्न करनेसे ब्राह्मणका ब्राह्मण्य नहीं रहता है। असवर्णा पत्नीमें उत्पादित सन्तान वर्णसङ्कर होती है, उनको पिताका वर्ण नहीं प्राप्त होता है। निषाद, चण्डाल, वेणआदि इसीप्रकारसे उत्पन्न हैं। आचारभ्रष्ट सवर्णकेसाथ विवाहसे जो जाति उत्पन्न होती है, उसे व्रात्य कहते हैं। संस्कार व क्रियाकाण्डके अभावसे बहुतसी जातियाँ शूद्रत्वको प्राप्त हो गयी हैं। मनुसंहितामें लिखा है कि :—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणाऽदर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥

पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद व खश, इन देशोंके क्षत्रियलोग संस्कार व यजनयाजनादिकोंके अभावसे तथा ब्राह्मण दर्शन न होनेसे शूद्रत्व प्राप्त हो गये हैं। राज्यपालनके विषयमें स्मृतियोंमें पूर्ण विधिका उपदेश किया गया है। वर्त्तमान नियमबद्ध अनुशासनप्रणाली प्राचीन महर्षियोंके मस्तिष्कमें किसप्रकार सुफलप्रदरूपसे उदय हुआ करती थी, मनुसंहिताके राजधर्मानुशासनका अध्याय पढ़नेसे इसका पूर्ण परिचय हो सकता है। उसमें बृहत्साम्राज्यको पृथक् पृथक् भागमें विभक्त करके पृथक् पृथक् पदधारियोंका

नियोजन, क्रमोन्नत शासन व शासनव्यवस्था, पारस्परिक सहानुभूति व सहयोगिता, अधीनस्थ कर्मचारियोंकेप्रति तीक्ष्णदृष्टि, नियमबद्ध अनुशासनविधि, अत्याचारी होनेपर दण्डविधानआदि सकलप्रकारकी शासनप्रणाली बतायी गयी है। यह सब वृत्तान्त मनुसंहिताके सप्तम अध्यायमें द्रष्टव्य है। अपराधके तारतम्यानुसार दण्डका भी तारतम्य पूर्णरूपसे बताया गया है। अन्त्यवर्णकी अपेक्षा द्विजातिका दण्ड कठिन था। इनमें भी ज्ञानके तारतम्यानुसार दण्डभेद था। चोरी करना पाप है, इसको जानकर भी कोई शूद्र चोरी करे, तो साधारण चोरकी अपेक्षा उसको आठगुणा अधिक दण्ड मिलेगा। वैश्य चोरको सोलहगुणा, क्षत्रियचोरको बत्तीसगुणा और ब्राह्मणचोरको चौंसठगुणा अधिक दण्ड मिलेगा। इसप्रकार दण्डविधान स्मृतियोंमें मिलते हैं। इन सब प्रमाणोंसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि, जगत्पूज्य ब्राह्मणगण धर्मवर्णन करते समय कैसे पक्षपातरहित हुआ करते थे।

राजकरग्रहणके विषयमें मनुजीने बहुत विचार करके, जिससें प्रजाको कुछ भी कष्ट न हो, ऐसा ही "कर" लेनेकी आज्ञा दी है। धान्यआदि शस्यका षष्ठ, अष्टम या द्वादश अंश और पण्यद्रव्यका षष्ठ अंश राजाका प्राप्य है। राजकार्यपरिचालनमें मन्त्री, ब्राह्मण और सदस्योंकी मन्त्रणा ली जानी चाहिये, इससे आचाररक्षा, धर्मरक्षा व राज्यरक्षा होती है, इसप्रकारके उपदेश सब संहितामें ही प्रायः एकसे मिलते हैं। कहीं कहीं भेद होनेपर भी वह केवल देशकालनिमित्त ही है। इसप्रकार सभी स्मृतियाँ प्रामाणिक हैं। अर्वाचीन लोगोंने जो कहीं कहीं सन्देह करके कुछ स्मृतियोंका अप्रामाण्य मान रक्खा है, वह उनकी भूल है। उन सब प्रमाणोंपर विचार करनेसे देश काल व अधिकारिभेदसे सब प्रमाणही यथार्थ व हितकारी प्रतीत होंगे। अतः इसप्रकार सन्देह करना निरर्थक है। आगे प्रसङ्ग आनेपर इन सब भेदोंकेकारण स्पष्ट रूपसे बताये जायँगे, जिससे समस्त स्मृतियोंपर सन्देह दूर होसकेगा।

द्वितीयसमुल्लासका चतुर्थ अध्याय समाप्त

—:o:—

पुराणशास्त्र।

पुराण वेदोंके व्याख्याग्रन्थ हैं। अतः सर्वथा वेदानुकूल हैं। वेदोंमें जो समाधिगम्य कठिन कठिन विषय प्रकाशित किये गये हैं, उन्हींको कहीं भिन्न भिन्न भावसे, कहीं भिन्न भिन्न भाषामें, कहीं भिन्न भिन्न अलङ्कार व गाथासे, विस्तारके साथ पुराणोंमें वर्णित किया गया है। पुराणोंमें एक भी शब्द या विषय वेदविरुद्ध नहीं है। जहाँ वेदविरुद्ध प्रतीत हो, वहाँ बुद्धिका दोष व समझनेका दोष है, पुराणका नहीं। श्रीभगवान् अज, नित्य, शाश्वत और पुराण पुरुष हैं। इसलिये उनके निश्वासरूपी वेद और वेदव्याख्यारूप पुराण भी नित्य और पुरातन हैं। पुरातन होनेसेही इनका नाम पुराण है। वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषद्में लिखा है कि :—

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम् ।

मन्त्र ब्राह्मणात्मक चार वेद, इतिहास, पुराण इत्यादि महान् पुरुष परमेश्वरके निश्वास हैं। निश्वासशब्दकेद्वारा दो अर्थ प्रतिपन्न किये गये हैं। प्रथमतः निश्वास जिसप्रकार आपसे आप प्राकृतिक रूपसे निकलता है, उसीप्रकार वेद और पुराण-आदि भी परमात्मासे ही अनायास ही निकले हैं। द्वितीयतः निश्वासशब्दकेद्वारा वेद और पुराणकी नित्यता व पूर्णता सिद्ध की गयी है। जीव शरीरमें दोप्रकारके यन्त्र होते हैं। एकका नाम स्वेच्छासेवक और दूसरेका नाम परेच्छासेवक है। हाथ, पाँवआदि यन्त्र स्वेच्छासेवक हैं, क्योंकि जीवकी इच्छाकेअनुसारही इनका कार्य होता है। हाथ स्वयं नहीं हिलता है, पाँव स्वयं नहीं चलता है, जीवके हिलानेसे व चलानेसे ही, हिलता है व चलता है। इसलिये वे स्वेच्छासेवक हैं। परन्तु श्वासयन्त्र, पाकयन्त्रआदि कई यन्त्र ऐसे हैं कि, जीवकी इच्छाके विना भी उनका कार्य चलता है। श्वासको चलनेकेलिये नहीं कहना पड़ता है, समस्त संसार निद्राकी गोदमें सोजाय, सबका कार्य बन्द होजाय, तो भी श्वासका कार्य अविराम चलता है, और जीवके जन्मसे मृत्युपर्यन्त क्षणभर भी विश्राम न लेकर चलता ही रहता है। इसलिये परेच्छासेवक यन्त्रोंकेसाथ जीवका जीवत्व सम्बन्ध अधिक है। हाथ और पाँवके काट डालनेसे मनुष्य जीता रहसकता है। परन्तु श्वासयन्त्रमें थोड़ाही बिगाड़ होनेसे मनुष्य उसीसमय मरजाता है। अर्थात् जीवका यावद्द्रव्य-भावित्व सम्बन्ध श्वासकेसाथ है। पुराण व वेद जब भगवान्के निश्वास हैं, तो इससे यही सिद्धान्त हुआ कि, पुराण व वेदकेसाथ भगवान्का यावद्द्रव्यभावित्व सम्बन्ध, अर्थात् नित्य सम्बन्ध विद्यमान है। इसलिये जब भगवान्की उत्पत्ति व उनका नाश नहीं, भगवान् नित्य हैं, तो उनके निश्वासरूपी वेद व पुराण भी नित्य हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। यही निश्वास कहनेका तात्पर्य है। पुराणको भगवान्के निश्वास कहनेसे यह तत्त्व भी निर्णीत होता है कि, जिसप्रकार श्वासयन्त्रकेसाथ जीवका सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसीप्रकार भगवान्का भी स्वाभाविक सम्बन्ध पुराणसे है। इसलिये भगवान्के स्वाभाविक गुण पुराणमें भी हैं। भगवान् नित्य हैं। जीवोंके कार्यानुसार वे वेदके सदृश युग युगमें प्रकट होते हैं! जिसप्रकार भारतवासियोंके दुर्भाग्य, संशयात्मिका बुद्धि और पापकेकारण वेदके हजारों ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं, उसीप्रकार विश्वास, आस्तिकताआदि सद्गुणोंके अभाव होनेसे पुराणके भी बहुत ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं और बहुत स्थानोंमें प्रक्षिप्त अंश भी आगये हैं। भगवान्का दूसरा गुण यह है कि, भगवान् पूर्ण हैं। इसलिये पुराण भी पूर्ण हैं! पुराणकी यह पूर्णता, त्रिविध भाषामें, विविध भावमें, त्रिगुणकेअनुसार त्रिविध अधिकारवर्णनमें, प्रकृति व प्रवृत्तिकेअनुसार सकलप्रकारके मनुष्योंके कल्याण करनेमें, कर्म उपासना व ज्ञानका तत्त्वनिर्णय करते हुए ज्ञानकी गम्भीरता, भक्तिकी माधुरी व कर्मयोगके आत्मत्यागमें, परम आस्तिकतामें, विभिन्नभावोंका समन्वय करके चित्तविनोदनमें, धर्मसङ्कटोंकी मीमांसामें, प्राचीन सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक

आचार व विधि-व्यवस्थावर्णनमें और आदर्श चरित्रोंको विचित्र चरित्र कहकर संसारकी उन्नति करनेमें है। इसलिये ही वेदमें पुराणकेलिये इतने प्रमाण मिलते हैं। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है कि :—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्। इत्यादि।

मैं ऋग्यजुःसाम और अथर्ववेदको जानता हूँ और पाँचवाँ वेद इतिहास पुराण भी जानता हूँ। गोपथब्राह्मणमें लिखा है कि:—

एवमिमे सर्वे वेदा निर्म्मितास्सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपननिषत्काः सेतिहासाः सान्वयाख्याताः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्यास्तेषां यज्ञमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं यज्ञमित्येवाचक्षते।

इस मन्त्रमें ब्राह्मण उपनिषद् निरुक्त कल्प इतिहास पुराणआदि सबका पृथक् पृथक् नाम उल्लेख किया गया है, जिससे यह भी प्रमाणित होता है कि, वेदके ब्राह्मणभागको ही पुराण कहनेकी कल्पना मिथ्या कल्पना है। अथर्ववेदमें लिखा है कि :—

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् तमितिहासश्च पुराणञ्च गाथाश्च नाराश ९ सीश्चानुव्यचलन् इतिहासस्य च वै सपुराणस्य च नाराश ९ सीनाञ्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।

इससे भी सिद्ध होता है कि, वेदके संहिताभागमें भी पुराणका उल्लेख है। मनुसंहितामें भी लिखा है कि :—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासाँश्च पुराणान्यखिलानि च॥

श्राद्धमें वेद धर्मशास्त्र आख्यान इतिहास पुराणआदि, सबको सुनना चाहिये।

पुराण भारतवासियोंके अतिप्रिय हैं। अब भी यही देखनेमें आता है कि, भारतवर्षके सब प्रदेशोंमें सब ग्रन्थोंसे पुराणग्रन्थोंका प्रचार अधिक है। इसप्रकारके धर्मग्रन्थोंका आदर केवल भारतवर्षमेंही नहीं, पृथिवीके सकल धर्मावलम्बियोंमेंही इस रीतिके ग्रन्थ प्रचलित हैं और साधारण लोगोंमें इसीप्रकारके ग्रन्थोंका अधिक सम्मान देखनेमें आता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि, धर्मके गम्भीर-ग्रन्थोंके विचार करनेमें साधारण लोगोंकी रुचि उतनी नहीं होती, जितनी सरल इतिहासपूर्ण धर्मग्रन्थोंके पढ़नेमें होती है। देखिये, ईसाई धर्ममें यदि च ईसूमसीहके कोई इसप्रकारके पुराण ग्रन्थ नहीं देखनेमें आते हैं परन्तु उनके देहत्यागके पीछे

उनके भक्तगणके ऐतिहासिक ग्रन्थ भी बहुत आदरकेसाथ उक्त धर्मावलम्बियोंमें प्रचलित हैं। बौद्ध जैन धर्मावलम्बियोंका तो कहना ही क्या है ? इनके धर्मग्रन्थोंमें अधिकांश ग्रन्थ हमारे पुराण ग्रन्थोंके अनुकरणपर ही बनाये गये हैं, और उनका आदर इन सम्प्रदायोंके और और ग्रन्थोंसे अधिक है।

शास्त्रकारोंने पुराणके लक्षण इसप्रकार लिखे हैं :—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानां वंशचरितं पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

महाभूतोंकी सृष्टि, समस्त चराचरकी सृष्टि, वंशावली, मन्वन्तरवर्णन और प्रधान प्रधान वंशोंके व्यक्तियोंका क्रमशः विवरण, पुराणोंके ये पाँच लक्षण हैं। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें महापुराणके लक्षण लिखे हैं कि :—

सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्च स्थितिस्तेषाञ्च पालनम्।
कर्मणां वासनावार्त्ता मनूनान्तु क्रमेण च ॥
वर्णनं प्रलयानाञ्च मोक्षस्य च निरूपणम्।
उत्कीर्त्तनं हरेरेव देवानाञ्च पृथक् पृथक् ॥

मूलसृष्टि, विशेष विस्तृत सृष्टि, जगत्‌की स्थिति, जगत्‌का पालन, कर्मवासना, मनुओंका प्रकाश-क्रम, प्रलय, मोक्ष, हरिकीर्तन, देवताओंके पृथक् पृथक् गुणवर्णन, ये दश लक्षण महापुराणके हैं। लक्षणोंको देखनेसेही स्पष्ट सिद्ध होता है कि, किन किन आवश्यकीय उद्देश्योंके साधनकेलिये हमारे त्रिकालदर्शी ऋषियोंने पुराण प्रकाशित किये थे। चिरजीवी पुराणशास्त्रने चिरकालसे ही हमारे सनातनधर्मकी पूर्ण रक्षा की है। आज इस आपत्कालमें भी सबप्रकारके अधिकारियोंका पितृवत् पालन कर रहा है। श्रीभगवान् वेदव्यासजी कहते हैं कि, महापुराण अष्टादश हैं। यथाः—

अष्टादश पुराणानिपुराणज्ञाः प्रचक्षते।
ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा ॥
तथान्यं नारदीयञ्च मार्कण्डेयञ्च सप्तमम्।
आग्नेयमष्टमञ्चैव भविष्यं नवमं स्मृतम् ॥
दशमं ब्रह्मवैवर्त्तं लैङ्गमेकादशं स्मृतम्।
वाराहं द्वादशञ्चैव स्कान्दं चैव त्रयोदशम् ॥
चतुर्दशं वामनञ्च कौर्मं पञ्चदशं स्मृतम्।
मात्स्यं च गारुडञ्चैव ब्रह्माण्डञ्च ततः परम् ॥

ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, भागवत, नारदपुराण, मार्कण्डेय-पुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, लिङ्गपुराण, वाराहपुराण,

स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुडपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, यही अष्टादश महापुराण हैं। उसीप्रकार उपपुराण भी अष्टादश हैं। वेदव्यासजीने कहा है कि :—

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमथाऽपरम्।
तृतीयं वायवीयं च कुमारेणाऽनुभाषितम्॥
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम्।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतः परम्॥
नन्दिकेश्वरयुग्मञ्च तथैवोशनसेरितम्।
कापिलं वारुणं साम्बं कालिकाह्वयमेव च॥
माहेश्वरं तथा देवि! दैवं सर्वार्थसाधकम्।
पराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम्॥

सनत्कुमारोक्त आद्य, नारसिंह, कुमारोक्त वायवीय, नन्दीशभाषित शिवधर्म, दुर्वासा, नारदीय, नन्दिकेश्वरके दो, उशना, कापिल, वारुण, साम्ब, कालिका, माहेश्वर, दैव, पाराशर, मारीच, भास्कर, ये अष्टादश उपपुराण हैं। इनमेंसे महापुराण और उपपुराण होनेके विषयमें किसी किसी पुराणके नाममें साम्प्रदायिक मतभेद है। यथा—भागवतपुराण, शैव और देवीके उपासकगण देवीभागवतको महापुराण कहते हैं और विष्णुके उपासकगण इसके विरुद्ध विष्णुभागवतको महा-पुराण कहते हैं। ऊपरलिखित छत्तीस पुराणोंके अतिरिक्त और भी बहुत पुराणोंके नाम मिलते हैं। वे सब औपपुराण कहलाते हैं। औपपुराणोंकी भी संख्या अष्टादश है। इसप्रकारसे पुराणशास्त्र, महापुराण, उपपुराण, औपपुराण, इतिहास और पुराणसंहिता, इन पाँच भागोंमें विभक्त हैं। पुराणग्रन्थ भी बहुत लुप्त होगये हैं और एक विशेष असुविधा इन शास्त्रोंमें यह हुई है कि, इनमें कई एक कारणोंसे स्थान स्थानपर प्रक्षिप्त अंश बढ़ा दिये गये हैं, जो अवस्थाभेदसे हानिकारक भी हैं। पुराणोंके अतिरिक्त जो इतिहासग्रन्थ हैं, वे भी पुराणके ही अन्तर्गत हैं। यथा—श्रीमहाभारत और श्रीमद्रामायण। हरिवंश महाभारतके अन्तर्गत माना गया है। पुराण और इतिहासशास्त्रोंको किन्हीं किन्हीं आचार्योंने इसप्रकारसे भी विभक्त किया है। यथा—कर्मविज्ञानप्रधान श्रीमहाभारत, ज्ञानप्रधान श्रीरामायण और पञ्चोपासना प्रधान अन्यपुराण। वास्तवमें अन्यपुराणोंमें प्रायः पञ्चोपासनाकी पुष्टि की गयी है। जगज्जन्मके आदिकारण मानकर ही कहीं श्रीविष्णु, कहीं श्रीसूर्य, कहीं श्रीभगवती, कहीं श्रीगणपति, और कहीं श्रीसदाशिवकी उपासनाका समर्थन किया गया है। पुराण और इतिहासका प्रधानतः पार्थक्य यह है कि, इतिहासमें प्राचीन आख्यायिका अधिक, और सृष्टिआदिका तत्त्व कम बताया जाता है एवं पुराणमें सृष्टिआदिका वृत्तान्त अधिक और प्राचीन इतिवृत्त कम बताये जाते हैं। परन्तु इतिहासमें भी पुराणका अंश और पुराणमें भी इतिहासका अंश बहुत रहता है। जैसाकि

महाभारतके शान्तिपर्वमें भीष्मदेवके उपदेशमें पुराणके अंश बहुत हैं और श्रीमद्-भागवतमें कृष्णलीलाआदि इतिहासका अंश बहुत है। इसलिये इतिहासमें कौन अंश पुराणका है और पुराणमें कौन अंश इतिहासका है, इसको ठीक ठीक जानकर पढ़ना चाहिये। अन्यथा भ्रान्ति होती है।

अर्वाचीन पुरुष पुराणके तत्त्वको न जानकर सन्देहजालमें विजड़ित हो रहे हैं। बहुतसे पश्चिमी विद्वान् और बहुतसे इस देशके विद्वान इस विषयमें कईप्रकारके सन्देह कर रहे हैं। उनके समस्त सन्देहोंको प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथाः— (१) पुराण प्राचीनग्रन्थ नहीं हैं, नवीन ग्रन्थ हैं (२) वेदका ब्राह्मणभाग ही पुराण है, उसके अतिरिक्त जो कुछ पुराण नामसे प्रसिद्ध ग्रन्थ मिलते हैं, वे सब साम्प्रदायिक पुरुषोंकी कपोलकल्पना हैं (३) पुराणमें बहुतसी मिथ्या बातें आधुनिक पण्डितोंने घुसा दी हैं, जो विज्ञानविरुद्ध व भूगोलविरुद्ध हैं और वीभत्सरसकी भी पुराणोंमें अवतारणा की गयी है, जिससे संसारकी हानि है। अतः उनके मतसें पुराण सर्वथा परित्याज्य हैं। अब इन सब सन्देहोंको एक एक करके निराकरण किया जाता है।

(१) पहला सन्देह अर्थात् पुराण नवीन ग्रन्थ हैं, इसके विषयमें जितनी बातें हुआ करती हैं, उनमें मुख्य बात वे लोग यही कहते हैं कि, जब पुराणमें बहुतसी नवीन नवीन घटनाओंका उल्लेख है, तो जिस पुराणमें जिस घटनाका वर्णन है, वह पुराण उस घटनाके बादका बनाया हुआ अवश्य होगा। पश्चिमी विद्वानोंने प्रायः इसी बातकी युक्ति दी है। किसी किसीने कहा है कि, जब सभी पुराणोंमें बुद्धदेवका प्रसङ्ग मिलता है, तो सभी पुराण बुद्धदेवके जन्मकेबाद बनने चाहियें। किसी किसीने कहा है कि, जब वैष्णवसम्प्रदाय चला था, उसका वृत्तान्त श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण और पद्मपुराणमें है, तब ये तीनों पुराण पञ्चदश शताब्दीके अन्तमें बनाये गये हैं। किसीने यह भी कह दिया है कि, स्कन्दपुराणमें जगन्नाथदेवके मन्दिरकी बातें लिखी हैं, इसलिये स्कन्दपुराण आधुनिक है। इस-प्रकारसे अर्वाचीन पुरुषोंने अपनी अपनी बुद्धिकेअनुसार अनेक युक्तियाँ लड़ाई हैं, परन्तु विचार करनेपर यह अवश्य निश्चय होगा कि, शास्त्रके मर्म जाननेवालोंकेपास इसप्रकारकी युक्तियाँ नितान्त अकिञ्चित्कर हैं। पुराणमें किसी इतिहासके देखते ही, वह पुराण उस इतिहासकेबाद बनाहुआ है, इसप्रकारकी कल्पना कर डालना, ऐसा ही हास्यास्पद है, जैसाकि वेदके ब्राह्मणभागके विषयमें किन्हीं किन्हीं अर्वाचीन पुरुषोंकी कल्पना हास्यास्पद है, जिन्होंने यह बात लिखनेमें सङ्कोच नहीं किया कि, जब ब्राह्मणभागमें बहुतसे राजाओंके इतिहास लिखे गये हैं, तो ब्राह्मणभाग उन राजाओंके जन्मकेबाद बने होंगे, अतः ब्राह्मणभाग अपौरुषेय और ईश्वरवाक्य नहीं हैं। इसप्रकारकी युक्ति कितनी निस्सार है, सो वेदके अध्यायमें दिखाया गया है। अब पुराणके विषयमें भी ऐसी ही युक्ति अर्वाचीन पुरुष देते हैं। इसलिये यह भी पूर्वसिद्धान्तकेअनुसार ही निस्सार है। यदि पुराणोंके अन्तर्गत इतिवृत्तोंको देखकर पुराणोंका काल-निर्णय करना हो, तब तो कोई काल निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि पुराणोंमें ऐसी ऐसी बातें लिखी हैं, जो अभी तक हुई ही नहीं हैं, भविष्यत्में होंगी।

जैसा कि कलिका लक्षण, कल्कि अवतारका जन्म इत्यादि; तो जिन पुराणोंमें ये सब बातें लिखी हुई हैं, उन पुराणोंके जन्मदिनका पता कैसे चलेगा, क्योंकि अर्वाचीन पुरुषोंके सिद्धान्तकेअनुसार उन पुराणोंका जन्म ही नहीं होना चाहिये था, क्योंकि उनमें लिखी हुई घटनायें अभी तक हुई ही नहीं हैं, कितनी ही घटनायें भविष्यत्‌के गर्भमें हैं। द्वितीयत: ये सब भविष्यत्‌में होनेवाली घटनायें जब हो जायँगी, तब उनके परवर्त्ती कालके मनुष्य भी क्या यह सिद्धान्त करेंगे कि, उन घटनाओंके होनेकेबादके ही वे सब पुराण बने हुए थे, जिनमें वे सब घटनायें मिलती हैं ? और क्या उन लोगोंका इसप्रकारका सिद्धान्त मिथ्या नहीं होगा ? यदि होगा, तो यह बात निश्चय है कि, आजकलके अदूरदर्शी लोग जो इसप्रकारकी युक्तियोंको लेकर पुराणोंको आधुनिक कहरहे हैं, इनका भी सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। आज कल विज्ञानकी उन्नतिके दिनोंमें ज्योतिषगणनाकेद्वारा निश्चय होता है कि, किस वर्षके किस समयपर किस देशमें किसतरहसे चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण होगा, पञ्चाङ्गमें ये सब बातें पहलेसे ही लिखी रहती हैं, तो क्या इससे यह सिद्धान्त करना पड़ेगा कि, ज्योतिर्गणना या पञ्चाङ्गका विषय सूर्यग्रहणके बादका बनाहुआ होगा ? कभी नहीं ! यदि साधारण मनुष्योंकी गणना या साधारण विज्ञानसे आविष्कृत दूरवीक्षणकी दृष्टिकी सहायतासे इतनी भविष्यत् बातें ठीक ठीक मिल जाती हैं, तो ऋषियोंके ज्ञानरूपी दूरवीक्षण यन्त्रसे, जो चतुर्दश भुवनको भेद करके भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान बातोंको करगतामलकवत् सामने धरदेता था, भविष्यत्‌के दो चार वृत्तान्तोंको देख लेना क्या योगी और ज्ञानी ऋषियोंकेलिये असम्भव होसकता है ? आजकल योगकी शक्ति लुप्तप्राय होरही है, जिस ज्ञानसे ऋषिलोग भविष्यत् देखते थे, वह ज्ञान भी कलिकल्मषदूषितान्तःकरणमें प्रकाशित नहीं होता है, इसलिये ऋषियोंमें क्या शक्ति थी, इसकी कल्पना भी आजकल असम्भव हो गयी है, इसीलिये इसप्रकार सन्देह होता है और युक्तियाँ भी दीजाती हैं। परन्तु यह बात सत्य है कि, हमारी शक्ति नष्ट हो गयी है, इसलिये ऋषियोंका ज्ञान झूठा नहीं हो सकता है। महर्षिलोग त्रिकालदर्शी थे। उनके ज्ञाननेत्रोंके सामने भारतके भविष्यत्‌की जो जो बातें देखनेमें आयीं थीं, वे सब पुराणोंमें वे लिख गये हैं, उनमें नवीनताकी कल्पना कभी नहीं होसकती है। अब भविष्यत्‌की बातोंको ऋषिलोग किसप्रकारसे देखते थे, सो बतलाया जाता है ! महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें लिखा है कि:—

संस्कारसंयमात्परचित्तज्ञानम् ।

संस्कारपर संयम करनेसे दूसरोंके चित्तका ज्ञान होता है। दूसरोंकी चित्तगत बातोंको बतानेवाले आजकल भी मिलते हैं। चित्त या अन्तःकरणकी शक्ति अपार है। उस शक्तिको विषयी बनकर विषयकेप्रति लगानेसे विषयी लोग बहुत कुछ विषय-व्यापार करसकते हैं। उसी शक्तिको बहिर्विषयसे हटाकर चित्तको एकाग्र करते हुए भीतरकीओर लगानेसे अन्तर्राज्यकी अनेक बातें जानी जाती हैं। योगी व ऋषिलोग जितेन्द्रिय होकर चित्तकी शक्तिको अन्तर्राज्यमें लगाकर इसीप्रकारसे

अन्तर्राज्यकी बातोंको जानलेते हैं। जिसप्रकार चित्तवृत्तिको अन्तर्मुखीन करनेसे योगी अपने भीतरकी बातें मालूम करसकते हैं, उसीप्रकार संयमकेद्वारा परचित्तज्ञान प्राप्त करनेकी भी युक्ति होती है। जिसप्रकार स्थूल पञ्चभूतसे संसारकी सृष्टि होनेसे पञ्चभूतके विचारसे सृष्टिके समस्त पदार्थोंका उपादान एकहीप्रकारका है, उसीप्रकार सूक्ष्म पञ्चतत्त्वद्वारा अन्तःकरणके बननेसे प्रत्येक जीवके अन्तःकरणका उपादान एकहीसा है। इस विचारसे समस्त अन्तःकरणकी भूमि एकही है। एक जीवके अन्तःकरणकेसाथ, एक अन्य जीवके अन्तःकरणकी भूमि अभिन्न होनेपर भी जो बहिर्दृष्टिमें भेद प्रतीत होता है, उसका कारण संस्कारका ही भेद है। जिसप्रकार किसी खेतमें गेहूँ बोया गया है, किसीमें धान, किसीमें चना, उनमें गेहूँ धान चनाके भेदसे ऊपरसे भेद प्रतीत होनेपर भी मिट्टीके विचारसे सब खेत एकही है; उसी-प्रकार कर्मकेअनुसार किसी मनुष्यके चित्तमें एकप्रकारका संस्कार, किसीके चित्तमें अन्यप्रकारका संस्कार, इसप्रकारसे संस्कारोंके भेद होनेपर भी चित्तकी भूमिके विचारसे सब चित्त एकही हैं। इसलिये प्रत्येक चित्तकेसाथ दूसरे चित्तका स्वाभाविक सम्बन्ध रहता है, केवल संस्कारोंके ही भेदसे सम्बन्ध टूटता हुआ प्रतीत होता है। इसलिये कोई मनुष्य यदि दूसरेके चित्तका ज्ञान प्राप्त करना चाहे, तो उसको पहले पतञ्जलिजीके सिद्धान्तानुसार चित्तको एकाग्र करके अपने चित्तके संस्कारोंको डुबादेना होगा, जिससे उसके चित्तकी भूमि दूसरेके चित्तकी भूमिकेसाथ मिल जायगी। इसप्रकार भूमिके मेल होनेपर दूसरेकी चित्त भूमिकेऊपर जो जो संस्कार कर्मानुसार भरे हुए हैं, वे सब संयमी योगीको एक एक करके देखनेमें आवेंगे। इसप्रकारसे संस्कारपर संयम करनेसे दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है। यही योगदर्शनका सिद्धान्त है। जैसाकि व्यष्टि अन्तःकरण अर्थात् किसी एक जीवके अन्तःकरणके संस्कारोंपर संयम करनेसे उस अन्तःकरणका ज्ञान होता है, ठीक उसीप्रकार समष्टि अन्तःकरण अर्थात् समस्त ब्रह्माण्डके अन्तःकरणोंमें रहनेवाले संस्कारोंपर संयम करनेपर ब्रह्माण्ड अन्तःकरणका ज्ञान होसकता है। ब्रह्माण्ड अन्तःकरणमें जो संस्कार रहते हैं, वे सब उस ब्रह्माण्डमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके कर्म्मानुसार ही होते हैं। उन संस्कारोंकेअनुसार ही ब्रह्माण्डमें भिन्न भिन्न युग, तदनुसार मनुष्योंकी उत्पत्ति, युग धर्म्मानुसार मनु-ष्योंकी धर्म्मप्रवृत्ति, सुख दुःखादि-भोग, अवतारोंका आविर्भावआदि सब कुछ होता है। ऋषि लोग अपने अन्तःकरणकी भूमिको संयमकेद्वारा ब्रह्माण्ड अन्तःकरणकी भूमिकेसाथ मिलादेते हैं। तत्पश्चात् ब्रह्माण्डान्तःकरणस्थित युगानुसार भिन्न भिन्न संस्कारोंको एक एक करके पहले ही देखलेते हैं, इसीसे उन लोगोंको भूत भविष्यत् वर्त्तमानका ज्ञान होता है और उसी ज्ञानके विषयको पुराणोंमें लिखते हैं। यही कारण है कि, पुराणोंमें भविष्यत्में होनेवाले बहुतसे इतिवृत्त लिखे जाते हैं। और युगके आनेके पहले ही किस युगमें किसप्रकारका धर्म होगा, मनुष्य कैसे उत्पन्न होंगे, उनका आचरण कैसा होगा, इसप्रकारकी सब बातें लिख देते हैं। इसकारण पुराणोंमें नवीनताकी कल्पना सर्व्वथा मिथ्या और अज्ञानकृत कल्पना है।

(२) द्वितीय शंका यह है कि, वेदके ब्राह्मणभाग ही पुराण हैं, इनके सिवाय पुराण, ब्राह्मणोंकी और साम्प्रदायिक पुरुषोंकी कपोल-कल्पना है। ब्राह्मणभाग पौरुषेय और पुराण नहीं है; परन्तु अपौरुषेय और भगवद्वाक्य हैं। और वह मन्त्र-भागकेसदृश वेदका एक भाग है, इसके विषयमें बहुतसी युक्तियाँ वेदके अध्यायमें दीगयी हैं, जिनसे ब्राह्मणभागको पुराण कहनेकी भ्रान्ति दूर होजावेगी। अब पुराणोंको साम्प्रदायिक पक्षपात या कपोलकल्पनासे उत्पन्न बतानेके विषयमें अर्वाचीन पुरुषोंने जो कुछ युक्तियाँ दी हैं, उन्हींपर विचार किया जाता है। पुराणको साम्प्रदायिक कल्पना कहनेका कारण यह दियागया है कि, शिवपुराणमें शिवजीकोही परमेश्वर मानकर विष्णु गणेशआदिकोंको उनका दास बनायागया है। ऐसाही विष्णुपुराणमें विष्णुको परमात्मा मानकर और देव शिव, गणेश, कालीआदिको उनका दास बनायागया है। देवीभागवतमें देवीको ही परमेश्वरी मानकर विष्णु गणेशआदिको उनका दास बनायागया है। ऐसी परस्पर विरुद्ध बातें एक मनुष्यकी बनायी हुई और सत्य नहीं हो सकती हैं। अतएव अवश्य शिवपुराण विष्णुपुराणआदि साम्प्रदायिक लोगोंकी पक्षपातपूर्ण कपोलकल्पना होगी। अर्वाचीन पुरुषोंका यही सन्देह है। दुःख-की बात है कि, इसप्रकारसे अल्पबुद्धि लोगोंने पुराणोंपर कटाक्ष करनेकी स्पर्द्धा तो की है परन्तु पुराणके स्वरूपसे यह लोग परिचित नहीं हैं। इसप्रकार निन्दा करनेके पहले पुराण क्या वस्तु है, इसको जानना चाहिये था। पुराण इतिहास नहीं है, यह पहले ही कहागया है। पुराणमें इतिहासका अंश होनेपर भी वह अंश थोड़ा है। पुराण भावप्रधान ग्रन्थ हैं, इसमें भावकी महिमा पूर्णतया बतायी गयी है। भावकी महिमा किसप्रकार है, एकही पदार्थ भावके भेदसे कैसे भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीत होता है, सो इस दृष्टान्तसे समझमें आवेगा कि, एकही स्त्री सात्त्विक पुरुषकेपास जगदम्बाकेरूपसे, राजसिक पुरुषकेपास सौन्दर्यके आधाररूपसे, तामसिक पुरुषकेपास कामके यन्त्र-रूपसे, पिताकेपास कन्यारूपसे, पुत्रकेपास मातारूपसे, पतिकेपास पत्नीरूप से, भाईकेपास भगिनीरूपसे, केवल भावकी ही भिन्नताकेअनुसार प्रतीत होनेलगती है। शास्त्रोंमें कहा है कि :—

भवो हि भावनामात्रो न भवः परमार्थतः ।

संसार भावनामात्र है, परमार्थतः नहीं है। इसलिये भावमय संसारसे मुक्त होनेकेलिये भावकेही अवलम्बनसे भावमय भावग्राही भगवान्‌के विविध भावोंकेअनुसार मूर्त्तियोंकी कल्पना और मूर्त्तियोंकी उपासना श्रीभगवान् वेदव्यासजीने पुराणोंसे बतलायी है। सगुण उपासनाकेलिये विष्णु, शिव, शक्तिआदि जो पाँच मूर्तियाँ बतायी गयी हैं, वे सब विष्णु शिव-आदि पृथक् पृथक् देवता नहीं हैं, परन्तु सगुण ब्रह्म ईश्वरकी ही पञ्चभावा-नुसार पाँचप्रकारकी मूर्त्तियाँ हैं। एक ईश्वरकी पञ्चमूर्त्ति बनानेका कारण यह है कि, संसार पाँच तत्त्वोंसे बनाहुआ होनेकेकारण एक एक तत्त्वकी प्रधानतासे मनुष्योंकी प्रकृति भी पाँचप्रकारकी होती है। इस-लिये ही एक भगवान्‌की पांच मूर्त्ति कल्पना की गयी है। यथा-आकाशतत्त्वप्रधान

प्रकृतिवाले मनुष्योंकेलिये विष्णुकी उपासना, पृथ्वीतत्त्व-प्रधान प्रकृतिवाले मनुष्यों-केलिये शिवजीकी उपासना, अग्नितत्त्व-प्राधान प्रकृतिवाले मनुष्यकेलिये देवीकी उपासना, इत्यादि तत्त्वोंके प्राधान्यसे भिन्न भिन्न प्रकृतियुक्त साधकोंकेअनुसार साधनकी सुविधाकेलिये ही एक ईश्वरकी पञ्चभावमय मूर्ति कल्पित हुई है। वास्तवमें यह पांच एकही सगुणब्रह्म ईश्वर हैं, इनमें केवल भावकी भिन्नता है, तात्त्विक भिन्नता कुछ भी नहीं। ये पञ्चभाव कैसे हैं, सो मन्त्रयोगके अध्यायमें पूर्णरीतिसे बताये जायेंगे, यहाँ इतनाही सिद्धान्त हुआ कि, विष्णु, शिव, शक्तिआदि पृथक् पृथक् देव देवी नहीं है परन्तु एक ईश्वरकी ही पाँच मूर्तियाँ हैं। पुराण भाव और उपासना प्रधानग्रन्थ हैं, इसलिये जिस पुराणमें भगवान्के जिस भावको प्रधान रखकर उपासना बतायीगयी है, उस पुराणमें उस भावकी मूर्तिको ही सबसे मुख्य माना गया है। यदि यह पञ्चमूर्ति पृथक् पृथक् होती, तो पुराणके उसप्रकार वर्णनमें अवश्य दोष होता। जैसाकि शिवपुराणमें शिवको प्रधान मानागया है, विष्णुपुराणमें विष्णु देवको ही प्रधान मानागया है, इत्यादि। परन्तु यह पञ्चमूर्ति एक भगवान्की ही मूर्त्ति है। इसलिये इसप्रकार वर्णनमें कोई दोष नहीं होसकता, क्योंकि इसप्रकार वर्णनमें वस्तुका प्रभेद कुछ नहीं है, केवल अधिकारकेअनुसार भावकाही प्रभेद है। स्मरण रहे कि, मायामय व्यावहारिक जगत्में तात्त्विक सत्य कुछ भी नहीं है। तात्त्विक सत्य मायासे अतीत, निर्गुण, निष्क्रिय ब्रह्ममें है, ब्रह्मके अतिरिक्त मायाके राज्यमें जो कुछ सत्य है, वे सभी व्यावहारिक सत्य हैं। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, रास्तेपर चलनेवाला एक मनुष्य ट्रेनपर जानेवाले एक मनुष्यकेसाथ तुलनामें निश्चल है, और वही रास्तेपर जानेवाला मनुष्य रास्तेपर बैठे हुए एक आदमीकेसाथ तुलनामें सचल है, और वही रास्तेपर बैठा हुआ मनुष्य, जिसको पृथ्वी अपने घूमनेकेसाथ घुमारही है, पृथ्वीसे कम घूमनेवाले और किसी ग्रहमें स्थित जीवकी तुलनामें सचल है, इत्यादि जितना ही विचार किया जावेगा, उतना ही अवश्य सिद्धान्त निकलेगा कि, मायामय संसारमें समस्त वस्तुओंकी आपेक्षिक सत्यता अर्थात् व्यावहारिक सत्यता है परन्तु तात्त्विक सत्यता नहीं है। इसी दृष्टान्तको चित्तमें रखकर विचार कियाजाय, तो पुराणका यह पञ्च उपासनाका रहस्य पूर्णतया विदित होजावेगा। विचार किया जाय कि, जिस मनुष्यमें आकाशतत्त्व प्रधान है, उसकी प्रकृति जब विष्णुकीही उपासना चाहती है और वही विष्णु जब देवता नहीं हैं परन्तु सगुण ब्रह्म ईश्वर हैं, तो विष्णुपुराणमें यदि विष्णुदेवको परमात्मा मानकर उस साधकके अधिकारकेअनुसार, और भावोंके गौण होनेसे, उन भावोंकेअनुसार शिव शक्तिआदि और मूर्त्तियोंको गौण मानकर विष्णुमूर्त्तिको ही मुख्य मानाजाय और उस साधककेलिये विष्णुपुराणमें विष्णुजीको परमात्मा कहकर स्तुति कीजाय, तो व्याव-हारिक सत्यके विचारसे विष्णुपुराणने क्या दोष किया, इसको विचारवान् पुरुष समझ सकते हैं। इसमें साम्प्रदायिक पक्षपात नहीं है, जैसा कि अर्वाचीन पुरुषोंने विना विचारे ही कह दिया है। इसमें भावका प्राधान्य, अधिकारका विचार और उपासनाका तत्त्व है। ठीक इसीप्रकार देवीभागवतमें देवीका प्राधान्य, शिवपुराणमें

शिवजीका प्राधान्यआदि बताया गया है, इसका रहस्य जानना चाहिये। इसमें पुराणका दोष नहीं अपितु उदारता और समदर्शिता है। जिसप्रकार सभी गुरु भगवान्के रूप होनेपर भी (क्योंकि भगवान्की ही ज्ञानशक्ति किसी मनुष्यरूप केन्द्रद्वारा प्रकाशितहोकर शिष्यको ज्ञानराज्यमें उन्नत करती है) जिस साधककेलिये जो गुरु हैं, उसका कर्त्तव्य है कि, अपने गुरुको सब गुरुओंसे प्रधान मानें और उसका ऐसा मानना अपने अधिकारकेअनुसार व्यावहारिक सत्य भी है। अन्यथा अपने गुरुमें पूर्ण भक्ति और निर्भर बुद्धि नहीं आसकती है क्योंकि यह सब भाव-राज्यका विषय है। निर्भर बुद्धि न होनेसे साधकका कल्याण भी नहीं होसकता है। ठीक उसीप्रकार जिस साधककी प्रकृतिकेअनुसार जो मूर्त्ति उपास्य है, उसमें ब्रह्मभावना और दूसरी मूर्त्तियोंमें गौण भावना उस साधककेलिये कल्याण करनेवाली है और व्यावहारिक सत्य है। जब पुराणमें इसीप्रकार साधकोंके अधिकारकेअनुसार ही भिन्न भिन्न मूर्त्तिकी उपासना और स्तुति बतायी गयी है, तो क्यों नहीं पुराणमें पृथक् पृथक् वर्णन होंगे और एककी मुख्यता और दूसरोंकी गौणता होगी? पुराणका इसप्रकार वर्णन सर्वथा सत्य है, जिसको विचारहीन पुरुषोंने न जानकर बहुधा दोष लगाया है। किन्हीं किन्हीं अर्वाचीन मनुष्योंने इतना प्रमाद करडाला है कि, भिन्न भिन्न पुराणमें भिन्न भिन्न मूर्त्तिकी स्तुति देखकर सब पुराणके कर्त्ता भगवान् वेदव्यास नहीं थे, परन्तु प्रत्येक पुराण उस सम्प्रदायके मनुष्योंका बनाया हुआ है, ऐसा भी कहना आरम्भ कर दिया। इसप्रकारके प्रमादका कोई पारावार नहीं है। यदि एकही वेदव्यास भिन्न भिन्न पुराणमें एकही सगुण ब्रह्मकी भिन्न भिन्नप्रकार स्तुति कर सकें और अधिकारकेअनुसार एककी मुख्यता रखकर दूसरेकी गौणता, दूसरेकी मुख्यता रखकर तीसरेकी गौणता, इसप्रकार भावभिन्नताकेअनुसार कईप्रकारका वर्णन करसकें, तो इसमें वेदव्यासको पूर्णताका परिचय है या मस्तिष्क विकृतिका लक्षण है, जैसा कि अर्वाचीन मनुष्योंने कहा है? पूर्ण ज्ञानी पुरुष और अज्ञानी साम्प्रदायिक पुरुषोंमें भेद यह है कि, अज्ञानी साम्प्रदायिक पुरुष अपने सम्प्रदायकी बातोंको ही मुख्य मानकर और सबोंकी निन्दा करते हैं; परन्तु पूर्णज्ञानी पुरुष सब सम्प्रदायोंकी ही अधिकारानुसार व्यावहारिक सत्यताको जानकर सबकी पृथक् पृथक् स्तुति करते हुए समस्त सम्प्रदायसे अतिरिक्त अद्वैत भावकी प्रतिष्ठा करते हैं। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने यही किया है कि, पृथक् पृथक् पुराणोंमें पृथक् पृथक् भावानुसार ब्रह्मकी पञ्चमूर्त्तिकी स्तुति करते हुए अन्तमें वेदान्तमें आकर अद्वैत भावकी प्रतिष्ठा की है। और भावमयी मूर्त्तियोंकी व्यावहारिक सत्यताकेसाथ निर्गुण निराकार ब्रह्मकी तात्त्विक सत्यताकी तुलना करनेकेसमय क्षमा भी मांगी है। यथा :—

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत् कल्पितं,
स्तुत्याऽनिर्वचनीयताऽखिलगुरो! दूरीकृता यन्मया॥
व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना,
क्षन्तव्यं जगदीश! तद्विकलतादोषत्रयं मत्कृतम्॥

हे भगवान्! हे परमात्मा! रूपरहित तुम्हारे रूपकी जो मैंने ध्यानमें कल्पनाकी है, स्तुतिकेद्वारा तुम्हारे अनिर्वचनीय भावको जो मैंने नष्ट करदिया है, और तीर्थयात्रा वर्णनकेद्वारा जो मैंने व्यापकता नष्ट करदी है, इन तीनों दोषोंकी क्षमा होनी चाहिये। यही भगवान् वेदव्यासजीकी निष्पक्षताका पूर्णलक्षण है, जिसको विचारवान् पुराण-पाठक प्रतिअक्षरमें समझ सकते हैं। वेदरूपी सरोवरमें पुराण प्रफुल्लित कमलरूप हैं। उनमें विद्वान् भ्रमर मधुपानका आनन्द लाभ करते हैं; परन्तु मूर्ख मण्डूक कमलकी सत्ता नाश करते हैं।

(३) अर्वाचीन पुरुषोंका तीसरा सन्देह यह है कि, पुराणमें पंडितोंकी रचीहुई बहुत सी ऊटपटांग बातें भरी हुई हैं, जो विज्ञान, भूगोल और साधारण बुद्धिसे भी विरुद्ध हैं। इसप्रकार सन्देह, पुराणपर मनन न करने और पुराणकी वर्णनशैलीके न जाननेका ही फल है। कुछ दृष्टान्त देकर यह बातें समझायी जाती हैं।

आजकलके भूगोलमें लिखा है कि, पृथिवीका व्यास ८००० हजार मील है। इसको भूगोलवेत्ताओंने माप करके देख लिया है। यह अभ्रान्त सिद्ध हुआ है। परन्तु पुराणमें क्या मिथ्या बात लिखी है कि, पृथिवीका परिमाण पचास कोटि ५००००००००० योजन है, इसप्रकार सन्देह अर्वाचीन लोग करते हैं। अतः इसका उत्तर दिया जाता है। पुराणोंमें जो पृथिवीका परिमाण लिखाहै और भूगोलवेत्ताओंने जो परिमाण लिखा है, वे दोनों सत्य हैं, केवल परिमाण करनेकी रीति पृथक् पृथक् है। भूगोलवेत्ताओंने जो पृथ्वीका माप किया है, सो पृथ्वीकी मध्यरेखा अर्थात् व्यासका है, जो आठ हजार मील है। परन्तु पुराणमें समस्त पृथ्वीकी भूमिका माप घनफल निकाल कर बताया है। किसी गोल पदार्थके घनफल निकालनेकेलिये शास्त्रमें यह युक्ति रक्खी गयी है कि, उस गोल पदार्थके व्यासको तीनवार गुणा अर्थात् घन करके उसका आधा हिस्सा लिया जाय। इसीतरह हिसाब करनेसे सिद्ध होगा कि, पृथिवीके व्यासका परिमाण जब आठ हजार मील है और दो मिलमें एक कोस और ४ कोसका एक योजन होता है, तो आठ हजार मीलका एक हजार योजन हुआ, जो पृथ्वीका व्यास है। इसलिये पृथ्वीकी समस्त भूमिका परिमाण घनफलके हिसाब से $\frac{1000 \times 1000 \times 1000}{2} = 500000000$ अर्थात् पचास कोटि योजन होगा जिसको पुराणमें बताया गया है। इसलिये पुराणमें कोई दोष नहीं है, केवल नहीं समझनेका दोष है।

द्वितीय दृष्टान्त, यथा-चन्द्र सूर्यका ग्रहण। भूगोलमें लिखा है कि, पृथ्वीकी छाया चन्द्रपर पड़नेसे चन्द्रग्रहण और चन्द्रकी छाया सूर्यपर पड़नेसे सूर्यग्रहण होता है; परन्तु पौराणिकोंने लिखदिया कि, राहुनामक एक असुर चन्द्र और सूर्यको जब ग्रस लेता है, तभी चन्द्रग्रहण व सूर्यग्रहण होता है। जब पहली बात दूरवीक्षणयन्त्रद्वारा ठीक ठीक देख ली गयी है, तो पौराणिक बात कैसे मानी जासकती है, यही शंका है। इसका समाधान किया जाता है। राहुका ग्रास या छायाका पात दोनोंमें

कोई भेद नहीं है, भेद केवल आस्तिकता और नास्तिकताका है। आस्तिक पौराणिकोंने दैव सम्बन्धसे छायाका वर्णन किया है और भूगोलवेत्ताओंने उस सम्बन्धको उड़ाकर केवल छायाकाही वर्णन किया है। यह बात पहले ही वेदाङ्गके अध्यायमें कही गयी है कि, प्रकृतिके जड़ होनेसे सभी प्राकृतिक वस्तुएँ जड़ हैं, इसलिये हरएक वस्तुको चलानेवाली अलग अलग चेतन शक्तियाँ हैं। ये सब शक्तियाँ भगवान्‌की शक्तियाँ हैं। जिसप्रकार किसी बड़े राज्यका शासन करनेकेलिये राजाकी शक्तिको लेककर भिन्न भिन्न विभागमें भिन्न भिन्न जज्ज, मजिस्ट्रेट, मुन्सिफ, कोतवालआदि अधिष्ठातागण राज्यका शासन करते हैं, ठीक उसीप्रकार प्रकृतिके विराट् राज्यमें प्रकृतिके राजा भगवान्‌की शक्ति लेकर जड़ प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागमें बहुतसे देवता लोग अधिष्ठाता बनकर शासन करते हैं। कोई जड़ वस्तु कोई काम नहीं कर सकती है; जबतक जड़को चलानेवाली चेतनशक्ति देवता न हो। जैसा समस्त संसारमें जितना जल है, उसके चलानेवाली शक्तिका नाम वरुण है, जिनके रहनेसे जलकेद्वारा संसारका ठीक ठीक काम होता है, यदि न रहते तो जलका काम ठीक ठीक नहीं चलता। इसीप्रकार पवनमें जो देवता हैं, उनको पवन देवता कहा जाता है, उनके रहनेसे वायुद्वारा समस्त संसारका ठीक ठीक कार्य चलता है। इसीप्रकारसे प्रकृतिकी प्रत्येक जड़वस्तुपर एक एक चेतन दैवीशक्ति उस जड़वस्तुको चलाती है। जब प्रकृति अनादि, अनन्त और असीम है, तो प्रकृतिमें जड़वस्तुकी संख्या भी अनन्त है। इसलिये उन जड़वस्तुओंके ऊपर जो दैवी चेतन-शक्तियाँ काम कर रही हैं, उनकी संख्या भी अनन्त है, इसलिये देवता अनन्त हैं। पुराणमें जो ३३ तैंतीसकोटि देवताओंका वर्णन है, वह अनन्तताका वाचक है। जैसा कि कोई कहते हैं कि—"सभामें हजारों मनुष्य आये थे" इसका अर्थ यह नहीं है कि हजार ही मनुष्य थे परन्तु इसका तात्पर्य यह है कि, बहुत मनुष्य थे। ठीक उसी-प्रकार वहाँ तैंतीस ३३ करोड़से करोड़ों अर्थात् अनन्त समझना चाहिये। अनन्त होनेपर भी ३३ तैंतीस करोड़ कहनेका कारण यह है कि—

प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।

प्राधान्यसे ही गिनती होती है। अनन्त देवताओंमें ३३ तैंतीस प्रधान हैं—यथा-अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र और प्रजापति। इसप्रकार तैंतीस ३३ और तैंतीससे अनन्त देवता प्रकृतिके अनन्त जड़विभागोंपर चेतन परिचालकरूपसे विराजमान हैं। अब द्वितीय विचारका विषय यह है कि, प्रकृतिके अनन्त विभाग होनेपर भी साधारणतः इसमें दो विभाग हैं। एक सात्त्विक, द्वितीय तामसिक, इसको अज्ञान अथवा प्रकाश या अन्धकार भी कहसकते हैं। दैवीशक्ति जिसप्रकार अनन्तरूपसे प्रकृतिके प्रकाशमय सात्त्विक विभागपर प्रतिष्ठित है, उसीप्रकार प्रकृतिके अन्धकारमय तामसिक विभागके अनन्त स्थानोंपर अनन्त चेतन शक्तियाँ काम कर-रही हैं, जिनको अनन्त आसुरीशक्ति या असुर कहते हैं। यही देवता और असुरोंमें भेद है। देवता सात्त्विक विभागमें, असुर तामसिक विभागमें, देवता ज्ञानके विभागमें, असुर अज्ञानके विभागमें, देवता प्रकाशके विभागमें, असुर अन्धकार या

छायाके विभागमें, चेतन शक्तिरूपसे विराजमान हैं। पूर्व सिद्धान्तकेअनुसार जिसप्रकार जड़ प्रकाशकेऊपर सूर्य, चन्द्र, अग्निआदि चेतन देवताओंके विना प्रकाश कोई काम नहीं करसकता है, ठीक उसीप्रकार अन्धकार या छायाकेऊपर चेतन आसुरीशक्ति अर्थात् राहुकेविना छाया चन्द्रगोलक सूर्यगोलक या किसी वस्तुको आच्छन्न नहीं करसकती है। आधुनिक भूगोलवेत्ताओंने केवल जड़ छायाकोही कार्यकारी मानकर छायाके वीचमें जो शक्ति है, उसको भूलकर छायापातसेही सूर्य और चन्द्रका ग्रहण बताया है। किन्तु आस्तिक और ज्ञानदृष्टि होनेकेकारण प्राचीन ऋषियोंने छायाके वीच जो चेतन आसुरीशक्ति राहुरूपसे काम कररही है, उसीसे चन्द्र सूर्यका ग्रहण बताकर भौगोलिक पुरुषोंकी दूरवीक्षणा दृष्टिकेसाथ एकता भी की है और उससे अधिक आस्तिकता और ज्ञानदृष्टिका परिचय भी दिया है। यही पुराण और भूगोलमें भेद है, जिसको जाननेसे बुद्धिमान् लोग पुराणको अपूर्व महिमा समझ जावेंगे।

एक और शंका यह होती है कि, पुराणोंमें बहुत दूध, दधि, मधुआदिके समुद्रोंकी प्रशंसा है, पर वे सब देखनेमें भी नहीं आते। इसप्रकारके पुराणवर्णन-वैचित्र्यपर विचार करनेसे स्पष्ट प्रतीत होगा कि, उन सब समुद्रोंका वर्णन ब्रह्माण्डमें स्थित और व्याप्त सप्त प्रधान रसोंका वर्णन है। लवण, इक्षु, सुरा, सर्पि, दही, दूध और जल यही सात मुख्य रस हैं। ब्रह्माण्डके सकल स्थानोंमें यही सात रस विद्यमान हैं। इसलिये किसी एक स्थानका रस समुद्रतुल्य न होनेपर भी समस्त सृष्टिमें स्थित रसोंके विचारसे लवण, इक्षुआदि प्रत्येक रस समुद्रके समान विशाल होगा, यही क्षीरसमुद्र दधिसमुद्रआदि पौराणिक वर्णनोंका रहस्य है।

देवीभागवतमें एक कथा आती है कि, कोई असुर जिसका नाम जलन्धर था, वह बड़ा अत्याचारी था। देवताओंको लूटना, देवियोंके पतिव्रत नष्ट करना, देवताओंका स्वर्ग जीत लेना, यही उसका काम था। उसकी वृन्दा नाम्नी स्त्री बड़ी सती थी, जिसके पातिव्रतके तेजसे जलन्धरको कोई नहीं हरा सकता था। इधर असुरके अत्याचारसे सृष्टिकी शृंखला विगड़ने लग गयी, जिससे सृष्टिरक्षक विष्णुजीको वृन्दाका सतीत्व नष्ट करके सृष्टिकी रक्षा करनी पड़ी। इसहेतु विष्णुजीपर सतीत्व नष्ट करनेका दोष लगाया जाता है। अब इसका समाधान कियाजाता हैं। इस कथामें पहला उपदेश सतीकी महिमापर है, जिसके सामने देवताओंकी तो वात ही क्या है, विष्णुकी शक्ति भी परास्त होती है। दूसरा उपदेश धर्माधर्मके रहस्यपर है। व्यावहारिक जगत्में धर्माधर्मका निर्णय लघु गुरु भेदसे होता है, कोई कार्य ठीक धर्म या ठीक अधर्म नहीं हैं, परन्तु जिस सम्बन्धमें या जिस भूमिमें धर्माधर्मका प्रयोग हो, उस सम्बन्ध या भूमिकेअनुसार धर्माधर्मका सिद्धान्त निर्णय होता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, किसी मनुष्यकी हत्या करना पाप है परन्तु हजार मनुष्योंकी रक्षाकेलिये एकका प्राण लेना पड़े, तो एक मनुष्यकी हत्यासे इतने मनुष्योंकी प्राणरक्षारूप धर्म होगा क्योंकि धर्माधर्मका निर्णय तारतम्यसे होता है। विष्णु वृन्दाका संवाद ठीक इसीप्रकारका है। इसमें भी विष्णुकी तो वात ही क्या

है, यदि सतीत्व नाश करनेवाला विष्णु न होकर दूसरा कोई साधारण मनुष्य होता, तो भी उसको इसप्रकारके सतीत्व-नाश करनेमें हानि नहीं थी। किसी सतीका सतीत्व नाश करना अवश्य महापाप है परन्तु जिस असुरकी स्त्रीके सतीत्व रहनेसे लाखों देवियोंका सतीत्व नाश होजाय, देवताओंपर अन्याय अत्याचार हो, देवराज्य भ्रष्ट हो, ब्रह्माण्डमें विश्रृंखलता फैलजाय, विराट् पुरुषका अटूट नियम टूटने लग जाय, तो क्या इसप्रकार सतीत्वकी रक्षा महान् अनर्थ और पापकाकारण नहीं है ? निष्पक्ष होकर, पूर्व दृष्टान्त जो मनुष्यहत्या और मनुष्यरक्षापर दिया गया है, उसकेसाथ मिलाकर विचार करनेसे अवश्य सिद्धान्त होगा कि, जिसप्रकार जिस मनुष्यकेद्वारा लाखों मनुष्योंकी हत्या होती है, मनुष्यहत्या पाप होनेपर भी अवस्था और भूमिके भेदसे उस एक मनुष्यकी हत्या विधेय है। ठीक उसीप्रकार सतीत्वनाश पाप होनेपर भी जिस स्त्रीके सतीत्व रहनेसे लाखों स्त्रियोंका सतीत्वनाश, संसारमें अत्याचार, पापविस्तार, और भगवान्के नियममें भंग हो, उस एक स्त्रीका सतीत्वनाश अवश्य कर्त्तव्य है। इसको निष्पक्षलोग कभी नहीं अस्वीकार करसकते हैं। अब विचार करनेकी बात यह है कि, वह जो एक सतीका सतीत्वनाश, और प्रकारोंके विचारोंको छोड़कर, सतीत्वनाशके विचारोंसे एक साधारण मनुष्यकेलिये पाप था; वह पाप साधारण मनुष्यके पापकेसदृश विष्णुदेवको स्पर्श करसकता है या नहीं ? पाप क्या है और पुण्य क्या है, इस विषयपर विचार करनेसे सिद्धान्त होगा कि, प्रकृतिके प्रवाहमें अनुकूल धक्का देनेसे जो अनुकूल प्रतिक्रिया होती हैं, वह पुण्य और प्रतिकूल धक्का देनेसे जो प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती है, वह पाप है। किसी मनुष्यको मारदेनेसे इसलिये पाप होता है कि, वह मनुष्य प्रकृतिके प्रभावमें बढ़ रहा था, उसको मार डालनेसे प्रकृतिमें प्रतिकूल धक्का दिया गया। इसीप्रकार किसीको दान करनेसे इसलिये पुण्य होता है कि, दानरूपी सहायताकेद्वारा दाताने प्रकृति प्रवाहमें अनुकूल धक्का दिया, जिससे ग्रहीताका कल्याण हुआ। इसीप्रकार अनुकूल या प्रतिकूल धक्केकी प्रतिक्रिया पुण्य या पापरूपसे उसी भूमिको स्पर्श करती है; जिस भूमिकेसाथ जीवके जीवत्वका सम्बन्ध है। जो मनुष्य जीवत्वकी भूमिसे ऊपर उठ चुका है और ब्रह्मत्वको प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो गया है, उसके किये हुए पाप या पुण्य उसको कभी नहीं स्पर्श करते। जैसा कि श्रीभगवान्ने गीतामेंलिखा है कि—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥

जिनको "मैं करता हूँ" यह अहंकार नहीं है, जिनकी बुद्धि कमलदलस्थित जलतुल्य निर्लिप्त है, वे समस्त लोगोंकी हत्या करनेपर भी हन्ता नहीं होते और न हत्याजनित पापसे बद्ध होते हैं। इसलिये जीवन्मुक्त महापुरुष प्रारब्धके वेगसे अथवा विराट् भगवान्की इच्छासे जो कुछ कार्य करते हैं, उससे चाहे अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न हो, वह प्रतिक्रिया उनको न स्पर्श करके विराट्को स्पर्श करती है। क्योंकि जीवन्मुक्तका कोई कार्य स्वेच्छासे नहीं होता है। जब जीवन्मुक्तकेलियेही यह

बात है, तो विष्णुकेलिये फिर क्या कहना ? वे तो सदाही शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव हैं। उनका जो कुछ कार्य है, वह अपनेलिये नहीं, परन्तु प्रकृतिप्रवाहमें धर्मकी धाराको अनुकूल रखनेकेलिये है। अतः विष्णुका कोई कार्य विष्णुको स्पर्श नहीं करेगा किन्तु ब्रह्माण्ड-प्रकृतिको स्पर्श करेगा। और वह कार्य ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके अनुकूल होनेसे सदा ही धर्म होगा। इसलिये विष्णुवृन्दासंवादमें विष्णुजीने जो कुछ किया था, उसके किसी संस्कारने पाप या पुण्यरूपसे विष्णुजीको स्पर्श नहीं किया और ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके विचारसे उन्होंने धर्म ही किया था। यही पुराणका महाराज युधिष्ठिरकथित "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्" है। इसको ज्ञानवान् पुरुष समझ सकते हैं, पक्षपाती दोषदृष्टिसम्पन्न लोग नहीं समझसकते हैं।

और भी शंका भागवतआदि पुराणोंपर अर्वाचीन पुरुषोंकी होती है। यथा- कश्यप, दिति अदिति, विनता, कद्रू, शरमाआदि नर नारियोंसे दैत्य, दानव, पक्षी, सर्प्प, हाथी, घोड़ेआदि उत्पन्न हुए हैं, ऐसा भागवतमें लिखा है। मानवी स्त्रीके पेटमें घोड़े हाथी कैसे पैदा हो सकते हैं, यह सब मिथ्या बात है, ऐसा लोग कहते हैं। अतः इसप्रकारकी शंकाओंका समाधान किया जाता है। अर्वाचीन मनुष्योंने सृष्टिके रहस्यको बिना समझेही इसबातकी शङ्काकी है। सृष्टि केवल रजोवीर्यसे ही नहीं हुआ करती है, परन्तु वैजी और मानसी दोप्रकारकी सृष्टि हुआ करती है। सृष्टिके विज्ञान- पर विचार करनेसे सिद्धान्त होगा कि, सृष्टि स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्तिके मेलका ही फल है। यह मेल मनकी शक्तिकेअनुसार स्थूल सूक्ष्म दोनोंप्रकारसे ही होसकता है।

मनसा साधु पश्यति। मानसाः प्रजाः असृजन्त। इत्यादि ॥

इन श्रुतिवचनोंसे भी मानसी सृष्टिका विज्ञान सिद्ध होता है। स्थूल शरीर जब पाञ्चभौतिक है, तो पञ्चभूतपर अधिकार जमजानेसे योगीलोग जब चाहें, तब पञ्चभूतोंको इकट्ठा करके शरीर बनासकते हैं। जबतक जीवका सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरकेसाथ वासनाबद्ध रहता है, तबतक जीवमें यह शक्ति उत्पन्न नहीं होती। सूक्ष्म शरीरके स्थूल शरीरसे पृथक् होते ही वह शक्ति उत्पन्न होती है। इसमें अधिक कहना ही क्या है, प्रेतका शरीर स्थूल शरीरसे पृथक् होनेकेकारण प्रेतमें भी चित्तकी तीव्रताकेअनुसार स्थूल शरीर धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है, इस विषयको आजकल अमेरिकामें यन्त्रकेद्वारा सिद्ध कर दिखाया गया है। जहाँ प्रेतके फोटोतक उतार लेते हैं। जिन चीजोंसे रजोवीर्य बनता है, वे भी पञ्चभूत ही हैं। इसलिये जिनके चित्तमें इतनी शक्ति है कि, पञ्चभूतोंमेंसे शरीरकेलिये रजोवीर्यके मसाले भी एकत्र कर लेवें, उनको स्थूल मैथुनी सृष्टि नहीं करनी पड़ती। जब प्रलयकेसमय स्थूल वस्तु कुछ भी नहीं रहती है, तो प्रलयकेपश्चात् सृष्टिकेसमय जो स्त्री पुरुष उत्पन्न किये गये थे, वे अवश्य किसीकी मानसिक सृष्टिकेही फल थे, महाभारतके शान्ति- पर्वमें लिखा है कि:—

आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाऽक्षयाऽव्यया।
सा सृष्टिर्मानसीनाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥

प्रथम ऋषियोंकी सृष्टि ब्रह्माजीकी मानसी सृष्टि है। सृष्टि पूर्वकल्पके-अनुसार हुआ करती है। इसलिये जिनके संस्कार पूर्वकल्पकेअनुसार प्रथम ऋषि बननेके योग्य थे, उनके सूक्ष्म शरीरपर संस्कारकेअनुसार मनके ही बलसे पञ्चभूतोंको इकट्ठा करके ब्रह्माजीने उन ऋषियोंका स्थूल शरीर बना दिया। ये सब ऋषि सत्य-युगके प्रथमकालके ऋषि थे। इसलिये ये भी जितेन्द्रिय और मानसिक शक्तिसम्पन्न थे। अतः उनलोगोंने भी जो कुछ सृष्टिकी, वह मनकेही बलसे भिन्न भिन्न जीवके सूक्ष्म शरीरपर पञ्चभूतोंको एकत्र करके सृष्टि की। इसप्रकारसे वैजी सृष्टि न होकर मानस-सृष्टि सत्यसम्पन्नऋषियोंकेद्वारा सत्ययुगके प्रथमकालमें बनी। भागवतमें जो कश्यपसे दितिसे, अदितिसे, विनतासे, कद्रूसे, सृष्टिका वर्णन मिलता है, वह सब मानसी सृष्टिका ही वर्णन है, स्थूल वैजी सृष्टिका नहीं। इसलिये मानव स्त्रीके पेटसे हाथी घोड़ेकी उत्पत्ति कहकर अर्वाचीन लोगोंने जो बातें उड़ायी हैं, वे सर्वथा असत्य बातें हैं। इसप्रकारकी मानस सृष्टिसे पूर्व्वोक्त स्त्रियोंके सम्बन्धका तात्पर्य यह है कि, उक्त मानस सृष्टि करनेवाले महर्षियोंने उन स्त्रियोंकी सहायतासे अपनी मानसिक शक्तिकी पूर्णता प्राप्त की थी। इसप्रकार जबतक मनुष्योंके मनकी शक्ति पूरी रही और योग शक्ति या संयमशक्ति भी पूर्ण रही, तबतक मानसिक सृष्टि बनती थी। पश्चात् जब मनुष्योंका मन कुछ कुछ दुर्बल होने लगा, तो मानसिक सृष्टिकी शक्ति नष्ट होगयी। उससमय यज्ञादिद्वारा दैवीशक्तिको अपने अनुकूल करके उससे बहुत सृष्टि हुई। यज्ञ-घृत या चरुमें देवताओंकी शक्तिसे पाञ्चभौतिक परिवर्त्तन होनेसे उस द्रव्यमें ऐसी शक्ति उत्पन्न होजाती थी कि, उसमें रजोवीर्यका पूर्ण गुण आ जाया करता था, इसलिये उनके ग्रहण करनेसे स्त्रियां अन्तःसत्त्वा हो जाया करती थीं। विश्वामित्र, परशुराम, रामचन्द्रजीआदिकी उत्पत्ति इसीप्रकारकी थी। यह द्वितीय युगकी बात है। पश्चात् तृतीय युगमें यज्ञ करनेकी शक्ति धीरे धीरे नष्ट होने लग गयी क्योंकि याज्ञिक ब्राह्मणोंकी तपस्या, यजमानका संयम, जितेन्द्रियताआदि नष्ट होकर विषयबुद्धि बढ़ने लग गयी। इसलिये यज्ञ करनेपर भी उसमें पूर्णफल प्राप्त नहीं होता था, जिससे याज्ञिकसृष्टि नष्ट होने लग गयी। तब केवल मैथुनीसृष्टिका अन्तिम उपाय रहगया, परन्तु ऐसा होनेपर भी उस कालके मनुष्य परस्त्रीको प्रायः मातृवत् देखते थे, ब्रह्मचर्य-का पालन आचार्यकुलमें जाकर ठीक ठीक किया करते थे, जिससे पुरुष अमोघवीर्य हुआ करते थे। उनके वीर्य कभी निष्फल नहीं हुआ करते थे और वीर्यमें शक्ति अधिक होनेसे धार्मिक और वीर पुत्र उत्पन्न हुआ करते थे। अब दुरन्त कलि आ गया, जिसके प्रभावसे चारोंओर पापका प्रवाह बह रहा है। परस्त्रीपर कामदृष्टि, व्यभि-चार, अप्राकृतिक वीर्यनाश, ब्रह्मचर्यहीनता, धातु-दौर्बल्यआदि समस्त पाप बढ़गया है, इसलिये आजकल वीर्यमें मैथुनीसृष्टिकी भी शक्ति नहीं रही। इसलिये कई सम्बन्ध होनेपर भी स्त्री बन्ध्या और पुरुष जननशक्तिहीन हुआ करते हैं। यही समस्त सृष्टिका सार तत्त्व है, जिसको पुराणकेद्वारा ऋषियोंने प्रकट किया है।

इसतरह भागवतादि पुराणोंको न जानकर अर्वाचीन पुरुषोंने बहुत कुछ सन्देह उठाया है, जो उन ग्रन्थोंके ठीक ठीक मनन करनेसे निवृत्त हो सकता है। केवल

इतनाही नहीं, अधिकन्तु उनके बुद्धिरूप आकाशमें अज्ञान और विश्वासकी घनघोर घटा छाजानेसे उन्होंने बहुतसी मिथ्या बातें भी बनाकर पुराणपर आक्षेप किया है। यथा-हिरण्याक्ष पृथ्वीको चटाईके सदृश लपेटकर शिरानेपर धरकर सोगया, भगवान्‌ने प्रह्लादकेलिये गर्म खम्भेपर चींटी चढ़ादी, प्रातःकालसे सन्ध्यापर्यन्त चार मील रास्ता वायुवेगकेसमान रथपर चढ़कर गये इत्यादि बहुत बातें मिथ्या लिखकर शंकायें की हैं और कई स्थानोंमें विषय या श्लोकका भाव ठीक ठीक न समझकर अर्थ बिगाड़कर बताया है। जिनके विषयमें भागवतके ठीक ठीक मनन करनेपर सत्य सिद्धान्त निकल जायगा। भक्तिशास्त्रकी महिमाको तो उन्होंने इतना नष्ट किया है कि, प्रह्लाद ऐसे भक्तकी भक्तिपर कलंक लगाया, और ऐसे कितने अनर्थ किये हैं, जिनका ठिकाना नहीं। यह सब भारतवर्षके दुर्भाग्यका ही फल है। यह पहले ही कहागया है कि, पुराण भावप्रधान ग्रन्थ हैं। अतः बहुतसे स्थानोंमें भावको पूर्णरीत्या प्रकट करनेकेलिये अतिशयोक्ति भी पुराणोंमें मिलती है। दृष्टान्तरूपसे समझसकते हैं कि, यदि कोई कहदे कि, उनके तेजसे संसार काँपता है, उनके सौन्दर्यको देखकर ईर्षासे चन्द्र सूखगये, तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि, किसीकी वीरतासे पृथ्वी काँप ही उठे और सौन्दर्यकी ईर्षासे चन्द्र सूख ही जाय, परन्तु यह वर्णन वीर्य और सौन्दर्यका गौरव बतानेकेलिये ही है, ऐसा मानना पड़ेगा। ठीक इसीप्रकार पुराणोंमें भी रक्तबीजआदिकी कथामें स्थूलरूपसे रक्तबीज नामक असुरकी असुरता और सूक्ष्मरूपसे वासनाकी शक्तिको दिखानेकेलिये ऐसा वर्णन कियागया है कि, रक्तबीज-मय सारा संसार होगया। अतः इन सब विषयोंपर सन्देहावसर नहीं, धैर्य और विश्वासयुक्त होकर पुराणोंके पाठ करनेसे अवश्य पुराणोंका सब रहस्य समझमें आजायगा। यदि कहीं कोई बात समझमें न आवे, तो उसमें बुद्धिका दोष है, पुराणका नहीं।

महाभारतमें द्रौपदीके पञ्च पतिका वर्णन देखकर लोग घबराने लगते हैं और इस बातसे और भी घबराते हैं कि, पांच पति होनेपर भी द्रौपदी कैसे प्रातः-स्मरणीया होगयी? उन लोगोंको पता नहीं चलता है कि, एक स्त्रीके पांच पति कैसे होसकते हैं? किसीने तो इसको रूपक समझकर औरप्रकारसे अर्थ निकाला है, किसीने प्रक्षिप्त समझकर त्याग दिया। परन्तु जिस घटनाके होनेसे पांचों पाण्डवोंने द्रौपदीकेसाथ विवाह किया था और जिन धर्मोंकेपालन करनेसे द्रौपदी प्रातःस्मरणीया हुई थी, उसपर विचार करनेसे कुछ दोष प्रतीत नहीं होता, यह असाधारण घटना है, जिसका समाधान नीचे किया जाता है। हिन्दूशास्त्रका यह सत्य सिद्धान्त है कि, मनुष्य धर्मके किसी अङ्ग या उपाङ्गका भी अनुष्ठान करे, यदि वह अनुष्ठान पूर्ण हो, तो उसीसे उसकी मुक्ति होसकती है क्योंकि जिसप्रकार अग्निके एक कणमें भी, विशाल अग्निके समान, संसारको भी दग्ध कर देनेकी शक्ति है, उसीप्रकार धर्मके प्रत्येक अंग या उपांगमें, धर्मका लक्षण व सकलप्रकारकी उन्नति और मुक्ति देनेकी शक्ति है। जिस समय वीर पुरुष अर्जुनने स्वयंवरमें लक्ष्यभेदकरके द्रौपदीको जीत लिया और पांचों भ्राता मिलकर द्रौपदीकेसाथ आश्रमपर आये, तो नित्यके नियमा-

नुसार माता कुन्तीको अर्जुनने पुकारकर कहा कि, मातः ! आज एक अपूर्व रत्न हम लोग लाये हैं। उन लोगोंका नियम यह था कि, कोई वस्तु लानेपर माताकी आज्ञासे परस्पर बांट लिया करते थे। आज भी उसीप्रकार अर्जुनने मातासे जब आज्ञा मांगी, तो कुन्तीने घरके भीतरसे बिना देखे ही कह दिया कि, जो वस्तु लाये हो, उसको पांचों भ्राता बांट लो। पाण्डव लोग अत्यन्त मातृभक्त थे। कुन्तीको भी ज्ञान नहीं था कि, उस दिनकी वस्तु बांटनेकेयोग्य नहीं है। इसलिये उन्होंने आज्ञा करदी। इसप्रकार मातृ- आज्ञापालनरूप धर्म्मके अंगको मुख्य मानकर पञ्च पाण्डवोंने एक स्त्रीकेसाथ विवाह किया। इस कार्यमें मातृभक्तिरूप धर्माङ्गका प्राधान्य है। यद्यपि माताकी आज्ञा अज्ञानसे थी और अर्जुन युधिष्ठिरादि भी इस बातको जानते थे। यदि वे माताकी, इस अज्ञानकृत आज्ञाको न मानकर, उन्हें यथार्थ घटना समझा देते कि, उस दिनकी वस्तु बांटने योग्य नहीं है, इसलिये ऐसी आज्ञा न करनी चाहिये, तो इससे भी कोई दोष न होता। परन्तु इसप्रकार माताको बता देनेसे ज्ञानप्रधान धर्म होजाता, भक्तिप्रधान नहीं रहता। पञ्च पाण्डवोंने जिस धर्मका आदर्श इस विवाहमें दिखाया, वह ज्ञानप्रधान नहीं था, परन्तु मातृभक्तिप्रधान था। उन्होंने भक्तिको ही मुख्य मानकर विचार करनेकी आवश्यकता नहीं समझी थी, क्योंकि माताने जब आज्ञा की है, तो चाहे वह आज्ञा ज्ञानमूलक हो, या अज्ञानमूलक हो, उसपर विचार करनेका पुत्रको कोई अधिकार नहीं है। पुत्रका कर्त्तव्य केवल माताकी आज्ञा पालन करना है। बाकी पाप पुण्यका भार मातापर ही है। इसप्रकार धर्मके भक्तिअंगको मुख्य माननेसे पञ्च पाण्डवोंका विवाह एक द्रौपदीसे हुआ था। इसप्रकारका दृष्टान्त न्याय और धर्मयुक्त भी है। गुरुभक्त शिष्यका कर्त्तव्य सर्वदा गुरुकी आज्ञा पालन करना ही होता है, इसीसे शिष्यकी उन्नति है। गुरुजीने कैसी आज्ञा की, विचारसे की है, या अविचारसे की है, इसप्रकार सोचनेका कोई अधिकार शिष्यको नहीं है। अधिकन्तु इसप्रकार सोचना शिष्यकेलिये धृष्टता और अवनतिका कारण है। आज्ञा करनेका अधिकार गुरुका है, उसके पापपुण्य या फलाफलकेलिये गुरु ही "जिम्मेवार" हैं, शिष्य नहीं। शिष्यका अधिकार आज्ञापालन करनेका है, विचार करनेका नहीं। यही भक्तिशास्त्रका सिद्धान्त है। पञ्च पाण्डवोंने इसी भक्तिशास्त्रका ही अनुगमन किया था, इसको ही मुख्य मानकर विचारकी आवश्यकता नहीं समझी थी, यही इसप्रकार असाधारण विवाहका रहस्य है। इसप्रकारके पाँच पति होनेपर भी द्रौपदीके प्रातःस्मरणीया होनेका कारण यह है कि, उन्होंने पाँच पति होनेपर भी उसी अवस्थामें अपने नारीधर्मको ठीक ठीक निभाया था। नियमकेअनुसार जितने दिनोंतक एक पतिसे सम्बन्ध रखती थी, उतने दिनोंतक और चार पाण्डवोंके प्रति मनसे भी पतिभावको नहीं रखती थी। यही द्रौपदीकी दृढ़ता, असाधारण धारणा और उसके विभूतिरूप होनेका परिचय है। इसलिये ही द्रौपदी प्रातःस्मरणीया है। इस अपूर्व भावको शरीर और मनकेसाथ पूर्णरीतिसे निबाहनेपर भी प्रकृति तो प्रकृति ही है और अपूर्ण है। इसलिये कभी कभी द्रौपदीके चित्तमें अर्जुनकेप्रति अधिक प्रेम प्रकट होता था और यह भाव यद्यपि केवल मनमें ही था, शरीरकेसाथ इसका कोई

सम्बन्ध न था, तथापि इससे मनोराज्यमें कुछ दोष होनेकेकारण महाप्रस्थानकेसमय द्रौपदी गिर गयी थी। सनातनधर्मका किसप्रकारका उदारभाव और सूक्ष्मगति है? इसप्रकार विचार करनेसे बुद्धिमान् लोग चकित होते हैं। विचारहीन पुरुष इसको न जानकर वृथा ही शंका करते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने अपने अधिकारके-अनुसार प्रत्येक अवस्थामें ही धार्मिक बन सकता है। विशेषतः पत्यन्तरग्रहणमें सतीधर्मके विरुद्ध अनेक अवसर मिलनेपर भी हरसमय यथायोग्य रीतिपर शरीर और मन दोनोंसे सतीधर्मका पालन करना, यही असाधारण अधिकार है। वैसी धारणा योगियोंकेलिये भी दुर्लभ है। इसीकारण द्रौपदी प्रातःस्मरणीया थी। इस-प्रकारसे प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी भूमिपर साधारण, विशेष और असाधारण धर्म करसकता है, तो द्रौपदीने भी अपनी भूमिपर असाधारण नारीधर्मको ठीक ठीक निभाया था और पाण्डवोंने भी घटनाके विचारसे भक्तिभूमिपर अपने धर्मको निभाया था, इसलिये किसीका कोई दोष नहीं है। अवश्य इसप्रकारका धर्म असाधारण है और इसप्रकारकी आज्ञा किसी समाज या जातिकेलिये दी नहीं जासकती है, क्योंकि यह विषय असाधारण धर्मका है। न साधारण धर्मका और न विशेष धर्मका है, जिनका वर्णन अगले समुल्लासोंमें आवेगा।

यह बात पहले ही कही गयी है कि, पुराण भगवान्‌के निश्वासरूप होनेसे पुराणका नित्य और घनिष्ठ सम्बन्ध भगवान्‌केसाथ है। इसलिये जैसे, भगवान् पूर्ण हैं, ऐसे ही पुराण भी पूर्ण हैं। अब पुराणकी यह पूर्णता पूर्वकथित त्रिविध भाषा, त्रिविध भाव, त्रिविध अधिकार, सकल जीवोंके कल्याणसाधनआदि रूपमें किसप्रकारसे है, सो एक एक करके नीचे वर्णन किया जाता है।

(१) पुराणकी पहली पूर्णता त्रिविध भाषामें है। आजकल जो पुराणपर बहुत लोगोंका सन्देह हुआ करता है, उसमें और और कारणोंके सिवाय यह भी एक प्रधान कारण है कि, लोग पुराणकी भाषाको समझकर पढ़ना नहीं जानते। पुराणमें तीनप्रकारकी भाषा वर्णित है, यथा—पुराणसंहितामेंलिखा है कि :—

समाधिभाषा प्रथमा लौकिकीति तथाऽपरा।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा स्मृता ॥

पुराणोंमें समाधिभाषा, लौकिकभाषा और परकीयभाषा, तीनप्रकारकी भाषा हुआ करती है। समाधिभाषा उसका नाम है, जिसकेद्वारा ऋषियोंने वेदके अतिगम्भीर समाधिगम्य तत्त्वोंको जानकर ठीक वैसी हीं रूखे सूखी कठिन भाषामें पुराणोंमें लिख दिया है। लौकिकभाषा उसका नाम है, जिसकेद्वारा ऋषियोंने समाधिगम्य कठिन तत्त्वोंको लौकिकरीतिकेअनुसार लौकिकभावकी सहायतासे सकलप्रकारके मनुष्योंको समझानेकेलिये बहुतप्रकारके रूपक और अलंकारकेसाथ अतिसरस लौकिकभाषाद्वारा प्रकट किया है। समाधिभाषा स्वर्गकी मन्दाकिनी है, परन्तु उस मन्दाकिनीसे आनन्दलाभ देवता लोग ही करसकते हैं। मनुष्योंके भाग्यमें भगीरथकी कृपाकेविना तरलतरङ्गिणी मन्दाकिनीका

आनन्द-लाभ नहीं होसकता। इसलिये ही ऋषियोंने भगीरथरूपी लौकिकभाषा-केद्वारा दुर्गम समाधिगम्य मन्दाकिनीरूप समाधिभाषाकेभावोंको भागीरथीकी धाराके तुल्य मर्त्यलोकमें प्रवाहित करके मन्दमति मनुष्योंका अशेष कल्याणसाधन किया है। तृतीय परकीयभाषा उसका नाम है, जिसमें पौराणिक इतिहासोंकेद्वारा धर्म्मतत्त्व समझाया गया है। केवल "सत्यं वद", "धर्म्मं चर" सत्य बोलो, धर्म्मका आचरण करो, इसप्रकार रूखा उपदेश करनेसे थोड़े ही लोग सत्यवादी और धार्मिक होते हैं। परन्तु यदि इसी शिक्षाको दृष्टान्तद्वारा समझा दिया जाय, तो लोग मानलेते हैं और धार्मिक होते हैं। इसलिये ही पुराणोंमें परकीयभाषाका वर्णन है।' वेदोंमें भी यही तीनोंप्रकारकी वर्णनशैली है। केनोपनिषद्में जो अग्नि वायुआदि देवताओंका दर्प चूर्ण करके ब्रह्मकी सर्व शक्तिमत्ता बतायी गयी है और छान्दोग्योपनिषद्में जो इन्द्रियोंमें परस्पर प्रधानताकेलिये विवाद बताकर अन्तमें प्राणकी प्रतिष्ठा बतायी है, वे सब वेदके लौकिक वर्णन हैं। उसीप्रकार वेदोंमें दृष्टान्तरूपसे अनेक गाथायें भी हैं। यह तीनोंप्रकारका वर्णन स्वभावसिद्ध है, क्योंकि संसारमें सब अधिकारी एकसे नहीं होते और न सब समय एकप्रकारका भाव अच्छा ही लगता है, इसीकारण पुराणोंमेंइसप्रकारका भाषावैचित्र्य है। समाधिभाषा, लौकिकभाषा और परकीयभाषा, इन तीनोंका यथार्थ रहस्य बिना समझे पुराणशास्त्रोंका अध्ययन अध्यापन और उपदेश करना पूर्ण फलजनक नहीं होता और न पूर्ण आनन्दको ही देनेवाला होता है। ऋषियोंने सकलप्रकारके अधि-कारियोंके कल्याणकेलिये कृपाकर पुराणशास्त्रमें सर्व जीवहितकारिणी तीनप्रकारकी भाषाओंका वर्णन किया है परन्तु दुर्भाग्यकी बात है कि, ऋषियोंकी उसप्रकारकी कृपाकेप्रति कृतज्ञ न होकर अज्ञानी पुरुषोंने उनको गाली देना और उनके लेखोंपर सन्देह करना प्रारम्भकर दिया है। जहाँ पुराणोंमें समाधिगम्य विषयोंको ऋषियोंने अलङ्कारकेसाथ लौकिकभाषामें वर्णन किया है, वहां उस लौकिकभाषाका क्या आध्यात्मिक सत्यभाव है, इसको न देखकर उस आलङ्कारिक लौकिकभाषाको ही इतिहास समझकर अज्ञानी लोग हंसी उड़ाया करते हैं और पुराणोंपर अश्रद्धा करते हैं। आँखोंमें पीतरोग (Jaundice) होनेसे पृथ्वी पीली दीखती है। इससे यह सिद्धान्त नहीं होता है कि, पृथ्वी पीली ही है, परन्तु आँखमें रोग होना ही समझा जाता है; उसीप्रकार पुराणमेंजो लोगोंको दोष दीखने लग गया है, उसमें पुराणका कोई दोष नहीं, परन्तु देखनेवालेकी बुद्धिका ही दोष है। विचार करनेकी बात है कि, जिन पौराणिक तत्त्वोंको ऋषिलोग जितेन्द्रिय होकर संयम, ध्यान धारणा व समाधिकेद्वारा कहीं समाधिभाषामें, कहीं लौकिकभाषामें और कहीं परकीयभाषामें वर्णन करते थे, उनको आजकलके इन्द्रियपरायण अश्रद्धालु विषयी किसप्रकार समझनेकी स्पर्द्धा कर सकते हैं? भगवान्केप्रति भक्तिकेद्वारा चित्त शुद्ध होजाय, इन्द्रियोंको दमन करके चित्त एकाग्र हो जाय, धारणा व ध्यानकेद्वारा चित्त उन्नत होजाय, तभी पुराणके गूढ विषय समझमें आसकते हैं। अन्यथा वृथा धर्मविहीन पाश्चात्त्य शिक्षाके मदमें उन्मत्त होकर, पुराणकी जो बातें बुद्धिमें न

आयी, उनको उड़ा देना बुद्धिमत्ता और विद्वत्ताका परिचय नहीं, परन्तु भीरुता और अहङ्कारका परिचय है। उनके तत्त्वोंको धीर और शुद्धबुद्धि होकर निर्णय करना ही विद्वत्ता और योग्यताका परिचय है। इसलिये पुराणके तत्त्वोंको न उड़ाकर उन्हें सिद्ध करना चाहिये। स्मरण रहे कि, पुराणकी परकीयभाषामें इतिहासका सम्बन्ध होनेपर भी लौकिकभाषामें सब स्थानोंपर इतिहास नहीं है, उसमें बहुतसे आलङ्कारिक वर्णन होते हैं। केवल समाधिभाषाको सरल करनेकेलिये ही लौकिकभाषाका प्रयोग होता है और समाधिभाषाकथित धर्मको पुष्ट करनेकेलिये परकीयभाषाका प्रयोग होता है। अब नीचे तीनों भाषाओंको पृथक् पृथक् दृष्टान्तोंकेद्वारा समझाया जाता है। पुराणके समझनेके विषयमें भ्रम होनेका और एक कारण यह है कि, लोग एक आध पुराण पढ़कर ही सब विषयोंका सिद्धान्त निकालना चाहते हैं, परन्तु ऐसा करनेसे सिद्धान्त अच्छा नहीं निकलेगा, क्योंकि एक पुराणमें सबप्रकारकी भाषा या भावका वर्णन नहीं है, अधिकन्तु एकही तत्त्वको किसी पुराणमें समाधिभाषाकेद्वारा और किसी पुराणमें लौकिकभाषाकेद्वारा वर्णन कियागया है। इसप्रकार एकही तत्त्वको कहीं आध्यात्मिक भावमें, किसी पुराणमें आधिदैविक भावमें और किसी पुराणमें आधिभौतिक भावमें वर्णन कियागया है। इसलिये सब पुराणोंके पढ़नेसे ही ठीक ठीक तत्त्व मालूम होसकता है, जो नीचेके दृष्टान्तसे स्पष्ट होगा। विष्णुपुराणके प्रथमाध्यायमें सृष्टिवर्णनप्रसंगमें प्रकृति और पुरुषके संयोगसे जिस भाषामें महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, मन, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूतआदिकी सृष्टिका वर्णन कियागया है, वह सब समाधिभाषा है। इसी समाधिगम्य तत्त्वको देवीभागवत और श्रीमद्भागवतमें लौकिकभाषाकेद्वारा विचित्ररूपसे वर्णन किया है। देवीभागवतमें लिखा है कि—

स कृष्णः सर्व्वसृष्ट्यादौ सिसृक्षन्नेक एव च।
सृष्ट्युन्मुखस्तदंशेन कालेन प्रेरितः प्रभुः॥
स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह।
स्त्रीरूपी वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान्स्मृतः॥
दृष्ट्वा तान्तु तया सार्द्धं रासेशो रासमण्डले।
रासोल्लासे सुरसिको रासक्रीडां चकार ह॥
अथ सा कृष्णचिच्छक्तिः कृष्णगर्ब्भं दधार ह।
शतं मन्वन्तरं यावत् ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा॥
शतं मन्वन्तरान्ते च कालेऽतीते च सुन्दरी।
सुषाव डिम्भं स्वर्णाभं विश्वधाराऽऽलयं परम्॥

संसारके सृष्टि करनेवाले श्रीकृष्ण परमात्मा प्रलयके समय अकेले ही थे, परन्तु जब कालकी प्रेरणासे उनमें सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई, तो अपने वाम अङ्गसे एक स्त्रीको निकाला, वही स्त्री प्रकृति है। अपनी शक्तिस्वरूपिणी उस स्त्रीको देखकर

परमात्माने उसकेसाथ विहार करना आरम्भ करदिया, पश्चात् उस स्त्रीके गर्भ हुआ, एक सौ मन्वन्तरपर्य्यन्त वह गर्भ रहा, जिसके पीछे प्रकृतिके पेटसे एक अण्डा निकला, और उसी अण्डेसे समस्त सृष्टि बनगयी। यही देवीभागवतकी लौकिकभाषा है। विष्णुपुराणमें जो सृष्टिका तत्त्व समाधिभाषाकेद्वारा वर्णन किया गया है, उसीको लौकिकभाषाकेद्वारा इसप्रकारसे देवीभागवतमें बताया गया है। भाव दोनोंका एक ही है, भाषाका केवल वैचित्र्य है। ठीक इसी तत्त्वको आंशिकरूपसे श्रीमद्भागवतके अष्टमस्कन्धके द्वादश अध्यायमें वर्णन कियागया है। जिसमें भगवान्‌की दुरत्यया दैवी मायाकी महिमाका वर्णन करते हुए शिव शक्तिके सम्बन्धसे सृष्टिका विषय बताया गया है। ब्रह्मके मायासे अतीत होनेपर भी, ईश्वरमें मायाकी उपाधि है, जिससे ईश्वरके चित्तमें सृष्टिकी इच्छा होनेपर, उनकी वीर्यरूपा चेतनशक्तिके मायाको देखकर स्खलित होनेसे, संसारमें विविध वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है। इसी आध्यात्मिक भावको लेकर भागवतके अष्टमस्कन्धमें वर्णन कियागया है कि, मोहिनी-मायाको देखकर शिवजी मुग्ध होगये। मायाके पीछे पीछे कामवश होकर दौड़ने लगे और उनका वीर्य स्खलन होने लगा, चांदी सोनेकी खानें बहुतसी बन गयीं। यथा-भागवतमें लिखा है कि—

तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दाऽमोघरेतसः।
शुष्मिणो यूथपस्येव वासितामनुधावतः॥
यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः।
तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन् महीपते॥

इसीप्रकार श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धके उन्तसीवें अध्यायमें पुरुषको पुरञ्जन कहकर समाधिभाषाकेद्वारा सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीरमें मन बुद्धिआदि और स्थूल शरीरमें इन्द्रियोंका नवद्वार, पुरुषका प्रकृतिकेसाथ सम्बन्ध, उसी सम्बन्ध-से बन्धनका आभास, और सृष्टिका विस्तारआदि वर्णन करके, उसी स्कन्धके २५, २६, २७ और २८ अध्यायोंमें इसी समाधिगम्य विषयको लौकिकभाषाकेद्वारा अलङ्काररूपसे वर्णन किया है, जिसका विस्तृत वर्णन ग्रन्थमें द्रष्टव्य है। इसीप्रकार महाभारतके स्त्रीपर्वमें विदुरजीने धृतराष्ट्रके चित्तमें वैराग्य उत्पन्न करनेकेलिये जो संसारगहन वर्णन किया है, उसमें भी रूपककेद्वारा समाधिगम्य विषयको लौकिक-भाषामें वर्णन किया है। उसमें संसारको कान्तार बताकर, संसारके रोगोंको हिंस्र पशु, जराको भीषण स्त्री, देहको कूप, कालको कूपके बीचमें सर्प, आशाको कूपमध्यगत लता, हस्तीको संवत्सर, उसके छः मुखको छः ऋतु और बारह पांवको बारह मास, मूषकोंको रात दिन, कामको मधुकर और मधुको कामरसरूपसे वर्णन करके दुर्गम संसार और उससे मुक्त होनेका उपाय बताया है, वह कथा निम्नलिखित है।

किसी समय एक ब्राह्मण घटनाचक्रसे हिंस्र जन्तुओंसे पूर्ण एक जंगलमें चलागया। शेर, हाथी, सिंहआदि उस जंगलमें गरजते थे, जिनसे भयभीत होकर जंगलसे निकलनेकेलिये ब्राह्मण भागने लगा, परन्तु निकलनेका कोई मार्ग न मिला;

पश्चात् उसने देखा कि, उस जंगलके चारोंओर एक भीषण स्त्रीने जाल पसार रक्खा है। उस वनमें लता और तृणसे आच्छन्न एक कूप था, ब्राह्मण भागते भागते उसी कूपमें गिरगया और लताकेद्वारा ऊर्द्ध्वपद व अधोमुख होकर लटकता रहा, इस बीचमें और कूपके ऊपर छःमुख बारह पाँववाला हाथी उसकीओर अग्रसर होरहा था और ऊपर जिस वृक्षमें लता लगी थी, उस वृक्षके मूलको दो चूहे काट रहे थे, वृक्षके ऊपर बहुतसी मधुमक्खियोंने मधुचक्र बना रक्खे थे, जिनसे मधुकी धारा टपकरही थी; ब्राह्मण उन टपकते मधुकी बून्दोंको चाटने लगा। इसीमें संसार उन्मत्त है और इसको छोड़नेसे ही मुक्ति है। इसप्रकार पुराणोंमें आध्यात्मिक विषयोंको बहुत ही मधुर रीतिसे वर्णन किया गया है। यह सब ऋषियोंकी अपार कृपाका ही फल है।

मत्स्यपुराणमें लिखा है कि, ब्रह्माजीने अपनी कन्याको देखकर कामातुर हो, उसकेसाथ एक कमलमें रहना आरम्भ किया, जिसके फलसे मनुआदिकी सृष्टि हुई। यथा :—

ततः संजपतस्तस्य भित्त्वा देहमकल्मषम्।
स्त्रीरूपमर्द्धमकरोत् अर्द्धं पूरुषरूपवत् ॥
शतरूपा च सा ख्याता सावित्री च निगद्यते।
सरस्वत्यथ गायत्री ब्रह्माणी च परंतप ! ॥
ततः स्वदेहसम्भूता मात्मजामित्यकल्पयत्।
दृष्ट्वा तां व्यथितस्तावत् कामबाणार्दितो विभुः ॥
एतत्तत्त्वात्मकं कृत्वा जगद्वेधा अजीजनत्।
सावित्रीं लोकसृष्ट्यर्थं हृदि कृत्वा समास्थितः ॥

ब्रह्माजीके तप करते करते उनके आधे शरीरसे एक स्त्री निकली, जिसका नाम शतरूपा, सावित्री, सरस्वती, गायत्री और ब्रह्माणी हुआ। उस स्त्रीको ब्रह्माजीने कन्या करके मानलिया, परतु उसको देखते ही विभु अर्थात् व्यापक भगवान् ब्रह्माजी कामबाणसे पीड़ित होगये। तत्पश्चात् सावित्रीको हृदयमें धारण करके तत्त्वोंके क्रमसे संसारकी उत्पत्ति की। इन श्लोकोंमें तपकेद्वारा अर्द्ध अङ्गसे स्त्रीकी उत्पत्ति, उसको कन्या रूपसे माननेपर भी काम होजाना, पश्चात् उसकेसाथ मिलकर सृष्टि करना-आदि विषय विचार करने योग्य हैं। इसमें प्रथम विचार यह है कि, जिसप्रकारसे काम शब्दका भाव आजकलके लोग लिया करते हैं, ऐसा भाव पुराणोंमें या वेदमें ईश्वर या ब्रह्मा विष्णु शिवकेलिये कहीं नहीं बतायागया है। वहाँ सभी स्थानोंमें काम शब्दका अर्थ सिसृक्षा अर्थात् सृष्टिकरनेकी कामना या स्वतः इच्छा, इस भावको प्रक-किया गया है। यथा-वेदमें कहा है कि :—

"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्"।
"स तपस्तप्त्वा मैथुनमैच्छत्"।

इन मन्त्रोंमें परमात्माका काम मनुष्यके सदृश काम नहीं है, परन्तु तपस्याके-द्वारा सृष्टि करनेकी इच्छा है। यह तपस्या भी साधारण तपस्या नहीं है। यथा-मुण्डकोपनिषद्‌में कहा है कि :-

तस्य ज्ञानमयं तपः।

उनका तप ज्ञानरूप तप है। यही भाव सब स्थानोंमें बताया गया है, जिसको विचारवान् पुरुष समझ सकते हैं। ब्रह्माजीने भी इसीप्रकार तप करके कन्याकी उत्पत्ति की थी। उस विषयमें भ्रान्ति होनेका और एक कारण है कि, मनुष्य ब्रह्मा विष्णुआदिकें यथार्थ स्वरूपको नहीं समझते हैं। बहुतसे अर्वाचीन पुरुषोंने तो यह कह दिया है कि, जो चार वेद पढ़जाय वही ब्रह्मा है। इसप्रकारकी कल्पना दैव जगत्‌के न जाननेकाही फल है। यह विषय पहले ही कहा है कि, जड़ प्रकृतिमें स्वयं करनेकी शक्ति न होनेसे चेतन शक्तिके अधीन होकर काम करती है। उसी सिद्धान्तकेअनुसार ब्रह्माण्डमें व्याप्त जिस चेतन शक्तिके होनेसे ब्रह्माण्ड-प्रकृति सृष्टिको उत्पन्न करसकती है, ब्रह्माण्डमें व्याप्त उस चेतनशक्तिका नाम ब्रह्मा है। उसीप्रकार ब्रह्माण्डमें व्याप्त स्थितिकारिणी चेतनशक्तिका नाम विष्णु है और लय करनेवाली शक्तिका नाम रुद्र है, अर्थात् इन तीनप्रकारकी शक्तियोंके अधिष्ठाता ये तीनों अधिदैव हैं। इन तीनोंके सञ्चालनसे ही प्रकृतिमें सृष्टि, स्थिति, प्रलय, नियमसे हुआ करता है। भिन्न भिन्न ब्रह्माण्डमें ये शक्तियाँ भी भिन्न भिन्न-प्रकारकी होती हैं। ये सब देवता भक्तके भावकेअनुसार रूप धारण करके दर्शन भी देसकते हैं। उनके सब रूप भावकेअनुसारहोते हैं, जो मन्त्रयोगके अध्यायमें बाताये जावेंगे। यह बात सत्य है और पश्चिमी सायन्ससे भी यह बात सिद्ध हो चुकी है कि, जो कुछ रूप देखनेमें आते हैं, सो सभी शक्तिके घनीभाव हैं। शक्ति ही घनीभूत (गाढ़ी) होकर स्थूलरूपमें परिणत होती है। जैसे एक बीजकी सूक्ष्मशक्ति घनीभूत होकर वृक्षरूपमें परिणत होती है, वैसेही जीवका स्थूल शरीर जीवके चित्तमें स्थित सूक्ष्मशक्तिका ही घनीभाव है। इसलिये भक्तके भावकेअनुसार समस्त चेतनशक्ति, जिनको देवता कहते हैं, स्थूल रूप धारण करके दर्शन देसकती हैं और यह भी विषय आगेके अध्यायोंमेंकहा जायगा कि, प्रेतका स्थूल शरीर न होनेपर भी, उसके सूक्ष्म शरीरमें जो वासनाकी तीव्र शक्ति रहती है, उसके घनीभावसे ही कभी कभी प्रेतका कईप्रकारका स्थूल शरीर बनजाता है, जिसके फोटोतक अमेरिकामें आजकल यन्त्रकेद्वारा लिये जाते हैं। अब विचार यह है कि, ब्रह्माण्डकी सृष्टि करनेवाली चेतनशक्तिके अधिदैव, जिनको ब्रह्माजी कहते हैं, उनकेसाथ सरस्वतीका सम्बन्ध कैसे हुआ और क्यों हुआ ? यह बात सत्य है कि, जबतक कर्मकेसाथ ज्ञानका सम्बन्ध न हो, तबतक कर्म ठीक नहीं होता और कभी कभी गीतोक्त विकर्म भी बन जाता है। लौकिक जगत्‌में भी देखते हैं कि, ज्ञानके-विना संसारमें कोई कार्य नहीं होसकता है। अज्ञानसे कार्य करनेपर कार्य बिगड़ा जाता है। इसी सत्यको और भावसे दुर्गाजीमें वर्णन किया गया है। वहाँ ऐसा लिखा है कि, भगवान् विष्णु योगनिद्रामें सोये हुए थे। ब्रह्माजी वेद हाथमें लिये

हुए उनके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए; परन्तु थोड़ी देर पीछे ही विष्णुके कानके मेलसे उत्पन्न मधु कैटभनामक दो असुर ब्रह्माजीपर आक्रमण करके वेद छीनने लगे। उस समय ब्रह्माजीने और उपाय न देखकर निद्रारूपिणी मायाकी स्तुति करके विष्णुजीको जगाया, जिससे विष्णुजीने जाग्रत् होकर दोनों असुरोंका नाश करके ब्रह्माजीको निरापद किया। इन सब वर्णनोंका आध्यात्मिक रहस्य यह है कि, भगवान् विष्णु चित् अर्थात् ज्ञानप्रधान सत्ता हैं। ज्ञान निद्रित था क्योंकि विष्णुजी योगनिद्रामें सोये हुए थे। इसलिये कर्मके देवता ब्रह्माजीपर आपत्ति आयी। मधु कैटभ विष्णुजीके कर्णमलसे उत्पन्न हुए। कान शब्दका स्थान है क्योंकि आकाशतत्त्वके विकारसे कान उत्पन्न होता है। और आकाशका गुण शब्द है, कानका मल अधिक होनेसे वह मल शब्दका विरोधी है; इसलिये ब्रह्मरूप विष्णुके कर्णमल, शब्दब्रह्मरूपी वेदके विरोधी हैं; इसलिये कर्णमलसे उत्पन्न दोनों असुरोंने ब्रह्माजीपर आक्रमण किया और वेदको छीनने लगे। जब ब्रह्माजीकी स्तुतिसे विष्णु जाग गये तो कर्मदेव ब्रह्माजीको ज्ञानदेवता विष्णुजीसे सहायता मिली, तभी असुरोंका नाश हुआ और ब्रह्माजीसे सृष्टि ठीक ठीक बनने लगी। पुराण इतिहास नहीं हैं, भावप्रधान ग्रन्थ हैं। इसलिये एकही तत्त्व कई पुराणोंमें अनेकप्रकारसे वर्णन किया जाता है। जैसा कि दुर्गाजीमें जिस भावको विष्णुजीकी योगनिद्रा, ब्रह्माजीकी स्तुति, मधु कैटभका अत्याचारअदिरूपसे वर्णन किया है, उसी भावको मत्स्यपुराणमें तपकेद्वारा सरस्वतीकी उत्पत्ति, ब्रह्माजीकेसाथ सरस्वतीका मेल, संसारकी उत्पत्तिआदिरूपसे वर्णन किया है। सरस्वती विद्या अर्थात् ज्ञानकी देवी हैं, ब्रह्मा कर्मकेदेवता हैं। कर्मकी शक्तिकेसाथ जो ज्ञानकी शक्तिका मेल, उसीको कन्याकेसाथ मेलके रूपसे पुराणकी लौकिकभाषामें वर्णन किया गया है। कन्या इसलिये कहागया है कि, ब्रह्माजीने उसको तपकेद्वारा अपने शरीरकेअर्द्ध अङ्गसे उत्पन्न किया था।

आत्मा वै जायते पुत्रः।

पुत्र कन्या आत्मारूपसेउत्पन्न होते हैं। स्त्री दूसरेके घरसे आती है। सरस्वतीको ब्रह्माजीनेअपने शरीरसे उत्पन्न किया। किसीके घरसे नहीं लाये थे, और यह बात विज्ञानसिद्ध भी है क्योंकि पहले ही वेदका मन्त्र दिया जाचुका है "तस्य ज्ञानमयं तपः" अर्थात् वह तप ज्ञानमय है, साधारण तप नहीं है। ब्रह्माजीको ज्ञान चाहिये था क्योंकि ज्ञानकेविना सृष्टि ठीक नहीं बनसकती थी। संध्याके मन्त्रमें लिखा है कि—

यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।

पृथिवी व स्वर्गादि लोककी सृष्टि पूर्व कल्पकेअनुसार हुआ करती है। प्रलयके समय जो जिस योनिमें रहकर लय हो जाते हैं, उनको संस्कारकेअनुसार सृष्टिके समय उसी योनिमें उत्पन्न करना पड़ता है। जो पूर्व कल्पमें मनुष्य था, वह मनुष्य था, वह मनुष्यही होकर आता है, जो पशु था, वह पशु होकर उत्पन्न होता है, जो

वृक्ष था, वह वृक्ष होकर उत्पन्न होता है। उसीप्रकार कर्मकेअनुसार ठीक ठीक सृष्टि ब्रह्माजी तभी करसकते हैं, जब उनमें ऐसा ज्ञान हो। नहीं तो सृष्टिमें गड़बड़ हो सकता है। इसलिये ब्रह्माजीने तपकेद्वारा ज्ञानरूपी सरस्वतीको अपने भीतरसे उत्पन्न करके उसको हृदयमें धारण करके सृष्टि की, जैसा कि मत्स्यपुराणमें वर्णन कियागया है। उन्नति बीजवृक्षन्यायसे है अर्थात् जिसप्रकार बीजके भीतर वृक्षका समस्त "मसाला" रहता है, केवल उस मसालेको बाहर प्रकटकर देना ही उन्नतिहै; उसी-प्रकार प्रत्येक चेतन पदार्थ ज्ञानमय भगवान्‌के रूप होनेसे ज्ञानकी सब सत्ता प्रत्येक वस्तुमें बीजमें वृक्षके सदृश पहलेसे ही रहती है; केवल उस ज्ञानको प्रकट करदेना ही उन्नति है। इसलिये ब्रह्माजीमें जो ज्ञानशक्ति पहलेहीसे थी, उसीको उन्होंने तपस्या केद्वारा सरस्वतीरूपसे अपने भीतरसे प्रकट करदिया। तत्पश्चात् उसी ज्ञानकी सहा-यतासे सृष्टि की। यही मत्स्यपुराणके उस वर्णनका रहस्य है।

इसप्रकार शिवपुराणमें जो एक कथा आती है कि, नारायण जलके भीतर सोये हुए थे। उनके नाभिकमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए। फिर दोनोंमें इस बातपर लड़ाई होने लगी कि, कौन बड़े हैं ? उनकी लड़ाई होरही थी। इतनेमें उनके बीचमें शिवजीका प्रचण्ड ज्योतिर्लिङ्ग प्रकट हुआ, जिसका पता लगानेकेलिये ब्रह्माजी ऊपरकीओर और विष्णुजी नीचेकीओर गये, परन्तु किसीको पता नहीं चला, जिससे उन लोगोंको मालूम हुआ कि, उन दोनोंसे भी बड़ा तीसरा कोई है, इस बातको जानकर दोनोंने विवाद छोड़ दिया, इत्यादि, इत्यादि। इस लौकिकभाषारूपी वर्णनका तात्पर्य यह है कि, विराट्‌रूपी श्रीभगवान्‌के अनादि अनन्त स्वरूपकेद्वारा ही उनके अचिन्तनीय ब्रह्मस्वरूपका अनुभव होता है; अर्थात् यह अनादि अनन्त शरीरधारी विराट्‌पुरुष ही सच्चिदानन्दमय ब्रह्मका लिङ्ग है। लिङ्ग शब्दका अर्थ चिह्न है; अर्थात् जिस स्थूल चिह्नकेद्वारा किसी पदार्थका बोध हो, उसको लिङ्ग कहते हैं। यह कथा जब शिवपुराण की है, और पुराण जब भावप्रधान ग्रन्थ हैं, तो पूर्वसिद्धान्तकेअनुसार शिवपुराणके शिवजी साधारण शिव नहीं हैं, परन्तु परमात्मा हैं। शिवजी मनुष्यकी तरह शरीरधारी नहीं हैं, उनका शरीर औरप्रकारका है। लिङ्ग उसे कहते हैं, जिससे किसी वस्तुका लक्षण मालूम हो; अर्थात् लिङ्ग लक्षणका वाचक है, जैसा कि, न्यायदर्शनमें लिखा है कि "इच्छा द्वेष सुख दुःख" आत्माके लिङ्ग हैं, इससे यह न समझना चाहिये कि, आत्मा कोई स्थूल वस्तु है और उसके ऊपर इच्छा, द्वेष सुख, दुःखआदि कोई मनुष्यकी इन्द्रियोंके सदृश पदार्थ हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह है कि, वे सब न्यायदर्शनकेअनुसार आत्माके लक्षण हैं। ठीक उसीप्रकार शिव-पुराणमें जो शिवरूपी परमात्माका लिङ्ग प्रकट हुआ, उससे यह आध्यात्मिक भाव बताया गया है कि, परमात्माका क्या लक्षण है और उनको कौन जान सकता है ? शिवपुराणमें शिवजीकी मुख्यता और परमात्माका भाव होनेसे परमात्माका लिङ्ग अर्थात् लक्षण अनादि अनन्त है, जिसको जीवकी तो बात ही क्या, परञ्च ब्रह्मा विष्णु-तक भी पता नहीं लगा सकते हैं ! इसलिये सर्व शक्तिमान् सर्वव्यापक परमात्माके राज्यमें किसीको अहंकार नहीं करना चाहिये कि, हम बड़े हैं। यही आध्यात्मिक भाव लौकिकभाषाकेद्वारा प्रकट किया गया है। इसमें जो जलकी बात लिखी है, सो

स्थूल जल नहीं है परन्तु कारण वारि अर्थात् समष्टि जीवोंका कर्म-संस्कार है। उन्हीं कर्म-संस्कारोंकेबीचमें संस्कारोंसे सृष्टि करनेकेलिये चेतनशक्ति नारायण रहते हैं। उन्हींकी चेतनशक्तिसे समष्टि संस्कार जब फलाभिमुखीन होते हैं, तभी विकारहीन अर्थात् अव्याकृत प्रकृतिमें विकारकी सूचना अर्थात् व्याकृतावस्था होती है। उसी व्याकृतावस्था प्रकृतिकोही कमल कहागयाहै और वह विष्णुजीकी केन्द्रीभूत चेतन शक्ति (Central living Energy) का ही फल है। इसलिये विष्णुजीकी नाभिसे ही कमलकी उत्पत्ति कही गयी है, जिसमें ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं। यह शिवपुराणमें वर्णित उस लौकिकभाषाका आध्यात्मिक तत्त्व है। इन बातोंके सिवाय और जो बहुतसी बातें अर्वाचीन पुरुषोंने इस कथाके साथ मिला दी हैं, वह सब उनकी मिथ्या कपोल कल्पना है।

इन सब लौकिकभाषाकी वर्णनशैलीरूप कथाओंकेद्वारा विचारवान् पुरुष समझ सकते हैं कि, ऋषियोंने किन किन गम्भीर भावोंको किसप्रकार सरलता और मनोहरताकेसाथ लौकिकभाषामेंवर्णन किया है। विद्वानोंकी विद्वत्ता यह है कि, अपनी बुद्धिको स्थिर, धीर और संयत करके इन तत्त्वोंको विचारकर देखें और इनका आनन्द लेवें। इनके उड़ा देनेमें कोई योग्यताका परिचय नहीं है। पुराणोंमें ऐसी सैकड़ों कथायें लौकिकभाषामें वर्णित कीगयी हैं परन्तु सभीके आध्यात्मिक तत्त्व निकालनेकी युक्ति ऊपर कही हुई युक्तियोंके सदृश है, इसलिये सब लौकिक-भाषाओंका उसी प्रकार तत्त्व निर्णय करके पुराणकी महिमा बढ़ानी चाहिये।

पुराणकी तीसरी भाषाका नाम परकीयभाषा है, जिसमें धर्मके किसी न किसी अंगका वर्णन दृष्टान्तकेद्वारा किया गया है। ये सब दृष्टान्त सत्य हैं, क्योंकि वे सब पुराणके इतिहास अंश हैं। जैसा कि सत्यकी महिमा बतानेकेलिये हरिश्चन्द्रकी कथा, भक्तकी महिमा-प्रचारकेलिये ध्रुव व प्रह्लादकी कथा, सतीधर्मकी महिमा-प्रचारकेलिये सीता व सावित्रीकी कथा, पितृभक्ति और ब्रह्मचर्यकी महिमाके प्रचारार्थ भीष्मदेवकी कथा और अतिथिसेवाकी महिमा-प्रचारकेलिये मयूरध्वजकी कथा, इत्यादि। इन सब कथाओंके सुननेसे नीरस हृदयमेंभी रसका आविर्भाव होता है। मरुभूमिमें मन्दाकिनी बहने लगती है। धर्मकी शोभा नन्दन काननकी शोभाकेसदृश प्रत्येक हृदयमें-प्रकाश होने लगती है और मनुष्यप्रकृति आनन्दकेसाथ मरालगतिसे संसारसिन्धुमें बहती हुई ब्रह्मानन्दमहोदधिमें जामिलती है। यही परकीयभाषाकी महिमा है और यही पूर्ण भगवान्के निश्वासरूपी पुराणोंमें भाषाकी पूर्णता है।

(२) पुराणकी द्वितीय पूर्णता त्रिविधभावमें है। पहले पहले अध्यायोंमें बहुत स्थानोंपर यह सिद्धान्त हो चुका है कि, परमात्मा जब कारणरूप और संसार कार्यरूप है, और कारणका गुण और भाव कार्यमें आता है, क्योंकि कार्य कारणका ही विस्तारमात्र है, तब परमात्मामें जो भाव है, संसारके प्रत्येक पदार्थमें वही भाव होगा। परमात्मामें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, ये तीन भाव होते हैं। उनका अध्यात्मभाव प्रकृतिसे परे निर्गुणब्रह्म, अधिदैवभाव मायाके प्रेरक सगुणब्रह्म ईश्वर और उनका अधिभूतभाव विराट् है। इसलिये जैसा कि, पहले कहा गया है कि,

प्रत्येक इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारके, यहाँतक कि प्रत्येक वस्तुके अध्यात्म, आधिदैव, अधिभूत, ये तीन भाव हुआ करते हैं। पूर्णदृष्टि उसे कहते हैं, जिसमें तीनही भाव दिखायीदेवें, क्योंकि तीनही भाव सत्य हैं। अन्यथा किसी एक भावको सत्य मानकर दूसरेको उड़ा देना अथवा किसी वस्तुके सब भाव न देखना, यह अपूर्णदृष्टिका कार्य है। वेद और पुराण जब पूर्ण भगवान्के निश्वास हैं, तो इससे यह सिद्धान्त होता है कि, पुराणोंमें भी वेदोंके सदृश त्रिविधभावकी पूर्णता है। है। वेदमें त्रिविधभावकी पूर्णता कैसे है, यह वेदके अध्यायमें दिखाया गया है। अब पुराणके त्रिविधभावकी पूर्णता दिखायीजाती है। दृष्टान्तरूपसे श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें वर्णित रासलीला, देवासुरसंग्राम, गंगामाहात्म्यआदिका वर्णन किया जाता है।

अर्वाचीन पुरुषोंने भागवतमें जो रत्न भराहुआ है, उसको न जानकर रासलीलाआदिपर वृथा ही आक्षेप किया है। किसी किसीने तो यहाँतक प्रमादसे कह दिया है कि, श्रीमद्भागवत महर्षि वेदव्यासका बनाया हुआ नहीं है, वोपदेवनामक किसी कविने भागवतको बनाया है। अर्वाचीन पुरुष यदि भागवतको निष्पक्षपात होकर विचारपूर्वक पढ़कर देखते, तो उनकेचित्तमें सन्देह नहीं होता। जिस अपूर्व परमहंस संहिताके विषयमें यह प्रशंसा है। यथा :—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

वेदरूप कल्पतरुसे टपका हुआ जो भागवतरूप रसाल फल है, वह शुकके मुखके अमृतद्रवसे युक्त है, उसके स्वारस्यको हे भावुक रसिक! इस संसारमें मुक्तिपर्यन्त पान करो। अतः भागवतका रस भावुक रसिक ही ग्रहण करसकते हैं, नीरस भक्तिहीन तार्किक नहीं ग्रहण कर सकते हैं। भागवतकी भाषा, मधुरता, गम्भीरता, ज्ञान व भक्तिकी पूर्णता, जिसकी प्रशंसामें कहा है कि "विद्यावतां भागवते परीक्षा" अर्थात् विद्वत्ताकी परीक्षा भागवतमें होती है, उसका मर्मबोध यथार्थ विद्वान्ही करसकते हैं। पण्डितंमन्य तार्किक नहीं करसकते हैं। जहाँपर "जन्माद्यस्य यतः" आदि, मङ्गलाचरणके प्रथम श्लोकमें ही सारे वेदान्तका तत्त्व भर दिया गया है, उसको वेदान्तज्ञानविहीन अज्ञानी पुरुष कैसे समझ सकते हैं? भागवत किसी कविका बनाया हुआ है, या किसी ऋषिका बनाया हुआ है, सो भागवतकी समाधिभाषाके गाम्भीर्यको देखनेसे ही प्रत्येक निष्पक्ष मनुष्यको सिद्धान्त मालूम होजावेगा। कवि वोपदेवमें ऐसी शक्ति कभी नहीं आसकती है कि, भागवत जैसे ग्रन्थोंको बनादें। पूर्वकथित समाधिभाषा, परकीयभाषा और लौकिकभाषा, तीनों ही यथावत् रीतिपर केवल आर्षग्रन्थमें ही रहसकती हैं। यह सम्पूर्ण आर्षग्रन्थ है। अर्वाचीन पुरुषोंकी ये सब कल्पनायें मिथ्या हैं। उन लोगोंने बहुतसे श्लोकोंको

मिथ्या कल्पना करके वोपदेवके नामसे कहकर भी प्रचार किया है, यह सर्वथा झूठी बात है। भागवतको वोपदेवने कभी नहीं बनाया, उन्होंने केवल श्रीमद्भागवतके विषयोंकी एक श्लोकबद्ध सूची बनायी थी, जो अभीतक कहीं कहीं छपाहुई मिलती है, सत्य बात तो यह है।

इसमें और भी कौतुकका विषय यह है कि, अर्वाचीन पुरुषोंने, भागवतकी कृष्णलीलाका रहस्य न समझनेसे ही, उस महान् ग्रन्थको उड़ानेकी चेष्टा की है। उनकी बुद्धिमें यह बात नहीं आयी कि, महाभारतमें कुरुक्षेत्र करानेवाले श्रीकृष्ण और भागवतमें रासलीला करनेवाले श्रीकृष्ण, दोनों ही एक होसकते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि विषय-मलिन होनेसे रासलीलाका यथार्थ अर्थ उनको नहीं सूझा, इसलिये उन्होंने यह मिथ्या कल्पना की। अब नीचे दिखाया जाता है कि, भागवतको लेकर श्रीकृष्णपर जो दोष लगाया जाता है, वह सब मिथ्या और अज्ञानका ही फल है। भागवतके श्रीकृष्ण और महाभारतके श्रीकृष्ण दोनों एक ही हैं। भागवतकी रासलीला भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके पूर्णावतार होनेका ही लक्षण है। महाभारतके सभापर्वमें यह प्रमाण मिलता है कि :—

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्या चिन्तितो हरिः।
गोविन्द ! द्वारिकावासिन् ! कृष्ण ! गोपीजनप्रिय ! ॥

दुःशासनने जिससमय वस्त्राकर्षण किया, उससमय द्रौपदीने अपनी रक्षाकेलिये गोविन्द, द्वारिकवासी, गोपीजनप्रियआदि सम्बोधनोंसे श्रीकृष्णजीका स्मरण किया और उन्होंने आकर उसकी लज्जा निवारण की। द्रौपदी जब महाभारतकी है, तो उन्होंने जिस कृष्णको स्मरण किया था, वे महाभारतके ही कृष्ण थे, इसमें कोई सन्देह नहीं और इन्हीं कृष्णको जब गोपीजनप्रिय कहा, तो श्रीमद्भागवतके भी यह कृष्ण थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः श्रीमद्भागवतके और महाभारतके, दोनों कृष्ण एक ही हैं, यह सिद्धान्त हुआ।

अब दिखाया जाता है कि रासलीला, जिसकेकारण श्रीकृष्णपर सन्देह करके, अर्वाचीन पुरुषोंने उनकी समालोचना की है, वह रासलीला करना श्रीकृष्णका दोष नहीं था, परन्तु पूर्णावतारका ही लक्षण था। अवतारका तत्त्व क्या है, सर्वव्यापक परमात्मा एक छोटेसे शरीरमें आसकते हैं या नहीं, इसके विषयमें बहुत वादानुवाद चलरहा है, इसका पूर्ण रहस्य किसी आगेके समुल्लासमें बताया जायेगा। अब इतना ही समझना यथेष्ट है कि, भगवान् ऊपर किसी स्थानपर बैठे हैं, वहाँसे उतरकर नीचे आकर अवतार लेते हैं, यह बात मिथ्या है क्योंकि भगवान् जब सर्वव्यापक हैं, तो सर्व स्थानमें सदा ही रहते हैं, उनका कहींसे कहीं आना असम्भव है, क्योंकि जहाँसे कहीं जायँगे, वहाँ पहलेसे ही हैं। परन्तु इससे यह नहीं सिद्धान्त होना चाहिये कि, भगवान्का अवतार होता ही नहीं। अवतार केन्द्रविशेषमें भगवत्शक्तिका विशेष विकास है। भगवान्की शक्ति जड़ चेतनरूपसे सबमें व्याप्त है। यही शक्ति जड़में जड़ शक्तिरूपसे और चेतनमें कलारूपसे विद्यमान है। जीव जितना उन्नत होता है, उतना ही कलाका विकास होता है। इस नियमकेअनुसार उद्भिज्जमें एक कला,

स्वेदजमें दो कला, अण्डजमें तीन कला, पशुओंमें चार कला और सामान्य मनुष्यसे लेकर विभूतिपर्यन्तमें ५ कलासे लेकर आठकलापर्यन्त भगवान्‌की शक्ति विद्यमान है। साधारण जीवके शरीरद्वारा भगवान्‌की आठ कलातककी शक्ति प्रकाश होसकती है, क्योंकि जिस शरीरमें जितनी शक्ति धारण करनेकी योग्यता है, वह उतनी ही शक्ति धारण कर सकता है, उससे अधिक नहीं। परन्तु यदि किसी समय धर्मपर इतना अत्याचार हो और जिस युगमें जितना धर्म रहना चाहिये, उसमें कुछ हानि होजाय और वह हानि इसप्रकारकी हो कि, आठ कलातककी शक्तिकेद्वारा उसका सुधार न हो सके, तो प्रकृतिकी प्रेरणासे और भक्तोंकी प्रार्थनासे, आवश्यकताके-अनुसार नौ कलासे लेकर सोलह कलातक भगवत्‌शक्ति जिन जिन असाधारण केन्द्रोंकेद्वारा प्रकट होकर धर्मकी उस हानिका सुधार करती है, वे सब केन्द्र अवतारके केन्द्र हैं। पन्द्रह कलातकका केन्द्र अंशावतारका होता है और जिस शरीरकेद्वारा भगवान्‌की सोलह कलाकी शक्ति अर्थात् पूर्णशक्ति प्रकट हो, वही पूर्णावतार है। भगवान् श्रीकृष्णजो ऐसे ही पूर्णावतार थे। जैसे श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि :—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

परम पुरुष भगवान्‌के और सब अंशावतार थे, परन्तु श्रीकृष्णजी पूर्णावतार होनेसे साक्षात् भगवान् थे। अब विचार करना चाहिये कि, इसप्रकार पूर्णावतार होनेका क्या क्या लक्षण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें था। यह बात पहले ही कहीगयी है कि, अवतार जब भगवान्‌की शक्तिको लेकर होते हैं, तो पूर्णावतारमें भगवान्‌की पूर्ण शक्ति रहेगी अर्थात् सच्चिदानन्दरूप भगवान्‌की सत्‌शक्ति, चित्‌शक्ति और आनन्दशक्ति पूर्णरूपसे रहेगी। सत्‌का सम्बन्ध कर्मसे, चित्‌का सम्बन्ध ज्ञानसेऔर आनन्दका सम्बन्ध उपासनासे है। इसलिये जिस अवतारके चरित्रमें कर्म उपासना और ज्ञान तीनोंका आदर्श पूर्णरूपसे प्रकट होगा, वही पूर्णावतार होंगे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके जीवनमें यह तीनोंप्रकारका आदर्श पूर्णरूपसे प्रकट हुआ था। कर्मका पूर्ण आदर्श महाभारतके धर्मयुद्धमें, ज्ञानका पूर्ण आदर्श गीताके उपदेशमें और उपासनाका पूर्ण आदर्श रासलीलामें प्रकट हुआ था। इसलिये श्रीकृष्णचन्द्रजी यदि रासलीला न करते, तो पूर्णावतार नहीं कहलाते। अब श्रीकृष्णकी चरित्रचर्चा करते हुए इन तीनों आदर्शोंको पृथक् पृथक् वर्णन करेंगे। रासलीलाआदिका विषय महाभारतमें नहीं मिलता, इसका कारण यह नहीं है कि, यह सब मिथ्या है; परन्तु इसका कारण यह है कि, पुराण जब भावप्रधान ग्रन्थ हैं, तो श्रीकृष्णचन्द्रके महान् चरित्रका वर्णन किसी पुराणमें किसी भावका और किसी पुराणमें किसी भावका किया गया है। महाभारत कर्मप्रधान ग्रन्थ होनेसे श्रीकृष्णजीके कर्म-जीवनका इतिहास महाभारतमें है और भागवत उपासनाप्रधान ग्रन्थ होनेसे कर्मजीवनको गौण रखकर श्रीकृष्णजीके उपासना-मय भावका वर्णन भागवतमें किया गया है। यह बात श्रीमद्भागवतमें लिखी भी है कि, वेदव्यासके चित्तमें महाभारतआदि कर्मप्रधान ग्रन्थोंके लिखनेपर भी जब यथार्थ आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति नहीं हुई, तब उन्होंने भक्तिपूर्ण भागवतकी रचना करके

शान्ति और आनन्द प्राप्त किया था, क्योंकि उपासना ही यथार्थ आनन्दप्राप्तिका हेतु है। इसलिये यह सिद्धान्त सत्य है कि, महाभारतमें उपासनाप्रधान रासलीला या श्रीकृष्णकी बाललीलाके वर्णन होनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। यही कारण है कि, महाभारतमें भागवतकी कथायें नहीं मिलती हैं, इसके सिवाय दूसरी कल्पना मिथ्या कल्पना है। अब रासलीलाके त्रिविधभाव वर्णन करके उपासनाकाण्डकी चरितार्थता की जाती है।

रासलीला कामकी लीला नहीं है परन्तु भक्तिकी लीला है। इसका आधिभौतिक भाव जो वृन्दावनमें प्रकट हुआ था, उसको आदिसे अन्ततक विचारपूर्वक देखनेसे ठीक सिद्धान्त होगा कि, रासलीलामें भक्त गोपियोंकी भक्तिमय जीवनकी लीला बतायीगयी है। गोपियाँ गोपोंकी सामान्य स्त्रियाँ नहीं थीं; परन्तु पुराणके पढ़नेसे प्रमाण मिलता है कि, गोपियोंमें बहुतसी देवियाँ थीं व बहुतसी श्रुतियाँ थीं। उनलोगोंने भगवान्‌की वंशीध्वनिको सुनकर, संसारसे वैराग्यवती होकर, अनन्त कष्टोंको उठाती हुईं, अन्तमें पराभक्ति प्राप्तकरके, किसप्रकार सर्वत्र विराजमान आनन्दकन्द सच्चिदानन्दकी मधुर मूर्त्ति देखी थी, इसीका वर्णन रासलीलासे किया गया है। यथा :—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनम् ,
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः, ।
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

कामको बढ़ानेवाले श्रीकृष्णके वंशीगानको सुनकर व्रजकी स्त्रियाँ आकृष्ट होती हुईं परस्पर छिप कर जहाँ श्रीकृष्णजी गान करते थे, वहाँ चली गईं। इस श्लोकसे पहलेके श्लोकोंमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि:—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

भगवान्‌ने योगमायाको आश्रय करके रमण करनेकी इच्छा की। इस श्लोकमें श्रीकृष्णचन्द्रजीका योगमायाके आश्रयसे रमण करना लिखा है और आगे जाकर, आत्माराम कृष्णचन्द्रजीने रमण किया, साक्षात् मन्मथमन्मथ श्रीकृष्णजीने दर्शन दिया, योगेश्वर श्रीकृष्णजीने बहुत रूप धारण किये, "आत्मन्यवरुद्धसौरतः" अर्थात् अपनेमें काम भावको जिन्होंने दबाकर लय कर दिया है, इसप्रकार निरुद्धवीर्य परमात्माने रमण किया, आदि श्रीकृष्णकेलिये समस्त रासलीलाकेबीचमें जितने जितने विशेषण दिये गये हैं, उनमें यह सिद्धान्त होता है कि, श्रीकृष्ण परमात्मा थे और उनके प्रति कामभावकी कल्पना नहीं होसकती है। इसप्रकार इच्छाकर श्रीकृष्णजीने पूर्णिमाकी रात्रिमें वंशीवादन किया, जिसकेलिये भागवतमें लखा है कि:—

"जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्" ।

स्त्रियोंका मनोमुग्धकर कल नाद किया। इसको विष्णुपुराणमें ऐसा लिखा है कि, श्रीकृष्णजीने मधुर कल गीत गाया था। इस "कल" पदसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रीकृष्णकी वंशीसे "क्लीं" अर्थात् कामबीजका गान निकला था "क्लीं" कामबीज इसलिये है कि, इसमें सकल कामनाकी परिसमाप्ति है। भगवान् रसरूप हैं, उन्हींका रस प्रकृतिकेद्वारा व्याप्त होकर संसारमें कहीं प्रेमरूपसे, कहीं कामरूपसे कहीं स्नेहरूपसे, कहीं वात्सल्यरूपसे, कहीं श्रद्धारूपसे, कहीं भक्तिआदिरूपसे व्याप्त है। अद्वैत एक ब्रह्मरसको, काम प्रेम स्नेह श्रद्धाआदि बहुत रस बनादेना और जीवको उन रसोंकेद्वारा संसारमें बाँध डालना, मायाका कार्य है। जबतक मनुष्य संसारमें फँसा रहता है, तबतक पुत्र, कन्या, स्त्री, पिता, माता, आदिकोंके भिन्न भिन्न रसमें चित्तको लगाकर, उसमें आनन्दबोध करता है, परन्तु जिस समय विचार और भगवत्कृपाकेद्वारा जीवको यह ज्ञान होजाता है कि, यह पृथक् पृथक् रसकी कल्पना मायाकी है, सत्य नहीं है, वास्तवमें सभी रसके मूलमें भगवान्का एक ही रस है; उस समय उसको पिता माता स्त्री पुत्रआदि समस्त द्वैत जगत्के प्रेमके मूलमें अद्वितीय भगवान्के एक ही प्रेमरसका आस्वादन होने लगता है और तभी वह साधक पिता पुत्र स्त्रीआदि समस्त द्वैत रसको छोड़कर भगवान्के एक ही रसमें मुग्ध होता हुआ भगवान्का भक्त बनजाता है। उसकेलिये उस समय उसी "क्लीं"में सकल रसोंकी परिसमाप्ति होती है अर्थात् उसी कामबीजमें सकल कामनाका लय होता है। यही "क्लीं" रूपी कामबीजका अर्थ है। श्रीकृष्णकी वंशीसे यही कामबीजका नाद निकला था, जिसको सुनते ही समस्त गोपियोंने संसारके सब प्रेमको भूल कर, वैराग्यवती हो, भगवान्के चरणकमलकी शरण ली थी। वंशीके नादमें यह अपूर्वता है कि, उसकी मधुरता कई स्वरोंके मिलनेसे होती है। वंशीमें कई छिद्र रहते हैं; जिनसे भिन्न भिन्न शब्द निकलते हैं, परन्तु उन सबोंके मिलनेसे ही एक मधुर शब्द निकलता है अर्थात् वंशीनादकी मधुरता कई रसोंके मेलका फल है। पहले ही कहागया है कि, मनुष्यको वैराग्य तभी होता है जब कि स्नेह, प्रेम, कामादि रसोंमें एक ही भगवान्का आनन्दरस दीखे, और तभी वह संसारको छोड़कर भगवान्की शरण लेता है। इसलिये जब श्रीकृष्णचन्द्रजीने वंशीसे सब रसोंके मेलसे "क्लीं" नाद निकाला था, तो गोपियोंको वैराग्य होना, और संसार छोड़कर उनके चरणकमलकी शरण लेना, भक्तिका ही भाव था। गोपियोंमें इसप्रकार वैराग्य और भक्ति इसलिये पूर्ण होगयी थी कि, उन्होंने श्रीकृष्णको परमात्मा जानकर कात्यायनीपूजा करके देवीको प्रसन्नकर, पहले ही परमात्माकी कृपापात्र बननेकी योग्य बन गयी थीं और भक्तिकी पूर्णता होनेसे आनन्दरूप भगवान्को सर्वत्र देखनेके और शरीर, मन प्राण, तथा आत्माकेद्वारा उस आनन्दके भोगनेकी योग्या बनगयी थीं। इसलिये श्रीभगवान्ने "क्लीं" नादकेद्वारा उन्हें बुलाया और उनलोगोंकी इच्छा पूर्ण की। पूर्वश्लोकमें लिखा गया है कि, वह भगवान्का गान कामवर्द्धन अर्थात् कामको बढानेवाला था। जब "क्लीं" कामबीज

है तब "क्लीं" का नाद कामको बढ़ानेवाला अवश्य होगा, परन्तु वह काम वसा ही है, जैसा कि पहले कहागया है; अर्थात् जिसमें सकल कामना लय होजाय। यह नाद विषयकामना बढ़ानेवाला नहीं है, परमात्माके आनन्दमें मग्न होनेकी कामना बढ़ानेवाला है। यही अनङ्गवर्द्धनका अर्थ है। उस श्लोकमें :—

अन्योऽन्यमलक्षितोद्यमाः।

गोपियाँ एक दूसरीको छिपाकर गुप्तरूपसे श्रीभगवान्‌केपास चलीगयीं, यह जो लिखागया है, इससे उनके पूर्ण वैराग्यका भाव सूचित होता है, क्योंकि मुमुक्षु जब संसारसे वैराग्यको प्राप्तकरके, आनन्दरूप भगवान्‌की खोजमें घरसे निकलता है, तब गुप्तरूपसे ही निकलता है, संवादपत्रमें नोटिस देकर नहीं निकलता है। इस-प्रकार गुप्तरूपसे गोपियाँ जब संसारको छोड़कर चलीं, उससमय उन्होंने किस किस अवस्थामें संसारको छोड़ा था, सो भागवतमें स्पष्ट कहागया है। यथा :—

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्याऽपरा ययुः॥
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून्पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन्काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः॥
ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दाऽपहृतात्मानो न न्यवर्त्तन्त मोहिताः॥

कोई गोपी दुग्ध दुहरही थी, दुग्धके पात्रको छोड़कर भागी। कोई दूधको गरम कर रही थी, दुग्ध गरम न होते होतेही भागी। कोई गेहूँ भून रही थी, वह उसको चुल्हेपरसे विना उतारे ही भागी। कोई अन्नको परोस रही थी, कोई शिशुको दूध पिला रही थी, कोई पतिकी सेवा कर रही थी, कोई भोजन कर रही थी, कोई लीप रही थी, कोई बर्त्तन मलरही थी, कोई आँखमें अञ्जन लगारही थी, उसी अवस्थामें सबको छोड़कर कर भागीं। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रकेपास जानेकी शीघ्रतासे बहुतोंको बस्त्र अलङ्कार पहननेमें इधर उधर होगये। पति भ्राता बन्धुआदिके मना करनेपर भी भगवान्‌केप्रति एकतानमना गोपियाँ घरको छोड़कर चली गयीं। इन सब वर्णनोंसे यह सिद्धान्त प्रकट होता है कि, जिससमय मुमुक्षुके चित्तमें तीव्र वैराग्य होता है, उस समय वह संसारके सब कार्योंको अधूरा ही छोड़कर चला जाता है। वेदने आज्ञा की है किः—

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।

वैराग्य होते ही संसारका त्याग करना चाहिये। वासना अनादि हैं, इसलिये कर्म कभी समाप्त नहीं होता। कोई मनुष्य चाहे कि, मैं संसारका सब काम पूर्ण

करके तब संन्यास लूँगा, तो वह कभी भी संन्यासी नहीं होसकता है, क्योंकि संसारका काम कभी भी पूरा होता ही नहीं, कर्मपर कर्म आजाता है, नवीन कर्म नवीन वासनासे उत्पन्न होता है, यही मायाकी लीला है। इसलिये मूल व मुख्य कर्त्तव्यको लक्ष्य करके गौण कर्त्तव्यको छोड़ना पड़ता है। इसीलिये भक्त गोपियाँ विषयरूप कार्यको अधूरा ही छोड़कर चली गयीं। अन्तके श्लोकमें जो लिखा है कि "सबके मना करनेपर भी चलीगयीं" यह गोपियोंके चित्तमें विषयोंकेप्रति मोह कुछ भी नहीं था, इसी भावको सूचित करता है क्योंकि मोहग्रस्त विषयी लोग वैराग्यवान् साधकको संसार छोड़ते समय मना तो करते हैं, परन्तु मुमुक्षु उस मना करनेको नहीं सुनता। इसप्रकार जब गोपियाँ श्रीभगवान्के पास आपहुँची, तब श्रीभगवान् आज्ञा करने लगे किः—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्याऽनामयं कच्चिद्ब्रूताऽऽगमनकारणम्॥
रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥
मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृध्वं बन्धुसाध्वसम्॥
तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन्सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान्पाययत दुह्यत॥
अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥
भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनाश्च कल्याण्यः! प्रजानाश्चाऽनुपोषणम्॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥
अस्वर्ग्यमयशस्यञ्च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितश्च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियः॥
श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्त्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥

उनको आती हुई देखकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने उनका स्वागत करके व्रजका कुशल और आनेकाकारण पूछा और साथही साथ कहा कि, रात्रि घोर है, इसमें बड़े बड़े हिंस्र जन्तु विचरते हैं, इसलिये युवती स्त्रियोंको बाहर नहीं रहना चाहिये। माता पिता पतिआदि घरमें सबलोग चिन्ता करते होंगे, इसलिये तुम

लोगोंको शीघ्र घरमें जाकर पति पुत्रादिकी सेवा करनी चाहिये। अथवा यदि प्रेमसे आकृष्ट होकर आगयीं हों, क्योंकि संसारकेजीव मेरे (परमात्मा) में प्रेम रखते ही हैं, तथापि तुमको लौट जाना चाहिये। बाहर रहनेसे घरके लोगोंकी चिन्ता और हिंस्र जन्तुओंका भयरूपी केवल दृष्टभय ही नहीं है, परन्तु इसमें अदृष्टभय अर्थात् परलोकका भय भी है क्योंकि पतिकी सेवा करना ही स्त्रीका परम धर्म है। पति दुःशील, दुर्भाग्य, वृद्ध, जड़, रोगी अथवा गरीब हो, परलोकमें सुख चाहनेवाली पतिव्रत स्त्रीको कभी पतिका त्याग नहीं करना चाहिये। यही सनातनधर्म है। कुलस्त्रियोंकेलिये उपपतिकी सेवा करना अत्यन्त निन्दनीय है, इससे इहलोकमें अकीर्त्ति और परलोकमें नरक होता है। श्रवण दर्शन ध्यान और कीर्त्तनसे मेरे (परमात्माके) प्रति जितना भाव रहता है, पास आनेसे उतना नहीं रहता, इसलिये तुमको घर लौट जाना चाहिये। यह बात सभी लोग जानते हैं कि, संसारको छोड़ते ही परमवैराग्यकी प्राप्ति और मुक्ति नहीं होती। धर्मके मार्गमें बहुतप्रकारकी बाधायें होती हैं। मायारूपी रात्रिमें हिंस्र जन्तुरूपी काम, क्रोध, लोभआदि रिपु साधुओंको बहुत सताया करते हैं। "मैंने विना समझे संसारको क्यों छोड़ दिया, घरमें पिता माता रोते होंगे, स्त्री दुःखिनी होगयी होगी, पुत्र मेरा अनाथ होगया, मेरा चित्त घबड़ाता है, फिर लौटकर जाऊँ, या क्या करूँ", इत्यादि रूपसे मायाकी मोहिनी शक्ति महात्माके वैराग्यको भ्रष्ट करके पुनः उन्हें संसारमें डालना चाहती है। जो महात्मा इन सब बाधाओंको काटकरके धर्ममार्गमें अग्रसर होसकते हैं, उन्हींको अन्तमें परमानन्दमय ब्रह्मपद मिलता है। जो बाधासे डरजाता है या मायाकी मोहिनी शक्तिमें फँस जाता है, वह पुनः संसारके बन्धनमें आजाता है। गोपियोंकेप्रति भगवान्का जो कुछ कहना था, वह सब इहलोक परलोकका डर दिखाकर उनकी परीक्षा करनेकेलिये ही था। इसीलिये भगवान्ने उन्हें शेर सिंहआदि जन्तुओंका डर दिखाया, "घरमें बालबच्चे रोरहे हैं, तुम्हें उन्हें सम्हालना चाहिये" इसप्रकारसे उन्हें मुग्ध करनेका यत्न किया, पश्चात् भगवान्ने उनको पतिव्रता स्त्रीका धर्म बताकर परलाकके भयसे डराया, जिससे वे सब अपना धर्म समझ करके घर लौट जायँ और अन्तमें दो श्लोकोंमें परीक्षाकी पराकाष्ठा हुई; अर्थात् गोपियोंके चित्तमें जो श्रीकृष्णचन्द्रकेप्रति परमात्मज्ञान था, उस ज्ञानको भी भुलानेकेलिये "श्रीकृष्ण एक सामान्य मनुष्य है, जिसकेसाथ प्रेम करना उपपतिकेसाथ प्रेम करनेके तुल्य है, इसलिये ऐसा करनेसे तुमको अपयश और नरक होगा" यह भी भगवान्ने कह दिया तथा गोपियोंको भक्तिके लक्षण श्रवण कीर्त्तन स्मरणादिमें सन्तुष्ट होनेका ही उपदेश करके सान्निध्यप्राप्ति अर्थात् पास आनारूप उपासनाके जो पराभक्ति और परवैराग्यरूप लक्ष्य है, उनसे निवृत्त करनेकेलिये यत्न किया। ठीक इसीप्रकारकी एक लीला श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके २३ तेईसवें अध्यायमें वर्णन कीगयी है। जिसका वृत्तान्त यह है कि, किसीसमय गोपालबालकोंने क्षुधार्त्त होकर कृष्णके पाससे भोजन माँगा, जिससे कृष्णजीने उनलोगोंको पास रहनेवाले ब्राह्मणोंके घर भिक्षा माँगनेको कहा। उन बालकोंने जब जाकर ब्राह्मणोंके पाससे भिक्षा माँगी, तब उन्होंने

भिक्षा देनेको अस्वीकार कर दिया। पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपना नाम लेकर, ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंकेपास जाकर, भिक्षा माँगनेको कहा। बालकोंके वहाँ जाकर माँगते ही, वे सब स्त्रियाँ श्रीकृष्णचन्द्रका नाम सुनते ही, जिसप्रकार नदियाँ समुद्रमें आकर मिलती हैं; उसीप्रकार पति भ्राता पित्रादिकोंके मना करनेपर भी, भगवान्केपास बहुतसे अन्नोंको लेकर, मिलनेको आयीं और भगवान्को आत्मसमर्पण किया। भगवान्ने भी गोपियोंकी तरह उनका स्वागत करके, उन्हें घर जानेको कह दिया, जिससे वे सब ब्राह्मणस्त्रियाँ दुःखिनी होकर, भगवान्केपास रहनेकेलिये बारबार करुण स्वरसे प्रार्थना करने लगीं: परन्तु भगवान्ने जैसा गोपियोंको कहा था, वैसा ही इनलोगोंको भी कहा। यथा:—

पतयो नाऽभ्यसूयेरन्पितृभ्रातृसुतादयः।
लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥
न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ ॥

भगवान्ने उन स्त्रियोंको कहा कि, तुम्हारे इसप्रकार घर छोड़नेसे पिता, भ्राता पुत्र, देवताआदि सब रुष्ट होजायँगे, इसलिये तुम्हें घर लौट जाना चाहिये, मेरेपास रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, मुझमें चित्तको रखनेसे ही शीघ्र मुझे प्राप्त कर लोगी। इस बातको सुनकर समस्त स्त्रियाँ घर चलीगयीं। अब गोपियोंका भाव और इन स्त्रियोंका भाव, दोनों तुलना करने योग्य हैं। ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ थोड़ी ही परीक्षामें फेल होकर लौट गयीं, जिससे सिद्धान्त हुआ कि, उनमें आत्मसमर्पणबुद्धि कम थी, इसलिये भगवान् उन्हें प्राप्त न हुए। परन्तु गोपियाँ भगवान्केद्वारा इहलोक परलोकके डरसे डरायीजानेपर भी और बहुतप्रकारकी परीक्षाओंसे परीक्षित होनेपर भी लौटकर नहीं गयीं क्योंकि उनका अधिकार ब्राह्मणस्त्रियोंसे अधिक था। वे पूर्वजन्मकी देवियाँ थीं, इसलिये उनमें आत्मसमर्पणबुद्धि पूरी थी, अतः भगवान्की कृपा भक्तपर अवश्य होनी ही चाहिये। भगवान्के उसप्रकार उपदेश देनेपर गोपियाँ अत्यन्त दुःखिनी होकर रोरोकर कहने लगीं कि:—

मैवं विभोऽर्हसि भवान्गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयाँस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह! मा त्यजाऽस्मान्,
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग!,
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे,
प्रेष्ठो भवाँस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् !,
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्त्तिदैः किम् ।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर ! मा स्म छिन्द्या,
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ! ॥

हे व्यापक परमात्मन् ! आपको हमलोगोंकेप्रति इसप्रकार निष्ठुर बात नहीं बोलनी चाहिये, क्योंकि हमलोगोंने समस्त संसारको छोड़कर आपके चरणकमलोंकी शरण ली है, इसलिये जिसप्रकार आदिपुरुष भगवान् मुमुक्षुपर कृपाकरके उसका त्याग नहीं करते; उसीप्रकार हमलोगोंको भी आपको त्याग नहीं करना चाहिये, किन्तु हमलोगोंपर कृपा करनी चाहिये । आपने पति पुत्रोंकी सेवा करनारूप स्त्रियोंका धर्म बताया, वह उपदेशोंके आधाररूप हे परमात्मन् ! आपमें ही रहा करे, क्योंकि आप समस्त प्राणियोंके आत्मा और बन्धु हो ! इसलिये आप प्रियतम हो । हे आत्मस्वरूप ! नित्य प्रिय ! आपकेप्रति ही ज्ञानी लोग प्रेम करते हैं । संसारके पति पुत्रादि अनित्य होनेसे दुःखद हैं, इसलिये हे परमेश्वर ! आप प्रसन्न होजाओ । चरणकमलमें बँधी आशालताको छिन्न न करो । जिससमय वैराग्यवान् पुरुष संसारसे निकलकर चारोंओरसे मायाकी मोहिनी शक्तिकेद्वारा पीडित होनेसे घबड़ा जाता है और "कैसे कामादि रिपुओंका दमन किया जाय व संसारकी मायाको छोड़ा जाय", इत्यादि बहुतप्रकारकी चिन्तासे चित्तको डावाँडोल करता है, समझना चाहिये कि, वही परमात्माकी तरफसे परीक्षाका समय है । यदि उसका वैराग्य कच्चा हो, तो जिस-प्रकारसे श्रीकृष्णके प्रलोभनवाक्योंसे ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ घर लौट गयीं, उसीप्रकार वह साधु भी साधुताको छोड़कर विषयी बन जाता है । परन्तु यदि उसका प्रारब्ध अच्छा, वैराग्य पक्का और समर्पणबुद्धि पूरी हो, तो उसप्रकारकी परमात्माकी परीक्षामें फेल नहीं होता, किन्तु श्रीभगवान्केपास रोते रोते प्रार्थना करके अपनी चित्तवृत्तिको उन्नत करनेकेलिये श्रीभगवान्में ही आत्मसमर्पण करदेता है, जिससे उसपर श्रीभगवान्की दया होती है । गोपियोंकी अवस्था ठीक इसीप्रकारकी थी । जिस समय श्रीभगवान्ने नानाप्रकारका इहलोक परलोकका भय दिखाकर उन्हें संसारआश्रममें लौट जानेको कहा, तो गोपियाँ श्रीभगवान्केप्रति समर्पणबुद्धि पूर्ण होनेसे लौट नहीं गयीं परन्तु रोरोकर उन्होंने भक्त साधुकीतरह कृपा प्रार्थना की, जैसाकि उक्त श्लोकों-केद्वारा प्रकट किया गया है । उक्त श्लोकोंमें गोपियोंने श्रीकृष्णचन्द्रजीको व्यापक विभु परमात्माआदि कहकर पुकारा है और दृष्टान्त यह दिया है कि, जिसप्रकार श्रीभगवान् मुमुक्षुकेप्रति कृपा करते हैं, उसीप्रकार हमारे (गोपियोंके) प्रति कृपा होनी चाहिये । इससे श्रीकृष्णमें उनका परमात्माका ज्ञान और उनका अपना उन्नत भाव प्रकट होता है । दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें गोपियोंने उपनिषद् और गीताके सिद्धान्तानुसार धर्माऽधर्मका तत्त्व निर्णय करके यह बात बतादी है कि, पति पुत्रादिके त्याग देनेमें उनको कोई पाप नहीं है, क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है कि :—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति, न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति, न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति, न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति, तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरो यदयमात्मा, आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

पतिकेलिये पति प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्माकेलिये पति प्रिय होता है। स्त्रीकेलिये स्त्री प्रिया नहीं होती, किन्तु आत्माकेलिये प्रिया होती है। पुत्रकेलिये पुत्र प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्माकेलिये पुत्र प्रिय होता है। जीवोंकेलिये जीव प्रिय नहीं होते, परन्तु आत्माकेलिये जीव प्रिय होते हैं। संसारकेलिये संसार प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्माकेलिये संसार प्रिय होता है। इसलिये सबका मूल होनेसे पति, पुत्र, धन, संसार सबसे आत्मा ही प्रिय है। आत्मा प्रियतम है; इसलिये उसी आत्माको देखना चाहिये और उसी आत्माके विषयमें श्रवण मनन और निदिध्यासन करना चाहिये, क्योंकि आत्माको जाननेसे ही मुक्ति होती है। दुःखमय संसारसे उद्धार होनेकेलियेऔर कोई उपाय नहीं है। अतः आत्मा ही जब प्रियतम है, और संसारकी सब प्रीति ही आत्माकेप्रति प्रीतिका कार्य है, तो सकल प्राणियोंमें व्यापक आत्माकेप्रति प्रेम करनेसे ही सबकेप्रति प्रेम होजायगा, क्योंकि पति, पुत्र, पिता, सब आत्माके अंश ही हैं। इसलिये जिसप्रकार वृक्षके मूलमें जल देनेसे शाखा और पत्तियोंमें जल देनेकी आवश्यकता नहीं होती; उसीप्रकार संसारवृक्षके मूल नित्य भगवान्‌में प्रेम करनेसे अनित्य पति पुत्रादिमें प्रेम करनेकी आवश्यकता नहीं होती है। श्रीकृष्णचन्द्रजी वही सर्वव्यापक परमात्मा हैं, साधारण उपपति नहीं हैं, समस्त पतियोंके परम पति और समस्त जीवोंके अन्तरात्मास्वरूप हैं, इसलिये गोपियोंका प्रेम और आत्मसमर्पण उन्हीं परमात्मामें होगया, तो गृहस्थ स्त्रीके पति पुत्रादिकेप्रति कर्त्तव्य, गोपियोंकेलिये अवशिष्ट नहीं रहसकते, क्योंकि श्रीगीताजीमें श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है कि:—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहन्त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

साधारण गार्हस्थ्यआदि सब धर्मोंको त्यागकरके अद्वितीय (एकमात्र) मेरी शरण लो, साधारण धर्मके त्याग करनेसे यदि कुछ पाप होगा, तो मैं तुमको उन सब पापोंसे मुक्त करूँगा। गोपियोंने परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्रजीकेपास इसी सत्य सिद्धान्तको प्रकट किया था, जिससे उनकी परीक्षामें गोपियाँ पूर्ण उत्तीर्ण होगयींथीं और इसलिये फलस्वरूप श्रीभगवान्‌का प्रेम गोपियोंने प्राप्त किया था। यथा—भागवतमें लिखा है कि:—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥

योगेश्वरोंके भी ईश्वर आत्माराम श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने कान्तभावसे प्रेम करनेवाली गोपियोंके इसप्रकारके समर्पणबुद्धियुक्त वाक्य सुनकर अपने स्वरूपमें स्थित होते हुए गोपियोंको सकलप्रकारसे तृप्त किया। इस श्लोकमें योगेश्वर और आत्माराम ये दो विशेषण श्रीकृष्णकी निर्लिप्तता और स्वरूपमें स्थितिकी सूचना करते हैं। इसीलिये श्रीकृष्णसे प्रेम प्राप्त करके गोपियाँ जिससमय अपनेको मानिनी समझने लगगयीं थीं, तो उससमय श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी इनके मान व अहङ्कार को तोड़नेकेलिये वहीं अन्तर्धान हो गये थे। यथा-भागवतमें लिखा है कि:—

तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानञ्च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥

गोपियोंके सौभाग्यके मद और मानको देखकर, उसको नष्ट करनेकेलिये श्रीभगवान् वहीं अन्तर्धान होगये थे। यद्यपि गोपियाँ देवियाँ थीं, तथापि मायामय शरीर धारण करनेसे, उसका प्रभाव पड़ ही जाता है, इसलिये गोपियोंमें इसप्रकार अहङ्कार होगया था। परन्तु भक्तवत्सल श्रीभगवान् भक्तकी उन्नतिमें बाधारूप अहङ्कार या अभिमानको अवश्य नष्ट करके भक्तिमार्गको निष्कण्टक करदेते हैं, इसलिये गोपियोंकेप्रति कृपा करके उनके मानको तोड़नेकेलिये उन्होंने ऐसा किया था। श्रीभगवान्‌के अन्तर्धान होजानेसे गोपियोंके मानका मद टूट गया, वे बहुत अनुताप करने लगीं। यथा—भागवतमें लिखा है कि:—

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यँस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥

श्रीभगवान्‌के सहसा छिप जानेसे, गजराजके अदर्शनसे करिणियोंकेसदृश, श्रीकृष्णचन्द्रजीके अदर्शनसे गोपियाँ अनुताप करने लगीं। वे चारोंओर घूम घूमकर पागलकीतरह समस्त वृक्षादिकोंसे "श्रीभगवान् कहाँ गये हैं" ऐसा पूछने लगीं। यथा—भागवत में:—

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता, विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥

उच्च स्वरसे रोती हुई गोपियाँ मिलकर उन्मत्तके सदृश वन वनमें भगवान्को ढूँढ़ने लगीं और आकाशके तुल्य सकल भूतोंके भीतर बाहर विराजमान भगवान्के-लिये वृक्षोंको पूछने लगीं। कहीं अश्वत्थको, कहीं कुरबकको, कहीं अशोक पुन्नाग और चम्पकको, कहीं गोविन्द-प्रिया तुलसीको, कहीं मल्लिका और मालतीको, इस-प्रकारसे रो रोकर उनसे "श्रीकृष्ण कहां गये" ऐसा पूछने लगीं। पृथ्वीको दूर्वादलसे पूर्ण देखकर गोपियोंने समझा कि, यह दूर्वादल नहीं है, परन्तु श्रीकृष्णके चरणस्पर्शसे पृथिवीका रोमाञ्च होरहा है इसलिये, श्रीकृष्ण कहाँ गये हैं, यह जाननेकेलिये पृथिवी-को सम्बोधन करके कहती हैं कि;—

किन्ते कृतं क्षिति! तपो बत केशवाऽङ्घ्रि स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥

हे पृथिवी! न जाने तुमने क्या तप किया था, जिससे श्रीभगवान् केशवके चरणस्पर्शके आनन्दसे तुम्हारे शरीरमें रोमाञ्च होरहा है? क्या अभी श्रीकृष्ण चरणकमलसे स्पर्श करते हुए गये हैं, इसलिये रोमाञ्च हो रहा है? या पहले वामन अवतारने चरणसे तुम्हें स्पर्श किया था, इसलिये रोमाञ्च होरहा है? इस श्लोकके द्वारा यह भाव प्रकाश किया गया है कि, गोपियाँ श्रीकृष्णचन्द्रको युग युगमें अवतार धारण करनेवाले श्रीभगवान् समझती थीं। गोपियोंकी यह अवस्था भक्तके अनुतापकी अवस्था है। शास्त्रोंमें इस अवस्थाकी बहुत ही महिमा वर्णन की गयी है, क्योंकि इसप्रकारके अनुतापके अश्रुद्वारा ही भक्तके चित्तका समस्त दोष धुलकर चित्त निर्मल होजाता है, जिससे भक्तके हृदयरूप आसनपर भगवान् आसीन हो सकते हैं। इसीलिये योगदर्शनमें कहा है कि:—

तीव्रसंवेगानामासन्नतमः।

श्रीभगवान्केप्रति भक्तके चित्तका तीव्र वेग ही श्रीभगवान्का दर्शन शीघ्र करासकता है। इसप्रकारसे गोपियाँ चारोंओर अन्वेषण करतीं करतीं श्रीकृष्णके भावमें तन्मय होगयीं, जिससे उन्होंने अपनेको ही श्रीकृष्ण समझकर श्रीभगवान्की समस्त बाललीलाओंको करना प्रारम्भ कर दिया। यथा—भागवतमें:—

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥
कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम्।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाऽहन् शकटायतीम्॥
मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम्॥
आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहाऽपरां नृप!।
दुष्टाऽहे! गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक्॥

श्रीकृष्णके अन्वेषणमें कातर और उन्मत्तकी नाँईं चारोंओर कहनेवाली गोपियाँ, अन्तमें तन्मय होकर भूलगयीं कि, वे स्त्रियाँ हैं एवं अपनेको श्रीकृष्णचन्द्र समझकर, उनकी समस्त लीलाओंका अनुकरण करने लग गयीं। कोई गोपी अपनेको पूतना समझने लगी और कोई अपनेको कृष्ण समझकर उसका स्तनपान करने लगी। एक गोपी शकटासुर बनगयी और दूसरी गोपी श्रीकृष्ण बनकर पाँवसे शकटपर धक्का मारकर रोने लगी। किसीने अपने हाथसे वस्त्रको उठाकर मानों गोवर्द्धन धारण किया और इसी भावसे कहने लगी कि, व्रजवासियो! तुम लोगोंको इन्द्रकी वर्षाका कोई डर नहीं है, देखो! मैंने गोवर्द्धन पर्वत उठाकर सबकी रक्षाकी है। एक गोपीने दूसरीके सिरपर चढ़कर पाँवसे दबाते हुए कहाकि अरे, दुष्ट कालिय नाग! तू दूर होजा, क्योंकि मैं दुष्टोंको दण्डदेनेकेलिये ही संसारमें आया हूँ। श्रीभगवान्के भावमें तन्मय गोपियाँ बहुतप्रकारकी लीलायें करने लगीं। इसप्रकार तन्मयभाव भक्तको ध्यानके अन्तमें हुआ करता है। ध्यानकी पहली दशामें ध्याता, अर्थात् ध्यान करनेवाला, ध्येय अर्थात् इष्टदेव जिनका ध्यान किया जाता है और ध्यान, ये तीनों पृथक् पृथक् रहते हैं। परन्तु धीरे धीरे ध्यानमें जब चित्त जम जाता है, तो अन्तमें तीनों एक होजाते हैं; अर्थात् ध्याता भक्त, ध्येय भगवान्के भावको प्राप्त करता है, उसीका नाम तन्मयभाव है। यह भाव समाधिकी पहली दशामें हुआ करता है, जिससे भक्त श्रीभगवान्में तन्मय होकर अपनेको भगवान् ही समझने लगते हैं। इसीसमय भक्तको भगवान्का दर्शन मिलता है। गोपियोंकी दशा ठीक इसी-प्रकारकी हुई थी। जबतक गोपियाँ चारोंओर रोती हुई भगवान्को एकाग्र चित्तसे ढूँढ़ती थीं, तबतक गोपियोंके ध्यानकी दशा थी, क्योंकि उससमय ध्यान करने-वाली गोपियाँ पृथक् और भगवान् पृथक् थे; परन्तु उसकी उन्नत दशामें जब गोपियाँ तन्मय होगयीं, तो वह पृथक्भाव न रहा। उससमय गोपियाँ अपनेको भगवान् ही समझकर, उनकी लीलाओंको करने लगगयीं। यह बात अभी कही गयी है कि, भक्तके तन्मय होजानेसे ही भगवान्का दर्शन मिलता है, इसलिये गोपियोंके इसप्रकारसे तन्मय होते ही उन्हें भगवान्का चरण-चिह्न दीखने लगगया था। यथा–भागवतमें :—

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून्।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः॥

इसप्रकार वृन्दावनके तरु लताओंको पूछती हुई तन्मय गोपियोंको परमात्माका चरण-चिह्न देखनेमें आया। जिससमय भक्तको विशेष ध्यान और तन्मयताकेद्वारा आनन्दमय भगवान्का कुछ आभास सुख प्रतीत होने लगता है, तो वह और भी व्यग्र और एकतानमना होकर भगवान्के दर्शन प्राप्त करनेकेलिये उनकी प्रार्थना और उनका गुण गान करने लगता है, इसलिये गोपियोंने भी वैसा ही किया। यथा भागवतमें:—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणान्येव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः॥

गोपियाँ भगवान्‌में चित्तको रखकर, तदात्मिका होकर, उनका ही गुणगान करती हुई, अपने घरोंको भूलगयीं। यह सब पूर्ण वैराग्यवान् भक्तका भाव है। उसके बाद कृष्णकी चिन्ता करते करते उनके दर्शनकी आकाङ्क्षिणी समस्त गोपियाँ कालिन्दीके तटपर आकर प्रेमकेसाथ उनकी स्तुति करने लगीं। यथाः—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः, श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित! दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥
शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजदर श्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ! ते शुल्कदासिका, वरद! निघ्नतो नेह किं वधः॥

हे प्रिय परमात्मन्! आपके व्रजमें जन्म लेनेसे व्रजकी जय होरही है। यहाँ लक्ष्मी सर्वदा विराजमान होरही हैं। देखिये! आपकी ही प्रेमी गोपियाँ आपके चरण कमलमें प्राणको बाँधकर आपके दर्शनकेलिये प्रार्थना कर रही हैं। शरत्कालके जलाशयमें प्रफुल्ल कमलकेसदृश आपके जो मधुर नेत्र हैं, उनसे आप बिना मूल्यकी अपनी दासियोंकी हत्या करते हैं, क्या यह वध नहीं है? इसप्रकार गोपियाँ भगवान्‌के रूप और गुणोंकी प्रशंसा करती हुई दर्शनकी लालसासे प्रार्थना करने लगीं। शास्त्रमें दोप्रकारकी उपासना बतायीगयी हैं-एक साकार और दूसरी निराकार। जबतक मनुष्योंकी रुचि संसारके रूप देखनेमें है, तबतक निराकार उपासना उनकेलिये सम्भव नहीं होसकती है, क्योंकि जिनका चित्त रूपमें फँसा हुआ है, उनको नीरूप परमात्माकी उपासना बतायीजाय, तो उनका चित्त कभी उसमें एकाग्र नहीं होसकता। इसलिये ही ऋषियोंने संसारके रूपोंसे चित्तको हटाकर, आध्यात्मिक उन्नति करनेकेलिये, नीरूप भगवान्‌की रूपकल्पना करके, साधकोंके चित्तके एकाग्र करनेका उपाय करदिया है। साधक भगवान्‌के ही रूपमें चित्तको लगाकर, संसारके रूपोंकेप्रति इसप्रकारसे लोभ मोहआदि छोड़कर, धीरे धीरे निराकार परमात्माके साधन करनेके अधिकारी बन जायँगे, यही सगुण या साकार उपासनाका लक्ष्य है। भगवान्‌की इसी साकार मूर्तिमें एकाग्र होकर ध्यान लगानेसे ध्यानके परिपाकमें भगवान्‌की साकार मूर्त्तिका दर्शन होता है। इसीलिये गोपियाँ प्रथम अधिकारी मूर्त्तिपूजकके सदृश भगवान्‌की आँखें, भगवान्‌का शरीर, और भगवान्‌के गुणआदिकी प्रशंसा करती हुई, प्रार्थना करने लगीं। परन्तु भगवान्‌का यथार्थ दर्शन, सर्वव्यापक आनन्दमय परमात्माका घट घटमें दर्शन, तभी भक्तको ठीक ठीक होसकता है, जब भक्ति और ज्ञान अभिन्न हो जायँ, पराभक्तिकी दशामें साकार निराकार दोनों स्वरूपका ही ज्ञान हो जाय, सगुणकेसाथ निर्गुणका भी साधन होजाय, इसलिये भगवान्‌की सगुण या साकार मूर्त्तिकी चिन्ता करते करते गोपियाँ झट कह उठीं कि:—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये, सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ॥

हे भगवन् ! आप गोपिकाके नन्दन नहीं हो, परन्तु समस्त जीवोंके अन्तरात्माके देखनेवाले घट घटमें विराजमान निराकार परमात्मा हो। ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे संसारकी रक्षाकेलिये यदुकुलमें उदय हुए हो। अब यहां गोपियोंके चित्तमें भगवान्‌का निर्गुण निराकार सर्वव्यापकभावभी प्रकट होगया, साकार निराकार पूजा पूरी हो गयी, भक्ति और ज्ञान एकाधारमें मिलगये। इसलिये उनकी ऐसी प्रार्थना सुनते ही भगवान्‌ने उन्हें दर्शन दिया। यथाः—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥

पीताम्बर और वनमालाधारी साक्षात् मन्मथ अर्थात् कामदेवको भी मथन करनेवाले भगवान्‌ने मृदु मन्द हास्य करते करते दर्शन दिया।

तं विलोक्याऽऽगतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः ।
उत्तस्थुर्युगपत्सर्वास्तन्वः प्राणमिवाऽऽगतम् ॥

प्रियतम भगवान्‌को आये हुए देखकर, आनन्दसे उत्फुल्लनेत्र होकर, प्राणके आनेसे शरीर जैसा एकदम सब उठ खड़ा होता है, वैसे ही सब एकदम उठ खड़ी हुई। तत्पश्चात् सबने अपने अपने चित्तकेअनुसार भगवान्‌का स्वागत करके, उनको कालिन्दीके तटपर लाकर और अपने उत्तरीय वस्त्रोंका आसन लगाकर उनको बैठाया। गोपियोंने ज्ञानमूलिका भक्तिकेद्वारा भगवान्‌की साकार मूर्त्तिको देख तो लिया, परन्तु पूर्ण आनन्द तभी हो सकता था, जब उनकी मूर्त्ति सर्वत्र गोपियोंको देखनेमें आती, क्योंकि भगवान्‌ने गीताजीमें कहा है किः—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

ज्ञानी महात्मा अनेक जन्मोंतक साधनाकेबाद मुझको प्राप्त होते हैं। उससमय उनको सर्वत्र मेरा सर्वव्यापक वासुदेवरूप ही देखनेमें आता है। इसप्रकारके महात्मा संसारमें दुर्लभ हैं। भक्ति और ज्ञानकी यह पराकाष्ठा है। परमानन्दका यही पूर्ण लाभ है कि, जहां सर्वत्र भगवान्‌का रूप देखनेमें आवे। गोपियोंने भक्तिकेद्वारा भगवान्‌की एकदेशी साकार मूर्त्ति तो देख ली थी, परन्तु सर्वत्र विराजमान भगवान्‌के आनन्दमय रूपको नहीं देखा था, क्योंकि गोपियोंमें भक्ति पूरी होनेपर भी ज्ञानकी पूर्णता नहीं थी। हृदयमें कभी कभी ज्ञानका भाव उदय हुआ करता था। भगवान्‌को भक्त सर्वत्र तभी देख सकते हैं, जब भक्ति और ज्ञान दोनों ही पूर्ण हो जायँ। वह ज्ञान ब्रह्मजिज्ञासाकेद्वारा प्राप्त होता है, क्योंकि गीतामें भगवान्‌ने कहा हैः—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

प्रणिपात, सेवा और प्रश्नकेद्वारा ज्ञान होता है। गोपियोंने प्रणिपात किया था, सेवा भी की थी, केवल प्रश्न करना ही उनको बाकी रहा था, इसलिये गोपियाँ अपनेगुरु भगवान्‌को सामने बिठाकर प्रश्न करनेलगीं कि:—

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयाँश्च भजन्त्यन्य एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥

गोपियोंको ज्ञान भक्ति-मूलक ही होना था, इसलिये उनका प्रश्न भी इसीप्रकारका था। उन्होंने पूछा कि हे भगवन्! बताइये, संसारमें जो कोई कोई मनुष्य प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं, कोई प्रेम न करनेपर भी प्रेम करते हैं और कोई प्रेम करनेपर भी प्रेम नहीं करते है, यह सब क्या बात है? भगवान्‌ने इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर यथाक्रम दिया है कि:—

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नाऽन्यथा॥
भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदश्च सुमध्यमाः॥
भजतोऽपि न वै केचिद्भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥

पहले प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि, जो लोग प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं वे प्रेमके दुकानदार हैं, इसप्रकारके मूलमें स्वार्थ होनेसे धर्म नहीं होगा। दूसरे प्रश्नके उत्तरमें कहा कि, जो लोग प्रेम न करनेपर भी प्रेम करते हैं, जैसा कि माता पिताका पुत्रके प्रति प्रेम, जहां पुत्रके नालायक और अप्रेमी होनेपर भी पिता माताका प्रेम नहीं घटता, इसप्रकारके प्रेममें पूरा धर्म है। तीसरे प्रश्नके उत्तरमें कहा कि, प्रेम न करनेकी तो बात ही क्या है, कोई कोई प्रेम करनेपर भी कुछ नहीं करते। ऐसे मनुष्य संसारमें चारप्रकारके होते हैं। यथा—आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ और गुरुद्रोही। आत्मामें रमण करनेवाले ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्तोंकी दृष्टि तटस्थदशासे हट जानेपर, वे किसीकीओर देखते ही नहीं, इसलिये वे प्रेम करनेपर भी प्रेम नहीं करते। आप्तकाम अर्थात् जो विषयी लोग स्वार्थी हैं, उनका स्वार्थ पूरा होजानेपर वे भी प्रेम नहीं करते। अकृतज्ञ अर्थात् कृतघ्नलोग भी प्रेम करनेपर भी प्रेम नहीं करते। और गुरुद्रोही गुरुसे विशेष कृपा पानेपर भी उनसे प्रेम नहीं करते हैं। गोपियोंके विशेष प्रेम बतानेपर भी भगवान् उनको छोड़कर छिपगये, इसलिये गोपियाँ भगवान्‌को भ्रमसे कृतघ्न समझ सकती हैं, अतः श्रीभगवान्‌ने उनकी अविद्या दूर करनेकेलिये कहा कि:—

नाऽहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्,
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे,
तच्चिन्तयाऽन्यन्निभृतो न वेद ॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितम्,
माऽसूयितुं माऽर्हथ तत्प्रियं प्रियाः ! ॥
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्,
स्वसाधुकृत्यं विबुधाऽऽयुषाऽपि वः ।
या माऽभजन्दुर्ज्जरगेहशृङ्खलाः,
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥

हे गोपीगण ! मैं जो कभी कभी प्रेम करते हुए मनुष्यपर भी अप्रेमीसा प्रतीत होने लगता हूँ, इससे यह न समझना कि, मैं कृतघ्न हूँ । परन्तु मेरा ऐसा करनेका-कारण यह रहता है कि, इसप्रकारसे प्रेमके बीचमें विरह डालनेसे मेरेप्रति मनुष्य-का प्रेम और भी बढ़ जायगा । जैसा कि किसी दरिद्रको धन मिलनेपर वह धन भी नष्ट होजाय, तो उसका सारा चित्त उसी धनके ऊपर लगा रहता है । आप लोगोंने मेरे ऊपर प्रेम करके संसारको, कुटुम्बको और धर्माधर्मको भी छोड़ दिया है, इस-लिये जिससे आप लोगोंका प्रेम पूर्ण होकर सफल होजाय, इसीलिये मैं और प्रेम बढ़ानेकेलिये परोक्षमें रहकर सब कुछ देख रहाथा, अतः मेरे ऊपर दोष देना नहीं चाहिये । आप लोगोंका मेरेप्रति जो पवित्र प्रेम है, जिसकेलिये कठिन संसारबन्धनको भी आप लोगोंने तोड़ दिया है, उसका ऋण मैं चिरकालमें भी शोध नहीं करसकता हूँ । अतः आप अपने साधुभावसे ही मुझे ऋणसे मुक्त करें । इन वचनोंसे दयामय भगवानने जब अपना स्वरूप गोपियोंको समझा दिया, तब भक्त गोपियोंको भगवान्के स्वरूपके विषयमें, जो कुछ भ्रम था, वह सब दूर होकर पूर्णज्ञान प्राप्त होगया । अब ज्ञान और भक्ति पूरी हो गयी । पराभक्तिकी पराकाष्ठा होगयी । इसलिये अब एकदेशी एक श्रीकृष्ण भगवान् न दिखकर चारोंओर हजारों आनन्दमय श्रीकृष्ण परमात्मा दिखने लगगये । इसीका नाम रासलीला है । यथाः—

योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥

योगेश्वर श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने दो गोपियोंके बीचमें एक एक रूप

धारण करके, "सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः" अपनेमें कामको लय करके गोपियोंको आनन्दप्रदान किया। चारोंओर भगवान्‌के हजारों रूप बन गये। ज्ञानका लक्ष्य, पराभक्तिका लक्ष्य और योगका लक्ष्य जो "वासुदेवः सर्वम्" सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन है, सो गोपियोंको होने लगा। यही ब्रह्मज्ञानीका सर्वत्र आत्मदर्शन है। जैसा, श्रीगीताजीमें लिखा है कि:—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि।
ईक्षते समयोगयुक्ताऽऽत्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

योगयुक्त महापुरुष आत्माको सकल भूतोंमें और सकल भूतोंको आत्मामें देखकर ब्रह्मानन्द प्राप्त करते हैं। यही अवस्था उपनिषद्‌में वर्णित है। यथा:—

ब्रह्मैव इदं अमृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्द्ध्वश्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।

आनन्दमय और अमृतमय ब्रह्म सर्वत्र और सकल दिशाओंमें व्याप्त है, समस्त विश्व ब्रह्ममय ही है। यही भाव ज्ञानी और भक्त गोपियोंको भी दिखने लगा। जिधर देखें, उधर ही रसरूप परमात्मा और जिधर देखें उधर ही आनन्दका समुद्र। गोपियाँ-संसारसे वैराग्यवती भक्त गोपियाँ, पूर्वजन्मकी उन्नत गोपियाँ, इसप्रकारसे संसारको छोड़कर भगवान्‌की खोजमें बहुत दुःख पाती हुईं अन्तमें सर्वत्र विराजमान आनन्दमय परमात्माको देखने लगगयीं, उनका जन्म सफल होगया। श्रीकृष्णचन्द्रको परमपति परमात्मा जानकर कान्ताभावसे उनकी शान्तिमयी चरणछाया प्राप्त करनेकेलिये उन्होंने जो कठिन कात्यायनी व्रत प्रारम्भ किया था, वह व्रत आज सफल हुआ। गोपियाँ ब्रह्मरूप श्रीकृष्णचन्द्रके चरण कमलमें अपने जीवनको समर्पण करके और परमानन्दरूप समुद्रमें अपने शरीर, मन, प्राण और जीवात्माको विलीनकरके कृतार्थ हुईं। यही रासलीलाका यथार्थ स्वरूप है जिसको भगवान् वेदव्यासजीने श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें वर्णन किया है। कृष्णचन्द्रजी भगवान्‌के पूर्णावतार थे, इसलिये उनमें सच्चिदानन्दके आनन्दकी पूर्णता थी और इसीलिये उस पूर्णानन्दका आदर्श रासलीलाके रूपमें उन्होंने प्रकट करदिया था। यदि श्रीकृष्णजी पूर्णावतार नहीं होते, तो ऐसा न करते, इसलिये रासलीला उनके पूर्णावतारकी महिमाको ही प्रकट करती है। भारतवर्षमें पाप बढ़ जानेके साथही साथ कईप्रकारकी खराब चालें होगयीहैं, उनमें से रासलीला भी एक है। भगवान् श्रीकृष्णजीका और रासलीलाका यथार्थ स्वरूप न जानकर आज कल श्रीकृष्णजीके नामसे बहुत ही ख़राब ख़राब लीलायें हुआ करती हैं। यह सब अज्ञान व पाप बढ़नेका ही फल है कि, भगवान् व धर्मके नामसे भी पाप होता है। इन बातोंको उठा देना चाहिये और यथार्थ लीलाका प्रचार होना चाहिये।

कराल कलिकालकी विपरीत गति है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी भक्तिमयी मधुर लीलाको कलिकालके मनुष्योंने न समझकर बहुतप्रकारके दोषारोप करना प्रारम्भ करदिया है। इसलिये श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र और गोपियोंके चरित्रोंका वर्णन करके उन सब शङ्काओंका समाधान किया जाता है। रासलीलामें जिसप्रकार कार्य हुए थे, उन सबोंपर विचार करके देखनेसे श्रीकृष्णके स्वरूपका ज्ञान पूर्णतया होसकता है। यह बात ही कही गयी है कि:—

योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥

श्रीकृष्णजीने रासलीला करते समय दो दो गोपियोंके बीच एक एक होकर हजारों मूर्त्तियाँ धारण करली थीं। और जिस रात्रिको रासलीला हुई थी, उस रातको जो गोपियाँ घरको छोड़कर चली आयी थीं, उन गोपियोंकी भी एक एक मूर्त्ति धारण करके उनके पतियोंकेपास भगवान् विद्यमान थे। जैसा भागवतमें लिखा है कि:—

नाऽसूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान्व्रजौकसः॥

भगवान्की मायासे मुग्ध होकर व्रजके गोपोंने अपने आप अपनी अपनी स्त्रियोंको देखा था, जिससे उनको नहीं जान पड़ा कि, उनकी स्त्रियाँ चली गयीहैं। सो इससे सिद्ध होता है कि, उस रात्रिको भगवान्ने हजारों स्त्रियोंका रूप धारण किया था। अब विचार करनेका विषय यह है कि, एक स्थूल शरीर और एकी सूक्ष्म शरीरको हजारों स्थूल शरीर और हजारों सूक्ष्म शरीर बनादेना जब योगशास्त्रका विषय है, तो योगके किस अधिकारमें योगी इसप्रकार बन सकता है? मायावी लोग इन्द्रजाल विद्याकेद्वारा कुछसे कुछ कर दिखाते हैं, व कभी कभी रूप भी बदल लेते हैं। इसकाकारण यह है कि, कुछसे कुछ दिखानेकेलिये इन्द्रजाल या औषधिकेद्वारा अथवा निकृष्ट सिद्धियोंकेद्वारा आँखोंको स्तम्भितकर देते हैं, जिससे कुछसे कुछ देखनेमें आता है और अपने यथार्थ रूपको औररूपसे दिखानेकेलिये उनमें इतनी ही शक्ति होती है कि, एक बार एक ही रूपको बदलकर दिखा सकते हैं, अनेक रूप नहीं धारण करसकते; क्योंकि वे केवल एक स्थूल शरीरको ही बदल सकते हैं, सूक्ष्म शरीरको बदलनेकी शक्ति उनमें नहीं रहती है, इसलिये सूक्ष्म शरीर एक ही रहनेकेकारण मूर्त्ति भी एक ही धारण करसकते हैं, अनेक धारण नहीं करसकते। इन्द्रजालमें इतना ही होसकता है, इससे अधिक नहीं होसकता। परन्तु योगका अधिकार इससे बहुत ऊँचा है। इस अधिकारको प्राप्त करनेसे योगी हजारों स्थूल शरीर और हजारों सूक्ष्म शरीर बना सकते हैं, सो किस अवस्थामें होसकता है, यह वर्णन किया जाता है। योगदर्शनमें एक सूत्र है कि:—

निर्म्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।

स्वरूपस्थ जीवन्मुक्त योगी यदि अपने प्रारब्ध कर्मको शीघ्र भोग करके समाप्त करना चाहे, तो अनेक स्थूल शरीर और अनेक सूक्ष्म शरीरको बनाकर भोग कर सकते हैं। दृष्टान्तरूपसे समझा जाय कि, यदि प्रारब्ध कर्मकेअनुसार किसी योगीकी आयु पचास वर्ष की हो, परन्तु वह योगी योगरूपी अलौकिक पुरुषार्थकेद्वारा तीस वर्षमें जीवन्मुक्त होजाय, तो उनकी आयु पचास वर्ष होनेकेकारण और बीस वर्षमें भोगे जानेवाले प्रारब्ध कर्म बाकी रहेंगे, यह समझना होगा, क्योंकि यह शास्त्रका सिद्धान्त है कि:—

प्रारब्धकर्म्मणां भोगादेव क्षयः।

प्रारब्ध कर्मोंका क्षय भोगसे ही होसकता है। अब यह बीस वर्षका कर्म वह योगी चाहे, तो बीस वर्षमें ही भोग सकता है, यथा-यदि उस योगीकी प्रकृति वैसी ही हो कि, बीस वर्षके भोगको चार वर्षमें भोग करना चाहे, तो एक स्थूल-सूक्ष्मको पाँच स्थूल-सूक्ष्म शरीर बनाकर योगी बीस वर्षके कर्मोंको चार वर्षमें ही भोग कर डालेंगे, परन्तु इसप्रकार स्थूल सूक्ष्म शरीर बनाना उन्हीं योगियोंकेलिये सम्भव है, जो स्थूल और सूक्ष्म शरीरके बन्धनसे मुक्त हैं; अर्थात् जीवन्मुक्त हैं। स्थूल भूतोंको इकट्ठा करके स्थूल शरीर तभी बनाया जासकता है, जब स्थूल भूतोंपर अधिकार जमजाय उसीप्रकार सूक्ष्म तत्त्वोंको इकट्ठा करके अन्तःकरणआदि सूक्ष्म शरीरको बनाना योगीकेलिये तभी सम्भव होसकता है, जब सूक्ष्म तत्त्वोंपर भी अधिकार जमजाय। स्थूल सूक्ष्म दोनों तत्त्वोंपर अधिकार तभी जम सकता है, जब योगी दोनों तत्त्वोंसे अलग होजाय, क्योंकि जो जिससे पृथक् है या ऊँचा है, वही उसपर अधिकार जमा सकता है। विषयी पुरुष ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि विषयी लोगोंका आत्मा, मन इन्द्रियों और सूक्ष्म शरीरके अधीन होनेसे, तत्त्वोंपर अधिकार जमानेकी शक्ति उनमें नहीं होसकती है। यह काम वीतराग जितेन्द्रिय योगी कर सकते हैं, विषयी पुरुष नहीं कर सकते। इससे सिद्ध हुआ कि, श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी निर्लिप्त, जितेन्द्रिय, ज्ञानी और योगी थे, क्योंकि ऐसा न होता तो श्रीकृष्णचन्द्रजी कभी स्थूल सूक्ष्म तत्त्वों-पर अधिकार जमाकर हजारों स्थूल सूक्ष्म शरीर धारण नहीं कर सकते थे। इसलिये जिस रासलीलापर लोग कटाक्ष करते हैं, उसी रासलीलापर विचार करनेसे यह सिद्ध हुआ कि, श्रीकृष्णचन्द्रजी पूरे जितेन्द्रिय योगी थे, उनमें कामका लेशमात्र भी नहीं था। इसके सिवाय रासलीलाके बीचमें दो बार श्रीकृष्णजी अन्तर्धान होगये थे, यह भी भागवतमें लिखा है। योगदर्शनकेअनुसार "कायामेंसंयम करनेसे" अन्तर्धान होसकता है। और संयमका लक्षण उसीमें लिखा है कि:—

त्रयमेकत्र संयमः।

धारणा, ध्यान और समाधि, तीनों मिलनेपर संयम होता है। जो तीनोंको मिला सकता है, वह कामुक नहीं होसकता है, यह कामदशाके ऊपरकी अवस्था है। इसीलिये भगवान् वेदव्यासने कहा है कि:—

योगेश्वरेण कृष्णेन।

योगेश्वर श्रीकृष्णने इतने शरीर धारण किये। यदि उनमें काम होता, तो "योगेश्वर" न लिखकर "कामेश्वर" लिखते। यही अकाट्य योगकी युक्ति श्रीकृष्णके चरित्रको अच्छी तरह प्रमाण करदेती है, क्योंकि जब पुरुष जितेन्द्रिय हो, तो स्त्री उसका क्या करसकती है। इसलिये गोपियाँ किसीप्रकारकी ही हों, उसमें श्रीकृष्णकी कोई हानि नहीं थी। और इसीलिये भागवतमें लिखा है कि:—

सिषेवआत्मन्यवरुद्धसौरतः।

अपनेमें ब्रह्मचर्यको रोककर उनको सन्तुष्ट किया। श्रीकृष्णचन्द्रजीमें काम नहीं था। वे कैसे थे, यह संसार जानता है। भगवान्‌ने गीतामें स्वयं ही कहा है कि, वे कौन थे। यथा-गीता में:—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति सर्वे।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

जिसप्रकार नदियाँ स्थिर, गम्भीर, पूर्ण और विशाल समुद्रमें प्रवेश करके अपनेको समुद्रमें मिलादेती हैं, उनकी पृथक् स्थिति नहीं रहती; उसीप्रकार जिस महान् पुरुषके उदार चित्तरूपी महान् समुद्रमें समस्त कामना आकर लय होजायँ, वही शान्ति प्राप्त करता है, कामनापरायण जीवको शान्ति नहीं मिलती। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी सामान्य कामना परायण जीवके समान स्त्रियोंको देखकर भाग नहीं जाया करते थे, किसी दूसरेमें कामको देखकर दुर्बलकीतरह भाग जानेवाला मनुष्य पूर्ण नहीं बनसकता, क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि:—

नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यः

दुर्बल मनुष्य आत्माको नहीं प्राप्त कर सकते, तेजस्वी पुरुष ही आत्माको प्राप्त कर सकते हैं। श्रीकृष्णका उदार हृदय इसप्रकार तेजस्वी और पूर्ण था कि, जिसपर अपनी कामनाकी तो बात ही क्या है, किसीकी कामना भी प्रभावविस्तार नहीं करती थी। परन्तु जो भक्त जिसप्रकारकी कामना लेकर आया करते थे, समुद्रमें नदीकीतरह उनके पास आकर सबोंकी सब कामनायें नष्ट होजाती थीं, जिससे भक्तों की मुक्ति होजाती थी, यही भगवान्का स्वरूप था। और भगवान्का स्वरूप क्या था, वह शास्त्रोंमें मुक्त पुरुषके लक्षणरूपसे वर्णन किया गया है। मुक्त पुरुष स्फटिक मणिकीतरह होते हैं और कमलदलस्थित जलके सदृश निर्लिप्त होते हैं। जिसप्रकार स्फटिक मणिके सामने लाल फूल आनेसे स्फटिक लाल वर्ण प्रतीत होता है, पीला फूल सामने आनेसे स्फटिक पीलेरंगका दिखायी देता है, इसीप्रकार जो रंग सामने लाया गया, वही रंग स्फटिकका दिखायीदेने लगता है, परन्तु वास्तवमें स्फटिकके वे सब रंग नहीं हैं, स्फटिक स्वच्छ निर्मल है, मुक्त पुरुषका अन्तःकरण ऐसा ही होता है। वे जिसके साथ मिलते हैं, उनके सदृश ही बनजाते हैं। यथाः—

बाले बाला विदुषि विबुधा गायके गायकेशाः,
शूरे शूरा निगमविदि चाऽऽम्नायलीलागृहाणि ।
सिद्धे सिद्धा मुनिषु मुनयः सत्सु सन्तो महान्तः,
प्रौढे प्रौढाः किमिति वचसा तादृशा यादृशेषु ॥
मौने मौनी गुणिनि गुणवान्पण्डिते पण्डितोऽसौ,
दीने दीनः सुखिनि सुखवान्भोगिनि प्राप्तभोगः ।
मूर्खे मूर्खो युवतिषु युवा वाग्मिषु प्रौढवाग्मी,
धन्यः कश्चित्त्रिभुवनजयी योऽवधूतेऽवधूतः ॥

समस्त प्राकृतिक भावोंसेपरे स्थित ब्रह्मरूप मुक्त पुरुष बालकके सामने बालक विद्वान्के सामने विद्वान्, गायकके सामने श्रेष्ठ गायक, वीरके सामने वीर, वेदज्ञके सामने वेदज्ञ, सिद्धोंके सामने सिद्ध, मुनिके सामने मुनि, महात्माओंके सामने महात्मा और प्रौढ़ोंके सामने प्रौढ बन जाते हैं; अधिक कहना ही क्या है, जो जिस-प्रकारका है, उसके सामने उसीप्रकार बन जाते हैं। उनके अपने स्वरूपमें कोई हानि नहीं होती, और न उनका अपना स्वरूप ही बदलता है। अतः स्वरूपमें स्थित होकर ही मौनकेसामने मौनी, गुणीके सामने गुणवान्, पण्डितके सामने पण्डित, दीनके सामने दीन, सुखीके सामने सुखी, भोगीके सामने प्राप्त भोगी, मूर्खके सामने मूर्ख, युवतीके सामने युवक, वक्ताके सामने प्रौढ वक्ता और अवधूतके सामने अवधूत बन जाते हैं; इसप्रकारके त्रिभुवनविजयी मुक्त पुरुष धन्य हैं। यही निर्लिप्तता सब कुछ करनेपर भी कुछ भी न करनेका भाव, मुक्त पुरुष और पूर्ण पुरुषका लक्षण है। भगवान् कृष्णचन्द्र पूर्ण थे, इसलिये उनमें भी यही भाव था। यथा-भागवत में :—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः
स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजाम्
शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषाम्
तत्त्वं परं योगिनाम्,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो
रङ्गङ्गतः साग्रजः ॥

स्फटिक मणिकी तरह पूर्ण निर्लिप्त भगवान् कृष्णचन्द्रजी मल्लोंकेलिये वज्ररूप थे, मनुष्योंकेलिये श्रेष्ठ मनुष्य थे, स्त्रियोंकेलिये मूर्तिमान् मन्मथ थे, गोपोंकेलिये आत्मीय थे, दुष्ट राजाओंकेलिये दमन करनेवाले थे, अपने माता-पिताकेलिये छोटे शिशु थे, भोजपति कंसकेलिये मृत्युरूप थे, सगुण उपासककेलिये विराट्रूप थे, निर्गुण

उपासक योगियोंकेलिये निराकार परमात्मा थे, और यादव कुलकेलिये परम देवता थे। इसीप्रकार एक ही भगवान् अनेकरूप थे। यही पूर्णताका लक्षण है। भागवतके वर्णनको देखनेसे सिद्ध होता है कि, गोपियाँ भी जानती थीं कि, श्रीकृष्ण सामान्य पुरुष नहीं हैं, किन्तु साक्षात् परमात्मा ईश्वर हैं। उन्होंने रासलीलामें या और स्थानोंमें, जैसा कि पहले कहा गया है, श्रीकृष्णको विभु, परमात्मा, परमेश्वर मानकर सम्बोधन भी किया है। उनका इसप्रकार सम्बोधन करना प्रेमका पागलपन नहीं था, परन्तु यथार्थ ज्ञान था, जिस ज्ञानके होनेसे उन्होंने कात्यायनी व्रतका अनुष्ठान किया था। अब इस बातपर विचार करसकते हैं कि, संसारमें ऐसी कोई स्त्री नहीं है, जो पुरुषको दुर्बल और कामुक जाननेपर भी उसके अधीन बन जाय और ऊँचे ऊँचे सम्बोधन करे। इस विषयको विषयी लोग खूब जानते हैं। स्त्रीजाति अभिमानिनी हुआ करती है। कामुक पुरुषोंको अपने अधीन करनेमें उनको आनन्द आता है। केवल जितेन्द्रियके पास वे दबती हैं। अजितेन्द्रिय पुरुषको वे वशमें रखकर स्वेच्छाचार करती हैं। इसलिये यदि श्रीकृष्णमें किसीप्रकारका कामभाव होता, तो गोपियाँ उनकी इतनी प्रशंसा नहीं करतीं और न उनकेलिये रो रो कर इतनी प्रार्थना ही करतीं। ईश्वर और जीवमें भेद यह है; योगदर्शनमें लिखा है कि :—

क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

ईश्वर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश, इन पांचों क्लेशोंसे और कर्म, कर्मफल व संस्कारोंसे परे होते हैं। ईश्वर प्रकृतिके अधीन नहीं होते, माया ईश्वरके अधीन होती है। जीव ही मायाका दास होता है, इसलिये स्त्रीके वशमें होना जीवकेलिये सम्भव है। ईश्वर स्त्रीके वशमें नहीं होते। क्षीरसमुद्रमें सोये हुए विष्णु भगवान्के पाँव दबाने वाली लक्ष्मीकेद्वारा यहीभाव दिखाया गया है और यही भाव रासलीलामें भी स्पष्टरूपसे दिखाया गया है। यथाः—जहाँ गोपियोंमें थोड़ा भी अभिमान आया कि, उसी समय भगवान् उनको छोड़कर अन्तर्धान होगये। उनमेंसे जो अभिमानिनी नहीं थीं और इसीलिये जो श्रीकृष्णको और भी थोड़ी देरतक देख सकती थीं, उन्होंने भी जब थोड़ी देरकेबाद, अपनेको सबसे भाग्यवती समझ, अभिमान किया और श्रीकृष्णके कन्धेपर चढ़ना चाहा, तो श्रीकृष्णजी उनके अहङ्कारको तोड़नेकेलिये, कन्धेपर बिठातेहुए नीचेसे अन्तर्धान होगये; क्योंकि श्रीकृष्ण तो ईश्वर थे, मायाके वशमें नहीं थे। इसलिये मानिनी स्त्रियोंसे दब जाना उनके स्वरूपके विरुद्ध था। यदि श्रीकृष्ण सामान्य मनुष्य होते, तो एकान्तमें रातके समय उसप्रकारकी परस्त्रीको पाकर रातभर आनन्दसे कन्धेपर लिये फिरते, परन्तु भगवान् ऐसे न थे, भगवान् भगवान् थे, इसलिये उस गोपीने जब धृष्टता की, तब उसीसमय उसको दण्ड दे दिया, यह सब उनके ईश्वरभावका लक्षण है। इसीलिये रासलीलाका वर्णन सुनकर जब महाराजा परीक्षित्‌ने शुकदेवजीसे पूछा कि, यह कैसी बात है कि, धर्मके स्थापनकेलिये अवतीर्ण भगवान्‌ने दूसरोंकी स्त्रियोंकेसाथ इसप्रकार बर्ताव किया? (परीक्षित्‌ने इसे परदाराऽभिमर्षण कहा है)। तब शुकदेवजीने परीक्षित्‌को श्रीकृष्णजीके यथार्थ रूपको

समझाकर समस्त शङ्काओंका समाधान कर दिया और मन्दमति कलियुगके जीवोंके-लिये भी अपूर्व्व धर्मका उपदेश किया। यथा :—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याऽऽचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेन वाऽनर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो!॥
किमुताऽखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाऽकुशलान्वयः॥
यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता,
योगप्रभावविधुताऽखिलकर्मबन्धाः।
स्वैरञ्चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः॥
गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

लौकिक जगत्केलिये जो धर्म है, ईश्वरमें उस धर्मका व्यतिक्रम देखनेमें आता है, क्योंकि ईश्वरमें शक्ति अधिक होनेसे साहस भी अधिक है। जैसे अग्नि समस्त वस्तुओंको दग्ध करसकता है, इसीप्रकार तेजस्वी पुरुष भी लौकिक धर्मसे विरुद्ध धर्मके धक्केको भी सहन कर सकते हैं। इसीलिये उसप्रकारके विरुद्ध आचारसे उनको दोष नहीं लग सकता। जो ईश्वर नहीं है; अर्थात् जीवको इसप्रकारके आचार, मनसे भी नहीं करने चाहियें, करनेपर उसका नाश होजाता है। शिवजी तो विषपान करनेपर भी नीलकण्ठ बने हुए हैं, परन्तु साधारण जीव विषपान करनेसे मर जाता है। प्रत्येक धर्म या अधर्म तभीतक जीवको स्पर्श कर सकता है, जबतक जीवका जीवत्व रहे; अर्थात् अन्तःकरण, इन्द्रियों और स्थूल शरीरकेसाथ जीवका अहम्भाव या ममता रहे। परन्तु जिससमय ममताके नष्ट होनेसे आत्मा शरीर और मनसे पृथक् होजाता है, उस समय शुभ या अशुभ कोई भी कर्म जीव-को स्पर्श नहीं करता है। इसलिये श्रीकृष्णचन्द्रजी जब साक्षात् नित्य मुक्त परमात्मा थे, स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरकेसाथ उनका जब कोई ममत्व सम्बन्ध नहीं था, तो कुशल या अकुशल, कोई कर्म उनको स्पर्श नहीं करसकता। जो परमात्मा मनुष्य,

जन्तु, देवता, और समस्त प्राणियोंमें व्यापक, सबके प्रभु और प्रार्थनीय हैं, उनको कुशल अकुशल कैसे स्पर्श करसकता है। जिनके चरणकमलके प्रभावसे योगी लोग कर्मबन्धनसे मुक्त होकर संसारको पवित्र करते हुए विचरण करते हैं, निराकार, केवल मायासे शरीरधारी उन परमात्माको बन्धन कैसे लग सकता है? जो स्वयं बद्ध है, वह दूसरेको मुक्त नहीं कर सकता है। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

स्वयमसिद्धः कथं परान्साधयति।

स्वयं असिद्ध होनेसे दूसरोंको सिद्ध नहीं बना सकता है। श्रीकृष्णजी यदि स्वयं बद्ध होते, तो दूसरोंको मुक्त नहीं कर सकते थे, परन्तु हजारों योगी उनके चरणकमलके प्रतापसे मुक्त होगये। इसलिये श्रीकृष्ण बद्ध नहीं थे। बन्धन हो कैसे, क्योंकि भगवान् गोपियोंके पतियोंमें और सकल जीवोंमें व्यापक सर्वान्तरात्मा थे। उनका शरीर धारण करना केवल भक्तोंपर दया करनेकेलिये ही था। पुरुष स्त्रीसे तभी बद्ध होसकता है, जब पुरुष अपनेको भोक्ता और स्त्रीको भोग्या समझे; अर्थात् स्त्रीमें या पुरुषमें परस्पर कामभोगकी इच्छा तभी रहसकती है, जबतक स्त्री अपनेको पुरुषसे भिन्न समझे और पुरुष अपनेको स्त्रीसे भिन्न समझे। मुक्त पुरुषको कामकी इच्छा, इसलिये नहीं होती है कि, उनका द्वैतरूप अज्ञान नष्ट हो जानेसे वे स्त्री पुरुष सभीको अद्वितीय ब्रह्मरूपमें देखते हैं। उनकी स्त्री-पुरुष-भेददृष्टि नष्ट होजाती है। इसलिये कामकी इच्छा भी मूलसे ही नष्ट होजाती है। श्रीकृष्णमें काम तभी होसकता था, यदि श्रीकृष्णजी गोपियोंसे भिन्न होते परन्तु जब श्रीकृष्ण परमात्मा थे, तो गोप भी वही थे, गोपियाँ भी वही थे, पुरुष भी वही थे, स्वयं जब स्त्री पुरुष दोनों ही हैं, तो स्त्रीमें कामबुद्धि कैसे होसकती है? यदि एक ही श्रीकृष्णने रासलीला-के दिन हजारों पुरुष और हजारों स्त्रियोंका रूप धारण करलिया था, तो गोपियों-केप्रति उनका कामभाव कदापि नहीं हो सकता है क्योंकि कामभाव अपनेसे पृथक् किन्हीं दूसरोंपर होता है, अपना कामभाव अपनेपर नहीं होता है। श्वेताश्वतरो-पनिषद्में लिखा है कि:—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि।

हे भगवन्! तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो, तुम कुमारी हो, और तुम्हीं जीर्ण वृद्ध होकर हाथमें दण्ड ले वञ्चना करते हो। इसप्रकार परमपुरुष सर्वव्यापी अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान् स्वयं ही गोपी बनकर, स्वयं ही हजारों रूप धरकर, भक्तोंकी अपने अपने अधिकारकेअनुसार मनोवासना पूर्ण करते हुए, सबके काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्यको अपनेमें लय करते हुए, सभीको परमानन्दमय मुक्ति पदको प्रदान करते थे। उनमें किसीका काम असर नहीं करता था और न उनमें काम ही हुआ करता था। दूसरोंका कठिन काम भी उनमें आकर समुद्रमें नदीकेतुल्य लय होजाया करता था। यही श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्वरूप

है और इसी भावको उन्होंने दशमस्कन्धके २२ वें अध्यायमें गोपियोंके वस्त्रहरण करनेकेबाद अपनेप्रति पतिभाव देखकर उनसे कहा था। यथा:—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिताः क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेष्यते॥
याताऽबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्याऽर्चनं सतीः॥

जो मुझमें चित्तको रखता है, उसका मेरेप्रति कामभाव भी कामको उत्पन्न नहीं करसकता है। जैसा कि बीज भुन जानेपर उससे अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता। इसलिये हे गोपिनीगण! तुम्हारा कात्यायनी व्रत सिद्ध होगया। हमें पतिरूपसे प्राप्त करनेकेलिये, जो व्रत किया था, वह व्रतपूर्ण होगया। आप लोग हमको पतिरूपसे प्राप्त करेंगी, परन्तु उसमें कामनाकी वृद्धि न होकर कामनालय होनेसे मुक्ति होजायगी।

वस्त्रहरणके रहस्यको न जानकर बहुत लोग वृथा सन्देह करने लग जाते हैं और श्रीकृष्णके ऊपर कईप्रकारके कलङ्क लगानेकी स्पर्द्धा करते हैं, इसलिये इसका तत्त्व बताया जाता है। विचार करनेसे प्रतीत होगा कि, जिसप्रकार रासलीला करना भगवान्‌के पूर्णावतार होनेका परिचय था; उसीप्रकार वस्त्रहरण भी उनके पूर्णावतार होनेका परिचय था। यह बात सभी लोग जानते हैं कि, अपने शरीरको वस्त्रसे ढांकना तभी स्त्री पुरुष करते हैं, जब उनमें कामभावके उदय होनेसे लज्जारूपी पाशसे उनका बन्धन होता है। बालक इसलिये कपड़ा नहीं पहनता है कि, उसमें कामभावके अङ्कुर नहीं होनेसे लज्जा या स्त्री पुरुषका स्वरूप-ज्ञान ठीक ठीक नहीं रहता है, अतः बालक नङ्गा ही फिरता है। और नङ्गे होते हैं—परमहंस, जिनमें अद्वितीय ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेसे स्त्रीपुरुष-भेदभावके नाशकेसाथ ही साथ कामभाव भी नष्ट होजाता है, इसलिये मुक्त पुरुष परमहंसका वस्त्र आपसे आप खुल जाता है; अर्थात् परमात्मा ही उनका वस्त्रहरण करते हैं। इसकेअतिरिक्त जो कुछ नङ्गा होना है, वह अप्राकृत निर्लज्जतामात्र है, इसलिये उसकेसाथ इस विचारका कोई सम्बन्ध नहीं है। अब यहाँ विचारनेका विषय यह है कि, परमहंसका वस्त्रहरण स्वतः कब होता है? मनुष्य परमहंस तभी बनसकता है, जब उसमें कामभाव सम्पूर्ण रूपसे नष्ट होजाय और इसप्रकार कामभावका पूरा नाश तभी होसकता है, जब वह साधक साधनाकेद्वारा संसारकी समस्त स्त्रियोंको जगदम्बा अर्थात् कात्यायनीके रूपमें देख सके और समस्त संसारको परमात्माके रूपमें देख सके। इसप्रकारके महापुरुषको स्त्री-पुरुषमय संसारमें रहनेपर भी किसीप्रकारका कामभाव या लज्जाभाव नहीं आता है। गोपियोंका वस्त्रहरण भगवान्‌ने जिस अवस्थामें किया था, उसपर विचार करनेसे बुद्धिमान् पुरुषको ज्ञात होगा कि, गोपियोंकी आध्यात्मिक अवस्था भी परमहंसकीतरह होगयीथी, क्योंकि वे श्रीकृष्णचन्द्रको घट घटमें विराजमान सर्वव्यापक परमपति परमात्मा समझकर उन्हींको पतिरूपसे प्राप्त करनेकेलिये कात्यायनीव्रतमें सिद्धिलाभ करके मायामय संसारको छोड़ देना चाहती थीं। इसप्रकारकी अवस्थामें उनका वह

व्रतस्नान था। यह अवस्था प्रायः परमहंसकी अवस्था थी क्योंकि परमहंसकी तरह परमात्माका ज्ञान और जगदम्बाके व्रतमें सिद्धि, दोनों ही उनको प्राप्त होरहे थे। इसलिये जिसप्रकार साधकके सिद्धि लाभकरके परमहंस बननेसे, भगवान् ही उनका वस्त्रहरण करके उनको नग्न करदेते हैं; उसीप्रकार गोपियाँ जब परमहंस पदवीपर प्रतिष्ठित होनेवाली थीं, तो उनका वस्त्रहरण करना भगवान्का कर्त्तव्य था। यदि ऐसा नहीं करते, तो भगवान् नहीं कहला सकते हैं, क्योंकि जिसप्रकार परमहंसका वस्त्र भगवान् हरण नहीं करें, तो भगवान्के ईश्वरत्वमें और अन्तर्य्यामित्वमें कलङ्क लगता है; उसीप्रकार यदि गोपियोंका वस्त्रहरण न करते, तो श्रीकृष्णके भी अन्तर्यामित्व और ईश्वरत्वमें कलङ्क लगता। यही वस्त्रहरणका रहस्य है। इससे यह बात और भी विचार्य है कि, यद्यपि गोपियाँ उन्नत अधिकारिणी थीं तथापि अभी अभिमान, ममताआदि कुछ कुछ उनमें था। वे अभी ठीक ठीक परमहंसकी अवस्थाको नहीं प्राप्त हुई थीं। इसलिये जिसप्रकार परमहंस अपनी अवस्थाके प्राप्त होनेके पहले कभी वस्त्र पहनते और कभी त्याग कर देते हैं, उसीप्रकार गोपियोंका वस्त्र लेकर भी उन्होंने पुनः उनको लौटा दिया था; क्योंकि उनमें लज्जाका अंश था। और जब लज्जाका अंश था, तो उन्हें नग्न भी पूरा नहीं होना चाहिये था, क्योंकि ऐसा करनेसे दैवीप्रकृतिमें धक्का लगकर व्रतभङ्ग दोष होसकता है। इसलिये कृष्णचन्द्रजीने उस दोषकेलिये प्रायश्चित्त भी कराया था और उनके चित्तकी प्रार्थना थी कि, भगवान् उनके पति होजायँ, इस भावको जानकर व्रतभङ्गके प्रायश्चित्त करनेकेबाद उन लोगोंको कह दिया था, कि तुम्हारा व्रत सिद्ध होजायगा और जिसलिये व्रत किया है, वह फल तुमको प्राप्त होजायगा। वह फल, श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्को पतिरूपसे प्राप्त करके भक्तिशास्त्रकी कान्तासक्तिकेद्वारा आनन्दकन्द सच्चिदानन्दमें शरीर मन प्राण और आत्माको समर्पण करके ब्रह्मान्द भोगना था। परन्तु इसप्रकार ब्रह्मानन्दभोग अद्वैत ज्ञानयुक्त निरहङ्कार परमहंसको ही प्राप्त होसकता है। गोपियोंमें अभिमान लज्जाआदिके होनेसे अभी परमहंस भावकी कुछ कमी थी। जबतक लज्जाआदि आठ पाश अर्थात् बन्धनोंकी निवृत्ति नहीं होती है, तबतक साधक मुक्तिभूमिमें नहीं पहुँच सकता है। इसकारण भक्तवत्सल भगवान्ने पहले लज्जारूपी पाश तोड़कर तब उनको मुक्तिभूमिमें पहुँचाया था। अतः भक्तवत्सल भगवान्ने वस्त्रहरणमें जो कुछ कमी रहगयीथी, रासलीलामें उसको पूरी करदी; अर्थात् "क्लीं" रूपी कामबीजकेद्वारा गोपियोंको संसारसे वैराग्यवती कर, पश्चात् अन्तर्धान होकर अनुतापकी अग्निद्वारा उनके अभिमानको दग्ध कर, पहले एक मूर्त्तिमें उनको दर्शन देकर एवं प्रणिपात परिप्रश्न और सेवाकेद्वारा उनको पूरा पूरा भक्ति और ज्ञान देकर, तब हजारों रूपोंमें दर्शन दिया, जिससे गोपियोंने परमहंसकीतरह सर्वत्र विराजमान आनन्दमय भगवान्को शरीर मन प्राण और आत्माकेद्वारा प्राप्त करके मनुष्यजीवनको कृतार्थ किया, जैसा कि पहले रासलीलामें वर्णन किया गया है। यही वस्त्रहरणका गूढ़ रहस्य है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीपर और एक दोष लगाया जाता है कि, वे सामान्य चोरकी तरह गोपियोंके घरसे मक्खन चुराते थे। यह बात भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको न जानकर ही कही जाती है। प्रथम तो यह कथा भागवतमें कहीं मिलती

ही नहीं, और यदि दूसरे किसी पुराणसे हो, तो उसका उद्देश्य और कुछ होगा, क्योंकि जहाँ गोपियोंके घरसे मक्खन चुरानेकी बात लिखी है, वहाँ यह बात भी लिखी है कि, श्रीकृष्णचन्द्रको उसप्रकारसे मक्खन लेनेसे किसी गोपीने कभी मना नहीं किया, अपिच सभी गोपियाँ चाहती थीं कि, श्रीकृष्ण मक्खन लेजायँ। और मक्खन निकालते और दधि मन्थन करते समय सब गोपियाँ भगवान्‌के गुण गान करती थीं, एवं मन्थनकेबाद सब कुछ चीजें भगवान्‌को निवेदन करती थीं। यथा—भागवतके दशमस्कन्धमें :—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

भगवान्‌में अनुरक्त गोपियाँ धन्य हैं, जो दूध दूहनेके समय और मक्खन निकालनेके समय मंथनके शब्दकेसाथ साथ अपने प्रेमभरे शब्दोंको मिलाती हुई अश्रुकण्ठीहो भगवान्‌के मधुर गुणोंको गाती थीं। जिनका समस्त कर्म, समस्त प्राण, समस्त मन, भगवान्‌के प्रेममें ही निमग्न था, जिन्होंने अपना सर्वस्व भगवान्‌के चरणकमलोंमें अर्पित करदिया था, उनकेलिये भगवान्‌को थोड़ासा मक्खन देना क्या बड़ी बात थी? इसलिये गोपियोंके घरसे श्रीकृष्णका मक्खन लेना चोरी नहीं होसकता। चोर दूसरेकी चीजको उसकी अनिच्छासे चोरी करता है, उसकी इच्छासे नहीं। इच्छासे लेना चोरी नहीं कहलाता है। अब प्रश्न यह होसकता है कि, जब श्रीकृष्णजीकी माताके घरमें इतना दूध दही मक्खन था, तो दूसरेके घरसे इस-तरह लेनेकी आवश्यकता क्या थी? इसका पहला उत्तर यह है कि, जब गोपियाँ भगवान्‌के नामसे सब कुछ समर्पण करती थीं, तो भक्तवत्सल भगवान्‌केलिये उनकी समर्पित वस्तुओंका ग्रहण करना अपना कर्त्तव्य था। दूसरा उत्तर यह है कि, अपनी माताकी चीजोंको छोड़कर संसारकी और चीजोंको लेनेमें संसारको तृप्त करना भगवान्‌का लक्ष्य था। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

तस्मिँस्तुष्टे जगत्तुष्टं प्रीणिते प्रीणितं जगत् ।

जिस विराट् पुरुषके उदरमें समस्त ब्रह्माण्ड भरा हुआ है, उनका पेट भरनेसे ब्रह्माण्डकी तृप्ति होती है। इसको महाभारतमें दृष्टान्तकेद्वारा भी समझाया गया है। जिससमय दुर्वासा ऋषि अपने शिष्योंकेसाथ दुर्योधनके अतिथि हुए थे, उससमय दुर्योधनने सशिष्य दुर्वासाको भोजनसे तृप्त कराकर यही वर मांगा था कि, "इसीप्रकार, पञ्च पाण्डव और द्रौपदी, जो आजकल वनवासमें हैं, उनके भोजनके-बाद उनके मकानपर जाकर शिष्योंकेसाथ आप (दुर्वासा) उनके अतिथि होवें"। इस बातको दुर्वासा ऋषिने स्वीकार करलिया। तदनुसार पाँचों पाण्डव और द्रौपदीके भोजनकेबाद उनके मन्दिरमें जाकर अतिथि हुए। अब द्रौपदीके भोजनकेबाद

कुछ भी अन्न भोजनपात्रमें न रहनेसे दुर्वासाके शापके भयसे द्रौपदी और पञ्च पाण्डव बहुत भीत हुए और अन्तमें कोईभी उपाय न देखकर द्रौपदीने श्रीकृष्णकी स्तुति की। इसी भावको लेकर भागवतमें कहा है कि:—

यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्रात्,
दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग्यः।
शाकान्नशिष्टमुपभुज्य यतस्त्रिलोकीम्,
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः॥

दुर्योधनकी इस दुष्टतासे दस हजार शिष्योंके समेत महर्षि दुर्वासा पाण्डवोंके शिविरमें पहुँचगये, परन्तु द्रौपदीके खाचुकनेपर सूर्यदत्त थालीमें कुछ भी अन्न न था, अगत्या द्रौपदीने जब श्रीकृष्णचन्द्रजीको याद किया, तो श्रीकृष्णचन्द्रजी रुक्मिणीको छोड़कर, द्रौपदीकेपास आये और भोजन करनेको मांगा। द्रौपदीने और भी रोकर कहा कि, मेरे खानेकेबाद थाली (सूर्यदत्त पात्र) में कुछ भी नहीं रहता है। इतनेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रजीने उस थालीको मँगवाकर देखा और उस थालीके किनारे लगा हुआ। थोड़ासा, जो शाक था, उसीको खाकर कह दिया कि:—

अनेन विश्वात्मा भगवान् प्रीयताम्।

मैं ही जब विश्वरूप हूँ; तो मेरे इस भोजनसे विश्वात्मा भगवान् तृप्त होजायँ, जिससे संसार तृप्त हो। उनके भोजन करके ऐसा कहनेपर समस्त संसारकी भूख मिटगयी। इसीलिये साथही साथ दुर्वासा और उनके शिष्य, जोकि स्नान करने गये थे, उन सबोंकी क्षुधा भी निवृत्त होगयी और विना भोजन किये ही सन्तुष्ट होकर सभी चलेगये। गोपियोंसे मक्खन लेनेका भी यही उद्देश्य था, क्योंकि यशोदाके मकानपर इतना मक्खन होनेपर भी वहां न खाकर दूसरेके मकानसे खानेका कारण यही था। जिसप्रकार रुक्मिणीके मकानपर भोजन करनेसे रुक्मिणीकाही कल्याण होता, जगत्का कल्याण नहीं होता, क्योंकि आत्मीय सम्बन्धसे जो कर्म होता है, वहकर्म अपनेको ही स्पर्श करता है और जगत्के सम्बन्धसे जो कर्म होते हैं, उनका फलाफल जगत्को स्पर्श करता है। इसलिये द्रौपदीके घरमें अन्नकण खानेसे जगत्की तृप्ति हुई, रुक्मिणीके मकानपर खानेसे न हुई; ठीक उसीप्रकार यशोदाके मक्खन खानेसे, वहाँ विशेष आत्मीय सम्बन्ध होनेकेकारण, उससे यशोदाका ही कल्याण होता, समस्त संसारका कल्याण नहीं होता। परन्तु श्रीकृष्ण जब भगवान्के पूर्णावतार थे, तो उनकी महिमा यह होनी चाहिये कि, जब श्रीकृष्णजी संसारमें रहें, तबतक संसारका कोई मनुष्य भूखा न रहे, सभीका कल्याण और पूर्ण तृप्ति होती रहे और इसप्रकारकी समस्त संसारकी तृप्ति तभी होना सम्भव था, जब भगवान् दूसरेके घरसे मक्खन खाते। इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रजी यशोदाके घरमें मक्खन पूरा होनेपर भी गोपियोंकेद्वारा समर्पित मक्खन खाया करते थे। यही माखनलीलाका रहस्य है।

श्रीकृष्णजी काले क्यों थे ? अवतारके विज्ञानपर मनन करनेसे सिद्धान्त होगा कि, पूर्णावतार होनेसे ही उनका रंग काला था, क्योंकि शास्त्रका यह

सिद्धान्त है कि, निराकार भगवान्का पूर्ण स्वरूपसे आविर्भाव मायाकेद्वारा ही होता है। यथा-भागवत में:—

कृष्णमेनमवेहि त्व मात्मानमखिलाऽऽत्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाऽऽभाति मायया ॥

श्रीकृष्ण जगद्व्यापक निराकार परमात्मा हैं, केवल संसारके कल्याणकेलिये मायाका आश्रय करके देहीकीतरह प्रतीत होते हैं। वास्तवमें श्रीकृष्णजी सच्चिदानन्दरूप हैं। आत्मा और प्रकृतिके संसारमें प्रकट होनेका यह लक्षण है कि, बद्ध जीवमें प्रकृतिका प्रभाव अधिक है और आत्माका प्रकाश दबा हुआ है, जीव जितना ही उन्नत होता है, उतना ही प्रकृतिका प्रभाव घटने लगता है और आत्माका प्रभाव बढ़ने लगता है, आत्माके पूर्ण प्रकाश होनेपर प्रकृतिका प्रभाव भीतर पूरा नष्ट होजाता है और बाहर स्थूल शरीरमात्रमें रहता है, जिससे स्थूल शरीर देखनेमें आता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी पूर्णात्मा थे। तो इससे सिद्ध होगा कि, उनके भीतर सत् चित् और आनन्द पूर्णरूपसे था, केवल बाहर मायाकेद्वारा उनका रूप सबको देखनेमें आता था; परन्तु पूर्ण पुरुष होनेकेकारण मायाका प्रभाव कुछ भी नहीं था, केवल रूप दिखानेकेलिये ऊपर दबी हुई मायाकी सत्ता थी। अब विचार करना यह है कि, दबी हुई मायामें कृष्ण वर्ण कैसे आता है? समस्त दृश्य संसार जब मायाका ही रूप है, तो समस्त संसारके समस्त रंग मायासे ही उत्पन्न हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन सब रंगोंको सात मौलिक रंगोंमें विभक्त किया गया है, जो सूर्यकी किरणोंमें देखनेमें आते हैं। जहाँ सात रंग पूर्ण रूपसे प्रकाशित हैं, वहाँ सफेद रंग होता है, जैसा कि सूर्यकी किरणोंमें है। अन्यान्य वस्तुओंके रंगमें यह बात है कि, जिस वस्तुकेद्वारा सात रंगोंमेंसे जो रंग प्रकट होता है, वह वस्तु उसी रंगमें दीखती है, जैसे लाल फूलमें लाल रंग ही प्रकटित है और रंग उसमें छिपे हुए हैं। नील फूलमें नील रंग ही प्रकटित है और रंग छिपे हुए हैं। जो वस्तु सभी रंगोंको प्रकट करती है, वह सफेद होती है और जो वस्तु प्रकृतिके सभी रंगोंको छिपालेती है, उसका रंग काला होता है। इससे सिद्धान्त यह हुआ कि, जिसमें प्रकृति रहने पर भी पूरी छिपी हुई है, वह कृष्ण वर्ण है और जिसमें प्रकृति रहकर भी पूर्ण प्रकट है, वह गौर वर्ण है। भगवान् श्रीकृष्णमें प्रकृति रहनेपर भी पूरी छिपी हुई थी क्योंकि भगवान् भीतर पूर्ण सच्चिदानन्दके रूप थे, केवल संसारके सामने प्रकट होनेकेलिये, ऊपर माया थी और वह भीतर माया पूर्णरूपसे छिपी हुई थी, और राधेमें प्रकृतिका रूप होनेसे, प्रकृति पूर्णतया प्रकट थी। इसलिये श्रीकृष्णचन्द्रजी कृष्ण वर्ण थे और राधा गौरवर्ण थीं। यह विज्ञान योगशास्त्रकेअनुसार भी सिद्ध है क्योंकि लययोगमें कुलकुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होनेसे ही एक विन्दुका दर्शन योगीको होता है, जिसके भीतर स्वच्छ और बाहर काला रहता है। लययोगका यह विन्दु प्रकृति पुरुषात्मक है; अर्थात् उसके भीतर पूर्ण पुरुषकी ज्योति और बाहर प्रकृतिकी ज्योति रहती है, और यह बाहरकी ज्योति कृष्ण वर्णकी होती है, क्योंकि प्रकृतिकी ज्योति है। यही भाव श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र-

जोके रूपमें है। अतएव श्रीकृष्णजी कृष्ण रूप हैं। इसकेसिवाय प्रकृतिके स्थूलसे सूक्ष्म राज्यमें जाते जाते योगीको जो पूर्ण प्रकृतिका स्वतन्त्र रूप देखनेमें आता है, उसका रंग शुद्ध श्वेत वर्ण है। वही राधाका रूप है।

यह सिद्धान्त पहले ही होचुका है कि, ब्रह्ममें तीनों भावोंकी पूर्णता होनेसे संसारको समस्त वस्तुओंमें तीन भाव भरे हुए हैं। ये तीन भाव अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत हैं। जीवकी पूर्णता, शरीर मन और बुद्धिकेशुद्ध होनेसे, तीनों भावोंकी पूर्णताकेद्वारा होती है। मनुष्योंमें भी प्रत्येक वर्णकी पूर्णता त्रिविध पूर्णताकेद्वारा हुआ करती है। यथा-पूर्ण ब्राह्मण वही होगा, जो आध्यात्मिक भावमें भी ब्राह्मण और आधिभौतिक भावमें भी ब्राह्मण और आधिभौतिक भावमें भी ब्राह्मण है; अर्थात् जो ज्ञानमें भी ब्राह्मण हो कर्ममें भी ब्राह्मण हो और जन्ममें भी ब्राह्मण हो। इसीप्रकार और और वर्णोंमें भी समझना चाहिये। ये सब रहस्य आगेके समुल्लासमें बताये जावेंगे। इस सिद्धान्तकेअनुसार पूर्ण अवतार वे ही होंगे, जिनमें आध्यात्मिक पूर्णता, आधिदैविक पूर्णता और आधिभौतिक पूर्णता हो; अर्थात् जिनमें शरीरकी पूर्णता, शक्तिकी पूर्णता और ज्ञानकी पूर्णता हो। श्रीभगवान श्रीकृष्णचन्द्रजीमें ये तीनों पूर्णतायें स्पष्ट प्रमाणित होती हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रजीके स्थूल शरीरकी पूर्णता थी; अर्थात् स्थूल प्रकृतिकी पूर्णताकेलिये जो बातें होनी चाहियें, वे सब कृष्णचन्द्रजीमें थीं। स्थूल प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे सौन्दर्य, ब्रह्मचर्यआदि पूरा होता है, कोई अङ्ग हीन या विकल नहीं होता है, या किसीप्रकारकी दुर्बलता नहीं होती है। ये सब गुण श्रीकृष्णमें पूरे थे। उनके सौन्दर्यकी तुलना ही कहाँ मिल सकती है? ऐसे सुन्दर पुरुष न कभी हुए थे और न होंगे। जिनके सौन्दर्यसे समस्त संसार मुग्ध होरहा है, जिनके रूपसमुद्रमें चित्त डुबाकर साधक संसारके समस्त रसोंको भूल सकता है, मानो प्रकृति माताने अपने खजानेमें जितना रूप था, सब लेकर एकाधारमें भर दिया है। समस्त अङ्ग प्रत्यङ्ग श्रीकृष्णके पूर्ण थे, किसी अङ्गमें विकलता न थी। और श्रीकृष्णजीके ब्रह्मचर्यके विषयमें क्या कहाजाय, हजारों परस्त्रियोंके बीचमें रह कर मन्मथमन्मथ, आत्माराम, अवरुद्धसौरत और योगेश्वरेश्वर; अर्थात् कामदेवके मथन करनेवाले, शरीर मन और बुद्धिकेपरे आत्मामें रमण करनेवाले, अपनेमें वीर्यके रोकनेवाले और योगेश्वरोंके भी ईश्वर; भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र थे। मनुष्योंकी बुद्धि सामान्य कामकी चिन्तासे व्याकुल होजाती है, चित्तका धैर्य नष्ट होने लगता है, फिर एकान्तमें पर स्त्रीकी प्रार्थना करनेसे जो दशा होती है, उसकी तो बात ही क्या है? परन्तु यह श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके ब्रह्मचर्यकी पूर्णताकी शक्ति थी, जिससे हजारों परस्त्रियोंके बीचमें रहकर अपने स्वरूपमें स्थित रहसकते थे। यही उनके स्थूल शरीरको पूर्णता; अर्थात् आधिभौतिक पूर्णताका लक्षण है।

श्रीकृष्णचन्द्रजोकी आधिदैविक पूर्णता उनकी शक्तिकी पूर्णतामें थी। श्रीमद्भागवतके पढ़नेसे उनमें दैवीशक्तिकी पूर्णता कैसी थी, यह निश्चय होसकता है। उन्होंने बालकालमें ही किसप्रकार अलौकिक शक्तिका परिचय दिया था। यथा—पूतनावध,

शकटासुरवध, कालियदमन, गोवर्द्धनधारणआदि। इन सबोंसे उनकी शक्तिकी पूर्णता प्रकट होती है। अज्ञानी लोग भगवान् श्रीकृष्णजीके स्वरूपको न जानकर इन विषयों-में बहुतप्रकारके सन्देह करते हैं। कई लोगोंने तो ऐसी स्पर्द्धा की है कि, इन सब अलौकिक लीलाओंको उड़ादिया है व और तरहका ही अर्थ किया है, यह सब उनके अज्ञानका ही फल है। जिन जिन दैवीशक्तियोंके प्रतापसे समस्त संसारचक्र घूम रहा है और जो शक्ति पत्तों पत्तोंमें जाकर संसारकी रक्षा कररही है, वह दैवीशक्ति तो भगवान्की ही शक्ति है। अवतार उसी शक्तिकाही स्थूल केन्द्रकेद्वारा विकास है। प्रकृतिमें धर्मकी रक्षा और दैवी क्रियाओंकी रक्षाकेलिये, आवश्यकताकेअनुसार, कभी अंशरूपसे और कभी पूर्णरूपसे, किसी केन्द्रकेद्वारा विकास होकर वह शक्ति संसारकी रक्षा करती है और धर्मकी धाराको ठीक करदेती है। जब श्रीकृष्णचन्द्रजी पूर्णावतार थे, तो उनमें भगवान्की पूर्ण शक्ति विद्यमान थी, फिर भगवान्केलिये एक पहाड़ उठा लेना, या किसी साँपका दमन करना, क्या बड़ी बात थी ? क्योंकि जब उन्हीं भगवान्की शक्तिसे हजारों पहाड़, अनन्त ग्रह उपग्रह नक्षत्र चन्द्र सूर्यआदि शून्यमें टँगे हुए हैं और हजारों हिंस्रजन्तु मारे जाते हैं या दबाये जाते है, तो एक छोटासा पहाड़ उठा लेना और दो चार असुरोंको मारदेना, क्या बड़ी बात है ? वह सब कार्य भगवान्की व्यापकशक्तिसे होता है और यह कार्य उसी व्यापकशक्तिके किसी केन्द्रमेंसे प्रकट होनेसे हुआ। इनमें अन्तर कुछ भी नहीं है, केवल अज्ञानी लोगोंके समझनेका ही अन्तर है। वास्तवमें श्रीकृष्णके जीवन भरके समस्त अलौकिक कार्य उनमें दैवीशक्तिकीपूर्णताको ही बतलाते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रकी तीसरी पूर्णता आध्यात्मिक अर्थात् ज्ञानकी पूर्णता है। गीताके पाठ करनेसे वह मालूम हो सकती है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताका उपदेश किया था। गीतामें समाधि भाषा है, जिसमें समस्त उपदेशोंका ज्ञान भराहुआ है। इसप्रकारकी ज्ञानमयी भाषाको पूर्ण ज्ञानीकेसिवाय और कोई नहीं कह सकता है, क्योंकि समाधिभाषाके कहनेवाले समाधिस्थ पुरुष ही हुआ करते हैं, इतर पुरुष समाधिभाषाको नहीं कह सकते हैं। दूसरा कारण यह है कि, पूर्ण होनेसे ही गीता श्रीभगवान्का वाक्य कही जाती है। यह सिद्धान्त वेदके अध्यायमें पहले ही कहागया है कि, पूर्ण वस्तु वही है, जिसमें जीवकी पूर्णताका विधान करनेकेलिये पूर्ण उपदेश किया गया हो। जीवकी पूर्णता त्रिभावकी पूर्णताकेद्वारा हुआ करती है। उसमें शरीर आधिभौतिक भाव है, मन अधिदैवभाव है और बुद्धि अध्यात्मभाव है, इसलिये शरीर मन और बुद्धि तीनोंकी पूर्णता से ही साधक पूर्णब्रह्मरूप बनसकते हैं। शरीरकी पूर्णता कर्मसे, मनकी पूर्णता उपासनासे और बुद्धिकी पूर्णता ज्ञानसे होती है। इसलिये जिस पुस्तकमें कर्म, उपासना और ज्ञान, तीनों ही पूर्णतया वर्णन किये गये हैं, वही पूर्ण पुस्तक है, और पूर्ण होनेसे भगवान्का वाक्य है, क्योंकि भगवान् पूर्ण हैं। वेदमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, जीवोंके उद्धारकेलिये पूरे पूरे वर्णन किये गये हैं, इसलिये वेद भगवान्के वाक्य हैं; इसीप्रकार गीतामें भी अट्ठारह अध्यायोंसे कर्म उपासना और ज्ञानका वर्णन किया है। इसके सब अध्यायोंमें सब तरहकी बात होनेपर भी प्रधानतः पहले छः अध्यायोंमें कर्मकी बात, दूसरे छः

अध्यायोंमें उपासनाकी बात और तीसरे छः अध्यायोंमें ज्ञानकी बात कहीगयी है, इसलिये गीता पूर्ण है। पूर्णतका और एक लक्षण यह है कि, जिसमें साम्प्रदायिक भाव न हो और निष्पक्ष उदार भाव हो। ऋषियोंकी बुद्धि और साम्प्रदायिक पुरुषोंकी बुद्धिमें इतना ही अन्तर है। ऋषियोंकी बुद्धि पूर्ण होनेसे उसमें साम्प्रदायिक पक्षपात नहीं रहता एवं उससे किसी एक भावकी प्रधानता मानकर और भावोंकी निन्दा नहीं की जाती। जैसा कि, श्रीभगवान् वेदव्यासके नानाप्रकारके पुराण लिखनेके विषयमें कहागया है कि, भगवान् वेदव्यासने पूर्ण ऋषि होनेसे भिन्न-भिन्न पुराणोंमें सभी बातोंका वर्णन किया है, किसीको गौण और किसीको मुख्य नहीं किया। परन्तु साम्प्रदायिक पुरुषोंकी बुद्धि इसप्रकारकी नहीं होती। वे एक ही भावको प्रधान मानकर औरोंकी निन्दा करते हैं। भारतवर्षमें जबसे इसप्रकारके साम्प्रदायिक मतोंका प्रचार हुआ है, तभीसे भारतमें अशान्ति और मतद्वैधता फैल गयी है, और परस्परकी निन्दा व ईर्ष्या फैलकर धर्मके नामपर अधर्म होने लगगया है। परन्तु गीतामें इसप्रकारकी कोई बात नहीं है, क्योंकि गीता भगवान्के मुखसे निकला हुआ पूर्ण ग्रन्थ है। इसलिये गीता सकलप्रकारके अधिकारियोंका समान रूपसे कल्याण करनेवाली है। इसमें कर्मीकेलिये निष्काम कर्मका उदारभाव, भक्तकेलिये भक्तिका मधुरभाव और ज्ञानीकेलिये परमज्ञानका गम्भीरभाव, सभी एकाधारमें सामञ्जस्यकेसाथ भरे हुए हैं, जिससे गीता पाठ करके सभी धर्मके लोग सन्तुष्ट होते हैं और सकल देश तथा सकल धर्मोंमें गीताकी प्रतिष्ठा हुआ करती है। श्रीकृष्णचन्द्रजी पूर्णावतार नहीं होते, तो गीता जैसे विज्ञानशास्त्रको कभी नहीं बोलसकते। गीताकी और पूर्णता यह है कि, गीतामें भक्तिके छः अध्याय बीचमें रखे गये हैं, क्योंकि भक्तिके बीचमें होनेसे, कर्ममिश्रा, शुद्धा और ज्ञानमिश्रा, यह तीनप्रकारकी भक्ति, सकलप्रकारके अधिकारियोंका कल्याण करसकती है। भक्ति सकल साधनोंकी प्राणरूपा है, चाहे कर्मी हो, चाहे ज्ञानी हो, भक्ति मूलमें न होनेसे दोनोंके बन्धनकी आशङ्का रहती है। भक्तिहीन कर्म दम्भ और कर्तृत्व उत्पन्न करसकता है, परन्तु यदि कर्मी अपनेको भगवान्का निमित्तमात्र मानकर, जगत्सेवामें भगवत्सेवा समझकर, भक्तिकेसाथ कर्म करे, तो उस कर्मसे दम्भ या बन्धन उत्पन्न नहीं होगा। उसीप्रकार भक्तिहीन शुष्क ज्ञान चित्तमें तर्कबुद्धि और अभिमान उत्पन्न करके, ज्ञानमार्गी पुरुषको बन्धनमें डालसकता है; परन्तु ज्ञानके मूलमें भक्ति रहनेसे ज्ञानी भक्त आत्मरत बनजायगा, शुष्क तार्किक और अभिमानी नहीं रहेगा, जिससे उसको पूर्णज्ञानकी प्राप्ति होगी। इसप्रकारकी पूर्णता तभी आसकती है, जब कर्म और ज्ञान दोनोंके बीचमें भक्ति आजाय, इसलिये ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीताके बीचके अध्यायोंमें भक्तिको रक्खा है। भक्तिके कर्म और ज्ञानके बीचमें रखनेका और भी उदार हेतु यह है कि, जिसप्रकार उदार पुरुषका भाव निरन्तर विवाद नष्ट करके शान्ति प्रचार करना होता है; उसीप्रकार उदार श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका गीता प्रचार करनेका उद्देश्य संसारमें शान्तिप्रचार करना था, इसलिये उन्होंने भक्तिका

उपदेश कर्म और ज्ञानके बीचमें किया था। क्योंकि जहाँ दोनों विरुद्ध पक्षमें विवाद होता है, वहां बीचमें एक शान्त पुरुष विवादको मिटानेवाला हो, तो विवाद नहीं बढ़ता है; अपि च शान्ति प्राप्त होती है। कर्म और ज्ञानमें सदा ही विवाद है। कर्म जो कुछ कहता है, ज्ञान उससे उल्टा कहता है। कर्मके मतमें जगत् सत्य है। और ज्ञानके मतमें जगत् मिथ्या है। कर्मके मतमें कर्मी होना चाहिये और ज्ञानके मतमें निष्कर्मी होना चाहिये। इसप्रकार ज्ञान और कर्मका विवाद सदा ही बना हुआ है, इसलिये श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने बीचमें भक्तिको रखकर कर्म और ज्ञानका विवाद मिटा दिया है। बीचमें भक्तिके रहनेसे संसार व्यावहारिक दशामें मिथ्या होनेपर भी, संसारको भगवान्का रूप जानकर, ज्ञानी महात्मा जगत्कल्याण-रूप निष्काम कर्मको करसकते हैं और कर्मी सकलप्रकारके कर्मोंको करनेपर भी, जगत्की पारमार्थिक सत्ता अर्थात् ब्रह्मरूपताको जानकर कर्ममार्गमें अहङ्कारआदि बन्धनोंसे मुक्त होसकते हैं। इसीप्रकार भक्तिने बीचमें आकर ज्ञान और कर्ममें सामञ्जस्य कर दिया और दोनोंको निर्विरोध करदिया है। यही गीताकी पूर्णताका लक्षण है, इसलिये गीताके वक्ता श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीमें इसप्रकार आध्यात्मिक पूर्णताभी होनेसे वे पूर्ण परमात्मा थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

पूर्णताका और एक लक्षण यह है कि, द्वन्द्व अर्थात् दो विरुद्धभावोंमें सामञ्जस्य रखना। पूर्ण पुरुष अर्थात् मुक्त पुरुष वही होते हैं, जिनमें सुखदुःखादि-द्वन्द्व-सहिष्णुता होती है। उनके चित्तमें सुखमें हर्ष वा दुःखमें विषादका संस्कार नहीं लगता है, क्योंकि वे सुख दुःखसेपरे आनन्दमय साम्यदशाको प्राप्त करते हैं। पूर्णावतारमें भी यही लक्षण पाया जाता है; क्योंकि पूर्णज्ञानी होनेकेकारण उनमें सकलप्रकारके विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य रहता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें इसीप्रकार परस्पर विरुद्धभावोंका सामञ्जस्य था, जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि, वे भगवान्के पूर्णावतार थे। अब इन विषयोंका दृष्टान्त दिया जाता है। क्षत्रियकी यह प्रकृति है कि, युद्धमें अस्त्र लेकर शत्रुओंको मारदेना। गीतामें अर्जुनको भगवान्ने उपदेश किया है कि, हे अर्जुन! तुम युद्ध किये विना नहीं रहसकते हो क्योंकि :—

प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।

प्रकृति बलाद् तुमको युद्धमें नियुक्त करदेगी। लड़ाई देखनेसे क्षत्रियोंके हाथोंमें स्फुरण होने लगता है। यह क्षत्रियकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। परन्तु श्रीकृष्णके जीवनमें क्या देखते हैं? कुरुक्षेत्रमें इतना युद्ध उन्होंने कराया, अट्ठारह अक्षौहिणी सैन्यको मरवाकर संसारका भार हरण किया, तो भी क्षत्रिय होनेपर भी, युद्धमें अस्त्रतक धारण नहीं कर सकते थे, यही उनके पूर्ण चरित्रमें दोनों विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य है। क्षत्रिय लोग प्रतिज्ञाशूर होते हैं, उनकी प्रतिज्ञा प्राण जानेपर भी नहीं टूटती है। भगवान् सत्यकेरूप होनेपर भी भक्तके अधीन हुआ करते हैं। इसलिये युद्धमें अस्त्र धारण न करनेकी प्रतिज्ञा सर्वत्र अटूट रहनेपर भी, परमभक्त भीष्मदेवकी प्रतिज्ञा रखनेकेलिये अस्त्र धारण करके दोनों विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य किया था। कर्म संसारमें बन्धनका कारण होता है, कर्मी लोगोंमें अपने कर्तृत्वका अभिमान होता

है और दूसरीओर निष्क्रिय होकर आलस्यपरायण होते हैं, इन दोनों भावोंका सामञ्जस्य निष्काम कर्म है; अर्थात् कर्म करते हुए भी उसमें वासनाको न रखकर कर्मकेलिये ही कर्म करना है। यथा, गीतामें कहा है कि :—

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

मनुष्यका अधिकार कर्म करनेमें है, परन्तु कर्मके फलमें अधिकार नहीं है। फलकी इच्छासे कर्म नहीं होना चाहिये और कर्मको छोड़ना भी नहीं चाहिये, यही निष्कामकर्मका आदर्श है। इस आदर्शको पूर्ण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपने जीवनमें पूर्णरूपसे दिखा दिया था कि, किसप्रकारसे सर्व कर्म करते हुए भी कमलदलस्थ जलके-सदृश मनुष्य निर्लिप्त रहसकता है। जितना कर्म श्रीकृष्णचन्द्र जीने अपने अवतारमें किया था, उतना कर्म यदि किसी मनुष्यको करना पड़ता, तो कर्मके चक्रमें पड़कर विक्षिप्त (पागल) होजाता। परन्तु अनन्त जटिल कर्म होनेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रजीके मन और बुद्धिपर उन कर्मोंने कुछ भी असर (प्रभाव) नहीं किया था और उनका वंशी बजाना नहीं छूटा था, जो आनन्द और निश्चिन्तताका चिह्न-स्वरूप था। योगदर्शनमें ईश्वरके लक्षणकेलिये लिखा है कि :—

स एव पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्।

कालकेद्वारा परिच्छिन्न न होनेसे ईश्वर परमज्ञानी ऋषियोंके भी गुरु हैं। वह ज्ञान भगवान् कृष्णचन्द्रकेभीतर था। समस्त उपनिषदोंकी सारभूता गीता जिनकी वाणी है, उनके ज्ञानको क्या सीमा है? इतना ज्ञान होनेपर भी और सबके गुरु होनेपर भी, जब लौकिक जगत्में आये थे, तब लोकाचारको पूरा पूरा निवाहना उनका कर्त्तव्य था, क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करते हैं, और लोग उनका ही अनुकरण किया करते हैं। इसलिये संसारमें आदर्श स्थापन करनेकेलिये सबके गुरु होनेपर भी गुरु सान्दीपिनि मुनिके पास पढ़ने गये थे। और गुरुदक्षिणारूपसे उनके मृत पुत्रको जिला दिया था। इसमें भी दोनों विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य और पूर्णताका लक्षण है। संसारमें अहङ्कार और धृष्टताका लक्षण बहुत बढ़ा हुआ है, मनुष्य सामान्य शक्ति होनेपर भी वर्णधर्म्मोंको मिथ्या कहकर कुछसे कुछ करनेको प्रस्तुत होजाते हैं। विचार करनेकी बात है कि, श्रीकृष्णमें जितनी शक्ति थी, उतनी शक्ति किस ब्राह्मणमें थी? और इसलिये भीष्मदेवने श्रीकृष्णचन्द्रजीको ही सबसे पहले यज्ञभाग देनेका प्रस्ताव किया था; परन्तु इतनी शक्ति होनेपर भी वर्णधर्मकी मर्यादाको श्रीकृष्णचन्द्र-जीने नहीं तोड़ा था, क्योंकि वर्णधर्म जन्म और कर्मसे किसप्रकार सम्बन्ध रखता है, यह श्रीकृष्णचन्द्र अच्छी तरहसे जानते थे। इसलिये क्षत्रियका शरीर होने-केकारण युधिष्ठिरके यज्ञमें ब्राह्मणोंका सत्कार करनेका कार्य उन्होंने लिया था।

सर्वशक्तिमान् होनेपर भी इसप्रकार सबओर विचार रख कर काम करना ही उनके चरित्रमें विरुद्धभावोंका सामञ्जस्य और पूर्णताका लक्षण है। आजकल तीस तीस रुपये पानेवाले ऑफ़िसोंके क्लर्क अपने मरनेकेबाद स्त्रीके गुज़ारेकेलिये लाइफ़इन्शुरेन्स कम्पनीमें रुपये जमा करते हैं। वे स्वयं आधे पेट खाकर भी स्त्रीके मोहमें बद्ध होकर इसप्रकार करते हैं। कर्मोंपर दृष्टि नहीं डालते। क्या श्रीकृष्णचन्द्र-जी चाहते, तो अपनी धर्मपत्नियोंकेलिये इस संसारमें अपनी लीला समाप्त करनेसे पहले कुछ रक्षाकी व्यवस्था नहीं करसकते थे? तीस रुपया पानेवाले क्लर्कमें इतनी शक्ति है, तो उनमें क्या कुछ शक्तिकी कमी थी? परन्तु श्रीकृष्णजी इसप्रकार सामान्य विषयीकीतरह मोहग्रस्त नहीं थे और न कर्मविज्ञानको भूलकर नियतिपर हाथ डालने-की इच्छा करते थे, इसलिये उनके अपने धाममें सिधार जानेकेबाद अर्जुनकी भी शक्ति नष्ट होगयी और स्त्रियोंकी भी रक्षा नहीं होसकी। यह भी कृष्णके दोनों विरुद्धभावोंका सामञ्जस्य और उनकी पूर्णताका लक्षण है। संसारमें मोहान्ध पुरुषका यह लक्षण है कि, अपने आत्मीयजनोंको छोड़नेके समय उसको बहुत दुःख होता है। जिसकेसाथ जितना प्रेम हो, उससे पृथक् होनेकेसमय उतना ही कष्ट होता है। संसारके मोह काम प्रेमआदिमें चित्तको बाँध लेना जीवका लक्षण है और इनसे निर्लिप्त रहना, प्रेम करनेपर भी उसमें बद्ध न होना, एवं मोहादिमें बद्ध होकर अपने कर्त्तव्यको भूल नहीं जाना, यही मुक्त पुरुषका स्वरूप है। यह भाव श्रीकृष्णचन्द्रजीमें पूर्णरूपसे था, क्योंकि गोपियोंका प्रेम जिसप्रकार उनमें था, अक्रूरको ले जाते समय वे सब जिसप्रकार अत्यन्त दुःखकेसाथ रोरोकर उनको रोकनेका प्रयत्न करती थीं, सामान्य पुरुषकी ऐसी शक्ति नहीं थी कि, इसप्रकारके प्रेमको छोड़कर चला जाय; परन्तु श्रीकृष्णजीको अपनी व्रजलीला समाप्त करके और और कर्त्तव्यकेलिये मथुराआदि स्थानोंमें जाना था, इसलिये पूर्णज्ञानी श्रीकृष्णचन्द्रजीके चित्तपर गोपियोंके प्रेम और प्रार्थनाका कुछ भी प्रभाव न पड़ा और वे उनको छोड़ कर चलेगये। यह भी भगवान्के चरित्रमें दोनों भावोंका सामञ्जस्य है। इसप्रकार निष्पक्ष विचारकेसाथ जितना ही सोचा जायगा, उतना ही श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके लोकातीत चरित्र और पूर्णताकी महिमा पूर्णरूपसे प्रकट होगी।

पुराणोंमें पूज्यपाद महर्षियोंने जिन असाधारण दैवीचरित्रोंका वर्णन करके धर्म जगत्का उपकार किया है, वे सब कृष्णचरित्रके सदृश पवित्र व गम्भीर भावोंसे पूर्ण हैं। यहाँपर केवल कृष्णचरित्रको ही आदर्श रखकर पुराणोंके स्वरूपकी समालोचना की गयी। पुराणपाठकोंको इसी विज्ञानको सम्मुख रखकर अन्यान्य चरित्रोंपर श्रद्धा करनी चाहिये।

गोपियोंके चरित्रपर भी मनन करनेसे अद्भुत रहस्य जान पड़ता है। उनका मधुरभाव और उनका भगवान्केप्रति आत्मसमर्पण ही उनकेप्रति भगवान्की कृपाका कारण था। पुराणोंके देखनेसे सिद्धान्त होता है कि, गोपियाँ कई श्रेणीकी थीं। जनकपुरकी भी बहुतसी स्त्रियोंने भगवान्से प्रेम करनेकेलिये वृंदावनमें जन्म लिया था। और भागवतके प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि, बहुतसी देवियोंने और भगवती मायाने भी गोपीरूपीसे जन्म लिया था। यथा-भागवतमें:—

वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पूरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥
विष्णोर्माया भगवती यया संमोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति॥

देवियोंको आदेश हुआ कि, वसुदेवके गृहमें परम पुरुष भगवान् अवतार धारण करेंगे, इसलिये देवियाँ ब्रजमें उत्पन्न होजायँ और माया भी आवश्यक रूपमें वहां प्रकट हो जायँगी। इसप्रकार गोपियाँ कई भागोंमें विभक्त थीं। सभी गोपियोंका भगवान्‌केप्रति प्रेम कान्ताभावसे था। भक्तिशास्त्रमें १४ चौदहप्रकारके रस लिखे हैं, उनमें वीर करुण हास्य बीभत्सआदि सात गौण और दास्यासक्ति सख्यासक्ति वात्सल्यासक्ति कान्तासक्तिआदि सात रस मुख्य हैं। इन सब रसोंकेद्वारा प्रेम करनेके विषयमें भक्तिशास्त्रका यह भी सिद्धान्त है कि:—

माहात्म्यज्ञानसापेक्षम्। तदभावे जारवत्।

कान्तासक्तिहो, अथवा और किसीप्रकारकी आसक्ति हो, सभीमें माहात्म्यज्ञानपूर्वक प्रेम होना चाहिये। ईश्वरमें माहात्म्यबुद्धि न रखकर प्रेम करनेसे वह प्रेम जारसे प्रेम करनेकेसदृश होता है। गोपियोंको श्रीकृष्णकेप्रति प्रेम करनेमें कान्तासक्ति थी, परन्तु बहुतसी गोपियोंको श्रीकृष्णका महात्म्यज्ञान था। वे गोपियाँ जानती थीं कि, श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। जैसा भागवतमें कहा है कि:—

"प्रेष्ठो भवाँस्तनुभृताङ्किल बन्धुरात्मा"
"न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्"।

आप सकल भूतोंके आत्मा हो, सर्वव्यापी अन्तरात्मा भगवान् हो, आदि बहुतसे पहले कहे हुए श्लोकोंसे गोपियोंका श्रीकृष्णमें ईश्वरज्ञान सिद्ध होता है, इसलिये कान्ताभावसे प्रेम करनेसे माहात्म्यज्ञान रहनेकेकारण गोपियाँ उन्नत हुई थीं। कान्ताभाव रखनेका कारण यह था कि, शरीर, मन, आत्मा, सबकेसाथ परमात्माका आनन्द भोग करना यदि साधक चाहे, तो स्त्रीभावमें ही पूरा होसकता है, पुरुषभावमें नहीं होसकता है। इसलिये उन्होंने स्त्रियोंका शरीर धारण किया था, पुरुषोंका नहीं किया। इनका अधिकार गोपबालकोंसे उन्नत था, इसीलिये भगवान्‌की वंशीध्वनिको सुनकर सब गोपियाँ संसारसे वैराग्यवती होकर, उन्होंने भगवान्‌के चरणकमलोंमें ही आत्माको समर्पण कर दिया था, गोपालबालकोंने ऐसा नहीं किया था। अब प्रश्न यह होसकता है कि, जब गोपियोंने अपने अपने पतियोंको छोड़कर श्रीकृष्णको ही पति बनाया, तो गोपियाँ व्यभिचारिणी और पापिनी क्यों नहीं कहलायँगी? इसका उत्तर यह है कि, यदि गोपियाँ अपने पतियोंको छोड़कर और किसी दूसरे मनुष्यको पति बनातीं, तो वे अवश्य व्यभिचारिणी और पापिनी कहलातीं और उनको नरक होता; परन्तु जब गोपियोंने सकल पतियोंके अन्तरात्मा परमपति भगवान्‌में

शरीर मन प्राण और आत्माको समर्पण किया था, तो गोपियोंपर व्यभिचारदोष नहीं लगसकता है, क्योंकि भगवान् ही जब बहुरूप धारण करके समस्त संसारके पति हैं तो:—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन,
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणि,
तथैव सर्वाऽर्हणमच्युतेज्या ॥

जिसप्रकार वृक्षके मूलमें जल सेचन करनेसे शाखा पत्रादि सबकी तृप्ति हुआ करती है और जिसप्रकार प्राणके तृप्त होनेसे इन्द्रियाँ भी तुष्ट होजाती हैं, उसीप्रकार भगवान्की सेवा करनेसे समस्त पति और समस्त संसारकी सेवा होजाती है। विवाहका उद्देश्य यह है कि, स्त्री पुरुषमें परस्पर प्रेम बढ़ाकर भगवान्केप्रति प्रेमका अभ्यास करना। सच्चा प्रेम भगवान्केसाथ ही होता है क्योंकि वही प्रेम नित्य है और भगवान् प्रेमके रूप हैं। भगवान्के प्रेममें दुःख नहीं है, विरह नहीं है, विषाद नहीं है, किसीप्रकारका शोक नहीं है और अशान्ति नहीं है। जीवका हृदय भी इसी नित्य प्रेमकेलिये लालायित रहता है। समस्त संसारके जीव इसी परम शान्तिमय प्रेममय भगवान्के चरणकमलको प्राप्त करनेकेलिये ही अनन्त कालसे कालचक्रमें घूमरहे हैं। संसारकी समस्त अशान्ति और संसारका समस्त चाञ्चल्य इसी निश्चल शान्तिमय परमपदको प्राप्त करनेकेलिये है। श्रीभगवान्केसाथ यही मिलन यथार्थ मिलन और आध्यात्मिक विवाह है। यही विवाह सकल विवाहोंका लक्ष्य है। इसीलिये हीसमस्त संसार घूमरहा है और अनन्त कर्मोंका स्रोत बहरहा है। परन्तु भगवान्के निराकार और इन्द्रियोंसे अतीत होनेसे एकाएक भगवान्केप्रति प्रेम होना कठिन है, इसलिये संसारमें स्त्री-पुरुष जीव आपसमें प्रेम करके हृदयमें जो छिपा हुआ प्रेम है, उसको जगाकरके भगवान्केप्रति प्रेमका अभ्यास करते हैं। शरीरकेसाथ शरीरका सम्बन्ध व मनके साथ मनका सम्बन्ध, यह सभी उसी आध्यात्मिक विवाह अर्थात् भगवान्के-साथ प्रेम करनेका उपायमात्र है, लक्ष्य आध्यात्मिक विवाह ही है। इसलिये जिसका इसप्रकार आध्यात्मिक विवाह होगया है; अर्थात् जिसने संसारके प्रेमको तुच्छ समझकर भगवान्के प्रेमको ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य समझलिया है, उसके जीवनका उद्देश्य पूर्ण होचुका है, इसलिये उसको संसारकी किसी वस्तुकेसाथ किसीप्रकारके सम्बन्ध रखनेकी आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि भगवान्से प्रेम होजानेपर सब कर्त्तव्य पूर्ण होजाते हैं, फिर उसको किसी बातकी जिम्मेवरी (दायित्व) नहीं रहती है। भगवान्केप्रति परम प्रेमवती गोपियोंके चित्तका यही भाव था। उनकी जीवनतरणि सच्चिदानन्दसमुद्रमें बह गयी थी। उनके सब कर्त्तव्य भगवान्के चरणकमलोंमें विलीन होगये थे। उनका सब विवाह आध्यात्मिक विवाहमें जाकर लय होगया था क्योंकि वे श्रीकृष्णचन्द्रको परमपति परमात्मा जानकर उनमें ही शरीर मन और प्राण समपण करचुकी थीं। वे समस्त

धर्मोंको त्याग करके धर्मरूप शाश्वत भगवान्‌में आत्माका समर्पण करचुकी थीं। इसलिये इसप्रकारकी कान्तासक्तिमें कोई पाप या व्यभिचार नहीं था। श्रीभगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है कि :—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ! मयावेशितचेतसाम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहन्त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

जो भक्त मेरेमें ही समस्त कर्मोंको अर्पण करके मेरेमें चित्तको रखकर अनन्य योगकेसाथ मेरी उपासना करेंगे, उनका मैं शीघ्र ही संसारसमुद्रसे उद्धार करूँगा। हे अर्जुन! तुम मेरेमें चित्त रक्खो, मेरे भक्त बन जाओ, मेरी ही पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो, इससे तुम निश्चय ही मुझे प्राप्त करोगे। समस्त धर्मोंको त्याग करके केवल मेरी ही शरण लो, धर्मत्याग करनेसे जो कुछ पाप होगा, उससे मैं ही तुम्हारा उद्धार करूँगा। गोपियोंने भी इसीप्रकार भगवान्‌केप्रति आत्मसमर्पण करके सांसारिक स्त्रीधर्मका त्याग किया था और आत्मसमर्पण करनेकेकारण धर्मत्याग करनेसे जो कुछ पाप हुआ था, भगवान्‌ने उनको उससे उद्धार किया था, यही गोपियोंके प्रेमका रहस्य है। गोपियोंके प्रेमके रहस्यके विषयमें अधिक क्या कहा जाय? गोपियाँ वेद वेदान्त नहीं पढ़ी हुई थीं, परन्तु केवल भक्तिकेद्वारा ही भगवान्‌को उन्होंने अपने वशमें करलिया था, क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि :—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज!।
साधुभि र्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाऽहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियश्चाऽऽत्यन्तिकीं ब्रह्मन्! येषां गतिरहं परा॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

मैं भक्तोंके अधीन हूँ। मेरी स्वतन्त्रता भक्तोंके सामने नहीं है। साधुओंके पास मेरा हृदय बँधा हुआ है। साधुओंकेविना मैं अपनी आत्मा और श्रीको नहीं चाहता हूँ। मैं साधुओंका परम गतिस्वरूप हूँ। मुझमें चित्तको बाँधकर समदर्शी साधुलोग, सती स्त्री जिसप्रकार पतिको वशमें करती है, उसीप्रकार मुझको भी वशमें करलेते हैं। गोपियोंका भगवान्‌के प्रति प्रेमभी ऐसा ही था। यथा :—

वाणी गुणाऽनुकथने श्रवणौ कथायाम्,
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे,
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

गोपियोंकी वाणी भगवान्‌के गुणगानकेलिये थी। उनके कर्ण भगवान्‌के मधुर गुणगान सुननेकेलिये थे। उनके हाथ भगवान्‌के कार्य करनेकेलिये थे। उनका चित्त भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करनेकेलिये था। उनका मस्तक भगवान्‌की मूर्ति और तीर्थोंमें प्रणामकेलिये था। उनकी दृष्टि भगवद्भक्तोंके दर्शनकेलिये थी। इसप्रकार शरीर मन और प्राणसे गोपियाँ भगवान्‌केप्रति प्रेम करती थीं। इसलिये ही भगवान्‌ने उनपर इतनी कृपा की थी और स्वयम् अपने मुखसे उद्धवको व्रजमें भेजते समय उनके प्रेमका वर्णन किया था। यथा-भागवतमेंः—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदेहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः॥
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्।
मयि ताः प्रेयसाम्प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः॥
स्मरन्त्योऽङ्ग! विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः।
धारयन्त्यपि कृच्छ्रेण प्रातः प्राणान्कथञ्चन॥

गोपियाँ मुझमें मन व प्राणको समर्पण किये हुई हैं, मेरेलिये उन्होंने पति पुत्रोंको त्याग करदिया है; उनका स्थूल शरीर व्रजमें रहनेपर भी उनके चित्त आत्मा-स्वरूप मुझमें ही लवलीन रहते हैं। उन्होंने मेरेलिये लोकधर्मको त्याग दिया है। इसलिये उनकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। मैं दूरपर हूँ, इसलिये मेरेप्रति प्रेमवती गोपियाँ मेरे विरहमें वहुत ही दुःख पारही हैं और "मैं फिर लौटकर आऊँगा" इसी आशासे अत्यन्तकष्टकेसाथ किसीप्रकार प्राणोंको धारण कर रही हैं। यही भगवान्-केप्रति गोपियोंका प्रेम था, जिसको भगवान्‌ने उद्धवके सामने अपने मुखसे प्रकट किया था।

श्रीमद्भागवतमें रासलीलाके वर्णनमें जितने श्लोक लिखेगये हैं, उनमें सभी स्थानोंपर श्रीकृष्णजीकेलिये योगेश्वर, मन्मथमन्मथ, आत्माआदि विशेषण होनेपर भी गोपियोंकेप्रेमके विषयमें कहीं कहीं ऐसे वर्णन मिलते हैं, जिनसे गोपियोंमें कामादिभावोंकी प्रतीति होती है। कामकी दशा शरीर और मनपर कहाँतक अधिकार जमा सकती है और किस दशापर पहुँचनेसे जीव कामसे अतीत होसकता है, इसके तत्वको न जानकर श्रीमद्भागवतके उन सब श्लोकोंके आश्रयसे गोपियोंके भावपर बहुतप्रकारकी शङ्कायें हुआ करती हैं, इसलिये गोपियोंके भावोंका वर्णन करके शङ्का समाधान किया जाता है। यह बात पहले ही कही जाचुकी है कि, गोपियाँ पहले

जन्ममें जनकपुरकी स्त्रियाँ थीं। उनमें यही वासना थी कि, शरीर मन प्राण और आत्माकेद्वारा भगवान्‌की सेवा करें अथवा भगवत्सङ्गका आनन्द लाभ करें। इसीलिये गोपियोंमें ऐसी इच्छा रहना वासनाकेअनुसार स्वाभाविक है। इन गोपियोंमें भी पुनः दोप्रकारकी गोपियाँ थीं। एकप्रकारकी ऐसी थीं कि, जिनको उनके पतियोंने रासलीलाकी रातमें श्रीकृष्णजीकेपास जाने नहीं दिया था और इसी दुःखसे उन्होंने उसी समय प्राण त्याग दिया था। इन गोपियोंकेलिये भागवतमें कहा है कि:—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद्‌गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्‌भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसहप्रेष्ठविरह तीव्रतापधुता ऽशुभाः।
ध्यानप्राप्ताऽच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

कोई कोई गोपियाँ जिनके पतियोंने श्रीकृष्णचन्द्रजीकेपास उनको जाने नहीं दिया, घरके भीतर जाकर आँखें बन्दकरके श्रीकृष्णका ही ध्यान करने लगगयीं। इस दशामें उनकी मुक्तिकेलिये जो शुभ और अशुभ दोनोंप्रकारके कर्मोंका क्षय होना चाहिये था, सो होगया, क्योंकि प्रियतम भगवान्‌के विरहमें उनको जो अत्यन्त कष्ट हुआ, उससे उनका समस्त अशुभ कर्म क्षय होगया और ध्यानकेद्वारा परमात्माके-साथ मानसिक रूपसे उन्होंने जो सम्बन्धजनित परम सुख भोग किया, उससे उनका शुभकर्मका बन्धन भी टूटगया, इसप्रकार शुभ अशुभ दोनोंप्रकारके कर्मोंके क्षय होनेसे मुक्तबन्धन होकर उन गोपियोंने गुणमय देहको उसी समय त्यागकरके मुक्तिपद प्राप्त करलिया। भगवद्भावसे सम्बन्धयुक्त गोपियोंके ये संयोग वियोगरूपी दोनों भाव होनेकेकारण तज्जनित सुख और दुःख भी असाधारण थे, इसमें सन्देह ही क्या है? अतः कर्मबन्धनसे छूटकर मुक्त होना भी स्वतःसिद्ध है। इन गोपियोंका भगवान्‌के-प्रति परमात्माका ज्ञान नहीं था, तो भी जब भगवान्‌के संगसे इनकी मुक्ति होगयी थी, तो जो गोपियाँ घरसे निकलकर भगवान्‌केपास चली गयीथीं और भगवान्‌का जिनको माहात्म्यज्ञान अर्थात् परमात्मभाव था, उनकी मुक्तिके विषयमें सन्देह क्या होसकता है? अब बात इतनी ही समझनेकी है कि, गोपियाँ दोप्रकारकी थीं। पहली श्रेणीकी गोपियोंका भगवान्‌केप्रति केवल पतिका भाव था और ब्रह्मका भाव नहीं था और दूसरी गोपियोंका भगवान्‌के प्रति पतिभाव था और ब्रह्मभाव भी था एवं दोनोंप्रकारकी गोपियोंमें ही कामभाव था। इन दोनों विषयोंमें ही महाराजा परीक्षित्‌ने श्रीमद्भागवतमें सन्देह किया है कि, श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकेप्रति ब्रह्मभाव न रहनेपर भी और कामभाव रहनेपरभी सब गोपियोंकी मुक्ति कैसे होगयी थी? यथा, भागवतमें:—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने!।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥

जिन गोपियोंकी मुक्ति घरमेंही ध्यानकेद्वारा होगयी थी, उनमें श्रीकृष्णजीकेप्रति ब्रह्मभावना न होनेपर भी, उनको ऐसी गति कैसे प्राप्त होगयी ? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेवीजीने कहा है कि:—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताऽधोक्षजप्रियाः॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप !।
अव्ययस्याऽप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥

जब भगवान्केप्रति द्वेष करनेपर भी शिशुपालआदिकोंको सिद्धिलाभ हुआ था, तो भगवान्केप्रति शरीर व मनके साथ प्रेम करनेवाली गोपियोंको सिद्धिप्राप्ति क्यों न होगी, क्योंकि अव्यय निर्गुण परमात्माका संसारमें प्रकट होना केवल मनुष्यों-को मुक्ति देनेकेलिये ही है। जिसप्रकार अमृतको कोई जानकर पीवे या न जानकर भी पीवे, तो उससे अमरत्वप्राप्ति होती है; उसीप्रकार भगवान्के स्वरूपको जानकर या न जानकर भी यदि मनुष्यका प्रेम भगवान्के प्रति हो, तो सर्वशक्तिमान् भगवान्की शक्तिसे जीवके समस्त विषयभाव नष्ट होकर अन्तमें मुक्ति प्राप्त होती है। भगवान्के प्रति काम हो या क्रोध हो या भय हो या स्नेह हो या, ऐक्य हो या मैत्री हो; अर्थात् किसी भी भावसे भगवान्केसाथ सम्वन्ध हो, तो उसी भावको लेकर नित्य भगवान्का चिन्तन करते करते जीव तन्मय हो जाते हैं। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया।
कीटको भ्रमरं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते॥

जैसे एक प्रकारका कीट जिसको तैलपायी (तिलचट्टा) कहते हैं, वह भ्रमर कीट (कुम्हार) से पकड़े जानेपर डरसे उसीकी चिन्ता करता करता भ्रमर कीट बनजाया करता है; उसीप्रकार चाहे किसी भावसे हो भगवान्का ध्यान करते करते जीव भगवान्में तन्मय होकर अन्तमें मुक्तिपद प्राप्त करते हैं। इसीप्रकार शिशुपालआदिको सिद्धि मिली थी और इसीप्रकार गोपियोंको भी मुक्ति मिली थी। यद्यपि भागवतके वर्णनसे प्रतीत होता है कि, गोपियाँ स्थूल शरीरकेसाथ भी भगवान्से मिलना चाहती थीं अर्थात् उनमें स्थूल शरीरके सुखकी इच्छा थी, परन्तु वह इच्छा तभीतक सम्भव है, जबतक मनकेसाथ इन्द्रियों और स्थूल शरीरका सम्वन्ध रहे क्योंकि स्थूल शरीरका भोग तभीतक सम्भव होसकता है। मन ही इन्द्रियों और स्थूल शरीरसे मिलकर स्थूल शरीरके भोगोंका अनुभव करता है।

इसलिये जिनका मन जिस समय स्थूल शरीर और इन्द्रियोंसे पृथक होकर और किसी ऊँची वस्तुमें तन्मय होजाय, उनकेलिये उस समय स्थूल शरीरका भोग या उस भोगकी चिन्ता कुछ भी नहीं रहसकती है क्योंकि तन्मय हो जानेसे मन शरीरसे पृथक् होजाता है। गोपियोंकी दशा ठीक इसीप्रकारकी थी। पूर्वजन्मकी वासना प्रबल होनेकेकारण भगवान् श्रीकृष्णको देखते ही पहले पहले गोपियोंके चित्तमें भले ही भगवान्केसाथ स्थूल शरीरसे मिलनेकी इच्छा होजाय, परन्तु भगवान् तो श्रीकृष्ण थे, समस्त संसारके आकर्षण करनेवाले थे, काम क्रोधआदि समस्त इन्द्रियवृत्तियोंको खींचकर अपनेमें लय करनेवाले थे। इसलिये यद्यपि गोपियोंके चित्तमें पहले पहले कुछ कामभाव था फिर भी सर्वशक्तिमान्, सकल रसके आधार, सकल वृत्तियोंको अपनेमें लय करनेवाले भगवान्में इस भावसे चित्तको डालते ही, जिसप्रकार नदी समुद्रमें लय होकर अपनेको भूल जाती है; उसीप्रकार सच्चिदानन्दसमुद्र भगवान् श्रीकृष्णमें गोपियोंकी चित्तरूपी नदी जब मिलकर तन्मय होजाया करती थी; अर्थात् भगवान्की शक्तिसे मुग्ध होकर उन्हींमें मन और प्राणको समर्पणकर गोपियाँ जब तन्मय होजाया करती थीं, उससमय गोपियोंका पहला भाव छूट जाया करता था। क्योंकि जब चित्त शरीर और इन्द्रियोंसे पृथक् होकर भगवान्में लय हो जाय, तो स्थूल शरीरके भोगका ध्यान नहीं रहसकता है। यही दशा गोपियोंकी थी। इसी भावमें गोपियाँ अपने मन और प्राणको भगवान्में तन्मय करदिया करती थीं, जिससे उनका समस्त कामभाव नष्ट होकर अन्तमें मुक्तिपद प्राप्त होगया था। इसप्रकार विषयभाव छूटकर विषयोंसे अतीत तन्मयभाव आना और उन्नति होना सामान्य मनुष्यकेसाथ प्रेममें कदापि सम्भव नहीं होसकता है क्योंकि सामान्य मनुष्यके विषयी और प्रकृतिके अधीन होनेकेकारण अपनेमें प्रकृतिको लय करनेकी शक्ति उसमें नहीं होती है। गीतामें कहा है किः—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

जिसप्रकार नदियाँ आकर समुद्रमें लय होजाती हैं, उसीप्रकार समस्त कामनाओंको अपनेमें लय कर सकें, वे ही शान्तिको प्राप्त होते हैं। इस सिद्धान्तकेअनुसार अपनेमें प्रकृतिको लय करनेकी शक्ति ऐसे सर्वशक्तिमान्, समस्त संसारके आकर्षण करनेवाले भगवान्में ही होसकती है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी पूर्णावतार होनेकेकारण ऐसे ही सर्वशक्तिमान् थे। इसलिये गोपियाँ उनके चरणकमलका आश्रयकरके संसार-समुद्रसे उद्धार होगयी थीं। गोपियोंकी भगवान् श्रीकृष्णमें तन्मयताके विषयमें कहागया है किः—

ता माऽविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।

यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये,
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥

जिसप्रकार मुनि लोग समाधिदशामें या नदी समुद्रमें लय होनेसे नामरूपमय द्वैतभाव नष्ट होजाता है; उसीप्रकार गोपियाँ मुझमें चित्तको प्रेमकेसाथ ऐसा लय करदेती थीं कि, उनमें अत्यन्त तन्मयताकेकारण द्वैतभाव नहीं रहता था। वे अपनेको पूर्णरूपसे भूलजाती थीं। इसप्रकारकी दशामें स्थूल शरीरका भान नहीं रहता है, इसलिये कामभाव भी पूर्ण रूपसे नष्ट होजाता है। इसप्रकारसे गोपियाँ शरीर, मन और प्राणसे भगवान्में प्रीति करके मुक्त होगयी थीं। इसको एक दृष्टान्तसे समझाया जाता है। यदि तख्ते और लोहेकी कीलोंसे बनी हुई किसी नावको एक ऐसे समुद्रमें बहादिया जाय, जिसके एक तटपर एक बड़ा भारी चुम्बकका पहाड़ हो, तो वह नाव समुद्रमें बहती हुई, जब चुम्बकके पहाड़केपास आजायगी, उससमय चुम्बककी आकर्षणशक्तिसे समस्त कीलें नावसे खुलकर पहाड़में जाकर लगजायँगी और वह नाव खण्ड खण्ड होकर समुद्रमें डूब जायगी। ठीक उसीप्रकार गोपियोंकी शरीररूपी नाव, जो काम, मोह, अभिमान, अहङ्कारआदि कीलोंसे बनी हुई थी, उसको उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्रेमसमुद्रमें बहा दिया था, उस प्रेमसमुद्रके किनारेपर चुम्बकके पहाड़रूपी समस्त संसारको आकर्षण करनेवाले श्रीकृष्णजी थे; इसलिये जिससमय गोपियाँ अपने अपने शरीररूपी नावको प्रेमसमुद्रमें बहाती हुईं श्रीकृष्णके-पास आजाया करती थीं, तो उनकी आकर्षणशक्तिसे उनके शरीररूपी नावकी कामकी कील, मोहकी कील, अभिमानकी कील, अहङ्कारकी कील, सब एकबार ही निकलकर श्रीकृष्णमें जाकर लय होजाया करती थीं और गोपियाँ शरीरका सुखभोग, अहङ्कार, मोहआदि सब कुछ भूलकर श्रीकृष्णमें तन्मय होजाती थीं। उनका शरीर प्रेमसमुद्रमें विलीन होजाता था और उनका द्वैतभाव पूर्णतया नष्ट होजाता था। यही गोपियोंके प्रेमका रहस्य है, जिससे सबप्रकारके भावोंके भीतरसे भी उनकी मुक्ति होगयी थी। यही पुराणकथित रासलीलाका आधिभौतिक भाव है, जिसका आदर्श श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने वृन्दावनमें प्रकट करके भक्तजनोंका उद्धार किया था।

पूज्यपाद महर्षियोंकेद्वारा बनाये हुए पुराणशास्त्रकी लौकिकभाषा व परकीय-भाषामें अनेक विस्मय व सन्देहजनक भाव व गाथायें पायी जाती हैं। उनका स्वरूप प्रकट करने और उनके विषयके सन्देहोंको दूर करनेकेलिये गोपीचरित्रकी कुछ समा-लोचना की गयी। विषय मीमांसा योग्य अनेक हैं, परन्तु गोपीचरित्र विशेष प्रसिद्ध होनेकेकारण इसपर ही विचार किया गया।

अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, इन तीनों भावोंके उदाहरण देनेके विचारसे श्रीकृष्ण-गोपी-संवादकी समालोचनामें आधिभौतिक रासलीलाका वर्णन ऊपर करचुके हैं। अब अन्य दो भाव क्रमशः वर्णन किये जाते हैं। रासलीलाका आधिदैविक भाव देवीभागवतमें वर्णन किया गया है। इसमें स्थूल लीला कुछ भी

नहीं है। यहाँ श्रीकृष्णजी वृन्दावनके श्रीकृष्णजी नहीं हैं; अर्थात् परमात्माके अवतार-रूपसे प्रकटित स्वरूप नहीं हैं, परन्तु साक्षात् परमात्मा ही हैं। यहाँ परमात्माकी शक्तिस्वरूपिणी प्रकृति या माया ही राधारूपिणी हैं। महाप्रलयकेबाद जब ब्रह्माण्डकी सृष्टिका समय आता है, तब परमात्मा अपनी ही शक्तिको प्रकट करके उसकेसाथ मिलकर ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं, उससमय प्रकृति और परमात्माका जो मेल है, उसको दैवी रासलीला कहते हैं। यथा, देवीभागवतमें :—

स कृष्णः सर्वसृष्ट्यादौ सिसृक्षन्नेक एव च।
सृष्ट्युन्मुखस्तदंशेन कालेन प्रेरितः प्रभुः॥
स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः॥
तां ददर्श महाकामी कामाऽऽधारां सनातनः।
अतीवकमनीयाश्च चारुपङ्कजसन्निभाम्॥
दृष्ट्वा तां तु तया सार्द्धं रासेशो रासमण्डले।
रासोल्लासे सुरसिको रासक्रीडां चकार ह॥
नानाप्रकारशृङ्गारं शृङ्गारो मूर्त्तिमानिव।
चकार सुखसम्भोगं यावद्वै ब्रह्मणो दिनम्॥
अथ सा कृष्णचिच्छक्तिः कृष्णगर्भं दधार ह।
शतं मन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा॥
शतं मन्वन्तरान्ते च कालेऽतीतेऽपि सुन्दरी।
सुषाव डिम्बं स्वर्णाभं विश्वधाराऽऽश्रयं परम्॥

महाप्रलयकालमें सृष्टिकर्त्ता परमात्मा कृष्ण एक ही थे। यथा, श्रुतिमें :—

सदेव सौम्येदमग्र आसीत्।

सत्स्वरूप परमात्मा ही पहले एकाकी थे। तत्पश्चात् जब उनमें सृष्टिकी इच्छा हुई, तब कालकी प्रेरणासे इच्छामय परमात्माने अपने शरीरको दो रूपोंमें विभक्त किया। उनका वामभाग स्त्रीरूप और दक्षिणभाग पुरुषरूप हुआ। यही परमात्माकी शक्तिरूपिणी प्रकृति माता है, जो परमात्माके वामभागसे प्रकट हुई। तदनन्तर परमात्मामें कामभाव होगया और उन्होंने प्रकृतिको भी परमसुन्दरी व कामवती देखी। यह काम वैषयिक काम नहीं है परन्तु जीवोंके कर्मानुसार सृष्टिकी इच्छा है। संसारका समस्त सौन्दर्य प्रकृतिके ही सौन्दर्यसे उत्पन्न है। चन्द्र सूर्यका सौन्दर्य, पुष्पोंका सौन्दर्य, नर नारीका सौन्दर्यआदि सभी सौन्दर्य प्रकृतिका है, इसलिये परमात्माने प्रकृति माताको चारुपङ्कजके सदृश सुन्दरी देखी। उनको ऐसा देखकर रासके ईश्वर सुरसिक भगवान्‌ने उनके साथ रासलीला की। यहाँ रासलीला शब्दका तात्पर्य सृष्टिकेलिये प्रकृति पुरुषका सम्बन्ध है। यह लीला स्थूल लीला नहीं है।

इस लीलामें नानाप्रकारके शृङ्गार हुए। ये शृङ्गार लौकिक शृङ्गार नहीं है, परन्तु जिस रससे संसारमें सकल रसोंकी उत्पत्ति होती है, वही रस है, क्योंकि भगवान् रसरूप हैं। उन्हींके रससे संसारमें सबप्रकारका रस प्रकट होता है। पतिके चित्तमें पत्नीकेलिये प्रेमरस, माताके चित्तमें पुत्रकेलिये स्नेहरस, पिताके चित्तमें सन्तानकेलिये वात्सल्यरस, पुत्रके चित्तमें माता पिताकेलिये श्रद्धारसआदि सभी रस रसरूप भगवान्के शृङ्गारके फलरूप हैं, इसीलिये नानाप्रकार शृङ्गार कहागया है। तदनन्तर श्रीकृष्ण भगवान्ने अपनी शक्तिस्वरूपिणी प्रकृतिके गर्भमें बीजप्रदान किया। यह बीजप्रदान सृष्टिके पहले जड़ प्रकृतिमें चेतन सत्ताका सन्निवेश है, क्योंकि प्रकृतिके जड़ होनेसे उसमें स्वयं सृष्टि करनेकी शक्ति नहीं है, इसलिये भगवान्केद्वारा दत्त बीज अर्थात् चेतनसत्ताको पाकर ही प्रकृति सृष्टि करनेको प्रस्तुत होती है। बहुत दिनतक यह बीज प्रकृतिके गर्भमें रहा। पश्चात् उसमेंसे एक अण्ड निकला, जो स्वर्णवर्ण और विश्व संसारका आधाररूप था। यह अण्ड सामान्य अण्ड नहीं है, परन्तु ब्रह्माण्ड है, जिससे समस्त संसार दृष्टिगोचर होता है। यही प्रकृति पुरुषके सम्बन्धसे संसारकी उत्पत्ति देवीभागवतमें वर्णित हुई है। यही रासलीलाका आधिदैविकभाव है।

आध्यात्मिक रासलीला योगिजनोंके चित्तमें नित्य हुआ करती है। इसमें मस्तकस्थित सहस्रदल कमलही वृन्दावन है। यह बात योगशास्त्रसे सिद्ध है कि, सहस्रदल कमलके समस्त दल अधोमुख हैं। यथाः—

वृन्दावनस्थास्तरवः सर्व्वे चाऽधोमुखाः स्मृताः।

वृन्दावनके समस्त वृक्ष नीचेकीओर झुके हुए हैं। लययोगका यह सिद्धान्त है कि, समष्टि और व्यष्टिके सिद्धान्तसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एक ही रूप हैं; अर्थात् ब्रह्माण्डमें प्रकृति, पुरुष, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, नदीआदि जो कुछ वस्तुएँ हैं, सबके केन्द्र स्थान प्रत्येक जीवके शरीरमें भी विद्यमान हैं। इस विचारसे परमात्माका केन्द्र स्थान जीव शरीरमें सहस्र दल कमलमें माना गया है और प्रकृतिका स्थान मूलाधारचक्रमें है। वहाँ जो सार्द्धत्रिवलयाकारा (साढ़ेतीन चक्र लगायेहुए आकारकी) कुलकुण्डलिनी शक्ति रहती है, वही त्रिगुणमयी प्रकृति या माया है। कुलकुण्डलिनी शक्तिके प्रकृति होनेसे शरीरमें समस्त शक्तियोंकी वह मूलरूप है। उनमेंसे ही शक्ति निकलकर मनमें, इन्द्रियोंमें और समस्त शरीरकी नस नसमें व्याप्त होकर कार्य करती है। जबतक कुलकुण्डलिनी अधोमुख हुई रहती हैं, तबतक उनमेंसे निकलती हुई समस्त शक्तियाँ विषयवाहिनी होकर जीवको संसारमें मुग्ध करती हैं। परन्तु जिससमय योगी योगकेद्वारा कुलकुण्डलिनी शक्तिको जगाकर उसके अधोमुखको बदलकर ऊर्द्ध्वमुख करदेते हैं, उससमय जो जो शक्तियाँ अधोमुख कुलकुण्डलिनीसे निकलकर जीवको विषयोंमें मुग्ध करती थीं, वे सब शक्तियाँ ऊर्द्ध्ववाहिनी होकर कुलकुण्डलिनीकेसाथ साथ सहस्रारस्थित परमात्माकीओर चलने लगती हैं, जिससे जीवके चित्तसे विषयभाव दूर होकर वैराग्य उत्पन्न होता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है कि, एक ही महाशक्ति तमोगुणका आश्रयकरके जीवको विषयोंमें

मत्त करदेती है और वही शक्ति मुख मोड़कर सत्त्वगुणकीओर चलनेसे भगवान्की-ओर लेजाती है। जो शक्ति सात्त्विकभावसे दयाको उत्पन्न करती है, वही शक्ति तामसिकभावसे जीवको निष्ठुर बनाती है। जो शक्ति सात्त्विकभावसे प्रेमको उत्पन्न करती है, वही शक्ति तामसिकभावसे कामको उत्पन्न करती है। जो शक्ति सात्त्विक-भावसे धर्मको उत्पन्न करती है, वही शक्ति दूसरीओरसे पापको बढ़ाती है। शक्ति एक ही वस्तु है, केवल विपरीत गुणोंके आश्रयसे विपरीत फलको पैदा करती है। जबतक कुलकुण्डलिनी शक्ति नीचेकीओर रहती है, तबतक मनुष्योंकी समस्त इन्द्रियों-की शक्ति वैषयिकभावको उत्पन्न करती है क्योंकि कुलकुण्डलिनी जब समस्त शक्तियों-की मूलरूपा है, तो उसके अधोमुख होनेसे समस्त शक्तियोंसे तमोगुणका कार्य होता है। इसलिये योगी लोग योगकी बहुतप्रकारकी क्रियाओंसे अधोमुख कुलकुण्ड-लिनीको ऊर्ध्वमुख करदेते हैं, जिससे सकल शक्तियोंकी आधारभूता कुलकुण्डलिनी इन्द्रियोंमें, मनमें और शरीरमें व्याप्त अपनी समस्त शक्तियोंको लेकर ऊपरकीओर अर्थात् परमात्माकीओर चलती हैं। इससमय जीवको वैराग्य प्राप्त होता है। उसकी प्रकृति, उसकी इन्द्रियाँ और उसका चित्त विषयोंका त्यागकरके सहस्रारस्थित परमात्मामें जा मिलता है। कुलकुण्डलिनी षट्चक्रभेद करके सहस्रदलकमलस्थित परमात्मामें जा मिलती है। कुलकुण्डलिनीकेसाथ ही साथ और भी सब उसकी सहचरी शक्तियाँ परमात्मामें जा मिलती हैं। यही लययोगमें पुरुषमें प्रकृतिका लय है, इसीलिये इसका नाम लययोग है। योगीमें इसप्रकार प्रकृतिके पुरुषमें लय होनेको ही आध्यात्मिक रासलीला कहागया है। इस रासलीलामें कुलकुण्डलिनी राधा है। दया, क्षमा, ह्री, श्री, धृति, क्षान्ति, स्मृति, अनसूयाआदि अतःकरणकी समस्त शक्तियाँ इसमें राधाकी सहचारिणी वृन्दा, विशाखा, ललिताआदि गोपियाँ हैं। वृन्दावन सहस्रदल कमल है। कृष्णजी परमात्मा हैं, जिनका स्थान सहस्रदल कमलमें है। वंशीकी ध्वनि ओंकारका नाद है, जिसको योगी लोग सुनते हैं। इसी नादको सुनकर राधिका और अन्यान्य गोपियाँ संसारको छोड़कर श्रीकृष्णजीसे मिलनेको चली थीं। कुलकुण्डलिनीके जागनेकेबाद उसे षट्चक्रमें से लेजानेकेलिये बहुतप्रकारकी योगक्रियायेंकरनी पड़ती हैं। चक्र सब सुषुम्ना नाड़ीमें गुंथे हुए हैं, अतः वे कुलकुण्डलिनीके ऊपरकीओर जानेमें बाधारूप हैं। राधा और गोपियोंको श्रीकृष्ण परमात्माके दर्शनकेलिये जितने प्रकारके कष्ट हुए थे, षट्चक्रभेदन करना उन कष्टोंका ही रूप है। नाभिचक्र भेदन करनेकेसमय योगीको कुछ कुछ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिससे योगीमें अभिमान उत्पन्न होसकता है, गोपियोंमें जो कृपारूपी सिद्धियोंको प्राप्तकरके अभिमान होगया था, वह इसी नाभिचक्रभेदनकेसमयके अभिमानकी ही बात है। हृदयस्थित अनाहतचक्रमें आनेसे योगीमें तन्मयभाव आता है, गोपियोंका भी तन्मयभाव इसी अवस्थाका है। भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्रमें आनेसे कूटस्थ चैतन्यका ज्ञान होता है, गोपियोंको भी श्रीकृष्णकेप्रतिः—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।

"आप गोपिकानन्दन नहीं हो, समस्त प्राणिमात्रके अन्तरात्माओंके द्रष्टा हो" ऐसा परमात्माका ज्ञान हुआ था। अन्तमें कुलकुण्डलिनी, और शक्तियोंकेसाथ सहस्रारस्थित व्यापक चैतन्यमें जाकर जब मिलती है, तब योगीको ब्रह्ममय जगत्का ज्ञान होता है, उससमय योगीको परमानन्दकी प्राप्ति होती है, यही रासलीलाका आनन्द है। व्रजकी रासलीलामें परब्रह्मरूप श्रीकृष्णचन्द्रको गोपियोंने अन्तमें सर्वत्र देखकर यही परमानन्द प्राप्त किया था। यही योगीके हृदयमें नित्य रासलीला है। योगीलोग अपनी प्रकृतिको परमात्मामें लयकरके इस नित्यानन्दकी उपलब्धि करते हैं। यही रासलीलाका आध्यात्मिकभाव है। गुप् धातुका अर्थ रक्षण करना है, जिससे गोप गोपी शब्द बनते हैं। इन गोप गोपी शब्दोंकेद्वारा धर्मरक्षणशालिनी वृत्तियोंकी बात कही गयी है। परमात्मा श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने योगमायाका आश्रयकरके रासलीलाकी है, इसका अर्थ यह है कि, भगवान् निर्लिप्त चैतन्य हैं, माया सब ही कुछ किया करती है। श्रीकृष्णको गोपवेशमें वर्णन किया गया है और कान्ति शान्तिआदि शक्तिसमूहको गोपीरूपसे वर्णन किया गया है, इसका अर्थ यह है कि, गुप् धातुका अर्थ रक्षण करना होनेसे आत्माकी सत्तासे जब जगत्की रक्षा होती है, तो परमात्मा श्रीकृष्णको गोप होना चाहिये और शान्ति दयाआदि शरीर-रक्षण-कारिणी शक्तियोंको गोपी होना चाहिये। श्रीकृष्ण राधाको लेकर अन्य गोपियोंसे छिप गये, इसका अर्थ यह है कि, नित्या परा प्रकृति सर्वदा परमात्माकेसाथ रहती है, इसलिये अन्य प्रकृतियोंसे अन्तर होनेपर भी पराप्रकृति बराबर भगवानकेसाथ रहती है। अन्तमें राधिकाको भी श्रीकृष्ण त्याग करके, सम्पूर्ण रूपसे अदृश्य होगये, इसका अर्थ यह है कि, पराप्रकृतिसे जब सम्बन्ध छूट जाता है, तभी ब्रह्म निर्गुण निराकार होते हैं। कन्धेपर चढ़नेको कहकर जो अन्तर्धान होगये, इसका अर्थभी यही है कि, माया ईश्वरके अधीनहै, किन्तु ईश्वर मायाके अधीन नहीं हैं। श्रीकृष्णकी विविध वंशी ध्वनि लययोगके विविध नाद हैं। इसतरहसे हरएक लीलापर संयम करनेसे आध्यात्मिक रासका तत्त्व निकलेगा। पूज्यपाद महर्षियोंने पुराण शास्त्रमें कुछ भी नहीं छोड़ा है। इस आध्यात्मिक रासलीलाका भी वर्णन देवीभागवतमें पाया जाता है। वहाँ उस प्रकरणमें विष्णु और शिवके मिलनसे परमानन्दकी जब उत्पत्ति हुई, तब शिवजीके ताण्डव नृत्यको देखकर विष्णु भगवान् द्रवीभूत होगये। उससमय गोपियाँ श्रीभगवान्के वियोगसे किस भावको प्राप्त हुई, सो संक्षेप वर्णन देवीभागवतमें पढ़नेसे अध्यात्म तत्त्व-पूर्ण, अतिदिव्य, नित्य, योगीजनहृदयविहारिणी आध्यात्मिक रासलीलाका संक्षेप तत्त्व समझमें कुछ आ सकेगा।

पुराणोंमें वर्णित यही रासलीलाके त्रिभावोंकी पूर्णता है, इसके जाननेसे पौराणिक तत्त्वोंके समझनेमें भ्रान्ति नहीं होती है।

इसीप्रकार देवीभागवत, मार्कण्डेयपुराणआदिमें जो देवासुरसंग्रामका वर्णन मिलता है, वह बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखित :—

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चाऽसुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त।

इस मंत्रका ही व्याख्यारूप है, जिसका रहस्य वेदनामक अध्यायमें कहा जा चुका है, इसमें भी पुराणके त्रिभावोंकी पूर्णताका विज्ञान भरा हुआ है। देवासुर-संग्राम आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, इन तीनोंप्रकारोंसे ही हुआ करता है। स्थूल संसारमें जो दैवीसम्पत्ति और आसुरीसम्पत्तिवाले मनुष्योंकी परस्पर लड़ाई हुआ करती है, इसको ही शास्त्रोंमें आधिभौतिक देवासुरसंग्राम कहा जाता है। गीतामें दोनों सम्पत्तियोंके लक्षणोंके विषयमें श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने कहा है कि :—

अभयं सत्त्वसंशुद्धि ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्द्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाऽतिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत!॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानञ्चाऽभिजातस्य पार्थ! सम्पदमासुरीम्॥

अभय, चित्तशुद्धि, ज्ञानयोगमें अवस्थान, दान, दम, यज्ञ स्वाध्याय तप, सरलता, अहिंसा सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अनिन्दा, दया, निर्लोभता, मृदुता, लज्जा, धीरता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और अतिमानिता ये दैवीसम्पत्तियाँ हैं। और दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञानता ये ही सब आसुरी सम्पत्तियाँ हैं। इसप्रकार दैवी और आसुरीसम्पत्तिवाले मनुष्योंमें विवाद हुआ करता है। यही आधिभौतिक देवासुरसंग्राम है। इसीप्रकार सूक्ष्म जगत्में सत्त्व गुणकी अधिष्ठात्री चेतनशक्ति अर्थात् देवता और तमोगुणकी अधिष्ठात्री चेतनशक्ति अर्थात् असुर, इन दोनों शक्तियोंमें जो संग्राम होता है, उसीको दैवी जगत्में देवासुरसंग्राम कहते हैं। यही आधिदैविक देवासुरसंग्राम है। प्रत्येक मनुष्यके चित्तमें जो अहिंसा, सत्य, दया, त्याग, शान्ति, धृति, क्षमाआदि दैवी-सम्पत्ति और इनके विरुद्ध हिंसा, क्रोध, काम, मोह अधैर्यआदि आसुरीसम्पत्ति हैं, इन दोनों विरुद्ध वृत्तियोंमें नित्य संग्राम हुआ करता है, इसको ही आध्यात्मिक देवासुरसंग्राम कहते हैं। सत्त्वगुण और तमोगुणकेअनुसार ये दोनों वृत्तियाँ मनुष्यको सदाही अपनीओर खींचनेकेलिये प्रयत्न करती हैं। इन दोनों वृत्तियोंका संग्राम ही मनुष्य जीवनका प्रेरक और पुरुषार्थका रहस्य है। इन दोनोंमेंसे जिस वृत्तिकी जय होती है, मनुष्योंका चित्त उसी भावमें भावित होता है। तामसिकवृत्तिके पराजयसे मनुष्य सात्त्विक होते हैं और सात्त्विकवृत्तिके पराजयसे मनुष्य तामसिक होते हैं। प्रत्येक अन्तःकरणमें सात्त्विक और तामसिक अर्थात् दैवी और आसुरी-

वृत्तियोंका जो परस्पर संग्राम है, इसीका नाम आध्यात्मिक देवासुरसंग्राम है। यही देवासुरसंग्रामके वर्णनमें पुराणोंमें कथित त्रिभावोंकी पूर्णता है।

इसीप्रकार श्रीगंगाजीकी उत्पत्तिके विषयमें जो कहीं हिमालयसे, कहीं शिवजीके मस्तकसे और कहीं विष्णुजीसे उत्पन्न होना पुराणोंमें वर्णन किया गया है, वह गंगाजीका आधिभौतिक अर्थात् स्थूल स्वरूप, आधिदैविक अर्थात् सूक्ष्म शक्तिमय दैवीस्वरूप और आध्यात्मिक अर्थात् ज्ञानस्वरूप वर्णन करनेकेलिये ही है।

स्थूल गंगा हिमालयकी कन्दरासे निकलती है, यह बात सत्य है क्योंकि प्रत्यक्ष है। ऋषियोंने गंगाजीको हिमालयसे निकलती हुई देखनेपर भी जो शिवके मस्तकसे गंगाजीका निकलना वर्णन किया है, इसमें गंगाजीकी आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों महिमाओंका देखना ही उन लोगोंका उद्देश्य था। जिसप्रकार परमात्मा निराकार होनेपर भी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय यह संसार उनका स्थूल विराट् स्वरूप है, जिसका दर्शन अर्जुनको मिला था; उसीप्रकार शिवका भी विराट् रूप तत्त्वोंके विचारसे पृथिवी कही जासकती है, क्योंकि शास्त्रोंमें प्रमाण मिलता है कि:—

नभसोऽधिपति र्विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाऽधिपः॥

आकाशतत्त्वके देवता विष्णु, अग्नितत्त्वकी देवता महेश्वरी, वायुतत्त्वके सूर्य, पृथिवीतत्त्वके देवता शिव और जलतत्त्वके देवता गणेश हैं। इसलिये तत्त्वोंके विचारसे भावकेअनुसार अधिदैव शिव और अधिभूत पृथिवी है। शिवजीको जो मूर्ति श्वेतवर्ण, बाघम्बरधारी, श्मशानवासी व भुजङ्गभूषण है, सो उनकी भावमयी मूर्त्ति है, जो उनके निराकार स्वरूपकेसाथ भावके सम्बन्धसे बनी हुई है। इसी भावमय मूर्त्तिको भक्त लोग भावकेअनुसार देख सकते हैं। परन्तु जिस मूर्त्तिकेसाथ गंगाजीकी उत्पत्तिका सम्बन्ध रक्खा गया है, वह शिवजीकी भावमयी मूर्त्ति नहीं है किन्तु तत्त्वोंकेअनुसार विराट् मूर्त्ति है। पृथिवीतत्त्वके अधिदैव शिवजी हैं, इसलिये शिवजीका आधिभौतिक स्वरूप अर्थात् स्थूल विराट् मूर्त्ति है, तो इस विचारसे हिमालय शिवजीका मस्तक है क्योंकि मस्तक शरीरके सब अङ्गोंसे ऊँचा अङ्ग होता है और हिमालय पृथिवीमें सबसे ऊँचा अङ्ग है। इसीलिये हिमालयसे गंगाजीका निकलना और शिवजीकी जटासे गंगाजीका निकलना दोनों एक ही बात है। इसप्रकार स्थूल गंगा हिमालयसे निकलनेपर भी हिमालयको केवल हिमालय न कहकर ऋषियोंने जो शिवजीके विराट् भावके सम्बन्धसे गङ्गाजीकी उत्पत्ति वर्णन की है, इसका तात्पर्य यह है कि, यदि ऋषिलोग आजकलके पाश्चात्त्य विद्याभिमानी मनुष्योंकीतरह दृष्टिसम्पन्न होते, तो प्रत्येक वस्तुको केवल स्थूल भावसे ही निश्चय करके उसके सूक्ष्म और आध्यात्मिक भावको उड़ा देते, यदि गंगाजीको और जलाशयकीतरह जलाशयमात्र ही समझते, तो केवल हिमालयसे ही उनकी उत्पत्ति बताते परन्तु ऋषि लोग आस्तिक थे। वे सभी वस्तुओंमें तीन भाव देखते थे। वे तीनों

भावोंकी पूर्णतासे ही पूर्णता मानते थे। इसलिये गंगाजीको केवल जलाशय न समझकर, वे उनको देवी समझते थे। गंगाजीमें दैवीशक्ति ऋषियोंको देखनेमें आती थी। इसी दैवीशक्तिका प्रकाश शिवजीके आश्रयसे हुआ था, क्योंकि शिवजी महाशक्तिके पति हैं। इसलिये दैवीशक्तिके आधार हैं, उनके मस्तकसे निकलती हुई गंगाजीमें अनन्त दैवीशक्तियाँ भरी हुई हैं, जिससे गंगाजी त्रिलोकतारिणी पतितपावनी हैं, जिनके स्पर्शसे सगर वंशके शापग्रस्त मनुष्योंका उद्धार होगया था। वही महान् देवता, शिवजीके मस्तकसे दैवीगंगाके निकलनेका रहस्य है। इसप्रकारसे शिवजीके विराट्रूपसे स्थूल गंगा और शिवजीकी दैवीसत्ताके आश्रयसे शक्तिमयी दैवीगंगा प्रकट हुई।

अब गंगाजीकी दैवीशक्ति जो मन्दाकिनीरूपसे स्वर्गमें विराजमान थी और जिसको भगीरथने शिवजीकी सहायतासे संसारके मनुष्योंके उद्धारकेलिये अपनी तपस्याके बलसे प्रकट कर दिया था, वह शक्ति क्या वस्तु है, सो वर्णन किया जाता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है कि, जड़ वस्तुमें जो कुछ शक्ति देखनेमें आती है, सो सब दैवीशक्तिका ही स्थूलके आश्रयसे विकासमात्र है। यह बात पहले ही कही गयी है कि, प्रत्येक जड़ वस्तुमें कार्यकारिणी शक्ति तभी होसकती है, जब उसको चलानेवाली चेतन शक्ति हो; अर्थात् प्रत्येक जड़शक्ति चेतनशक्तिके आश्रयसे ही सब कार्य करसकती है। जड़ हवामें जो कुछ शक्ति है, यह कभी काम नहीं करसकती, यदि वायुको चलानेवाली चेतनशक्ति न होगी। जड़ अग्निमें जो कुछ शक्ति है, वह कभी नहीं काम करसकती, यदि आगको चलानेवाली चेतनशक्ति न होती। ये सब चेतनशक्तियाँ देवता या देवी कहलाती हैं। इसीप्रकार जिस चेतनशक्तिके प्रतापसे गंगाजल संसारमें अनन्त कार्य करता है, उस चेतनशक्तिका नाम गंगादेवी है। इसी गंगादेवीके रहनेसे ही गंगाजलमें कईप्रकारकी शरीर आरोग्यकारी स्थूलशक्तियाँ और मन व आत्माको पवित्र करनेवाली सूक्ष्म शक्तियाँ हैं। गंगाजलमें जो अद्भुत स्थूल शक्ति विद्यमान है, जिसको इतने दिनबाद पश्चमी विद्वानोंने कुछ कुछ निर्णयकरके सबकी आँखें खोलदी हैं। इसी शक्तिकी प्रशंसामें हमारे ऋषिलोगोंने गंगाजीकी स्तुतिसे ग्रन्थके ग्रन्थ भरडाले हैं। परन्तु दुर्भाग्य है, उन पाश्चात्त्य विद्याभिमानियोंका, जो पहले अपने वृद्ध पिता ऋषियोंकी बातको नहीं मानते थे, अब उन्हीं बातोंको पश्चिमी सायन्स-वेत्ताओंके मुखसे सुनकर मानने लगे हैं। जबतक सायन्सने गंगाजलकी शक्तिके विषयमें कुछ भी निर्णय नहीं किया था; तबतक पाश्चात्त्य विद्याभिमानी लोग समझते थे कि, गंगाका जल और कूपका जल एक प्रकारका ही है, दोनोंमें कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों ही हाइड्रोजन (Hydrogen) और ऑक्सीजन (Oxygen) के मिलानसे बनेहुए हैं। अब उनको पता लगगया है कि, गंगाकी हवा, गंगाकी मिट्टी, गंगाका जल, सभीमें शरीरको पुष्ट और आरोग्य करनेकी शक्ति विद्यमान है। गंगाकी मिट्टीके मलनेसे सबतरहके चर्मरोग आराम होते हैं। गंगाजलमें स्नान करनेसे मस्तककी बीमारी अच्छी होती है। गंगाके वायुके सेवनसे शरीरमें

कोई रोग नहीं रहता है। गंगाका जल पीनेसे अजीर्णरोग की तो बात ही क्या, जीर्णज्वरआदि कठिन रोग भी आराम होजाते हैं। केवल इतना ही नहीं, बड़े बड़े सायन्सवेत्ताओंने कह दिया है कि, गंगाजलमें शरीरके बलको बढ़ानेकी अपूर्व शक्ति विद्यमान है, जिससे दुर्बल रोगी, रोगसे मुक्त होनेकेबाद शरीमें बल बढ़ाना चाहे, तो उसको डॉक्टरी टॉनिक (Tonic) खानेकी आवश्यकता नहीं है केवल गंगाजल पान और गंगास्नानसे ही शरीरमें पूर्ण बल प्राप्त होता है। यह भी दिखाया, गया है कि, कूप आदिकोंके जल दो चार दिनमें ही खराब होजाते हैं और पीने योग्य नहीं रहते, परन्तु गंगाजल चाहे कितनी ही दूर लेजाकर वर्षोंतक रखा जाय कुछ भी खराब नहीं होता है, वैसा ही स्वादिष्ट और पान करने योग्य रहता है। जितने संक्रामक रोग या प्लेगआदि कठिन कठिन रोग देशमें बहुत ही अनिष्ट करते हैं, वे सब प्रायः खराब स्थान और खराब जलमें उत्पन्न होते हैं। मलेरिया, प्लेग, हैजाआदि बीमारियाँ रोगके कीटोंसे फैलती हैं। हैजेके कीट जलमें ही बहुत उत्पन्न होते हैं, परन्तु परीक्षा करके देखा गया है कि, गंगाजलमें कभी किसी रोगका कीट पैदा नहीं होता, इतनातक कि गंगाजलमें रोगके कीट लाकर छोड़ देनेपर वे मरभी जाते हैं। गंगाजलमें इसप्रकारकी अपूर्व शक्ति है। इसीलिये ऋषिलोगोंने गंगाजलकी इतनी स्तुतिको है। कहा है कि:—

शरीरे जर्जरीभूते व्याधिग्रस्ते कलेवरे।
औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः ॥

शरीरके जर्जर होजानेपर और व्याधियोंसे ग्रस्त हो जानेपर गंगा जल ही औषध है और श्रीमन्नारायण ही वैद्यराज हैं। गंगाजल ही श्रेष्ठ औषधि है, यह सब कहना गंगाजलमें जड़ शक्तिका लक्षण है। इस जड़ शक्तिकी मूलस्वरूपिणी चेतनशक्ति संसारमें गंगादेवीरूपसे प्रसिद्ध हैं, जिनकी शक्तिकी महिमा समस्त हिन्दूशास्त्रोंमें वर्णन की गयी है। यथागंगाके स्पर्शसे, यहाँ तक कि स्मरणसे भी पाप दूर होते हैं। ऋग्वेदमें भी स्तुति की है कि:—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचत।

हे गंगे, यमुने, सरस्वति, शुतुद्रि, तुम मेरे यज्ञको सेवन करो। यहाँ गंगा-आदि अधिष्ठात्री देवियोंका आवाहन किया गया है। रामायणमें सीताजीकी उक्ति है कि:—

त्वं हि त्रिपथगे! देवि! ब्रह्मलोकसमन्त्वमे!।
सा त्वां देवि! नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने!॥

हे देवि! तुम स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, तीनो लोकोंमें तीन रूपसे जाने वाली व ब्रह्मलोक प्राप्त करानेवाली हो, तुमको प्रणाम करती हूँ और तुम्हारी स्तुति करती हूँ।

संसारमें शक्तिकी ही पूजा हुआ करती है, रक्त मांसकी नहीं। शक्ति ही दूसरेके चित्तपर प्रभाव डाल सकती है। शक्तिमान् पुरुष ही अपनी वाणी और

कार्यकेद्वारा सबका चित्त आकर्षण करते हैं। जिनमें शक्ति नहीं है, उनके वशमें कोई नहीं होते हैं। आज गंगाजीकी इतनी निन्दा होनेपर भी व उनकी महिमाको उड़ादेनेकेलिये इतनी चेष्टा होनेपर भी लाखों करोड़ों मनुष्य, जो गंगाका नाम सुनते ही भक्तिभावकेद्वारा आकृष्ट होते हैं, उनके पवित्र जलमें स्नानकरके समस्त पाप नाश और मुक्तिपद प्राप्त करनेकी आशा रखते हैं, एवं सामान्य पर्वमें भी अत्यन्त कष्ट सहन करके हरिद्वारआदि तीर्थोंमें जाकर स्नान करके आत्माको पवित्र करते हैं, यदि गंगाजीकी दैवीशक्ति न होती, तो ऐसा होना कभी सम्भव न होता। यह सब गंगाजीकी शक्तिका ही परिचय है। मूर्त्तिपूजाका रहस्य जो आगे बताया जायगा, उसके जाननेपर मालूम होगा कि, हिन्दू पाषाणआदिकी मूर्त्तिकी पूजा नहीं करते, परन्तु उन मूर्त्तियोंके द्वारा अपनी श्रद्धा, भक्ति, क्रियाआदिके बलसे सर्वव्यापक भगवान्की शक्तिको प्रकटकरके उसीकी पूजा करते हैं। भक्त लोगोंमें जो श्रद्धा, क्रिया और भक्तिकी शक्ति है, वही शक्ति भगवान्की दैवीशक्तिको मूर्त्तिके जरिये प्रकट करदेती है। मूर्त्ति केवल जरिया है, उसमें भगवान्की शक्ति प्रकट होना तभी सम्भव हो सकता है, जब साधककी श्रद्धा और क्रिया ठीक ठीक हो। गंगाजलमें जो दैवीशक्तिका समावेश है, वह भी इसी विज्ञानकेअनुसार है; अर्थात् जो गंगाकी दैवीशक्ति मन्दाकिनीरूपसे दिव्य लोकमें व्यापक थी, उसीको भक्त भगीरथने अपनी तपस्या और भक्तिके बलसे मर्त्यलोकमें गंगादेवीरूपसे प्रकट करदिया था। इस विज्ञानको ऐसे भी समझ सकते हैं। यथा—सायन्ससे सिद्ध होचुका है कि, सूक्ष्मशक्तिके घनीभावसे ही स्थूल वस्तु बनती है। सूक्ष्मशक्तिमें स्पन्दनके आधिक्य होनेसे सूक्ष्मता नष्ट होकर स्थूलता आती है। प्रलयके समय स्थूल वस्तुएँ नष्ट होकर शक्ति ही रहजाती है। फिर सृष्टिके समय वही शक्ति घूमती हुई गाढ़ी होकर स्थूल संसाररूपसे परिणत होजाती है। हिन्दूशास्त्रका भी यही सिद्धान्त है कि, प्रलयकी दशामें स्थूल दृश्य जगत् नष्ट होकर प्रकृतिके गर्भमें लय होजाता है। प्रकृति भगवान्की शक्ति है। वह भी परमात्मामें लय होजाती है। इसप्रकार हिन्दूशास्त्रमें सूक्ष्मशक्तिसे स्थूल जगत्का विकाश होना लिखित है। गंगाजीकी जो सूक्ष्म चेतन-शक्ति मन्दाकिनीरूपसे दिव्य लोकमें विराजमान थी, वही भक्त भगीरथकी तपस्याके बलसे द्रव होकर स्थूल गंगारूपसेशिवजीकी जटासे बहने लगगयी। यही गंगादेवीके प्रकट होनेका रहस्य है।

तीसरी आध्यात्मिक गंगा, जिसको ज्ञानगंगा बोलते हैं, जिसकेलिये श्रीभगवान् शङ्कराचार्यजी नेः—

ज्ञानप्रवाहा विमलाऽऽदिगङ्गा।

"ज्ञानरूप प्रवाहवाली गंगा विमला आदिगंगा है" ऐसी स्तुति की है, उनकी उत्पत्ति भगवान् विष्णुसे है। विष्णुजी परमात्माकी चित्सत्ता अर्थात ज्ञानसत्ताके केन्द्ररूप हैं, इसलिये उनसे ही ज्ञानगंगाका निकलना विज्ञान सिद्ध है। इसीको ही किसी किसी पुराणमें वर्णन किया है कि, शिवजीके नृत्यको देखकर विष्णु द्रवित

होगये और उसीसे गंगा निकली। यह सब उसी भावका वर्णन है, इसीलिये गंगाका नाम ब्रह्मद्रव है। जिस विष्णुपदसे गंगा निकली है, उसका तात्पर्य्य बहुत ही सुगम है। ब्रह्मपद कहनेसे जिसप्रकार ब्रह्मभावरूप तात्पर्य्य समझा जासकता है; उसी-प्रकार विष्णुपद कहनेसे सर्वव्यापक चिन्मय विष्णु भगवान्का विष्णुभाव समझा जायगा; अर्थात् पदशब्द यहाँ भावबोधक है। यही गंगाजीका आध्यात्मिक स्वरूप है।

इस प्रकार गंगाजीके स्वरूपके विषयमें पुराणकथित त्रिभावकी पूर्णता है। पुराणोंके गम्भीर रहस्योंपर जितना ही विचार किया जायगा, उतना ही सर्वत्र आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों भावोंकी पूर्णता दृष्टि-गोचर होगी।

(३) पुराणोंकी तृतीय पूर्णता त्रिगुणानुसार त्रिविध अधिकारवर्णनमें है। संसार त्रिगुणमय है, इसलिये संसारमें तीनप्रकारके अधिकारी होते हैं। पुराणोंकी महिमा यह है कि, तीनोंप्रकारके अधिकारियोंका ही कल्याण करते हैं।

पुराण सात्त्विक अधिकारीकेलिये परमहंस संहिता हैं, जिनसे मुमुक्षु जीवके-वास्ते अपूर्व वैज्ञानिकतत्त्वोंका वर्णन किया गया है। परात्पर परब्रह्म सृष्टिसे अतीत और प्रकृतिसे परे हैं। माया उनको स्पर्श नहीं कर सकती है। उनकी अपूर्व सत्ता समस्त जीवोंमें विद्यमान है, परन्तु जीव अविद्याग्रस्त होनेकेकारण उनकी सत्ताको जान नहीं सकते हैं। जन्मजन्मान्तरकृत तपस्या और निष्कामकर्मकेद्वारा चित्तका समस्त मल नष्ट होनेसे स्वयम्प्रकाश भगवान्की पवित्र सत्ता उसी निर्मल अन्तःकरणमें प्रकट होकर साधकको निर्वाणपद प्राप्त कराती है। यही सात्त्विक अधिकारीकेलिये पुराणरूप परमहंस संहिताओंका परम अपूर्व उपदेश है।

इसीतरह राजसिक अधिकारियोंकेलिये सकामकर्म और सकाम उपासनाका उपदेशकरके पुराण उनको स्वर्गादि दिव्यलोकसमूहका सुख-उपभोग कराकर उत्तरोत्तर उन्नत लोकसमूहको प्राप्त कराते हैं। पुराणोंमें कितने ही सकामव्रत और इष्टापूर्त्तादि सकाम कर्मसमूहका वर्णन है, जिन कर्मसमूहका यथाविधि अनुष्ठान करनेसे उनके फलरूपसे वे जीव दिव्य विमानोंपर चढ़कर, स्वर्गलोकमें जाकर, स्वर्गके अपूर्व भोगसमूहका उपभोग करते हैं। तदनन्तर कर्मफलावसानमें पृथिवीपर आकर और कर्मोंका नश्वरत्व जानकर ज्ञानकेद्वारा मुक्तिलाभ करते हैं। इसीतरहसे भगवान्की सकाम उपासना और देव देवीआदि समस्त भगवान्की शक्तियोंकी सकाम उपासनाके-द्वारा उपासकगणको इहलोक और परलोकमें विविधप्रकारके सुखोंका अधिकारी बनाकर, कभी विष्णुलोकमें कभी विष्णुके अपूर्व काननमें दिव्य पुष्पसमूहके मधुपानकारी भ्रमर, कभी उसी काननविहारी विविध सौरभाघ्राणकारी भगवान्के पार्श्वचर, कभी कैलासके मङ्गलमय शङ्करके शान्तिमय भवनमें भगवतीके चरणसेवक और कभी कुबेरके धनभण्डारमें विपुलैश्वर्याधिकारी बनाकर पुराण ही धीरे-धीरे उनकी उन्नति करता है।

जो तामसिक अधिकारी हैं, जिनको अधर्म धर्मरूपेण और धर्म अधर्मरूपेण

प्रतीत होता है, उनको नरकका भीषण भय दिखाकर, नरकमें पापियोंको कैसी भीषण यन्त्रणा होती है, इसका अपूर्व सत्य सत्य वर्णन करके पुराण ही उनकी धर्ममार्गमें प्रवृत्ति कराता है। यही पुराणकी अपूर्व महिमा और जगत्-कल्याणकारिता है।

(४) पुराणकी चतुर्थ पूर्णता सकलप्रकारके जीवोंकी आध्यात्मिकोन्नति-साधनमें है। निन्यानन्दप्रवासी जीव जिस आनन्दकेलिये प्रातःकालसे सायङ्कालतक और सायङ्कालसे प्रातःकालतक कठिन परिश्रम करके आनन्दके बदले विषय रूप विषयन्त्रणा लाभ करते हैं, ज्ञानपिपासु जीव जिस ज्ञानके अन्वेषणमें निशिदिन तत्पर होनेपर भी मायाकेद्वारा मुग्ध हो अज्ञानरूपा मरीचिका (मृगजल) में शुष्ककण्ठ होकर हाहाकार करते हैं, उन्हीं ज्ञानभ्रान्त और प्रेमभ्रान्त जीवोंकेलिये पुराण प्रथप्रदर्शन करते हैं। पुराण ही संसारसमुद्रमें बहती हुई, विपत्तिके विविध तरङ्गोंसे पूर्ण, जीवरूपी तरणिकेलिये ध्रुव तारा हैं। इन्हीं पुराणोंको आश्रयकरके ही कितने अज्ञानी जीव प्रकृति राज्यको अतिक्रम करके ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं, इसकी इयत्ता (सत्यगणना) कौन करेगा? कठिन कण्टकोंसे पूर्ण वेदके दुर्गम मार्गपर कौन चल सकता था, यदि पुराण न होते? वेदकी कठिन भाषायें और वेदके कठिन भाव यदि पौराणिक सरल भाषाओं और सरल भावोंकेद्वारा प्रकटित नहीं होते, तो समस्त जीव वेदकी पवित्र ज्योतिसे वञ्चित रहकर अन्धकारमय संसारकूपमें पड़े रहते। दर्शनशास्त्र समस्त परम तत्त्वोंके साक्षात्कारकेलिये दिव्य नेत्ररूप हैं परन्तु ऐसे दिव्य नेत्र कितने मनुष्योंको मिल सकते हैं? दर्शनोंके अधिकारी कम लोग हुआ करते हैं। यह केवल पुराणोंकी ही महिमा है, जिसकेद्वारा कठिन दार्शनिक सिद्धान्त सरल भाषामें प्रकट हो अतिसामान्य अधिकारीकेलिये भी आध्यात्मिक उन्नतिकेकारण होते हैं।

(५) पुराणकी पाँचवीं पूर्णता कर्म उपासना व ज्ञानका तत्त्वनिर्णय करते हुए कर्मयोगका आत्मत्याग, ज्ञानकी गम्भीरता और भक्तिकी माधुरीके वर्णनमें है। जगत्में अधिकारी तीन प्रकारके होते हैं। रजस्तमः प्रकृतिके जीव कर्मके अधिकारी, रजस्सत्त्व प्रकृतिके जीव उपासनाके अधिकारी और सात्त्विक प्रकृतिके जीव ज्ञानके अधिकारी होते हैं। पुराणोंने जीवोंके ऊपर क्या अपूर्व कृपा की है कि, इन तीनोंप्रकारके अधिकारियोंके कल्याणके अर्थ उन्होंने अपने विराट् शरीरको त्रिधा विभक्त करके कर्मीकेअर्थ कर्मप्रधान भाग, उपासकके अर्थ उपासनाप्रधान भाग और ज्ञानीकेअर्थ ज्ञानप्रधान भागको अर्पण किया है। प्रत्येक पुराणमें सबप्रकारके अधिकारियोंके-अर्थ कल्याणप्रद वस्तु होनेपर भी पुराणसमूहको प्रधानतः तीन श्रेणीमें विभक्त कर सकते हैं। यथा—कर्मप्रधान पुराण महाभारतादि, उपासनाप्रधान पुराण श्रीमद्भागवतादि और ज्ञानप्रधान पुराण योगवासिष्ठादि। योगवासिष्ठको महारामायण अथवा रामायण नामसे भी कहीं कहीं कहा जाता है। इसकारण ज्ञानप्रधान पुराण रामायणादि हैं, ऐसा भी कहसकते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीकी लीलाका वर्णनकारी वाल्मीकीय रामायण भी धर्मज्ञानलाभमें उपकारिणी होनेसे ज्ञानप्रधान ही है।

महाभारतका कर्मक्षेत्र कितना विशाल है ? जिस विशाल कर्मयज्ञकी देवता यज्ञेश्वर नारायण हैं, जिस कर्मयज्ञमें होता समस्त देवर्षिपितृगण हैं, जिस कर्मयज्ञमें आहुति अष्टादश अक्षौहिणी सेना (वीर पुरुषगण) हैं, जिस कर्मयज्ञका फल संसारका गुरुभारहरण, अधर्मका समूलोन्मूलन और धर्मराज्यका संस्थापन है, जिस कर्मयज्ञमें वीरताकी पूर्णता, उदारताकी पूर्णता, क्रूरताकी पूर्णता, धर्मभावकी पूर्णता, स्वार्थत्याग-की पूर्णता, विरोधकी पूर्णता, लोकशिक्षाकी पूर्णता, ज्ञान विज्ञानकी पूर्णता, इसप्रकार पूर्णताकी पराकाष्ठा होगयी थी, जिस कर्मयज्ञमें व्रती होकर अन्धको दिव्य नेत्र लाभ हुआ था, पङ्गुने हिमगिरिका उल्लङ्घन किया था और स्वयं भगवान्को भी अपनी सत्य प्रतिज्ञा भङ्ग करनी पड़ी थी। उस कर्म प्रधान महाभारतकेद्वारा पुराणोंने जगत्का कितना कल्याण किया है, उसका वर्णन नहीं होसकता है।

इसीप्रकार उपासनाप्रधान श्रीमद्भागवतादिमें भक्तिकी अपूर्व लीला, पुण्यश्लोक भगवान्की अपूर्व गुणकथा और चतुर्दश रसोंकी अपूर्व माधुरी, वर्णित है, जो विश्वको पवित्र कर रही है। श्रीभगवान्ने निर्गुण निराकार होनेपर भी जिन भागव-तादि महापुराणोंकी महिमा प्रकट करनेकेअर्थ विविध मनोरम, नयनरञ्जन और चित्तचातकिनीकेअर्थ अमृतधारामय, सगुण रूप धारणकरके जगत्में भक्तिस्रोत प्रवाहित करदिया है, उसको भावुक लोग सदा ही सेवन करके भावसमुद्रमें अवगाहन करते हैं। जिस भागवतके अर्थ यह प्रशंसा है कि :—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयम्
मुहुरहो रसिका ! भुवि भावुकाः ॥

भागवत वेदरूप कल्पतरुका रसाल फल है। वह शुकके मुखके अमृतद्रवसे संयुक्त है। अतः हे भावुक रसिको ! मुक्तिपर्यन्त उस भागवतरूप फलके रसको बारंबार प्रसन्नतापूर्वक पान करो। उन उपासनाप्रधान श्रीमद्भागवतादि पुराणोंकी जगत्-कल्याणकारिताके विषयमें जो जितना कहे उतना ही थोड़ा है।

ज्ञानप्रधान योगवासिष्ठादिकेद्वारा, कठिन और अतिगहन ज्ञानके विषयोंको अतिमधुररूपसे गाथाओंकेद्वारा चित्तके भीतर प्रविष्ट कराकर, उसकी विशुद्ध ज्योतिसे अज्ञानान्धकारको दूर करके ज्ञानलोकको किसप्रकार प्रकाशित किया गया है, सो अवर्णनीय है। जिस योगवासिष्ठके वक्ता ज्ञानघन महर्षि वसिष्ठ, जिस योगवासिष्ठके श्रोता पूर्णब्रह्म नारायण श्रीरामचन्द्र, जिस योगवासिष्ठके श्रवण, मनन और निदिध्या-सनके फलरूप अमृतफलके आस्वादनकेद्वारा श्रीभगवान् रामचन्द्रके अशान्त चित्तमें शान्ति आगयी थी, उन योगवासिष्ठप्रमुख ज्ञानप्रधान पुराणोंके विषयमें क्या कहें, पुराणोंकेद्वारा यही जगत्-कल्याणकारिता है।

(६) पुराणोंकी षष्ठ पूर्णता उनकी परम आस्तिकतामें है। पाठक यदि एकाधारमें सकलप्रकारकी पूजापद्धति जानना चाहते हों, तो पुराणोंको देखें। यदि

अपने संतप्त हृदयको आस्तिकतारूप अमृतधारासे भरना चाहें, तो पुराणोंका आश्रय लें। पुराण संसाररूपी मरुभूमिके मरूद्यान (मरुभूमिमें स्थित उद्यान) हैं। पुराण दुःखदावानलदग्ध हृदयकेलिये मन्दाकिनीकी शीतल धारारूप हैं। पुराण उपासना-विहीन और भक्तिविहीन शुष्कहृदयकेलिये अमृतके समुद्ररूप हैं। पुराणोंमें निर्गुण उपासनाका उच्च अधिकार है, पुराणोंमें सगुणोपासनाका मध्याऽधिकार है, पुराणोंमें अवतारोपासनाका अपूर्व महत्त्व है, पुराणोंमें मूर्त्तिपूजा रूपविज्ञानका अपूर्व भण्डार भरा हुआ है, पुराणोंमें ऋषिदेवपितृरूप नित्य शक्तिसमूहकी अपूर्व महिमा है। और अधिक क्या कहें, भूतप्रेतादिकी निकृष्ट उपासना भी पुराणोंमें विद्यमान है। पुराणोंमें आस्तिकताकी पूर्णता है। जिस पूर्णताकेलिये प्रत्येक देवताके नामसे अथवा एक एक अवतारके नामसे पुराण अपने नामकरण करके धन्य हुए हैं। आज विष्णु पुराण न होता, तो विष्णु भगवान्‌की अपूर्व महिमा जगत्‌के जीवोंके हृदयगोचर कैसे होती? आज देवीभागवत न होता, तो देवीका असुरदलन, देवासुरसंग्राममें दैवीशक्तिका माहात्म्यप्रकटन, लोलरसना, विकटदशना, रणरङ्गिणी श्यामाके भीषण गर्जन एवं अट्टहासकेद्वारा दैत्योंका हृदयविदारण तथा आसुरी शक्तिका समूलोन्मूलन कैसे मनुष्योंको होसकता? आज यदि मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण वाराहपुराणआदि पुराण नहीं होते, तो अवतारोंकी अपूर्व लीला और विभूतियोंकी अपूर्व महिमा जगत्‌में किसतरह प्रकट होती? विश्व जगत्‌की परिपालनाकेलिये देवशक्ति, ऋषिशक्ति और पितृशक्तियाँ हैं। इनसे किसप्रकार जगत्‌की रक्षा हो रही है और किसप्रकार परमाशक्तिके रहनेसे जगच्चक्रकी गति बनी हुई है, इन सब शक्तियोंका विलास वर्णनकरके आस्तिकताके परम भावसे हृदयको पूर्ण करनेवाले पुराण ही हैं।

(७) पुराणकी सप्तम पूर्णता सकल भावोंके समन्वयमें है। पुराणोंमें विषय-समूहका ऐसा समावेश है कि, उनकेद्वारा सकलप्रकारकी चित्तवृत्तियोंको आनन्द होता है। हे ज्ञानी गम्भीर पाठक! तुम ज्ञानीकी गाम्भीर्यपूर्ण मुखच्छवि देखना चाहो, तो पुराणमें देखलो। हे भावुक! तुम भावके गम्भीरसमुद्रमें स्नान करना चाहो, तो देखो! तुम्हारे सामने पुराणके सप्तसमुद्र—क्षीरसमुद्र, दधिसमुद्र, अमृत-समुद्र और रससमुद्रादि, तरङ्गके ऊपर तरङ्ग फैलाकर कभी उन्मत्तवत् नृत्य करते हैं, कभी अपने आवर्त्तसमूहकेद्वारा नियतिकी लीलाको प्रकट करते हैं, कभी प्रचण्ड पवनकेसाथ घोर सङ्ग्रामकरके प्रलयका पूर्वरूप दिखाते हैं और कभी पुष्पोंका भार छातीपर लेकर न जाने किस विराट् पुरुषकी विराट् पूजाकेलिये तरङ्गपर तरङ्ग उठाकर गमन करते हैं। गन्धप्रिय जीव! तुम पुष्पका सुगन्ध आघ्राण करना चाहो, तो वह देखो! तुम्हारेलिये पुराणोंने पारिजात हरिचन्दनआदिके कुसुम भारसे अवनत नन्दन काननकी शोभा तुम्हारे नयनपथमें शोभायमान कर रखी है। वह देखो! सुगन्ध गन्धवह पवन उन्हीं दिव्य कुसुमोंके सुगन्धको नृत्य करते करते लेआकर तुम्हारे घ्राणेन्द्रियकी अपूर्व प्रीति सम्पादन करते हैं। हे सुकवि! तुम कविताके सुन्दर काननमें काननविहारिणी कुरङ्गिणी (मृगी) कीतरह विहार करना चाहो, तो देखो! तुम्हारे सामने पुराणोंका अपूर्व कविताकानन विद्यमान है,

जिस कविताकाननके निर्माणकर्त्ता त्रिकालदर्शी महर्षिगण हैं, जिस काननमें सलिलरूप ऋषियोंकी भक्तिरूपी अमृतधारा है, उसी कविताकाननमें विलास करना चाहो, तो तुम्हारी सेवाकेलिये पुराण विद्यमान हैं। इसीप्रकारसे पुराण सबप्रकारके अधिकारियोंकेलिये सब प्रकारका सौन्दर्य प्रकट करके सर्वजनप्रिय होते हैं।

(८) पुराणोंकी अष्टम पूर्णता धर्मसङ्कटोंकी मीमांसामें है। महाभारतादिके पाठकगण जानते हैं कि, पौराणिक चरित्रसमूहके भीतर कितने धर्मसङ्कटके विषय आजाते हैं, उन सब सङ्कटोंका पुराणोंमें जो समाधान किया जाता है, उन सब समाधानोंपर लक्ष्य करनेसे पुराणोंकी अपूर्व महिमा है, पुराण उपदेशके भण्डार हैं, एवं पुराण संसाररूप घोर वनमें पथभ्रान्त जीवकेलिये राजमार्गप्रदर्शक हैं, सो ज्ञात होजायगा। कर्ण अभी नहीं हत हुए हैं, इसलिये जिससमय युधिष्ठिरने अर्जुनके गाण्डीवकी निन्दा की थी, उसी समय गाण्डीवधनुषकी निन्दा सुननेपर अपनी सत्य-प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेकेलिये महावीर अर्जुन जब निन्दा करनेवाले अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिरको मारनेकेलिये उद्यत हुए थे, क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा थी कि "जो मनुष्य उनके गाण्डीवकी निन्दा करेगा, उनके परम गुरु होनेपर भी अर्जुन उनका शिरश्छेदन करदेंगे," गाण्डीवकी निन्दा सुनते ही सत्यपरायण अर्जुन युधिष्ठिरके शिरश्छेदन करनेकेलिये तत्पर हुए, परन्तु ज्ञानस्वरूप ब्रह्म जिनके सखा हैं, उन सखाके विद्यमान रहनेपर धर्मसङ्कटमें अविचार नहीं होसकता है, श्रीकृष्णने उसी समय इस धर्म-सङ्कटकी मीमांसा करदी। उन्होंने कहा कि, अर्जुनकी प्रतिज्ञारक्षा और उसकी ज्येष्ठ भ्राताके हत्यारूप महापापसे रक्षाकेलिये शास्त्रकी यही आज्ञा है कि, गुरुजनोंको तुंकारसे बात करके अपमान करना ही उनकेलिये मृत्युसे अधिक है क्योंकिः—

यदा मानं लभते माननार्ह-
स्तदाऽस वै जीवति जीवलोके।
यदाऽवमानं लभते महान्तं,
तदा जीवन्मृत इत्युच्यते सः॥

माननार्ह पुरुष जब मानको प्राप्त होते हैं, तबवे इस संसारमें जीवित माने जाते हैं और जब वे बड़े अपमानसे अपमानित होते हैं, तब वे जीते हुए ही मृत तुल्य कहे जाते हैं। अतः—

त्वमित्यत्रभवन्तं हि ब्रूहि पार्थ ! युधिष्ठिरम्।
त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत !॥
गुरूणामवमानो हि वध इत्यभिधीयते।

हे पार्थ ! पूज्य युधिष्ठिरको "तू" कहकर उनसे बातचीत करो। गुरु अर्थात् पूज्य पुरुषोंको "तू" कहनेसे ही उनका मरण होजाता है क्योंकि पूज्य पुरुषोंका अपमान ही उनका वध है। इससे दोनोंओरसे तुम्हारी रक्षा होजायगी। ऐसे ऐसे हजारों धर्म्मसङ्कटोंकी मीमांसा पुराणोंमें की गयी है, जिनके जाननेसे समस्त जीवोंका

परम कल्याण साधन होसकता है। धर्मसङ्कटोंकी अवस्थामें विरुद्ध धर्मोंके समन्वयका गूढ़ रहस्य जैसा महाभारतके आपद्धर्मपर्वमें है, ऐसा और किसी शास्त्रमें नहीं पाया जाता है।

(९) पुराणोंकी नवम पूर्णता प्राचीन सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक आचार वर्णनमें है। पुराण वेदोंके अनुकूल और स्मृति व दर्शनोंके अनुकूल तथा उन्हींके व्याख्यारूप हैं। इसलिये पुराणोंमें वर्णित सामाजिक, राजनैतिक व धर्मसम्वन्धीय आचार व रीति नीति सभी श्रुति, स्मृति और दर्शनोंके अनुकूल हैं। वेदोंका गूढ रहस्य, दर्शनोंका सृष्टि, स्थिति, प्रलयतत्त्व और स्मृतियोंका अनुशासन, सभी पुराणोंमें सरल और विस्तृतरूपसे वर्णित है। निर्गुण ब्रह्मोपासना, सगुण मूर्त्तिपूजा, व्रत, दान, तीर्थ-दर्शनआदिका माहात्म्य पुराणोंमें मधुर भावसे वर्णित है। भूमिदान, जलदान, अन्नदान इत्यादि विषयोंमें मनुआदि स्मृतियोंका आदेश भी पुराणोंमें उत्तम रीतिसे बताया गया है। पुराणोंका चरित्रसमूह देखनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि, धर्म और सदनुष्ठानकीओर मनुष्योंका चित्त सदा ही लगा हुआ था, जो धर्म करते थे, उनकी जय होती थी और जो अधर्म करते थे, उनका पतन होता था। अधार्मिक अत्याचारी वेणु राजा राज्यभ्रष्ट और नरकगामी हुए थे। उनके पुत्र पृथु धर्मकेसाथ राज्यपालन करनेकेकारण समस्त पृथ्वीके अधीश्वर हुए थे और और पिताका उद्धार करके स्वर्गधाम सिधारे थे। हिरण्यकशिपु, रावण, दुर्योधनआदिके अधःपतनके और प्रह्लाद रामचन्द्र व युधिष्ठिरआदिके जयश्रीलाभके-द्वारा धर्माधर्मकाफलाफल स्पष्टरूपसे प्रकट किया गया है। व्रतकथा और दानधर्म-वर्णनादिकेद्वारा मनुष्योंका चित्त दूसरेके कल्याण करनेकेलिये उत्साहित कियागया है। तीर्थोंका महात्म्यकीर्त्तन, देवताओंका दर्शन और पुण्य कार्योंके अनुष्ठानकेद्वारा मनुष्योंके हृदयमें धर्मभाव जगाया गया है। स्मृतियोंमें जो धर्म संक्षेपसे कहा गया है, उसीको पुराणोंमें विस्ताररूपसे कहा गया है। ब्राह्मणआदि चारों वर्णोंके कर्म-विभाग राजधर्म, विवाह व लोकाचारपद्धति, श्राद्ध व प्रायश्चित्तविधि, ये सभी पुराणोंकी मज्जा मज्जामें ग्रथित किये गये हैं। स्थान स्थानपर श्रुति व स्मृतियोंके वचन ठीक वैसेके वैसे ही उद्धृत किये गये हैं। कहीं मनुसे, कहीं याज्ञवल्क्यसे, कहीं पराशरसे, चतुराश्रमोंके विधि निषेध उद्धृत किये हैं। स्मृतियोंमें दानधर्म श्रेष्ठ गिना गया है, इसलिये पुराणोंमें लिखा है किः—

दानमेव परो धर्मो दानात्सर्वमवाप्यते।
दानान्मुक्तिश्च राज्यश्च दद्यादानं ततो नरः॥

दान ही श्रेष्ठ धर्म है, दानसे हीसब कुछ मिलता है। मुक्ति एवं राज्य भी लाभ होता है। इसलिये दान करना चाहिये। वर्ण और आश्रमका धर्म, जन्म और कर्मोंसे वर्णोंकी व्यवस्था, प्रकृतिकेअनुसार चार वर्ण और चार आश्रमोंका वर्णन, अहिंसा काम क्रोध लोभ त्याग दया सत्यनिष्ठाआदि सभी वर्णोंके साधारण धर्म और स्त्री पुरुष ब्राह्मण शूद्रआदिका विशेष धर्म, ये पुराणोंके पन्ने पन्नेमें बताये गये हैं।

याज्ञवल्क्यसंहितामें कन्याके विवाहके विषयमें जो लिखा गया है, गरुड़-पुराणमें भी ठीक वैसा ही वर्णन है। असवर्ण विवाह, जो दोषयुक्त है, उसका वर्णन स्मृति और पुराण दोनोंमें ही एकरूपसे किया गया है। दत्ता कन्याका पुनर्दानआदि विषयोंकी बहुत ही निन्दा की गयी है। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म नामकरणआदि ये सब संस्कार पहले नियमकेसाथ होते थे, इन सब विषयोंका वर्णन पुराणोंमें भूरि भूरि देखने आता है। समाजधर्मके सदृश राजधर्मका भी वर्णन किया गया है। मनुसंहितामें इसप्रकारसे नियमबद्ध अनुशासनप्रणाली और कर-ग्रहणआदिकी व्यवस्था तथा चौर्यदण्डकी विधि बतायी गयी है। अग्निपुराण और गरुड़पुराणमें भी यह देखनेमें आती है। राज्यरक्षा व प्रजापालनआदिके विषयमें भी बहुत उपदेश किये गये हैं। धनुर्विद्या, आग्नेयास्त्रप्रयोग और बहुतप्रकारकी युद्धविद्याके वर्णन अग्निपुराण और देवीपुराणमें मिलते हैं। गरुड़पुराणमें ज्योतिर्विद्या सामुद्रिकविद्या, आयुर्विद्या व चिकित्साप्रकरण विस्तृतरूपसे वर्णन किये गये हैं। प्राचीन भारतकी चित्र-विद्या और शिल्प कला भिन्न भिन्न पुराणोंमें पूर्ण रूपसे बतायी गयी हैं। उन्नतसमाजका आदर्श किसप्रकारका होना चाहिये, प्राचीन कालमें समाजबन्धन किसप्रकारका था, राजनीति किसप्रकारकी थी, गृहधर्म कैसे चलता था, किस रीतिसे युद्धादि हुआ करते थे, चिकित्सा किसप्रकारकी हुआ करती थी, शिल्प साहित्य काव्य व्याकरण व अलङ्कारशास्त्रोंमें आर्य-जातिने कितनी उन्नतिकी थी, इन सबोंका मधुर चित्र पुराणोंमें पूर्णतया खींचा गया है। यही पुराणोंकी पूर्णता है।

(१०) पुराणोंकी दशम पूर्णता विचित्र चरित्रवर्णनमें है। मनुष्यप्रकृति ऐसी है कि, केवल धर्मके शुष्क उपदेशोंसे उसपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। पापदग्ध हृदयमरुमें शुष्क विज्ञानका शुष्क उपदेश दग्धवालुकावाही शुष्क पवनकी तरह प्रवाहित होकर उसको और भी शुष्क करदेता है; परन्तु जिस हृदयमें पौराणिक चरित्रसमूहकेद्वारा कभी प्रेमकी, कभी दयाकी, कभी अलौकिक स्वार्थत्यागकी, कभी सत्यपालनकी और कभी धर्ममय जीवनकी पवित्रधाराओंने शतमुखी भागीरथीकी शतधाराओंकीतरह प्रवाहित होकर उसे समुद्रवत् उद्वेलित करदिया है, वही हृदयवान् मनुष्य जानसकता है कि, धर्म जगत्में और मनुष्यत्वके जगत्में पुराणोंकी क्या सार्वजनीन कल्याणकारिता है? पुराणोंमें चातुर्वर्ण्य और चतुराश्रमके आदर्श पुरुषोंका चरित्र विद्यमान है। पुराणोंमें आदर्श पुरुष, आदर्श ज्ञानी, आदर्श ब्रह्मचारी, आदर्श सती, आदर्श ऋषि, आदर्श कर्मी, आदर्श वीर और आदर्श भक्तोंके चरित्र विद्यमान हैं, जिन सब चरित्रोंपर मनन करनेसे विचारशील मनुष्य अवश्य ही समझ सकेंगे कि, जीवननदीके प्रवाहके नियामक, ज्ञान और मनुष्यत्वके अपार समुद्रमें विलीन करनेवाले ज्ञानाधार वेद और नेत्ररूपीदर्शनोंसे भी जगज्जीवोंका उतना कल्याण नहीं हुआ है, जितना केवल पुराणोंके पवित्र चरित्रोंद्वारा होगया है। आज यदि पुराण न होते, तो ब्रह्मतेजका वह अपूर्व आदर्श, जिसके सन्मुख महाबल पराक्रान्त अहङ्कारी महाराजा विश्वामित्रका भी अहङ्कार विचूर्ण हो गया

था और जिस आदर्शने उनको राज्य त्याग कराकर वनवासी तपस्वी बनादिया था, कहाँ मिलता ? ब्राह्मण महर्षि वसिष्ठसे विश्वामित्रने उनकी कामधेनुके लेनेकी प्रार्थना की। उन्होंने कामधेनु देना स्वीकार नहीं किया। विश्वामित्रने अपना सैन्य लेकर बलात् उस धेनुको लेजानेका यत्न किया। ब्रह्मतेजसे परिपूर्ण ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीने मन्त्रपूत करके ब्रह्मदण्ड सामने खड़ा करदिया। इधर विश्वामित्रजीकी अस्त्रधारा वर्षा ऋतुमें जलधाराकी तरह वसिष्ठजीके चारोंओर छा गयी। अस्त्रोंकी झनझनाहट और सैन्योंके कोलाहलने दिग्दिगन्तको आपूरित कर दिया। ज्योतिष्मान् दिव्य अस्त्र-समूहकी ज्योतिसे मानो चारोंओर बिजली चमकने लगगयी, किन्तु ब्रह्मतेजके सन्मुख, सूर्यके प्रकाशके सन्मुख दीपककी नांईं, विश्वामित्रके समस्त भीषण अस्त्रसमूह व्यर्थ होगये। उसी ब्रह्मतेजके मूर्त्त रूप दण्डने समस्त अस्त्र और शस्त्रोंको निस्तेज कर दिया, जिससे अत्यन्त दुःख और क्षोभकेसाथ विश्वामित्रको कहना पड़ा कि:—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

क्षत्रिय बलको धिक्कार है, ब्रह्मतेजका बलही बल है, एक ब्रह्मदण्डने मेरे सब अस्त्रोंको नाश करदिया। इसप्रकारका ब्रह्मतेजका आदर्श, जो हमारे पूर्व पुरुषोंमें विद्यमान था, जिसका स्मरण करनेपर आज भी निर्वीर्य ब्राह्मणोंके हृदयमें जोश फैलता है, ऐसे ब्रह्मतेजका आदर्श भारतको कहाँ मिलता, यदि पुराण न होते। वे ऋषिचरित्र यथा:—अधिकांशऋषि आजन्म उञ्छवृत्ति अवलम्बन करके जगत्को ज्ञानधनसे धनी करनेकेलिये सदैव उद्यत रहा करते थे, जिन्होंने कभी तो कणभक्षण करके, कभी, फलमात्र आहारकरके और कभी वायु पानकरके, हमारेलिये निशिदिन चिन्ता करते करते हमारी आध्यात्मिक उन्नतिकेलिये ज्ञानभण्डार, शक्तिभण्डार, विद्याभण्डार, भावभण्डार, औषधिभण्डारआदि समस्त भण्डारोंसे संसारको भर दिया था, जिन भण्डारोंको निशिदिन अज्ञानकेकारण अपव्यय करनेपर भी उनमेंसे अणुमात्र भी कमी नहीं होती, किन्तु कल्पतरुकी नांईं सदैव वे हमारी वासनाओंको पूर्ण करनेकेलिये प्रस्तुत रहते हैं, उन सब ऋषियोंके आदर्श हम लोगोंको कहां प्राप्त होते, यदि पुराण न होते। दधीचिका वह अपूर्व स्वार्थत्याग, जिस स्वार्थत्यागका ज्वलन्त दृष्टान्त मानव-जगत्के इतिहासमें कल्पान्त पर्यन्त ज्वलन्त अक्षरोंमेंलिखा रहेगा, दधीचि ऋषिका वह अपूर्व प्राणत्याग और देवताओंकेलिये अपना अस्थि-प्रदान क्या सामान्य त्यागका दृष्टान्त है ? जगत्में प्राण सबको ही प्रिय हैं, प्राणकी रक्षाकेलिये पुत्रस्नेहपरायण माता और वात्सल्यपरायण पिता भी दुष्कालके समय क्षुधार्त्त होकर जिस पुत्रको स्वहस्तसे निधन करनेमें भी कुण्ठित नहीं होते, उसी प्रियतम प्राणको परोपकारकेलिये उत्सर्ग करदेनेका दृष्टान्त कहाँ मिलता, यदि पुराण न होते। वे आदर्श क्षत्रियगण, जिन्होंने अपनी वीरताके बलसे पृथ्वीको असुरोंके गुरुभार से बचाया है, जिनके अपूर्व वीरत्वसे मोहित होकर इन्द्रपर्यन्त भी अपनी राज्यरक्षाकेलिये जिनको बुलाया करते थे और स्वयं बलीवर्द (वाहन) होकर

भारतीय क्षत्रियवीरको अपने कन्धेपर चढ़ाया था, भारतीय क्षत्रियवीर अर्जुनकी वह क्षत्रिय सुलभ जितेन्द्रियता, जिस जितेन्द्रियताके बलसे स्वर्गकी सुन्दरी अप्सरा भी उनके पास अपनी वृत्तिसे कुण्ठित होगयी थी, वह वीर क्षत्रिय युधिष्ठिरसे जो केवल युद्धमें ही स्थिर नहीं थे किन्तु धर्ममें भी चिरस्थिर थे, जिन्होंने केवल धर्मरक्षाकेलिये अपना समस्त धन, समस्त राज्य और अपनी पत्नीको भी हारकर वनवासी फलफूल-भोगी वल्कलधारी वनचारी होगये थे, ऐसे ऐसे धार्मिक वीरोंका चरित्र कहाँ मिलता, यदि पुराण न होते। इसीतरह भक्तोंमें ध्रुव व प्रह्लाद हुए थे। वेदव्याससे ज्ञानी और शुकदेवसे ज्ञानी जिन्होंने समस्त जगत्को ज्ञानसूर्यसे आलोकित कर दिया था, ब्रह्मशापसे दग्ध शरीर परीक्षितको जिन्होंने ज्ञानके प्रतापसे अमृतत्व प्राप्त करादिया था, गृहस्थजनकने गृहमें रहते हुए अपूर्व दृष्टान्त स्थापन किया, जिस जनकने घरमें रहकर भी इतना ज्ञान प्राप्त किया था कि, महर्षि लोगोंने भी शिष्य बनकर उनसे ज्ञान प्राप्त किया, ऐसे ऐसे आदर्शचरित्र पुरुषोंका ज्ञान पुराणोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है। पुनः एकाधारमें सर्वरससमन्वय, जहाँ वीररसकी वीरता वहाँ ही करुणा-रसका कारुण्य, जहाँ सख्यताका परमभाव, वहाँ ही भक्तिरसका अपूर्व विलास, एका-धारमें इतने रसोंका समन्वय और उसकेद्वारा जगत्में आदर्श ब्रह्मचर्य और आदर्श भक्तिके गौरव-स्थापनका दृष्टान्त हम लोगोंको कहाँ मिलता, यदि पुराण न होते। परमज्ञानी, परमतपस्वी, परमसंयमी, परमब्रह्मचारी और परमवीर भीष्मदेव, जिन्होंने अपने वृद्ध पिताके विषय सुखकेलिये त्यागका अलौकिक आदर्श जगत्में स्थापन किया है, उनके विचित्र चरित्रका विषय पाठ करनेपर कभी तो हृदय वीररससे पूर्ण होता है, कभी त्यागकी विमल शान्ति अन्तःकरणको आपूरित करती है और कभी भक्तिरससे चित्तद्रवीभूत और उद्वेलित होकर अश्रुधारा नयनपथमें प्रवाहित होती है, पार्थ सारथी श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञा थी कि, युद्धमें अस्त्र धारण नहीं करूँगा परन्तु भगवान्का हृदय भगवान्का ही है, भगवान्का हृदय भक्तोंके हाथों चिरविक्रीत है, मानो इसीबातको संसारमें प्रकट करनेकेलिये ही भक्ताग्रगण्य भीष्मदेवने भी प्रतिज्ञा की कि "यदि मैं यथार्थ भक्त हूँ, तो भगवान्की यह प्रतिज्ञा भङ्ग कराऊँगा"। इतना कहकर कुरुक्षेत्रके युद्धमें श्रीकृष्णसखा पार्थके विरुद्ध भीष्मदेवने धनुराकर्षण करके दिव्य वाणसमूह अर्जुनके अङ्गोंपर निक्षेप करना प्रारम्भ किया। आजन्म ब्रह्मचारी, प्रबल पराक्रान्ता, महावीर भीष्मदेव-के ब्रह्मचर्यकी शक्तिसे पूर्ण शक्तियुक्त आग्नेय अस्त्रसमूह स्वकीय ज्वालामालासे दिग्दिगन्तको चमत्कृतकरके अर्जुनके सर्वाङ्गको क्षत विक्षत और दग्ध करने लगे। अर्जुन बाणोंसे व्यथित होकर रथपर गिरगये। सखाकी रक्षाकेलिये जिस सखाको पीछे रखकर स्वयं सारथीरूपसे सामने आकर बैठते थे, उसी सखाको मूर्छित देखकर भगवान्का भावसमुद्र उद्वेलित होउठा, तो उस भीषण प्रवाहसे प्रवहमान भावसिन्धुकी प्रबल धाराके सामने प्रतिज्ञाका सामान्य बन्धन बालुकाके निस्सारबन्धकेसदृश कबतक रहसकता है? भगवान् अपनी प्रतिज्ञाको छोड़कर रथचक्र उठाकर भीष्मदेव-केप्रति दौड़ पड़े। भक्तप्रधान भीष्मदेवकी मनोवाञ्छा उसी समय पूर्ण होगयी और

वे अपना धनुष बाण उसी समय त्यागकरके भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन करने लगे कि:—

एहि एहीति देवेश! जगन्निवास!,
नमोऽस्तु ते शार्ङ्गगदाऽसिपाणे!।
प्रसह्य मां पातय लोकनाथ!,
रथोत्तमाद्‌भूतशरण्य! संख्ये॥

हे दीनबन्धो! भक्तवत्सल भगवान् मेरे युद्धकरनेका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि समस्त संसारका चरम फलरूप जो श्रीचरणपङ्कज है, उसीने आज मेरी मनोवाच्छा पूर्ण करनेकेलिये ही अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग की है, मुझे रथचक्रसे मारदेवें। इससे मेरा संसारचक्र टूट जायगा। एतादृश वीररस और मधुररसका अपूर्व सम्मेलन एवं भक्तकी अपूर्व महिमाके विकासका दृष्टान्त कहां मिलता, यदि पुराण न होते? हिन्दू सतियोंका आदर्शचरित्र, जिन चरित्रोंके पुण्यबलसे आज भी भारत पृथ्वीमें शीर्षस्थानीय है, उन्हीं रमणीललामभूता सतियोंके दृष्टान्तकेद्वारा जगत्‌को अपूर्व शिक्षा कैसे होती यदि पुराण न होते? वही आदर्श सती सीतादेवी, जिनकी मधुर चरित्रकथाका महर्षि वाल्मीकिजीने गान किया और सहस्र सहस्र वर्ष पर्यन्त कठोर तपस्या करके जो वीणावादन सीखा था, उससे छः राग और छत्तीस रागिणियोंकेद्वारा दिवानिशि गान करनेपर भी, जिसकी मधुर चरित्रगीति कदापि समाप्त नहीं हुई थी, पश्चात् अपने तपोवनमें कोकिलकी मधुर काकली, भ्रमरका मधुर गुञ्जन व प्रकृतिमाताकी विविध मधुर विलास-गीतिकेद्वारा भी जिस मधुर गुण-कथाकी समाप्ति नहीं हुई थी; इसलिये महर्षि वाल्मीकिने उन्हींके स्तन्यपानकारी दोनों वीरबालकोंके मधुर कण्ठकेद्वारा, उसी मधुर कथासे समस्त दिङ्मण्डलको निनादित करके गान कराया था। अयोध्याके वे रामचन्द्र आज नहीं हैं, महर्षि वाल्मीकि आज नहीं हैं, उन बालकोंकी मधुर कण्ठध्वनि आज सुननेमें नहीं आती है, तथापि उसी कण्ठकी मधुरध्वनि तरङ्ग तरङ्गमें प्रतिध्वनित करके द्रवीभूत प्रेमरूपिणी सरयू तरङ्गिणी उन्हीं मधुर गुणकथाओंको आज भी मृदु मन्द निनादसे गान करतीहुई आनन्दसे नृत्य करती है और हृदयनिहित अपूर्व आनन्दप्रवाहको हृदयमें बद्ध रखनेको असमर्थ होतीहुई उद्वेल होकर उसी आनन्दप्रवाहको स्वकीय तीर्थमें निवासशील समस्त जीवोंके हृदयक्षेत्रमें भरदेती है। उस सतीललामभूता सीतादेवीका मधुर चरित्र आज कहाँ प्राप्त होता, यदि पुराण न होते? एकाकिनी शोकाकुला अशोक काननमें निशिदिन रोरुद्यमाना राघववाञ्छा सती सीता, दुर्द्दान्त राक्षस रावणकेद्वारा सहस्रधा भीता और प्रलोभिता होकर भी, अपने पवित्र चरित्रको जिसतरहसे पवित्र रखनेको समर्थ हुई थी, पुनः रामचन्द्रके प्रबल प्रतापसे समग्र लङ्का दग्ध होकर सीतादेवीका उद्धार हुआ, तब भी मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रने मर्यादापालन करनेकेलिये जब जानकीको अग्निकी भीषण परीक्षामें डाल दिया था, तब जिस जानकीके सतीत्वके तेजसे ही धक् धक् जलती हुई वह्निने भी चन्दनपङ्कशीतलता

धारणकरके सर्वथा शरीर रक्षा और सतीत्वके अपूर्व गौरवकी रक्षा की थी, ऐसी सतीका चरित्र कहां मिलता, यदि पुराण न होते ? अयोध्यानगरकी पूर्ण लक्ष्मीस्वरूपा उसी आदर्श स्त्रीको मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रने केवल प्रजारञ्जनकेलियेही अन्तर्वत्नी (सगर्भा) होनेपर भी एक रजक (धोबी) के वाक्यसे जब वनमें भेज दिया, राजदुहिता और भगवान्‌की हृदयविलासिनी होनेपर भी समस्त जीवनमें मुहूर्त्तमात्र भी सुखकी सुन्दर मुखच्छवि निरीक्षण नहीं किया था, उसी जन्मदुःखिनी सीताको भ्रातृप्रेमी अनुज लक्ष्मणने कठिनहृदय होकर गम्भीर काननमें त्याग करके जब सीतादेवीको दुःखमयी त्यागकी वार्त्ता जनायी, तब मानो समस्त प्रकृति सीताके दुःखभारसे पूर्ण होकर रोदन करने लगी, भीषण जलदजालकी घनघोर घटाने गगनमण्डलको आच्छादित कर दिया, प्रकृतकी अश्रुधारा अविराम वारिधाराके रूपसे बरसने लगी, वज्रका घोर गर्जन प्रकृति माताके रोदन-शब्दरूपसे भयङ्कर शब्द करने लगा, उसी अविराम वारिधारा और भीषण अशनि गर्जनकेसमय पाषाणहृदय लक्ष्मण गर्भवती सीताको गम्भीर हिंस्रजन्तुपूर्ण काननमें जब परित्याग करके चले गये, तब एकाकिनी शून्यहृदया सीता दुःखिता होकर रोने लगी और भगवान्‌से प्रार्थना करने लगी कि, हे मधुसूदन ! नारायण ! मेरे दुर्भाग्यकेकारण इस जन्ममें मुझे घनश्याम रामचन्द्रकी सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त न हुआ, परन्तु हे भक्तवाञ्छाकल्पतरु ! हरि ! जन्मजन्मान्तरमें मुझे रामकेसदृश पति प्राप्त हों, यही आपके पास इस अनाथिनीकी प्रार्थना है और वह देवर लक्ष्मण इस गम्भीर काननको भेदकरके एकाकी अयोध्याकेप्रति चलरहा है, अशनिका घोर गर्ज्जन और भीषण वारिधारा बरस रही है, हे भगवान् ! हे नारायण ! लक्ष्मणको निरापद करके अयोध्यामें पहुँचा दो, सतीत्वका यह अपूर्व आदर्श, रमणीकुलका यह अपूर्व गौरवका दृष्टान्त कहाँ मिलता, यदि पुराण न होते ? और वह वीररमणी अभिमन्युहृदयविलासिनी उत्तरा, उसकी वीरताके विषयमें क्या कहूं ? सप्तरथीगणने मिलकर दुर्भेद्य व्यूहकी रचना की थी, व्यूहको भेदन करनेकेलिये महावीर अभिमन्युका ही सामर्थ्य था ? अभिमन्यु रणसमुद्रमें आत्मसमर्पण करनेकेलिये प्रस्तुत है। उत्तरा उनके समस्त अङ्गोंको वीरभूषासे सुसज्जित कर रही है और अपने हृदयकी वीरता और मधुरतापूर्ण वाणीकेद्वारा अभिमन्युके वीरहृदयको वीरतर कर रही है, प्रेमकी पवित्र धारा क्षत्रियजीवनरूप यज्ञकी पवित्र वह्निमें आहुति-घृतकी धारारूप बनकर उसी यज्ञाग्निमें भस्मीभूत होगयी है; उत्तराका कोमलहृदय वीरसुलभ पाषाणहृदयमें परिणत होगया है, एतादृश वीर-क्षत्रिय-कुलललनाका आदर्शचरित्र कहां मिलता, यदि पुराण न होते ? इस तरह कितना कहूं, वर्णन करते करते लेखनी थक जाती है, गान करते करते कण्ठ रुद्ध होजाता है, हृदय भावके पूर्णभारसे निस्तब्ध होजाता है, जिन चरित्रसमूहके वर्णनमें व्यासकी दिव्य लेखनी भी असमर्थ होगयी है, उन सब चरित्रोंका अपूर्ववर्णन पुराणोंकी ही महिमा है।

इसप्रकार पूर्ण भगवान्‌के निःश्वासरूपी पुराणोंने संसारका अनन्त कल्याण किया है। जिसप्रकार पुण्यतोया भागीरथी देवतात्मा हिमालयसे एकधारामें निकलकर

अनन्त धारासे भारतवर्षका कल्याण कर रही हैं; उसीप्रकार पुण्यमय पूर्ण पुराण भी भगवान्की निःश्वासरूपी एक धारासे निकलकर अनन्त धारा और अनन्त पूर्णता-केसाथ समस्त संसारको ब्रह्मानन्दसमुद्रकीओर ले जारहे हैं।

द्वितीय समुल्लासका पञ्चम अध्याय समाप्त।

—:*:—

तन्त्रशास्त्र।

वेदके सदृश तन्त्रशास्त्र भी बहुत ही विस्तृत हैं। तन्त्रशास्त्रोंकी विशेषता यह है कि, तन्त्रोंमें वेदकी संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्भागका रहस्य और स्मृतिआदि शास्त्रोंका विस्तार अधिक मिलता है। इसीकारण तन्त्रोंकी संख्या सबसे अधिक कही गयी है। तन्त्रोंमें कहा है कि:—

सप्तसप्तसहस्राणि संख्यातानि मनीषिभिः।

इस हिसाबसे १४००० चौदह हजार तन्त्र ग्रन्थोंका प्रचलित होना समझा जाता है। यद्यपि वेदकीतरह ही तन्त्रग्रन्थोंका भी इस समय सहस्रांश भी नहीं मिलता, परन्तु अब भी अनेक तन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

तन्त्रशास्त्रोंके लक्षणके विषयमें हमारे परम पूज्यपाद महर्षियोंने शास्त्रोंमें इसप्रकार वर्णन किया है:—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च तन्त्रनिर्णय एव च।
देवतानाञ्च संस्थानं तीर्थानाञ्चैव वर्णनम्॥
तथैवाऽऽश्रमधर्मश्च विप्रसंस्थानमेव च।
संस्थानं चैव भूतानां यन्त्राणाञ्चैव निर्णयः॥
उत्पत्तिर्विबुधानाञ्च तरूणां कल्पसंज्ञितम्।
संस्थानं ज्योतिषाञ्चैव पुराणाख्यानमेव च॥
कोषस्य कथनं चैव व्रतानां परिभाषणम्।
शौचाऽशौचस्य चाऽऽख्यानं नरकाणाञ्च वर्णनम्॥
सगुणोपासना दिव्या पञ्चतत्त्वविभेदतः।
चतुष्टयेन भेदेन ब्रह्मणो ध्यानधारणे॥
मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा।
उपासनाविधिः सम्यगीश्वरस्य परात्मनः॥

सप्तानां ज्ञानभूमीनां शास्त्रोक्तानां विशेषतः ।
ज्ञानस्य चाऽधिकारांस्त्रीन्भावतात्पर्यलक्ष्यतः ॥
तन्त्रेषु च पुराणेषु भाषायास्त्रिविधां स्मृतिम् ।
वेदस्य च षडङ्गानि उपवेदचतुष्टयम् ॥
प्रेततत्त्वं पितृतत्त्वं लोकतत्त्वं वरानने ! ।
जीवतत्त्वं ज्ञानतत्त्वं कर्मतत्त्वं शुभाऽशुभम् ॥
रसायनं रससिद्धिं जपसिद्धिं तपः परम् ।
दैवं रहस्यं शक्तिञ्च निश्शेषदेवपूजिताम् ॥
हरचक्रस्य चाऽऽख्यानं स्त्रीपुंसोश्चैव लक्षणम् ।
राजधर्मो दानधर्मो युगधर्मस्तथैव च ॥
व्यवहारः कथ्यते च तथा चाऽध्यात्मवर्णनम् ।
इत्यादिलक्षणैर्युक्तं तन्त्रशास्त्रं विदुर्बुधाः ॥

सृष्टिप्रकरण, प्रलयप्रकरण, तन्त्रनिर्णय, दैवीसृष्टिका विस्तार, तीर्थवर्णन, ब्रह्मचर्यादि आश्रमधर्म, ब्राह्मणादि वर्णधर्म, जीव-सृष्टिका विस्तार, यन्त्रनिर्णय, देवताओंकी उत्पत्ति, औषधिकल्प, गृहनक्षत्रादिसंस्थान, पुराणाख्यान कथन, कोष कथन, व्रतवर्णन, शौचाशौचनिर्णय, नरकवर्णन, आकाशादि पञ्चतत्त्वोंके अधिकारकेअनुसार पञ्च सगुणोपासना, स्थूल ध्यानआदि भेदसे चारप्रकारका ब्रह्मका ध्यान और धारणा, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, परमात्मा परमेश्वरकी सबप्रकारकी उपासना-विधि, सप्त दर्शनशास्त्रोंकी सात ज्ञानभूमिका रहस्य, अध्यात्मआदि तीनप्रकारके भावोंका लक्ष्य, तन्त्र और पुराणोंकी त्रिविध भाषाका रहस्य वेदके षडङ्ग, चारों उपवेद, प्रेततत्त्व, पितृतत्त्व, चतुर्दश लोकतत्त्व, जीवतत्त्व, ज्ञानतत्त्व, शुभाशुभ कर्मतत्त्व, रसायनशास्त्र, रसायनसिद्धि, जपसिद्धि, श्रेष्ठतपसिद्धि, दैवीजगत्सम्बन्धीय रहस्य, सकल देवगणपूजित शक्तिका वर्णन हरचक्रकथन, स्त्रीपुरुषलक्षणवर्णन, राजधर्म, दानधर्म, युगधर्म, व्यवहाररीति, आत्मा अनात्माका निर्णय इत्यादि विषय जिस शास्त्रमें वर्णन किया गया हो, उसको तन्त्रशास्त्र कहते हैं। अर्थात् तन्त्रोंमें इतने विषयोंका वर्णन पाया जा सकता है। अस्तु तन्त्रशास्त्र कैसा अपूर्व, सर्वहितकारी, लौकिक और अलौकिक ज्ञानसे पूर्ण और आर्यशास्त्रका एक प्रधान अङ्ग है, सो ऊपरलिखित विषयसूचीसे ही जाना जा सकता है।

तन्त्रशास्त्रोंमें तन्त्रशास्त्रोंकी महिमाके वर्णन करनेके अभिप्रायसे हमारे परम पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने इसीकारण आज्ञा की है कि:—

विष्णुर्वरिष्ठो देवानां ह्रदानामुदधिस्तथा ।
नदीनाञ्च यथा गङ्गा पर्वतानां हिमालयः ॥

अश्वत्थस्सर्ववृक्षाणां राज्ञामिन्द्रो यथा वरः ।
देवीनाञ्च यथा दुर्गा वर्णानां ब्राह्मणो यथा ॥
तथा समस्तशास्त्राणां तन्त्रशास्त्रमनुत्तमम् ।
सर्वकामप्रदं पुण्यं तन्त्रं वै वेदसम्मतम् ॥

मत्स्यसूक्तमें लेख है कि, जिसप्रकार देवतागणमें विष्णु, ह्रदसमूहमें समुद्र, नदियोंमें गङ्गा, पर्वतोंमें हिमालय, वृक्षसमूहमें अश्वत्थ, राजाओंमें इन्द्र, देवियोंमें दुर्गा और वर्णचतुष्टयमें ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं; उसीप्रकार, सर्व शास्त्रोंमें तन्त्रशास्त्र सर्वोपरि प्रधान हैं। शास्त्रोंमें जो इसप्रकारसे तन्त्रशास्त्रोंकी महिमा प्रकाशित की है, उसकी सत्यताका प्रमाण जिज्ञासुओंको निरपेक्षबुद्धिद्वारा इस शास्त्रके ग्रंन्थसमूहके पाठ करनेसे ही मिलसकता है। यदि च अनेक तन्त्रग्रन्थोंमें ऐसे विषय भी प्राप्त होते हैं, जिनके देखनेसे जिज्ञासुओंको प्रथम दृष्टिमें यह शास्त्र अरुचिकर होसकता है; परन्तु यदि वे नियमितरूपसे, श्रेष्ठ तन्त्रग्रन्थोंको अपनी निरपेक्षबुद्धि एवं सत्य अनुसंधान-वृत्तिद्वारा अवलोकन करेंगे, तो वे स्वतः ही स्वीकार करने लगेंगे कि, वास्तवमें तन्त्रशास्त्रसमूह बहुत ही जीवहितकारी हैं। और जिसप्रकार इनकी प्रशंसा शास्त्रोंमें पायी जाती है, ये शास्त्र उसीप्रकारसे किसीसमय भारतवर्षमें सनातनधर्मकी रक्षाकेअर्थ अपने पूर्ण स्वरूपमें प्रकट थे, इसमें सन्देह नहीं।

विभिन्न तन्त्र प्रणेताओंके विचारद्वारा तन्त्रोंको तीन भागोंमें विभक्त करसकते हैं; यथा, श्रीसदाशिवोक्त तन्त्र, पार्वतीकथित तन्त्र एवं ऋषिगण प्रणीत तन्त्रग्रंथ। ये निगम आगम और आर्षतन्त्र कहलाते हैं। तन्त्रोंके इन प्रणेताओंके नामद्वारा ही उनकी महिमा प्रकाशित होसकती है। कोई कोई पाश्चात्त्य विद्याभिमानी इस-प्रकारकी शंका किया करते हैं कि, तन्त्रसमूह प्राचीन आर्ष ग्रंथ नहीं हैं; एवं अपने इस सिद्धान्तके पोषणमें तन्त्रोक्त भाषाकी सरलताका प्रमाण दिया करते हैं। परन्तु भाषाकी सरलता अथवा गंभीरतासे पूर्वोक्त शंकाकी सिद्धि कदापि नहीं होसकती क्योंकि आर्षग्रन्थोंमें ऐसा देखनेमें आता है कि, एक ही आचार्यने कईप्रकारकी भाषायें लिखीं हैं। श्रीभगवान् महर्षि वेदव्यासकी वेदान्त सूत्रोक्त भाषामें, उनकी महाभारतकी भाषामें और उनकी श्रीमद्भागवतकी भाषामें कितना अन्तर प्रतीत होता है; श्रीमहाभारत, तथा श्रीमद्भागवतकी भाषामें इतना अन्तर है, जिसकेकारण प्रायः सभी पण्डितगण विमोहित होने लगते हैं और यह अनुमान करने लगते हैं कि, इन दोनों ग्रन्थोंके भिन्न-भिन्न आचार्य हैं। नानाप्रकारके जीवोंके कल्याणार्थ नाना अधिकारके ग्रंथोंमें कईप्रकारकी भाषाओंका प्रयोग करना कुछ असंभव वा युक्तिविरुद्ध नहीं है। इसकारण सरल भाषाके विचारसे पूर्वोक्त शंका स्थायिनी नहीं हो सकती। कोई कोई महाशय तन्त्रके आचार्योंकी सत्यताके विषयमें भी सन्देह किया करते हैं और कहा करते हैं कि, शिवादि ईश्वरद्वारा तन्त्रोंका प्रकाश होना कैसे संभव है? क्या वे देवता रूपधारण करके तन्त्रग्रंथ लिखनेको प्रकट हुए थे? इत्यादि शंकाओंके

उत्तरमें कहा जासकता है कि, जिसप्रकार परमात्माद्वारा वेदकथन संभव हो सकता है; उसीप्रकार उनके अंशरूप शिवभावद्वारा तन्त्रोंका होना भी संभव है। अपौरुषेय, अनादि, अभ्रान्त और ज्ञानज्योति:पूर्ण वेदसमूह जिसप्रकार जगदीश्वर परमात्माकी इच्छासे ऋषिगणद्वारा प्रकाशित हुए थे, उसीप्रकार श्रीसदाशिवकी इच्छासे उनके भक्त सिद्ध मुनिगणद्वारा तन्त्रग्रंथोंका भी प्रकाश होना पूर्णरूपेण युक्तियुक्त है ।

वेदोक्त रहस्य समझनेमें कलियुगमें अतिकठिनता होना सम्भव होनेकेकारण तन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, ऐसा वर्णन तन्त्रोंमें पाया जाता है। वेदोक्त कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, तीनोंका इसप्रकार विस्तारित विवरण तन्त्रोंमें पाया जाता है कि, जिसको देखकर ज्ञानी पुरुषगण चौंक उठते हैं। कहीं कहीं वेदके ब्राह्मणभागके अध्यायके अध्यायका रूपान्तर तन्त्रोंमें देखनेमें आता है। कर्मकाण्ड-का विस्तार इतना अधिक है और क्रियापद्धति इतनी सरल कर दी गयी है कि, इस समय वैदिक कर्मकाण्डके स्थानपर बहुधा तान्त्रिक क्रियापद्धति ही भारतवर्षमें देख पड़ती है। निर्गुण ब्रह्मोपासना और उपनिषद्कथित आत्मरहस्यके साथही साथ सगुण पञ्चोपासनाका वर्णन और उनकी उपासनाकी पद्धति तन्त्रोंमें इसप्रकारसे विस्ताररूपसे पायी जाती है कि, ऐसा अन्य किसी शास्त्रमें नहीं पाया जाता। विष्णु-यामल, बृहन्नारदीय, हरिरहस्यआदि तन्त्रोंमें विष्णूपासनाका विवरण, रुद्रयामल, सिद्धदिगम्बर, शिवविलासआदि तन्त्रोंमें शिवोपासनाका विस्तृत रहस्य, गणपतिसूक्त, गणेशविमर्शिनी, सिद्धेश्वरतन्त्रआदिमें गणपति उपासनाका रहस्य, बृहत्पाराशरीय, आदित्ययामल, सप्तशिखीआदि तन्त्रोंमें सूर्योपासनाकी विस्तृत पद्धति और शक्तियामल, देवीविलास, कुलनायिकाआदि तन्त्रोंमें शक्ति उपासनाका विस्तृत विवरण देखनेसे प्रतीत होता है कि, सगुण पञ्चोपासनाका विस्तारित रहस्य प्रधान रूपसे तन्त्रोंमेंही पायाजाता है; और तन्त्र ग्रन्थ वैष्णव, गाणपत्य, शाक्त, सौर्य और शैव इन सब उपासक सम्प्रदायोंकेलिये परम हितकर हैं। अवतार-उपासना, ऋषि देवता पितृउपासना और निकृष्ट शक्तिरूपी भूत प्रेतादिकी उपासना, सबका वर्णन विस्तारित रूपसे तन्त्रशास्त्रोंमें पाया जाता है। स्थूलध्यान-साध्य मन्त्रयोगके सोलह अङ्गोंका विस्तारित विवरण तन्त्रशास्त्रोंमें जैसा मिलता है, उसप्रकार अन्य शास्त्रोंमें नहीं मिलता। ज्योतिर्ध्यानसाध्य हठयोगके सात अङ्गोंका विस्तारित विवरण अनेक तन्त्रोंमें मिलता है। बिन्दुध्यान-साध्य लययोगकेविस्तारित विवरणकेलिये इससमय तन्त्रग्रन्थ ही एकमात्र अवलम्बनीय हैं। और राजयोगका वर्णन भी अन्तिम सिद्धान्त-रूपसे प्रायः सब बड़े बड़े तन्त्रोंमें पाया जाता है।

दैवी जगत् सम्बन्धीय वर्णन, देवदेवियोंके भेद, देवलोकोंका वर्णन, प्रत्येक लोककी योगिनीआदि शक्तियोंका वर्णन, मन्त्रद्वारा दैवी सिद्धिप्राप्तिका वर्णन, तपादिद्वारा सिद्धियोंका वर्णन और उपासनाका विस्तारित क्रियासिद्धांश जिसप्रकार तन्त्रोंमें पाया जाता है, वैसा अन्य ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं मिलता। नरकवर्णन, स्वर्गवर्णन, पितृलोकवर्णन, प्रेतलोकवर्णन, जीवकी आतिवाहिक गतिका वर्णन अनेक

तन्त्रग्रन्थोंमें अतिविस्ताररूपसे पाया जाता है। ब्राह्मणादि-वर्णधर्मकथन, पुरुषधर्म-कथन, नारीधर्मकथन, स्त्रीपरीक्षा, पुरुषपरीक्षा, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासधर्मकथन, नाना व्रतकथा और व्रतसाधनप्रणाली, शौच और सदाचारधर्म-वर्णन, सृष्टितत्त्ववर्णन, दानधर्मवर्णन, राजधर्मवर्णन, अनेक व्यावहारिक नीतिवर्णन, ये तन्त्रग्रन्थोंमें अति विस्ताररूपसे पाये जाते हैं।

ज्ञानकाण्डका भी तन्त्रशास्त्र भण्डार ही है। दर्शनशास्त्रोंके अनेक रहस्य व सप्त ज्ञानभूमियोंकेअनुसार सप्त दर्शनोंका विस्तार जिसप्रकार तन्त्रोंमें मिलता है, वैसा स्मृति पुराणादिमें नहीं मिलता। वैद्यकशास्त्रकेलिये तो तन्त्रशास्त्र प्रधान अवलम्बन ही हैं। शस्त्रचिकित्सा, भैषज्यचिकित्सा और रसचिकित्सा, इन तीनोंमेंसे रसचिकित्साके प्रधान भण्डार तन्त्र ही हैं। वनौषधिआदिद्वारा चिकित्साका वर्णन भी तन्त्रशास्त्रोंमें कम नहीं है। वनौषधिआदिद्वारा अति सुगम रीतिपर चिकित्सा करने की जो एक शैली अवधूत चिकित्सा नामसे साधुओंमें प्रचलित है, वह तन्त्रोक्त ही है। धातु और उपधातुकी सहायतासे अनेक औषधि बनानेकी अति सरल रीति जिसप्रकार तन्त्रोंमें वर्णित है, वैसी रीति वैद्यशास्त्रके सिद्धान्त ग्रन्थोंमें भी नहीं पायीजाती। सिद्धगुटिकाआदि रससिद्धि और नाना रसायनविद्याका पता तन्त्रोंमें ही लगता है। अनेक तन्त्रग्रन्थ गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष और सङ्गीतविद्याके रहस्योंसे पूर्ण हैं। कल्पसूत्रोंका क्रियासिद्धांश जिसप्रकार तन्त्रोंमें मिलता है, वैसा अन्य किसी शास्त्रमें नहीं मिलता। अन्यान्य पदार्थविद्याआदिके भी अनेक विषय तन्त्रोंमें मिलते हैं।

त्रिगुण भेदसे प्रकृतिके पहचाननेकी रीति, त्रिगुणका गूढ रहस्य व प्राकृतिक राज्यका अन्वय-व्यतिरेकद्वारा परिशीलन अनेक तन्त्र ग्रन्थोंमें अति विस्ताररूपसे पाया जाता है। पुराणआदि शास्त्रके समझनेके अर्थ उसकी समाधिभाषा, लौकिक-भाषा और परकीयभाषाका विवरण और शास्त्रोक्त अध्यात्म रहस्य, अधिदैव रहस्य और अधिभूत रहस्य, तन्त्रोंके अनेक स्थानमें पाये जाते हैं और शक्तिरहस्यवर्णनका तो तन्त्र पूर्ण भण्डार ही है। यह संसार शक्तिका ही विलास है, इस विषयको तो प्राचीन और आधुनिक पण्डितगण सब एकवाक्य होकर ही स्वीकार करते हैं। परन्तु शक्तितत्त्वका विस्तार जिसप्रकार तन्त्रशास्त्रोंमें है, ऐसा अन्य शास्त्रोंमें नहीं पाया जाता। स्थूल सूक्ष्म कारण और तुरीय इन चारों अवस्थाओंमें महाशक्तिका समानरूपसे दर्शन पूज्यपाद महर्षियोंने जिसप्रकार किया है, वैसा इस जगत्‌में न हुआ है और न होगा। स्थावर जङ्गमात्मक इस स्थूल जगत्‌में जो कुछ परिणाम और जो कुछ सृष्टि स्थिति लयका कार्य होरहा है, सो सब उस आद्याशक्ति महामायाका ही कार्य है। आकाशादि पञ्चतत्त्वोंमें व्यापक सौदामिनी (इलेक्ट्रीसिटी) आदि शक्तियोंको पदार्थवादी पण्डितगण चाहे जड़शक्तिरूप से ही वर्णन करें; और चाहे वे अपनी उद्दाम प्रतिभाद्वारा उस शक्तिको अपने प्रबन्धाधीन लाकर उसकेद्वारा अनेक-प्रकारकी कार्यसिद्धि कर सकें, परन्तु हमारे आर्ष सिद्धान्तकेअनुसार यह निश्चित ही है कि, इसप्रकारकी स्थूल आकाशादि पञ्चभूतोंमें स्पष्टरूपसे प्रकाश होनेवाली जड़

शक्तिके मूलमें उस चेतनमयी महाशक्तिका महानुशासन विद्यमान है, इसके कारण व विज्ञान पहले पहले अध्यायोंमें बहुत कुछ कहे गये हैं। जिसप्रकार मनुष्यके स्थूल शरीरके नख केशआदि अङ्ग शरीरसे अलग करदेनेपर भी वे शरीरके अंश ही समझे जासकते हैं, उनका शरीरके साथ सम्बन्ध रहने और न रहनेके फलाफल यद्यपि स्पष्टरूपसे प्रतीत नहीं होते है, परन्तु शरीरकेसाथ विद्यमान रहते समय, उनमें ह्रास वृद्धि क्षयआदि चैतन्यलक्षण स्पष्टरूपसे दिखायी देते हैं. उसीप्रकार अन्तर्दृष्टि रखनेवाले ज्ञानिगण ऊपर लिखित जड़शक्तिको भी चेतनवत् ही मानेंगे। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि, शरीरस्थ केश नख आदिकका सम्बन्ध जिसप्रकार दिखायीपड़ता है, उसीप्रकार आकाशादि स्थूल पञ्चतत्त्वोंमें व्यापक स्थूल सौदामिनीशक्तिकी गति और स्थितिका समय समयपर पता नहीं चलता। जगत्की व्यापक सौदामिनीशक्ति (इलेक्ट्रीसिटी) किसी समय मन्द और किसी समय तीव्र होजाती है और किसी समय उसकी शक्तिका क्षणिक लोप भी प्रतीत होने लगता है, यह सब परिणाम पदार्थविद्या (सायन्स) के पण्डितोंने भली भांति अनुभव किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि, स्थूल सौदामिनीके मूलमें कोई और सूक्ष्म शक्ति विद्यमान है, जो इस स्थूल शक्तिकी नियामिका है। विशेषतः यह तो सिद्ध ही नहीं होसकता कि, यह स्थूल सौदामिनीशक्ति स्थूल होनेपर भी इसका स्वरूप क्या है ? और यह भी मनुष्यबुद्धिसे सर्वथा अतीत है कि, इस स्थूल जड़मयी कार्यरूपिणी सौदामिनीशक्तिका कारण क्या है ? वेदोक्त दार्शनिक ज्ञानकेअनुसार स्थूल सूक्ष्म कारण और तुरीय इन चार अवस्थाओंमेंही शक्तिका पूर्णरूपसे सम्बन्ध रहनेकेकारण उक्त विज्ञानके सिद्धान्तसे इसप्रकारकी शक्तियाँ अनादि अनन्त चिन्मयी ब्रह्मशक्तिके स्थूल परिणाम हैं। पिण्ड या ब्रह्माण्डके स्थूल शरीरमें इसप्रकारकी स्थूल शक्तियोंकेद्वारा एवं पिण्ड और ब्रह्माण्डके सूक्ष्म शरीररूपी सूक्ष्म जगत्में जीव-शरीरस्थ प्राणशक्ति और ब्रह्माण्डस्थित महाप्राण-शक्तिकेद्वारा उस सर्वव्यापक चिन्मयी महाशक्तिका परिचय मिलता है। पूज्यपाद महर्षियोंने यह स्पष्टरूपसे सिद्ध करके दिखाया है कि, सूक्ष्म शरीरकी प्राणशक्तिका विकार उत्पन्न होनेपर उसकी गति और स्थितिमें फेर पड़जानेसे जीवशरीर रोगग्रस्त होजाता है; और उसीप्रकार महाप्राणमें असमता उत्पन्न होनेपर पृथिवीमें अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारीआदिक क्लेश उत्पन्न होते हैं। इसीप्रकार कारणरूपसे वही महाशक्ति कारणजगत्में उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण हुआ करती है। जीव-जगत्का सृष्टि-प्रवाह, जीवका उद्भिज्जादि योनिसे क्रमशः मनुष्ययोनिमें पहुँचाना, इस प्राकृतिक प्रवाहकी सुरक्षा, धर्मकेद्वारा मनुष्यको क्रमशः मुक्तिभूमिमें अग्रसर करना, साधकमें अपने यथायोग्य साधनकेअनुसार ज्ञानोन्नति होना और अन्तमें सच्चिदानन्द भावत्रयकी सहायतासे स्वस्वरूपकी उपलब्धि कराना, यह सब उस चैतन्यमयी कारणरूपिणी महाशक्तिकी ही कृपाका फल है। उसीप्रकार समष्टि जगत्में सृष्टि स्थिति लयके क्रमकी सुरक्षा करना भी उन्हींका कार्य है। सर्वशक्तिमयी महामायाका चतुर्थ अर्थात् तुरीय भाव मनुष्यकी वाणी और मनसे अगोचर है। पूज्यपाद महर्षियोंने ऐसा वर्णन किया है कि:—

ब्रह्मशक्त्योरभेदोऽहंममेतिवत् ।

मैं और मेरी शक्ति, इसप्रकारके विचार करनेसे जैसे मुझमें और मेरी शक्तिमें अभिन्नता सिद्ध होती है, उसीप्रकार ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामायामें अभेद है, वे तच्छक्तिस्वरूपिणी सच्चिदानन्दमयी हैं। विष्णुपुराणमें कहा है कि:—

स एव क्षोभको ब्रह्मन् ! क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः ।
स सङ्कोचविकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः ॥
केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे ।
ज्ञानं मायाप्रधानञ्च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम् ॥
सा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका !
माया नाम महाभाग ! ययेदं निर्ममे विभुः ॥

वही पुरुषोत्तम भगवान् क्षोभ्य और क्षोभक उभयरूपसे प्रतिभात होते हैं एवं सङ्कोच और विकासकेद्वारा ब्रह्म और तच्छक्तिस्वरूपिणी प्रकृति वा प्रधान उभयरूपसे विद्यमान रहते हैं। यह प्रकृति कहीं इच्छारूपसे, कहीं मायारूपसे एवं कहीं शक्तिरूपसे वर्णन की गयी है। यह शक्ति सदसदात्मिका है एवं चैतन्यरूप भगवान् इसकेद्वारा ही समस्त विश्वकी सृष्टि किया करते हैं। तात्पर्य यह है कि, ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामायामें कोई भेद नहीं है। जिसप्रकार अग्निमें अग्निकी दाहिकाशक्ति निहित रहती हैं; उसीप्रकार ब्रह्ममें ब्रह्मशक्ति निहित रहती है। जिसप्रकार अग्निसे अग्निकी दाहिकाशक्ति अलग नहीं होसकती; उसीप्रकार ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका भेद असम्भव है। महाशक्तिकी यही अवस्था उनकी तुरीया दशा है। सुतरां पूर्वकथित विज्ञानसे यह सिद्ध हुआ कि, चिन्मयी महाशक्तिकी स्थूलअवस्था, सूक्ष्मअवस्था कारणअवस्था और तुरीयअवस्था, ये चारों स्वतन्त्र होनेपर भी उन्हीं चिन्मयी ब्रह्मशक्तिकी अवस्थाके भेदसे जगत्के सब अङ्गोंमें यावत्शक्तिका विकास हुआ करता है। क्या सत्यलोकआदि ऊर्ध्वलोक, क्या इन्द्रादि देवगण और क्या यह स्थावर जङ्गमात्मक स्थूल जगत्, सभी उन अद्वितीय अनादि अनन्त सच्चिदानन्दमयी महाशक्तिके ही प्रभाव अनुशासन और सहायतासे ही स्थित हैं। उन्हींकी सत्तासे ये सब सत्तावान् है। सकलदेवपूजित इन्हीं महाशक्तिका विस्तृत विवरण जिसप्रकार तन्त्रशास्त्रोंमें पाया जाता है, ऐसा और कहीं नहीं पाया जाता।

तन्त्रशास्त्रके विरुद्ध बहुधा दो बातें सुननेमें आती हैं। प्रथम तो तन्त्रशास्त्रोंमें धर्मशास्त्रके विरुद्ध खान पानादिकी विधि वामाचारनामक तन्त्रोक्त आचारमें पायी जाती है और द्वितीय, तन्त्रशास्त्रोंमें मारण वशीकरणआदि तामासिक सिद्धियोंका पाया जाना है। परन्तु धीरताके साथ निरपेक्षबुद्धिद्वारा विचार करनेसे यही सिद्ध होगा कि, "तन्त्रशास्त्रोंमें इतनी सब बड़ी बड़ी बातोंकेसाथ ऐसे निम्न अधिकारका वर्णन रहनेसे तन्त्रकी महिमा और उसका गौरव अधिक ही हो जाता है"। जिस

शास्त्रमें बड़ेसे बड़े विषय और छोटेसे छोटे विषय सभी पाये जायँ, उस शास्त्रकी महिमा अधिक ही होनी चाहिये। विशेषतः वामाचारकेविषयमें तन्त्रशास्त्र क्या कहते हैं, सो लिखाजाता है :—

आचारस्त्रिविधः प्रोक्तः साधकानां मनीषिभिः।
दिव्यदक्षिणवामाश्चाऽधिकाराः सप्तकीर्त्तिताः॥
सप्ताऽधिकारा विदुषः साधकस्य मता इमे।
दीक्षा ततो महादीक्षा पुरश्चरणमेव च॥
ततो महापुरश्चर्याऽभिषेकस्तदनन्तरम्।
षष्ठो महाऽभिषेकश्च तद्भावोऽन्तिम ईरितः॥
साधकोऽनेन लभते मोक्षं नाऽस्तीह संशयः।
एषां सप्ताऽधिकाराणां नामानि विविधानि वै॥
तन्त्राऽऽदिशास्त्रे कथितान्याचारस्याऽनुसारतः।
परस्परं विप्रतीपावाचारौ वामदक्षिणौ॥
द्वयोरभिन्नलक्ष्यत्वेऽप्येकः प्रवृत्तिनिष्ठितः।
निवृत्तिनिष्ठो ह्यपरः प्रवृत्तिर्हि निसर्गधा॥
महाफला निवृत्तिस्तु विज्ञेया वेदवादिभिः।
अतो ह्युपासनायां वै आचारो द्विविधो मतः॥
उपासनाऽन्तर्भावा वै त्रिविधाश्चापि शुद्धयः।
आचारैः परिचीयन्ते प्रोक्तमेतन्मनीषिभिः॥
स्वाऽऽचारभेदा विज्ञेया गुरुदेवोपदेशतः।
निवृत्तिमार्गपथिका रता यत्र निसर्गतः॥
दिव्याऽऽचारः स भवति यस्तृतीयतया मतः।
द्वौ वामदक्षिणाऽऽचारौ विरुद्धौ हि परस्परम्॥
दिव्याऽऽचारो नो विरुद्धः सर्वजीवहितप्रदः।
वामः प्रवृत्तिपरको दक्षिणस्तु निवृत्तिगः॥
दिव्याचार उभाभ्यां वै परः श्रेयस्करो मतः।
द्विविधस्तु भवत्येष वामदक्षिणभेदतः॥

आचारः शक्तिपूजायां सर्वतन्त्रानुसारतः ।
शक्तिप्राधान्यतश्चास्मिञ्छक्तिपूजाविधौ नृणाम् ॥
साधनानां सुविस्तारः क्रियते तत्त्वदर्शिभिः ।
अधिकारोऽत्र पूजायां द्विविधो दृश्यते तथा ॥
तन्त्रेषु बहुविस्तारः शक्तिपूजाविधेरभूत् ।
दक्षिणाऽऽचारतो योऽयं विपरीतो भवेदिह ॥
वामाऽऽचारः स विज्ञेयस्तन्त्रशास्त्र विशारदैः ।
जने सत्त्वप्रधाने तु दिव्याऽऽचारः प्रशस्यते ॥
पश्वाऽऽचारो रजोमुख्ये वामाऽऽचारश्च तामसे ।
वामाऽऽचारश्च योऽयं वै वीराऽऽचारः स कथ्यते ॥
लोककल्याणसिद्ध्यर्थं निर्णीतोऽसौ कलौ युगे ।
स्वां स्वां प्रकृतिमाश्रित्य जीवाः परवशाः कलौ ॥
वामाऽऽचारमनुष्ठाय लप्स्यन्ते शुभमव्ययम् ।
एवं प्रवृत्तिकार्येषु निवृत्तेर्लक्ष्यतावशात् ॥
नूनं प्रवृत्तिचेष्टासु घोरास्वपि च साधकः ।
प्रभवेत्साधितुं सिद्धिमात्मनश्चोन्नतिं सदा ॥
वामाऽऽचाररहस्यं वै ह्येतन्मुनिसमादृतम् ।
वामाऽऽचारक्रियामुख्यं लतासाधनवर्णनम् ॥
विहितं तन्त्रमर्मज्ञैः प्रायशः शक्त्युपासने ।
अन्येषु सम्प्रदायेषु युग्मोपासनवर्णना ॥
विहिता यत्र तत्रैव क्रियेयमुपवर्णिता ।
यथा द्वैविध्यमापन्नो दक्षिणाऽऽचार उच्यते ॥
वामाऽऽचारे तथा चाष्टौ भेदाः प्रोक्ता हि तान्त्रिकैः ।
वामाऽऽचारेऽधिकाराः स्युः सप्त वै परिकीर्त्तिताः ।
प्राप्यन्ते साधकैस्ते हि गुरुदेवकृपावशात् ॥

साधकोंके अर्थ त्रिविध आचारवर्णन आचार्य्योंने किया है। यथाः—दिव्य, दक्षिण और वाम। साधकके अधिकार सात कहे गये हैं। यथाः—दीक्षा, महादीक्षा, पुरश्चरण, महापुरश्चरण, अभिषेक, महाभिषेक और तद्भाव। इन अधिकारोंके-द्वारा साधकके इन सात अधिकारोंके नाम तन्त्रादिशास्त्रोंमें दिव्य, दक्षिण और वाम

आचारोंकेअनुसार बहुप्रकारके हैं, जो स्व स्व संप्रदायोंमें व्यवहृत होते हैं। वाम और दक्षिण एक दूसरेसे विरुद्ध हैं। दोनोंका लक्ष्य निवृत्तिमूलक होनेपर भी एक प्रवृत्तिपरक और दूसरा निवृत्तिपरक है। मनुष्योंमें प्रवृत्ति स्वाभाविकी है, किन्तु निवृत्ति महाफल देनेवाली है। इसकारण उपासनामें भी दोनों आचारोंका वर्णन देखनेमें आता है। आचार उपासनाके अन्तर्भावोंका परिचायक और त्रिविध शुद्धिपरिचायक है, ऐसा विद्वज्जनोंने कहा है। स्व स्व आचारके भेद श्रीगुरुमुखसे जान लेने योग्य हैं। जिस आचारमें निवृत्ति मार्गके पूर्णाधिकारीगण स्वभावतः रत होते हैं, ऐसा दिव्याचार वह है, जो पूर्वोक्त दोनों आचारोंसे तृतीय है। वाम और दक्षिण दोनों आचार परस्पर विरुद्ध हैं, परन्तु दिव्याचार दोनोंसे अविरुद्ध और सर्व जीवहितकर है। वाम आचार प्रवृत्तिपरक और दक्षिण निवृत्तिपरक है एवं दिव्याचार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनोंसे अतीत है। यह द्वंद्वातीत होनेसे परमानन्दप्रद माना गया है। शक्तिकी उपासनामें समस्त तन्त्रशास्त्रोंकेअनुसार वह आचार वामाचार और दक्षिणाचार इन दो भेदोंसे दोप्रकारका होता है। इस शक्तिकी उपासनामें शक्तिकी प्रधानता होनेसे तत्त्वदर्शियोंने साधनोंका बहु विस्तार किया है एवं अधिकार भी दो रखे हैं। तन्त्रोंमें शक्ति-उपासनाविधिका बहुत विस्तार है। तन्त्र-शास्त्रज्ञ ऋषियोंने दक्षिणाचारसे जो विपरीत हो, उसे वामाचार कहा है। साधकके सात्त्विक होनेपर दिव्याचार कल्याणकारक होता है और राजसिक साधककेलिये पशवाचार हितकारक है एवं तामसिक साधक वामाचारका अधिकारी है। वामाचारकोही वीराचार भी कहते हैं। यह कलियुगमें लोककल्याणार्थ निर्णीत हुआ है। कलियुगमें अपनी-अपनी प्रकृतिके वश जीवगण इस आचारकेद्वारा अक्षय कल्याण-साधन कर सकेंगे। इसप्रकार प्रवृत्तिकी क्रियाओंमें निवृत्तिके लक्ष्य रहनेकेकारण घोर प्रवृत्तिकी चेष्टाओंमें भी साधक आत्मोन्नति करता हुआ सिद्धि प्राप्त करसकता है। मुनियोंसे आदृत यही वामाचारका रहस्य है। प्रायः तन्त्रोंमें शक्ति उपासनामें ही वामाचार-क्रिया-प्रधान लतासाधनका वर्णन है। परन्तु वैष्णवआदि चार संप्रदायोंमें जहाँ युगल उपासनाकी विधि है, ऐसे संप्रदायोंमें भी इस क्रियाका वर्णन किसी किसी तन्त्रमें मिलता है। दक्षिणाचारमें जिसप्रकार दो भेद हैं, उसीप्रकार वामाचारमें आठ भेद तान्त्रिकोंसे माने गये हैं। इस आचारमें साधकके सात अधिकार माने गये हैं, सो क्रमशः उन्नति करता हुआ साधक श्रीगुरुदेवकी कृपासे प्राप्त करता है। वामाचारके इन्हीं सात अधिकारोंके नाम दीक्षा महादीक्षाआदि रूपमें पहले कहे गये हैं। अस्तु तन्त्रोक्त पूर्वकथित वर्णनसे ही वामाचारका यथार्थ स्वरूप प्रकाशित हुआ है। इसकेद्वारा तन्त्रशास्त्रोंमें सन्देहकारी सज्जनोंका सन्देह अपने आप ही दूर होजायगा। इस विषयमें अब अधिक सिद्धान्त निर्णय करनेकी आवश्यकता नहीं है। अब दूसरा सन्देह निराकरण करनेकेलिये पूज्यपाद महर्षि-गणने किसप्रकारसे सिद्धान्त निर्णय किया है, सो विचारद्वारा देखने योग्य है।

भक्तिमार्गके प्रधान आचार्य भक्ताग्रगण्य महर्षि शाण्डिल्यजीने अपने सूत्रोंमें कहा है किः—

सर्वाऽनृते किमिति चेन्नैवं बुद्धयानन्त्यात् ।

सब छोड़ देनेपर फिर सिद्धिकी क्या आवश्यकता हुआ करती है ? आवश्यकता अवश्य है, क्योंकि बुद्धि बहुतप्रकारकी होती है। तात्पर्य यह है कि, यदि जिज्ञासुगणके हृदयमें यह शङ्का उठे कि, जीवको तो सदा मुक्ति-उपायका ही चिन्तन करना उचित है, भक्ति ही उनकेलिये श्रेय है, तो पुनः ऐश्वर्योंका वर्णन क्यों किया जाता है ? साधक भक्तगण ऐश्वर्य लेकर क्या करेंगे ? इसके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, जीव अनन्त हैं, इसकारण जीवोंकी मति गतिका भी ठिकाना नहीं; सभी जीव मुक्तिके अभिलाषी थोड़ेही होते हैं। जो साधक ऐश्वर्यका भिखारी हो, उसके अर्थ ऐश्वर्योंका होना भी आवश्यक है, क्योंकि जब साधक अपनी कामनाके-अनुसार सिद्धियोंको प्राप्त कर लेगा; तभी वह आगे बढ़ सकेगा; वासना रहते जीव मुक्तिका अधिकारी हो ही नहीं सकता। इसकारण मध्यवर्त्ती साधकोंके हितार्थ और प्रार्थनाकारियोंकी प्रार्थना पूर्णकरणार्थ उनपर कृपावश आचार्यगणने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धियोंका वर्णन किया है। इसी सिद्धान्तपर स्थित रहकर प्राचीन आचार्यगणने प्रायः अपने साधनसम्बन्धीय ग्रन्थसमूहमें नाना सिद्धियोंकी प्राप्तिका कौशल वर्णन किया है। हठयोगके ग्रन्थसमूह, लययोगके ग्रन्थसमूह, मन्त्रयोगके ग्रन्थसमूह और उपासनाकाण्डके ग्रन्थसमूहमें प्रायः इन्हीं सिद्धियोंका वर्णन पाया जाता है। विशेषतः सबप्रकारके साधनमार्गोंके आदि विज्ञानरूप "योगदर्शन"– में इन सिद्धियोंका वर्णन बहुत ही विस्तृतरूपसेकिया गया है। वैदिकधर्म-समाजमें जितनेप्रकारके साधनसम्प्रदाय प्रकट हैं, उन सबोंकी ही एकमात्र भित्ति योगिराज महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन है। जो कोई सम्प्रदाय ज्ञानोन्नति अथवा मुक्तिपदकी इच्छासे किसीप्रकारका साधन करता हो, वह अवश्य इस अभ्रान्त और सार्वभौम विज्ञानके अनुसार ही होगा दर्शनशास्त्रके पठन करनेसे स्वतः ही प्रमाणित होता है कि पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलि भी सिद्धिवर्णन एवं सिद्धिविस्तारके विशेष पक्षपाती थे। इसीकारण योगिराज महर्षिजीने अपने योगदर्शनमें "विभूतिपर्वाध्याय" नामसे एक स्वतन्त्र अध्याय ही प्रणयन किया है। शास्त्रद्वारा एवं प्राचीन महर्षिगणके सिद्धान्तद्वारा सिद्धियोंकी पुष्टिका प्रमाण इससे अधिक और क्या होसकता है। सिद्धिसमूहद्वारा प्रकृति राज्यपर साधकका अधिकार दृढ़ हुआ करता है; इसकारण साधकका जबतक प्रकृति राज्यसे सम्बन्ध है, तबतक निःस्वार्थरूपेण उसका सम्बन्ध सिद्धियोंसे अवश्य रहना सम्भव है। यथा योगदर्शनमें:—

"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः"

सिद्धियाँ समाधिदशामें हानिजनक होनेपर भी व्युत्थान या लौकिकदशामें, प्रवृत्तिपरायण मनुष्योंकी रुचि व विश्वास धर्ममार्गमें बढ़ानेकेलिये हितकर हैं। गुणभेदसे यदिच सिद्धियोंमें छुटाई बड़ाई हुआ करती है; गुणभेदसे यदिच साधकगण सिद्धिकी प्राप्तिद्वारा निःस्वार्थपरायण अथवा घोर स्वार्थपरायण हुआ करते हैं; गुणभेदसे यदिच निःस्वार्थ कर्मद्वारा साधकगण क्रमशः उन्नतदशाकी प्राप्ति एवं

स्वार्थपूर्ण कर्मद्वारा क्रमशः अधोगतिकी प्राप्ति किया करते हैं; तत्रच साधककेसाथ सिद्धियोंका सम्बन्ध अवश्य ही रहना सम्भव है, इसमें सन्देह नहीं। पहली दशामें अर्थात् निम्न श्रेणीकी दशामें तो बालकको मिष्टान्नके लोभसे अक्षरशिक्षा देनेकी तरह क्षुद्र सिद्धियोंका लोभ बहुत ही हितकारक है, इसमें सन्देह नहीं। तन्त्रोंमें निकृष्ट और उत्कृष्ट दोनोंप्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन है। साधक गुणभेदसे तीनप्रकारके हुआ करते हैं, जिनमेंसे सात्त्विक साधकको तो सिद्धियोंकी इच्छा ही नहीं रहती, राजसिक साधकको उत्कृष्ट सिद्धियोंकी इच्छा रहती है और तामसिक साधक सदा निकृष्ट सिद्धियोंकेलिये व्यग्र रहा करते हैं। इसीकारण राजसिक एवं तामसिक साधकोंकी कामनापूर्तिकेअर्थ और साधनमार्गमें चमत्कार दिखाकर उनको अग्रसर करनेकेअर्थ जीवोंपर अतिकृपा कर तन्त्रशास्त्रोंने सिद्धियोंका प्रकाश किया है। इसकारण यह मानना ही पड़ेगा कि, यदिच साधनमार्गमें सिद्धियाँ दुःखदायी होती हैं परन्तु उन सिद्धियोंकी पूर्ण आवश्यकता भी रहनेसे तन्त्रशास्त्रोंमें इसप्रकार सिद्धियोंका वर्णन किसीप्रकार भी निन्दनीय नहीं होसकता।

तन्त्रशास्त्र सर्वलोकहितकारी है, ऐसा वचन तन्त्रोंमें प्रायः मिलता है। तन्त्रोंका प्रकाश कलिमलदूषितचित्त कलिकालके जीवोंकेलिये विशेषरूपसे हुआ है। अतः कलिकालके प्रभावसे जिन साधकोंकी साधना निम्न श्रेणीकी और मन्द है व जो साधक भोगलोलुप हैं, उनके अर्थ उक्तप्रकारका आचार और उक्तप्रकारकी क्षुद्र सिद्धियाँ उनको लोभ दिखाकर उपासनामार्गमें अग्रसर करनेकेलिये सर्वथा हितकारी हैं, इसमें सन्देह नहीं। फलतः निरपेक्ष विचारद्वारा यह निर्णय हुआ कि, तन्त्रशास्त्रमें सर्वलोकरहित अनेक उपयोगी और आध्यात्मिक उन्नतिकारी विषयोंकेसाथ यदि ऐसे निम्नकोटिके विषय भी हैं, तो उससे कुछ दूषण नहीं है; प्रत्युत उनकेद्वारा तन्त्रशास्त्रोंकी सर्वजीवहितकारिता और पूर्णता सिद्ध होती है। वेद पूर्ण हैं, इसलिये वेदोंमें भी जैसा सात्त्विक, राजसिक व तामसिकसाधकोंके उपकारके अर्थ यज्ञ, पशुयज्ञ और श्येनयज्ञका वर्णन है, जिसको अधिकारानुसार अनुष्ठान करनेसे अपकार न होकर उपकार ही होता है (जैसा कि वेदके अध्यायमें कहा गया है) उसीप्रकार तन्त्रके अन्तर्गत तामसिक साधनोंके विषयमें भी समझना चाहिये। आज कल बहुत लोग जो उनपर हँसी उड़ाया करते हैं, इसके दो कारण हैं। प्रथमतः अधिकारभेदके रहस्यको भूल जानेसे ही ये सब बातें खराब लगती हैं। स्मरण रहना चाहिये कि, संसारमें कोई वस्तु खराब या कोई वस्तु अच्छी नहीं है। अच्छी बुरी अपने अपने अधिकारकेअनुसार ही हुआ करती है। एक वस्तु जो किसी मनुष्यकेलिये अच्छी है, वही दूसरेकेलिये बुरी होसकती है। तन्त्रके खराब साधन सात्त्विक व राजसिक मनुष्योंकेलिये खराब व पतनकेकारण होसकते हैं परन्तु महातामसिक यथेच्छ मद्य मांस मैथुनआदि सेवन करनेवाले मनुष्योंकेलिये उन सब खराब वस्तुओंकेसाथ धर्मभावयुक्त साधन मिलाकर उन वस्तुओंका ही व्यवहार करना अनर्गल व्यवहारसे कुछ अच्छा अवश्य है। इससे धीरे धीरे धर्मभाव बढ़कर वे सब बुरी आदतें छूट सकती है। यही इसका प्रथम रहस्य है। द्वितीयतः तन्त्रशास्त्रके रहस्य

और अधिकारके न जाननेसे आजकल बहुत लोगोंकेलिये तान्त्रिक साधन धर्मके आड़में पाप करनेका एक 'जरिया' बन गया है। योग्य गुरुके प्राप्त न होनेसे अधिकारकी परीक्षा भी नहीं होती और इसका फल यह होरहा है कि, बहुतसे पापी व ढोंगी लोग कपटसाधक बनकर सकलप्रकारके पाप कर रहे हैं और शास्त्रका प्रमाण देकर दूसरेको भी धोखा दे रहे हैं। दृष्टान्तरूपसे चोलीमार्गको समझ सकते हैं। इसप्रकार अन्याय सर्वथा निन्दनीय है। इसमें तन्त्रका कोई दोष नहीं है, दोष उन कपटाचारी पापियोंका ही है। अतः इसकेलिये तन्त्रका खण्डन न होकर उन पापियोंका दमन होना चाहिये। तभी देशका यथार्थ कल्याण होगा। तन्त्रके तामसिक साधनोंकेद्वारा जो कहीं कहीं 'मुक्ति' 'तीर्थगमन' आदि उन्नत फलोंके विषयमें तान्त्रिक प्रमाण मिलते हैं, उनमेंसे बहुतसे वचन तो उच्छृङ्खल तामसिक लोगोंको उनके अधिकारानुसार साधनमें प्रवृत्ति देनेकेलिये 'प्ररोचक' वाक्य हैं और बहुतसे मुक्तिराज्यमें उन्नत होनेके विषयमें क्रमोन्नति' सूचक वाक्य हैं। अतः इन वचनोंसे भी किसीको भ्रममें नहीं नहीं पड़ना चाहिये। वे सब रहस्य बहुत ही सूक्ष्म और गूढ़ हैं। बात इतनी ही है कि, जिसप्रकार पुराणकी भाषाओंका ज्ञान न रहनेसे और सब महापुराण, सब पुराण और सब उपपुराणको न पढ़नेसे पुराणोंके मतभेदों और रहस्योंका पता नहीं चलता; उसीप्रकार सब उपासनाके तन्त्र यथाक्रम पाठ न करनेसे तन्त्रोंके सम्बन्धकी सब शङ्कायें दूर नहीं होसकतीं, यह स्थिर सिद्धान्त है।

वेद, स्मृति, पुराण और तन्त्र, इन चारप्रकारके अध्यात्मग्रन्थोंकेसाथ सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुगका यथाक्रम सम्बन्ध, चारों युगोंके मनुष्योंका अधिकारनिर्णय और तन्त्रशास्त्रोक्त आचारका अधिकारिनिर्णयआदि विषय तन्त्र-शिरोमणि महानिर्वाणमें शिवपार्वतीसंवाद किसप्रकार वर्णन किया गया है, सो नीचे लिखा जाता है।

वेद, स्मृति, पुराण और तन्त्र, इन चारप्रकारके अध्यात्मग्रन्थोंकेसाथ सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुगका यथाक्रम सम्बन्ध, चारों युगोंके मनुष्योंका अधिकारनिर्णय और तन्त्रशास्त्रोक्त आचारका अधिकारिनिर्णयआदि विषय तन्त्र-शिरोमणि महानिर्वाणमें शिवपार्वतीसंवादसे किसप्रकार वर्णन किया गया है, सो नीचे लिखा जाता है।

श्रीआद्योवाच।

भगवन्! सर्वभूतेश! सर्वधर्मविदांवर!।
कृपावता भगवता सर्वाऽन्तर्यामिना पुरा॥
प्रकाशिताश्चतुर्वेदा सर्वधर्मोपबृंहिताः।
वर्णाऽऽश्रमाऽऽदिनियमा यत्र चैव प्रतिष्ठिताः॥

तदुक्तयोगयज्ञाऽऽद्यैः कर्मभिर्भुवि मानवाः ।
देवान् पितॄन् प्रीणयन्तः पुण्यशीलाः कृते युगे ॥
स्वाध्यायध्यानतपसा दयादानैर्जितेन्द्रियाः ।
महाबला महावीर्या महासत्यपराक्रमाः ॥
देवाऽऽयतनगा मर्त्याः देवकल्पा दृढव्रताः ।
सत्यधर्मपराः सर्वे साधवः सत्यवादिनः ॥
राजानः सत्यसंकल्पाः प्रजापालनतत्पराः ।
मातृवत्परयोषित्सु पुत्रवत्परसूनुषु ॥
लोष्टवत्परवित्तेषु पश्यन्तो मानवास्तदा ।
आसन्स्वधर्मनिरताः सदा सन्मार्गवर्त्तिनः ॥
न मिथ्याभाषिणः केचिन्न प्रमादरताः क्वचित् ।
न चोरा न परद्रोहकारका न दुराशयाः ॥
न मत्सरा नाऽतिरुष्टा नाऽतिलुब्धा न कामुकाः ।
सदन्तःकरणाः सर्वे सर्वदाऽऽनन्दमानसाः ॥
भूमयः सर्वसस्याऽऽढ्याः पर्जन्याः कालवर्षिणः ।
गावोऽपि दुग्धसंपन्नाः पादपाः फलशालिनः ॥
नाऽकालमृत्युस्तत्राऽऽसीन्न दुर्भिक्षं न वा रुजः ।
हृष्टाः पुष्टाः सदाऽऽरोग्यास्तेजोरूपगुणाऽन्विताः ॥
स्त्रियो न व्यभिचारिण्यः पतिभक्तिपरायणाः ।
ब्राह्मणाःक्षत्रियावैश्याः शूद्राःस्वाऽऽचारवर्त्तिनः॥
स्वैः स्वैर्धर्मैर्यजन्तस्ते निस्तारपदवीं गताः ।
कृते व्यतीते त्रेतायां दृष्ट्वा धर्मव्यतिक्रमम् ॥
वेदोक्तकर्मभिर्मर्त्या न शक्ताः स्वेष्टसाधने ।
बहुक्लेशकरं कर्म वैदिकं भूरिसाधनम् ॥
कर्त्तुं न योग्या मनुजाश्चिन्ताव्याकुलमानसाः ।
त्यक्तुं कर्त्तुं न चाऽर्हन्ति सदा कातरचेतसः ॥
वेदार्थयुक्तशास्त्राणि स्मृतिरूपाणि भूतले ।
तदा त्वं प्रकटीकृत्य तपःस्वाध्यायदुर्बलान् ॥

लीलानतारयत्पापाद्दुःखशोकाऽऽमयप्रदात् ।
त्वां विना कोऽस्ति जीवानां घोरसंसारसागरे ॥

भर्त्ता पाता समुद्धर्त्ता पितृवत्प्रियकृत्प्रभुः ।
ततोऽपि द्वापरे प्राप्ते स्मृत्युक्तसुकृतोज्झिते ॥

धर्म्मार्ऽद्धलोपे मनुजे आधिव्याधिसमाकुले ।
संहिताद्युपदेशेन त्वयैवोद्धारिता नराः ॥

आयाते पापिनि कलौ सर्वधर्म्मविलोपिनि ।
दुराचारे दुष्प्रपञ्चे दुष्टकर्म्मप्रवर्त्तके ॥
न वेदाः प्रभवस्तत्र स्मृतीनां स्मरणं कुतः ।
नानेतिहासयुक्तानां नानामार्गप्रदर्शिनाम् ॥

बहुलानां पुराणानां विनाशो भविता विभो ! ।
तदा लोका भविष्यन्ति धर्मकर्मबहिर्मुखाः ॥
उच्छृङ्खला मदोन्मत्ताः पापकर्मरताः सदा ।
कामुका लोलुपाः क्रूरा निष्ठुरा दुर्मुखाः शठाः ॥

स्वल्पाऽऽयुर्मन्दमतयो रोगशोकसमाकुलाः ।
निःश्रीका निर्बला नीचा नीचाऽऽचारपरायणाः ॥
नीचसंसर्गनिरताः परवित्ताऽपहारकाः ।
परनिन्दापरद्रोहपरीवादपराः खलाः ॥
परस्त्रीहरणे पापशङ्काभयविवर्जिताः ।
निर्धना मलिना दीना दरिद्राश्चिररोगिणः ॥

विप्राः शूद्रसमाऽऽचाराः संध्यावन्दनवर्जिताः ।
अयाज्ययाजका लुब्धा दुर्वृत्ताः पापकारिणः ॥
असत्यभाषिणो मूर्खा दाम्भिका दुष्प्रपञ्चकाः ।
कन्याविक्रयिणो व्रात्यास्तपोव्रतपराङ्मुखाः ॥
लोकप्रतारणार्थाय जपपूजापरायणाः ।
पाखण्डाः पण्डितंमन्याः श्रद्धाभक्तिविवर्जिताः ॥

कदाऽऽहाराः कदाऽऽचारा भृतकाः शूद्रसेवकाः ।
शूद्राऽन्नभोजिनः क्रूरा वृषलीरतिकामुकाः ॥

दास्यन्ति धनलोभेन स्वदारान्नीचजातिषु ।
ब्राह्मण्यचिह्नमेतावत्केवलं सूत्रधारणम् ॥
नैव पानादिनियमो भक्ष्याऽभक्ष्यविवेचनम् ।
धर्मशास्त्रे सदा निन्दा साधुद्रोहो निरन्तरम् ॥
सत्कथाऽऽलापमात्रञ्च न तेषां मनसि क्वचित् ।
त्वया कृतानि तन्त्राणि जीवोद्धरणहेतवे ॥
निगमाऽऽगमजातानि भुक्तिमुक्तिकराणि च ।

हे भगवन् ! हे सर्वभूतेश ! हे सर्वधर्मविदांवर ! तुम बड़े ऐश्वर्यशाली, कृपासमुद्र और सबके अन्तर्यामी हो। तुम्हारेद्वारा ही सृष्टिकेआदि कालमें चतुर्वेदोंका प्रकाश हुआ था; जिन वेदसमूहद्वारा सर्वप्रकारके धर्मोंकीवृद्धि और वर्णाऽऽश्रमधर्मकी प्रतिष्ठा होती आयी है, उन वेदोक्त याग यज्ञरूप कर्मसमूहसेपृथ्वीपर पुण्यशील मानवगण सत्ययुगकेअन्तर्गत सदा धर्मसाधन करते हुए देवतागण और पितृगणोंकी परितृप्ति किया करते थे। उस सत्ययुगमें मनुष्यगण स्वाध्याय, ध्यान, तपस्या, दया और दानादि धर्मकार्योंद्वारा जितेन्द्रिय हुआ करते थे। वे महाबलशाली महावीर्यवान् और अत्यन्त सत्यपरायण होते थे। वे धर्मपर ऐसे दृढ़ थे कि, शक्ति रखनेपर एवं अत्यन्त शक्तियुक्त होनेपर भी साधु और सत्यवादी होते थे। उस युगके राजागण सत्यसंकल्पी और प्रजापालनतत्पर हुआ करते थे; वे परस्त्रियोंको मातृवत् और प्रजाओंको पुत्रवत् समझा करते थे। उससमयके मानवगण पराये धनको लोष्टवत् समझते थे और अपने स्वधर्ममें सदा सर्वदा लिप्त रहकर सन्मार्गानुगामी हुआ करते थे। उस श्रेष्ठ युगमें कोई पुरुष भी मिथ्यावादी नहीं होता था; किसी कालमें प्रमादसे भी कोई चौर्यवृत्तिधारी, जीवदुःखदायी अथवा परस्त्रीगामी नहीं हुआ करते थे। उस समय पुरुषगण मात्सर्ययुक्त, अतिक्रोधी, अतिलोभी अथवा कामुक देख नहीं पड़ते थे, संपूर्ण मनुष्यगण सदा आनन्दमें मग्न रहा करते थे। उस उत्तम कालमें भूमि सस्यशालिनी, मेघसमूह यथाकालमें वर्षणकारी, गोसमूह बहु दुग्धवती और वृक्षसमूह प्रचुर फलवान् हुआ करते थे। उससमयमें किसी जीवकी अकालमृत्यु नहीं होती थी, रोग अथवा दुर्भिक्षका नाममात्र नहीं था। प्रजासमूह हृष्ट, पुष्ट, बलवान् , तेज, रूप और सद्गुणसंपन्न हुआ करते थे। स्त्रियोंमें व्यभिचारका नाममात्र नहीं था और वे सदा ही पतिभक्तिपरायणा हुआ करतीं थीं। उस उत्तम सत्ययुगमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रगण अपने स्व स्व आचारोंके अनुगामी होकर निज निज वर्णमर्यादाकेअनुसार धर्मसाधन करते हुए परम कल्याणको प्राप्त हुआ करते थे। जब सत्ययुग बीत चुका, तो धर्ममें व्यतिक्रम होने लगा। एवं तब मानवगण वेदोक्त सब कर्मोंके ठीक ठीक अनुष्ठान करनेमें असमर्थ होने लगे। तब भूरि साधनयुक्त वैदिक कर्ममें बहुत क्लेश देखकर उन कर्मोंसे मनको फेरने लगे,

परन्तु वैदिक कर्मके त्यागसे पाप होनेके भयवशात् कर्मोंका एकवार ही त्याग न कर सके, प्रत्युत वे उन कठिन कर्मोंके सम्पादन करनेमें असमर्थ होकर सदा ही कातर-चित्त रहा करते थे। हे नाथ! उसी समय तुमने वेदार्थयुक्त स्मृतिशास्त्रोंका प्रचार इस पृथ्वीपर किया था। उन श्रेष्ठ शास्त्रसमूहद्वारा तुमने दुःख, शोक, रोगप्रद पापसे जीवोंकी रक्षाकी थी। त्रेतायुगके मनुष्योंके वेदोक्त तपस्या और स्वाध्यायमें असमर्थ होनेके कारण स्मृतिशास्त्रोक्त कर्मकाण्डोंने उनकी भली भांति रक्षा की थी, एवं उस समयके जीवोंका उद्धार किया था। इस भयानक संसारसमुद्रमें तुम्हारे अतिरिक्त जीवसमूहोंके भरणकर्त्ता, रक्षाकर्त्ता, उद्धारकर्त्ता, और पिताकी तरह प्रियकारी प्रभु और कौन हैं? तदनन्तर द्वापरयुगकी उत्पत्तिमें जीवोंने स्मृति शास्त्रोक्त सुकृतियोंका त्याग कर दिया; धर्मोद्भभाव लुप्त हो गया; और मनुष्य मानसिक क्लेश और शारीरिक व्याधियोंसे आकुल होगये। तब तुम्हारेद्वारा ही महर्षि व्यासआदि रूपसे संहिता और पुराणआदि शास्त्रनिर्माणद्वारा संसारके जीवोंका उद्धार हुआ था। तत्पश्चात् पापरूपी, स्वधर्मविलोपकारी, दुराचार-दुष्कर्म-विस्तारकारी-निकृष्ट कलियुगका आगमन होगा। तब वेदसमूहकी प्रभुता जीवोंके चित्तपर न रहेगी; स्मृति शास्त्र-समूहके शरण भी मनुष्यगण न आसकेंगे एवं नाना इतिहासपूर्ण सत्पथप्रदर्शनकारी पुराणशास्त्र भी कार्यकारी न होसकेंगे। हे प्रभो! इसप्रकार पुराणआदि शास्त्रोंके लोप होनेपर मनुष्यगण जब धर्मकर्मविमुख होने लगेंगे और धर्मशृङ्खलाको तोड़कर मदमें उन्मत्त, पापकर्ममें रत, घोरकामी, अतिलुब्धक, निर्दय, निष्ठुर, अतिदुर्भाषी, शठ, अति अल्पायुर्विशिष्ट, मन्दबुद्धि, रोग शोकमें आकुल, श्रीहीन, बलहीन, नीच आचारपरायण, नीचसंगमें रत, परवित्तापहारक, अतिनीच परनिन्दापरायण, परद्रोहकारीआदिदोषोंसे युक्त होने लगेंगे, परस्त्रीहरणमें उनको कोई भी शंका न रहेगी और वे सदा असत् कर्म करनेमें निर्भय रहेंगे और सदा निर्धन, मलिन, दीन और चिररोगी होवेंगे। विप्रसमूह जब संध्यावन्दनादिरहित होकर शूद्रआचारपरायण, नीच जातियोंके याजक, महालोभी, महादुर्वृत्त, पापकारी, मिथ्यावादी, मूर्ख, महा-अभिमानी, दुष्ट, शास्त्रकथाविक्रयकारी, कन्याविक्रयकारी, संस्कारविहीन और तपस्या व्रतपराङ्मुख होने लगेंगे। वे जीवोंकेचित्तपर भ्रम डालनेकेनिमित्त दिखावटमें अतिपूजापरायण परन्तु अन्तरमें अतिघोर पापाचरण करनेवाले, अपने आपको पण्डित माननेवाले, शास्त्रोंमें श्रद्धाहीन और ईश्वरमें भक्तिहीन होने लगेंगे। कलिके ब्राह्मण-गण अशुद्ध तामसिक भोजन करनेवाले, नीचाचारपरायण, अपने ही पेट भरनेवाले, शूद्रोंकी सेवा करनेवाले, शूद्रअन्नभोजी और शूद्रस्त्रीमें सम्भोगकी इच्छा करनेवाले होने लगेंगे। इहलोकमें धनकी इच्छासे अपनी स्त्रियोंतकको नीच जातिमें समर्पण करसकेंगे। इनमें ब्राह्मणका चिह्न केवल यज्ञसूत्रमात्र रहेगा, इन ब्राह्मणोंके पान भोजनका कोई नियम नहीं रहेगा और ये यथेच्छाचारी होवेंगे। ये श्रेष्ठकुलोद्भवगण तब सर्वदा वेद और धर्मशास्त्रोंकी निन्दा और साधुओंसे द्रोह किया करेंगे। उनके मनमें सत्यसंकल्प अथवा सद्वार्त्ताका उदयमात्र नहीं होगा। इसीकारण जीवोंके कल्याणार्थ आपने उनके भोगसाधन और मुक्तिसाधन, एकाधारमें इन दोनोंप्रकारके साधनोंकेलिये वेद और शास्त्रके अनुकूल तन्त्रशास्त्रका प्रणयन किया है।

पूर्वकथित तन्त्रशास्त्रोक्त वचनकेद्वारा ही यह सिद्ध होता है कि, कैसे युगके कैसे अधिकारियोंकेलिये तन्त्रोक्त विशेष विशेष साधनपद्धति और विशेष विशेष आचार, विशेष विशेष तन्त्रग्रन्थोंमें वर्णन किये गये हैं। तन्त्रशास्त्रके ग्रन्थ सूक्ष्म विचारद्वारा सात भागोंमें विभक्त होसकते हैं। यथा—ज्ञानकाण्डप्रधान तन्त्र, कर्मकाण्डप्रधान तन्त्र, वैष्णव-उपासनाप्रधान तन्त्र, सूर्य-उपासनाप्रधान तन्त्र, शक्ति-उपासनाप्रधान तन्त्र, गणपति-उपासनाप्रधान तन्त्र और शिवोपासनाप्रधान तन्त्र। इनमें से शक्ति-उपासनाप्रधान तन्त्रोंकी संख्या कुछ अधिक है और उन्हींमें विशेष विशेष आचार और विशेष विशेष साधन कुछ ऐसे हैं, जिनके विषयमें ऐसे लोगही कुछ शङ्का करसकते हैं जिन्होंने सबप्रकारके तन्त्रशास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया है। फलतः कलिकालकेलिये तन्त्रशास्त्रोंकी उपकारिताके विषयमें किसीको सन्देह ही नहीं होना चाहिये।

द्वितीय समुल्लासका षष्ठ अध्याय समाप्त।

—:०:—

उपवेद

जिसप्रकार श्रीभगवान्की कृपासे जीवोंको अलौकिक सहायता देनेकेलिये महर्षिगणके योगयुक्त अन्तःकरणमेंअपौरुषेय वेदोंका आविर्भाव हुआ है, उसीप्रकार जीवोंकी लौकिक सहायताके अर्थ महर्षियोंनेअनेक पदार्थविद्यासम्बन्धीय, शिल्पसम्बन्धीय और कलासम्बन्धीय अनेक शास्त्रोंका प्रणयन किया था। वे शास्त्र चार भागोंमें विभक्त हैं और वे उपवेद कहलाते हैं। यथा—

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
स्थापत्यवेदमपरमुपवेदश्चतुर्विधः ॥

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और स्थापत्यवेद। जिसप्रकार लौकिक पुरुषार्थयुक्त योग, साधनयुक्त उपासना और वैदिककर्म परम्परारूपसे अलौकिक मुक्तिपदकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं, जिसप्रकार यावत् लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय परम्परारूपसे निःश्रेयसप्राप्तिके सहायक होते हैं, जिसप्रकार धर्म अर्थ और काम ये तीनों परम्परारूपसे अन्तिम फल मोक्षकी प्राप्तिमें हेतु होते हैं और जिसप्रकार किसी जीवकी लौकिक उन्नति उसकी आध्यात्मिक उन्नतिका उपाय होती है; उसीप्रकार ये उपवेदसमूह मनुष्यकी क्रमोन्नतिके सहायक हैं और क्रमोन्नतिके परम्परारूपसे सहायक होनेकेकारण ये पौरुषेय होनेपर भी उपवेद कहाते हैं।

आयुर्वेद

सकलप्रकारके साधनकेलिये शरीर मुख्य कारण है। शरीर स्वस्थ और सबल विना रहे मनुष्य न ऐहलौकिक उन्नति कर सकता है और न पारलौकिक उन्नति

कर सकता है। इसकारण शारीरिक मङ्गलका सहायक चिकित्साशास्त्ररूपी आयुर्वेद सबसे प्रथम माना गया है। आर्यजातिके आयुर्वेदमें सृष्टिविज्ञान, शारीरिकविज्ञान धातुविज्ञान, रोगोत्पत्तिविज्ञान, रोगपरीक्षाविज्ञान, काष्ठादिकचिकित्साविज्ञान, रसायनचिकित्साविज्ञान, अस्त्रचिकित्साविज्ञानआदि अनेक वैज्ञानिक रहस्योंका वर्णन है। आर्यगणके सब शास्त्र अभ्रान्त वैज्ञानिक भित्तिपर स्थित हैं। आजकलकी पश्चिमीय उन्नत जातियोंकी जो पदार्थविद्यायें हैं, वे सब क्रमशः परीक्षाद्वारा निर्णीत हुई हैं; अर्थात् साधारण मनुष्य-बुद्धिके प्रयोगद्वारा क्रमशः परीक्षा करतेहुए वे विद्यायें प्रकट हुई हैं। परन्तु प्राचीनकालमें पदार्थविद्या (जिसको आजकलके विद्वान् सायन्स कहते हैं) के सम्बन्धमें जो कुछ उन्नति हुई थी, उसके प्रकाशक योगिराज महर्षिगण थे। इसकारण उस समयकी आवश्यकताकेलिये उन्होंने जो कुछ अपनी योगयुक्त बुद्धिसे देखा था, सो सब अभ्रान्त ही देखा था। उस समयकी पदार्थ-विद्या दार्शनिक सिद्धान्तोंसे भी सिद्ध थी। उदाहरणस्थलपर समझ सकते हैं कि, जिसप्रकार सृष्टिके स्वाभाविक सप्त भेद दर्शनसिद्ध हैं; यथा सप्त उच्चलोक, सप्त अधोलोक, सप्त व्याहृति, सप्त रङ्ग, सप्तस्वर, सप्त ज्ञानभूमि इत्यादि; उसीप्रकार आयुर्वेदकेअनुसार शरीरमें भी सप्त धातु माने गये हैं। द्वितीयतः जिसप्रकार सृष्टि त्रिगुणात्मक होनेकेकारण सृष्टिके सब विभाग त्रिगुणात्मक हैं, यथा—त्रिविध ज्ञान, त्रिविध कर्म, त्रिविध भाव, त्रिविध अधिकार इत्यादि; उसीप्रकार आयुर्वेदशास्त्रने वात, पित्त, कफ, इन तीनोंपर शारीरिकविज्ञान स्थित किया है। अस्तु आयुर्वेद अभ्रान्त सिद्धान्तयुक्त है और आयुर्वेदोक्त औषधियाँ भारतकी प्रकृतिके अनुकूल हैं, इसकारण आर्यजातिकेलिये आयुर्वेद-चिकित्सा सबसे अधिक हितकर है। प्राचीन-कालमें महर्षियोंने इस शास्त्रके अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन किया था, परन्तु उनका शतांश भी इस समय उपलब्ध नहीं होता है। हाँ यह शास्त्र कुछ प्रत्यक्ष फलप्रद है, इस कारण और उपवेदोंसे इसके अधिक ग्रन्थ मिलते हैं। उद्यमशील पाश्चात्त्य जातियोंने आर्यजातिकी इस लोकहितकरी विद्याको प्राचीन ग्रीकजातिकेद्वारा प्राप्त किया था और तत्पश्चात् उन्होंने अस्त्रचिकित्सा और रसायनचिकित्सामें बहुत कुछ उन्नति की है। भारतवर्षमें आयुर्वेदविद्याका पुनः प्रचार होते समय उक्त पाश्चात्त्य जातिके आविष्कारोंका ग्रहण करना अवश्य उचित है।

(धनुर्वेद)

धनुर्वेदके ग्रन्थोंमें मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान, मन्त्रविज्ञान, लक्ष्यसिद्धि, अस्त्र शस्त्रविज्ञान, युद्धविज्ञानआदि अनेक विषयोंका वर्णन था। जिसप्रकार आयुर्वेदशास्त्र शारीरिक स्वास्थ्य और बलदायक है और शरीर स्वस्थ होनेसे मुक्तिपदप्राप्तितकमें सहायक होता है; उसीप्रकार धनुर्वेदशास्त्र स्वधर्मरक्षा, जातिगत जीवनरक्षा, शान्तिरक्षा, स्वदेशरक्षाआदिका प्रधान सहायक है और आधिभौतिक मुक्ति अर्थात् जातिगत स्वाधीनतारूपी मुक्ति प्राप्त करनेका तो यह शास्त्र एकमात्र अवलम्बन है। मनुष्यकेलिये महर्षियोंने केवल दोप्रकारकी विहित मृत्यु लिखी है; यथा—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखे हतः ॥
(श्रीयोगियाज्ञवल्क्यः)

योगद्वारा उत्तम मृत्यु और धर्मयुद्धमें कीर्तिकर मृत्यु, दोनों मृत्यु ही मुक्तिदायक हैं। इन दोनोंके अतिरिक्त खट्वापर लेटे हुए मृत्यु होना आर्यजनोचित नहीं है। योगमृत्यु और युद्धमृत्यु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, यहांतक कि, नारियोंकेलिये भी समान फलप्रद हैं, इसमें सन्देद नहीं। युद्धविद्या भी केवल धर्मलक्ष्यसे ही लक्षित है, अधर्मयुद्ध सर्वथा निन्दनीय और अहितकर है। इस शास्त्रके अनेक ग्रन्थ प्राचीनकालमें प्रचलित थे, परन्तु इस समय सम्पूर्ण ग्रन्थ एक भी नहीं मिलता। यद्यपि इस समय देश कालकेअनुसार पाश्चात्य जातियोंने अनेकप्रकारके युद्धपोत और जलयान व्योमयानआदिका आविष्कार किया है, यद्यपि आज कलकी कलाकुशल पाश्चत्त्य जातियोंने विभिन्नप्रकारके शतघ्नी और नालास्त्रआदिका प्रणयन किया है, परन्तु जितने लौकिक अथवा दिव्य अस्त्र शस्त्र प्राचीनकालमें प्रचलित थे, जिसप्रकार विमानप्रणयन करनेकी शैली प्रकट थी, जिसप्रकार व्यूहरचनाप्रणाली प्राचीन आर्यगणको विदित थी, वैसी विचित्रता अभीतक प्रकट नहीं हुई है। आर्यजातिमें युद्धविद्याकी कुछ विलक्षणता थी। वीरताकी पराकाष्ठा, सरलनीतिकी पूजा और सब दशामें धर्मका प्राधान्य, आर्ययुद्धविद्याद्वारा अनुमोदित था। श्रीरामचन्द्र, भीष्म, अर्जुनआदिके समयकी तो बात ही क्या है? अभी दो शताब्दी पूर्व मेवाड़ाधिपतिकुलोद्भव वीराग्रगण्योंने जो धर्म, धैर्य, त्याग, शौर्यआदि गुणावलीका परिचय दिया है, उसका उदाहरण जगत्में नहीं मिलता। श्रीमहाभारतआदि ग्रन्थोंमें तो ऐसे उदाहरण बहुत मिलते हैं, परन्तु इस समयमें भी उक्त राजकुलमें ऐसे अनेक धार्मिक योद्धा हुए हैं, जो दिनमें धर्मयुद्ध करते और रात्रिमें धर्मयुद्धका अवसान होनेपर परस्परकी सेवा और चिकित्सा एक दूसरेके शिविरमें जाकर करते थे। धनुर्वेदके लुप्त होजानेसे क्षात्रतेजका नाश होगया है और ब्रह्मतेज भी सहायहीन होकर मलिन होगया है।

(गान्धर्व वेद)

धनुर्वेदके ग्रन्थोंका जिसप्रकार चिह्नमात्र भी नहीं मिलता, गान्धर्ववेदकी वैसी दशा नहीं है। गान्धर्ववेदके कई लौकिकग्रन्थ मिलते हैं और दो चार आर्षग्रन्थ भी छिन्न विच्छिन्न दशामें मिलते हैं। जिसप्रकार आयुर्वेदसे शरीरका सम्बन्ध है, उसीप्रकार मनकेसाथ गान्धर्ववेदका सम्बन्ध है। सङ्गीतकी सहायतासे मन स्वस्थ और बलशाली होता है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है किः—

वेदानां सामवेदोऽस्मि

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ। ऐसा कहकर जो सामवेदकी प्रधानता कही है, सो गान्धर्ववेदकी सहायताकेकारण है। सामवेदकी तरह लोकमोहन और वेद नहीं है। इसीकारण इसका और वेदोंसे सहस्रगुण विस्तार हुआ था।

पूजाकोटिगुणं स्तोत्रं स्तोत्रात्कोटिगुणो जपः।
जपात्कोटिगुणं गानं गानात् परतरं न हि ॥

उपासनाकाण्डसम्बन्धी शास्त्रोंने सर्वोपरि सङ्गीतकी महिमाका कीर्तन किया है। प्राचीनकालमें गान्धर्ववेद प्रधानतः दो भागोंमें विभक्त था। यथा—देशीविद्या और मार्गीविद्या। देशीविद्या लोकारञ्जनकर और मार्गी विद्या वेदगानोपयोगी है। इनमेंसे आधा शास्त्र एकबार ही लुप्त हो गया है, मार्गीविद्याका चिह्नमात्र भी पृथ्वीपर नहीं है। इस समय जो साम गानेकी शैली है, वह यथार्थ नहीं हैं, वरन् इसप्रकारकी शैलीसे सामकी असाधारण महिमामें बट्टा लगता है। प्राचीनकालमें सोलह सहस्र राग रागिणी और ३३६ ताल व्यवहृत होते थे, अब पचास शुद्ध राग रागिणी और दश तालके भी व्यवहार करने योग्य गायक नहीं मिलते। प्राचीनकालमें लोकरञ्जनकरी देशीविद्या त्रयीविद्या भी कहलाती थी, क्योंकि देशीविद्याके तीन विभाग हैं। यथा—गीत, वाद्य और नृत्य। प्राचीन नृत्यविद्याका शुष्क कङ्काल आज-कलके कत्थकोंका नृत्य है। और ग्रन्थोंके विषयमें यही कहा जा सकता है कि, आर्षग्रन्थ सम्पूर्ण एक भी नहीं मिलते। उपर्युक्त वर्णनसे अनुमान किया जा सकता है कि, वर्तमान कालमें सङ्गीतशास्त्रकी कैसी अवनत दशा है। शब्दमय सृष्टिका निर्णायक सङ्गीतशास्त्र है। जैसे मूलप्रकृतिसे कार्यरूपी यह भौतिकसृष्टि उत्पन्न हुई है, उसीप्रकारसे प्रथम सप्तस्वर और तत्पश्चात् सप्तभावमय सृष्टिका आविर्भाव होना सङ्गीताचार्यगण स्वीकार करते हैं। प्रणवकेसाथ ईश्वरका साक्षात सम्बन्ध है, इसकारण संगीतकी सहायतासे अन्तःकरणकी उन्नति और ईश्वरका साक्षात्कार होना गान्धर्ववेद-विज्ञान सिद्ध करता है। इस समय जो कुछ स्वल्परूपसे यह शास्त्र उपलब्ध होता है, उसकी विशेष उन्नति होनेसे आर्यजातिकी मानसिक उन्नतिमें विशेष सहायता होगी, इसमें सन्देह नहीं है। इससमय आर्यजातिकी जातीय अवनतिके साथ ही इस विद्याकी वहुत ही अवनति होगयी है। प्रायः अन्य धर्मावलम्बियोंके हाथ इसका क्रियासिद्धांश चला गया है और शोकका विषय यह है कि, विवाहआदि उत्सवोंमें और यहां तक कि सेनादलके रणवाद्यमें स्वदेशीय गीतके स्थानमें विदेशीय वाद्यादिक व्यवहृत होते हैं, इसका अवश्य संस्कार होकर जातीय सङ्गीतकी पुनरुन्नति होनी चाहिये। आर्यसंगीतशास्त्र पृथिवी भरमें एक अलौकिक शास्त्र है। अतः इस विषयका विस्तारितरूपसे एक स्वतन्त्र अध्यायमें वर्णन करनेकी इच्छा है।

(स्थापत्य वेद)

स्थापत्यवेदमें नानाप्रकारके शिल्प, कला, कारु-कार्य और पदार्थ-विद्या (सायन्स) का वर्णन था। शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन है कि, यह वेद बहुत बड़ा था और चौंसठ ६४ विभागोंमें विभक्त था। जिसप्रकार अन्तर्जगत्सम्बन्धीय उन्नतिका लक्षण दार्शनिकउन्नतिसे परिज्ञात होता है; उसीप्रकार लौकिक बुद्धि अर्थात् मनुष्यकी बाह्य उन्नति, उस मनुष्यजातिके शिल्प, कला, कारुकार्य और पदार्थविद्यासम्बन्धीय

उन्नतिसे समझी जाती है। प्राचीनकालमें आर्यजातिकेद्वारा अट्टालिकानिर्माण, सेतुनिर्माण, मन्दिरादिनिर्माण प्रस्तरसम्बन्धीय कारुकार्यआदिकी कितनी उन्नति हुई थी, सो आजकल ध्वंसावशेष मिलते हैं, उनके देखनेसे ही कुछ जाना जा सकता है। बहुतसे चिह्न अभी ऐसे विद्यमान हैं, जिनको देखकर पाश्चात्य प्रसिद्ध शिल्पीगण चकित होकर मनुष्यशक्तिसे उनका होना असम्भव समझते हैं। प्राचीन आर्योंमें पशुविद्या, प्रस्तरविद्या, लौहादि कठिन धातु और सुवर्णादि कोमल धातुकी उपयोगी विद्यायें वनस्पतिविज्ञान, नानाप्रकारके याननिर्माणकी विद्या, भूमिके अन्तर्गत पदार्थ और जलनिराकरणकी विद्या, कृषिविद्या, नाना वस्त्र आभूषण व रत्नोंके सम्बन्धकी शिल्पविद्या, आकाशतत्त्वविद्या, वायुतत्त्वविद्या, अग्नितत्त्वविद्याआदि अनेकों लोकोपकारी शिल्प व पदार्थविद्याओंका विकास भलीभाँति हुआ था, इसका प्रमाण वर्तमान ध्वंसावशेष चिह्न हैं और प्राचीन पुस्तकोंसे भी भली भाँति परिज्ञात होता है। भारतकी शिल्पोन्नतिके कारण ही परमोद्योगी पाश्चात्त्य जातियोंने जलपथका आविष्कार किया था।

चारों उपवेद अब लुप्तप्राय होगये हैं। संस्कृत और देशभाषाद्वारा इन चारों उपवेदोंके भाण्डारको यथासम्भव पूर्ण करनेमें धार्मिक विद्वानोंको परिश्रम करना चाहिये। इससमय पृथिवी भरकी अन्यजातियोंमें जहाँ इनके उपयोगी विषय मिलें, अपनी भाषाके ग्रन्थोंमें उनका संग्रह करना चाहिये।

द्वितीय समुल्लासका सातवाँ अध्याय समाप्त।

ऋषि और पुस्तक।

—:०:—

ज्ञानके प्रकाशक पूज्यपाद महर्षिगण हैं और पुस्तकोंकेद्वारा जगत्‌में ज्ञानका विस्तार होता है। जिसप्रकार एक साम्राज्यकी सुरक्षाकेलिये कई एक कार्यविभाग और उक्त कार्यविभागोंके अधिकारप्राप्त अमात्य (मुख्य अफसर) रहा करते हैं और वे अमात्यवर्ग उक्त सम्राट्‌के प्रतिनिधि होकर साम्राज्यका सब प्रबन्ध चलाया करते हैं; उसी शैलीपर एक ब्रह्माण्डकी सुरक्षा और पालनआदि कार्योंकेलिये प्रधानतः तीन विभाग हैं, जिनका नाम आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विभाग है। आध्यात्मिक विभागके चालक ऋषिगण, आधिदैविक विभागके चालक देवतागण और आधिभौतिकगणके चालक पितृगण हैं। इन तीनोंका विस्तारित विवरण एक स्वतन्त्र अध्यायमें किया जायगा। ऋषियोंके विषयमें दैवीमीमांसादर्शनमें कहा गया है कि:—

ऋषिदैवतमाध्यात्मिकं नित्याश्च।

आध्यात्मिक राज्यके अधिष्ठाता ऋषिगण हैं और वे नित्य हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिकेसाथ उस ब्रह्माण्डके अध्यात्म विभागरूपी ज्ञानाधिकारकी सुरक्षा-

केलिये नित्यऋषिगण प्रकट होते हैं। प्रत्येक मन्वन्तरमें ऋषियोंका परिवर्त्तन होता है। प्रत्येक मन्वन्तरके प्रधान ऋषि सात ही होते हैं।

इस कल्पके चौदह मन्वन्तरोंमें कौन कौन सप्तर्षि हुए हैं और भविष्यत्‌में कौन कौन होंगे, उनकी नामावली शास्त्रोंमें निम्नलिखितप्रकारसे पायी जाती है।

१ स्वायंभुवे मन्वन्तरे।

मरीचिरत्रिर्भगवानङ्गिराः पुलहः क्रतुः।
पुलस्त्यश्च वशिष्ठश्च सप्तैते ब्रह्मणः सुताः॥

(हरिवंशे)

२ स्वारोचिषे मन्वन्तरे।

ऊर्जस्तम्भस्तथा प्राणो दत्तोलिर्ऋषभस्तथा।
निश्चरश्चार्व्वरीराश्च तत्र सप्तर्षयोऽभवन्॥

(मार्कण्डेये ७३। १२)

३ उत्तमे मन्वन्तरे।

स्वतेजसा हि तपसो वसिष्ठस्य महात्मनः।
तनयाश्चाऽन्तरे तस्मिन् सप्त सप्तर्षयोऽभवन्॥

(मार्कण्डेये ७३। १३)

४ तामसे मन्वन्तरे।

ज्योतिर्धामा पृथुः काव्यश्चैत्रोऽग्निर्वलकस्तथा।
पीवरश्च तथा ब्रह्मन्! सप्त सप्तर्षयोऽभवन्॥

(मार्कण्डेये ७४।५९)

५ रैवते मन्वन्तरे।

हिरण्यरोमा वेदश्रीरूर्ध्वबाहुस्तथाऽपरः।
वेदबाहुः सुधामा च पर्जन्यश्च महामुनिः॥
वसिष्ठश्च महाभागो वेदवेदान्तपारगः।
एते सप्तर्षयश्चाऽऽसन् रैवतस्याऽन्तरे मनोः॥

(मार्कण्डेये ७५। ७३-७४)

६ चाक्षुषे मन्वन्तरे।

सुमेधा विरजाश्चैव हविष्मानुन्नतो मधुः।
अतिनामा सहिष्णुश्च सप्ताऽऽसन्निति चर्षयः॥

(मार्कण्डेयमतानुयायिनः)

७ वैवस्वताख्ये वर्त्तमाने मन्वन्तरे ।

अत्रिश्चैव वसिष्ठश्च काश्यपश्च महानृषिः ।
गौतमश्च भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथकौशिकः ॥
तथैव पुत्रो भगवानृचीकस्य महात्मनः ।
जमदग्निस्तु सप्तैते मुनयोऽत्रतथाऽन्तरे ॥

(मार्कण्डेये ७९ । ९-१०)

८ सावर्णिके मन्वन्तरे ॥

रामो व्यासो गालवश्च दीप्तिमान् कृप एव च ।
ऋष्यशृङ्गस्तथा द्रौणिस्तत्र सप्तर्षयोऽभवन् ॥

(मार्कण्डेये ८० । ४)

९ दक्षसावर्णिके मन्वन्तरे ।

मेधातिथिर्वसुः सत्यो ज्योतिष्मान् द्युतिमाँस्तथा ।
सप्तर्षयोऽन्यः सबलस्तथाऽन्यो हव्यवाहनः ॥

(मार्कण्डेये ९४ । ८)

१० ब्रह्मसावर्णिके मन्वन्तरे ।

आपोभूतिर्हविष्माँश्च सुकृती सत्य एव च ।
नाभागोऽप्रतिमश्चैव वासिष्ठश्चैव सप्तमः ॥

(मार्कण्डेये ९४ । १०-१३-१४)

११ धर्मसावर्णिके मन्वन्तरे ।

हविष्माँश्च वरिष्ठश्च ऋषिरन्यस्तथाऽऽरुणिः ।
निश्चरश्चाऽनघश्चैव विष्टिश्चाऽन्यो महामुनिः ॥
सप्तर्षयोऽन्तरे तस्मिन्नग्निदेवश्च सप्तमः ।

मार्कण्डेये ९४ । १९-२०)

१२ रुद्रसावर्णिके मन्वन्तरे ।

द्युतिस्तपस्वी सुतपास्तपोमूर्त्तिस्तपोनिधिः ।
तपोरतिस्तथैवाऽन्यः सप्तमस्तु तपोधृतिः ॥

(मार्कण्डेये ९४ । २५)

१३ देवसावर्णिके (रौच्ये) मन्वन्तरे ।

धृतिमानव्ययश्चैव तत्त्वदर्शी निरुत्सुकः ।
निर्मोहः सुतपाश्चाऽन्यो निष्प्रकम्पश्च सप्तमः ॥

(मार्कण्डेये ९४ । ३०)

१४ इन्द्रसावर्णिके (भौत्ये) मन्वन्तरे ।

अग्नीध्रश्चाऽग्निबाहुश्च शुचिर्मुक्तोऽथ माधवः ।
शुक्रो जितश्च सप्तैते तदा सप्तर्षयः स्मृताः ॥

(मार्कण्डेये १०० । ३१)

वर्त्तमान मन्वन्तरका नाम वैवस्वत है। इस मन्वन्तरके ऋषियोंके नाम, यथा—अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र और जमदग्नि। अन्य ऋषियोंके नाम नीचे लिखे जाते हैं।

भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः ।
मनुर्दक्षो वशिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥
ब्रह्मणो मानसा ह्येते उत्पन्नाः स्वयमीश्वराः ।
परत्वेनर्षयस्तस्माद् भूतास्तस्मान्महर्षयः ॥
ईश्वराणां सुतास्तेषामृषयस्तान्निबोधत ।
काव्यो बृहस्पतिश्चैव कश्यपश्च्यवनस्तथा ॥
उतथ्यो वामदेवश्च अगस्त्यश्चौपजस्तथा ।
कर्दमो बालखिल्याश्च विश्रवाः शक्तिवर्चसः ॥
इत्येते ऋषयः प्रोक्तास्तपसा ऋषिताङ्गताः ॥

जितनेप्रकारके नित्य और नैमित्तिक ऋषि होते हैं, उनके अधिकारभेदके-अनुसार शास्त्रोंमें सात भेद पाये जाते हैं। ऊपर लिखित नामोंके अतिरिक्त और भी बहुत ऋषियोंके नाम शास्त्रोंमें वर्णित हैं। इन सबोंके सात भेद कैसे किये गये हैं, सो आगे दिखाये जाते हैं।

सप्त ब्रह्मर्षि देवर्षि महर्षि परमर्षयः ।
काण्डर्षिश्च श्रुतर्षिश्च राजर्षिश्च क्रमाऽवराः ॥

(१) वसिष्ठाऽऽद्या ब्रह्मर्षयः । (२) कण्वादयो देवर्षयः ।
(३) व्यासाऽऽद्या महर्षयः । (४) भेलाऽऽद्याःपरमर्षयः ।
(५) जैमिन्याद्याः काण्डर्षयः । (६) सुश्रुताद्याःश्रुतर्षयः ।
(७) ऋतुपर्णादयो राजर्षयः ।

प्रथम श्रेणीका नाम ब्रह्मर्षि, यथा-ब्रह्मर्षि वसिष्ठादि। दूसरी श्रेणीका नाम महर्षि, यथा-महर्षि व्यासादि। चौथी श्रेणीका नाम परमर्षि, यथा-परमर्षि भेलादि। पाँचवीं श्रेणीका नाम काण्डर्षि, यथा-काण्डर्षि जैमिन्यादि। छठी श्रेणीका नाम श्रुतर्षि यथा-श्रुतर्षि सुश्रुतादि और सातवीं श्रेणीका नाम राजर्षि, यथा-राजर्षि ऋतुपर्णादि। ये सातोंप्रकारके ऋषि ही ज्ञानराज्यके चालक समझे जाते हैं। नित्य और नैमित्तिक-भेदसे ऋषि दो अधिकारके होते हैं। सूक्ष्म राज्यमें ब्रह्माण्डकेसाथ नित्य स्थित जो पद है, उन पदोंके ऋषि नित्य ऋषि कहलाते हैं, यथा-सप्तर्षिपद, व्यासपदआदि। और मनुष्यलोकमें उक्त ऋषियोंके अंशसे जिन ऋषियोंका जन्म होता है, उनको नैमित्तिक ऋषि कहते हैं। नैमित्तिक ऋषि सूक्ष्म जगत्के नित्य ऋषियोंके अवतार हैं, ऐसा समझना उचित है। इसी विषयमें पूज्यपाद महर्षि अङ्गिराने कहा है किः—

ऋषिदेवानामवतरणं तद्वत्।

इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि, जिसप्रकार श्रीभगवान् परमात्माके नित्य, नैमित्तिक, विशेष, अविशेष, आवेश, कला, पूर्णआदि अवतार अधर्मका नाश और धर्मकी वृद्धि किया करते हैं; उसीप्रकार नाना देव देवी और ऋषियोंके भी अनेकप्रकारके अवतार अपने अपने अधिकारके कार्य किया करते हैं। इस संसारमें व्यास वशिष्ठादि ऋषियोंके अनेक अवतार अध्यात्मराज्यकी सुरक्षा और शास्त्रादि प्रणयन कार्य कर गये हैं, उनके नाम शास्त्रोंमें पाये जाते हैं।

कारण और कार्य इन दोनोंका विचार करके जब अध्यात्मराज्यका निर्णय किया जाता है, तो सूक्ष्म राज्यकी परिधिमें त्रिकालदर्शी ऋषियोंकी स्थिति और स्थूल राज्यकी परिधिमें पुस्तकोंकी स्थिति पायी जाती है। इसी अध्यात्मराज्यको चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथाः—आभास, दर्शन, ज्ञान और परमाविद्या। परमात्माकी चित्सत्ताके प्रतिबिम्बद्वारा जीवका अन्तःकरण चित्सत्ताको प्राप्त करके आभास चेतना लाभ करता हुआ, जो ज्ञानोन्नतिका कार्य करता है, उसको आभास कहते हैं। अन्तःकरणकी पूर्व संस्कारजनित प्रबल तरङ्गरूपिणी वृत्तियाँ जब साधन और श्रवण मनन निदिध्यासनद्वारा शान्त होने लगती हैं, उस समय परमात्माके साक्षात् सम्बधसे जो ज्ञानकी आत्मदृष्टि उत्पन्न होती है, उसको दर्शन कहते हैं। अन्तःकरणकी वृत्तियाँ एकबार ही शान्त होजानेपर द्वैतभावरहित जो आत्मज्ञानका प्रकाश होता है, उसको ज्ञान कहते हैं और उक्त आत्मज्ञानकी जननी ब्रह्मशक्तिरूपिणी महाविद्या, जो आत्मज्ञान प्रसव करनेवाली हैं, उन्हींका नाम शास्त्र-कारोंने परमा विद्या कहा है। आभास ज्ञान पदार्थविद्याजनित लौकिक प्रत्यक्षसे प्राप्त होता है। दर्शन ज्ञान ऋषिप्रणीत दर्शन शास्त्रोंके यथाक्रम और यथाविधि अध्ययन करनेसे प्राप्त होता है। तत्त्वज्ञान उदय होनेपर जो स्वप्रकाश ज्ञान महा-त्माओंको लाभ होता है, उसको तटस्थज्ञान कहते हैं और महाविद्याकी सहायतासे स्वरूपज्ञानकी उपलब्धि जीवन्मुक्त महात्माओंको ही केवल अन्तमें होती है।

कलिकल्मषसे आच्छादित कलियुगमें दर्शन, ज्ञान और परमा विद्याका यथार्थ स्वरूप प्रायः लुप्त होता है। ऐसे मलिन युगमें आभास ज्ञानका ही विस्तार

अधिक देखनेमें आता है। मनुष्य जब बहिर्राज्यमें शिल्पादिकी उन्नति करता हुआ अपने बुद्धितत्त्वकी वृद्धि करता रहता है, मनुष्यकी उस सभ्यताकी उन्नत दशामें अपने आप ही आभास ज्ञानकी क्रमोन्नति हुआ करती है। आभासदशामें इन्द्रिय सुख ही जीवका प्रधान लक्ष्य रहता है। आभासदशामें इस लोकको ही जीव सब कुछ मानता रहता है। आभासदशामें सूक्ष्म राज्य और तत्त्वज्ञान जीवके लक्ष्यमें नहीं आते। इस दशामें ज्ञानराज्यका पथिक, आभास ज्ञानप्राप्त साधक इहलौकिक उन्नतिको ही परमपुरुषार्थ समझकर अपने और जगत्के इन्द्रिय-सुखके वृद्धिकी लालसासे अध्यात्म जगत्रूपी ज्ञानराज्यकी उन्नतिकेअर्थ लौकिक प्रत्यक्षकी सहायतासे दृढव्रत होकर पुरुषार्थ करने लगता है। जगत्में इस समय यही दशा देखनेमें आती है। आज कलकी सभ्यता प्राप्त उन्नत मनुष्य-जातियोंकीओर दृष्टि डालनेसे यही प्रतीत होगा कि, इस समय आभास ज्ञानकी उन्नतिकी उन्नत दशा है। शिल्पोन्नति और पदार्थविद्या (सायन्स) आदिकी उन्नति इसका प्रत्यक्ष फल है। जगत्में सायन्सकी जितनी उन्नति होगी, आभासका अधिकार उतना ही बढ़ता जायगा।

जिस समय पूज्यपाद महर्षियोंने शास्त्रोंका प्रकाश किया था, उसको दार्शनिक काल समझना उचित है। मनुष्योंमें जब विषयवासना घटजाती है, मनुष्य जब इहलौकिक सुखसे पारलौकिक सुखकी श्रेष्ठता समझने लगता है, मनुष्योंमें जब स्थूल जगत्से सूक्ष्म दैवीजगत्पर श्रद्धाकी अधिकता देखनेमें आती है और साधकोंमें निष्कामव्रत योग और भक्तिके प्रभावसे उनकी अन्तःकरणकी विषयात्मिका वृत्तियाँ हीनबल होने लगती हैं, उस समय वैसे सत्प्रारब्धशाली मनुष्योंमें दार्शनिक ज्ञानका उदय होता है। कलियुगमें उन्नत दार्शनिक ज्ञानी और आत्मज्ञानी महापुरुष होते ही नहीं ऐसा नहीं है; तात्पर्य यह है कि, कालधर्मकेकारण किसी समय मनुष्य जातिमें आभास ज्ञानकी अधिक प्रवृत्ति और किसी समय दार्शनिक ज्ञानकी अधिक प्रवृत्ति हुआ करती है। जिससमय इन्द्रियसुखकी इच्छाकी प्रधानता और शिल्प और पदार्थविद्या (सायन्स) की उन्नति अधिक पायी जाय, उसको आभास ज्ञानका काल समझना उचित है और जिससमय मनुष्योंमें आत्मसुखकी इच्छाकी प्रधानता और तत्त्वज्ञानकी उन्नतिमें अधिक प्रयत्न पाया जाय, उसको दार्शनिक ज्ञानका काल समझना उचित है। आर्यजातिके इसी दार्शनिक ज्ञानकी उन्नतिकी दशामें सप्त वैदिक दर्शनोंका अविष्कार हुआ था और इसी उन्नत दशामेंपूज्यपाद महर्षियोंकेद्वारा स्मृति पुराण तन्त्रादि अनेक अध्यात्मशास्त्रोंका प्रकाश साधारण रूपसे हुआ था, जिन शास्त्रोंके ज्ञानरूप धनसे भारत इस दीन दशामें भी धनाढ्य है।

शिक्षित सभ्य और उन्नत मनुष्य जातिमें आभास ज्ञानका प्रकाश होता है। भगवद्भक्त व विषय वासनामें अनिच्छा रखनेवाले मुमुक्षु मनुष्योंमें दार्शनिक ज्ञानका उदय हुआ करता है। इन्द्रिय और विषयकीओरसे जिनका मुख एकबार फिर गया है, तत्त्वज्ञान-प्राप्त ऐसे महापुरुषोंमें ही शुद्ध तटस्थ ज्ञानका उदय हुआ करता है। यही ज्ञानकी पूर्ण दशा है। सत्ययुगमें इस अधिकारके मनुष्य अधिक

थे। वेदके आविर्भावके समयमें ऐसे ही उन्नत अधिकारके महापुरुषोंके अन्तःकरणमें वेदका प्राकट्य हुआ था। सृष्टिके आदिमें इसीकारण ऐसे ही पूर्ण ज्ञानप्राप्त ऋषियोंकेद्वारा संसारमें ज्ञानका भण्डाररूपी वेद प्रकट हुआ था। यद्यपि इससमय कालप्रभावसे वेदोंका एक सहस्रांश भी नहीं मिलता, परन्तु यहतो दार्शनिक ज्ञानके द्वारा सिद्ध ही है कि, इस वर्त्तमान कल्पके उपयोगी सब ज्ञानका भण्डार बीजरूपसे उस समय वेदोंमें ऋचाओंकेद्वारा अवश्य ही प्रकट हुआ था। आत्मज्ञानप्राप्त (ज्ञानकी तृतीय उन्नत दशाके अधिकारी) महापुरुषोंको शास्त्रकारोंने दो श्रेणीमें विभक्त किया है। यथाः—

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो मुनिः सँल्लीनमानसः।

जिनका अन्तःकरण अद्वैत ज्ञानयुक्त ब्रह्मपदसे अभिन्न रहनेकेकारण, उनमें ब्रह्मवाक्यरूपी वेदोंका अपने आप ही ऋचारूपसे आविर्भाव हुआ करता है, उनको ऋषि कहते हैं और जिन महापुरुषोंका मन कारणमें लीन रहा करता है, उनको मुनि कहते हैं। ज्ञानकी चतुर्थ दशा जिसको स्वरूपज्ञान कहते हैं, वह केवल जीवन्मुक्त महात्माओंमें अथवा सप्तम लोकसे मुक्त होकर ब्रह्ममें लय होते समय मुक्तात्माओंको महाविद्याकी सहायतासे प्राप्त होती है। आभास ज्ञान और दर्शन ज्ञान साधन अवस्थाके हैं और तटस्थज्ञान और स्वरूपज्ञान यथाक्रम फलरूप हैं। ज्ञानजननी महाविद्याके विषयमें वेद और शास्त्रोंमें इसप्रकार कहा है। वेदोंमें कहा है किः—

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति,
यः प्राणिति यः श्रृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मान्त उपक्षीयन्ति,
श्रुधिश्रुत! श्रद्धिवन्ते वदामि॥

मैं ही सबकी भोजनशक्तिरूपा, मैं ही दर्शनशक्तिरूपा, मैं ही जीवनशक्तिस्वरूपा, मैं ही श्रवणशक्तिरूपा हूँ। अतएव मेरेद्वारा ही सब भोजन करते हैं, मेरेद्वारा ही सब दर्शन करते हैं, मेरेद्वारा ही सब जीवित रहते हैं एवं मेरेद्वारा ही सब लोग श्रवणादि समस्त कार्य करते हैं। जो मेरे इसप्रकारके वास्तविक तत्त्वसे अवगत नहीं हैं, वे संसारमें जन्ममृत्युरूप क्लेशकेद्वारा पीड़ित होते हैं। हे बहुश्रुत! तुमको मैंने यह दुर्लभ उपदेश प्रदान किया, तुम श्रवणकरके इसका स्मरण रखना।

अहमेव स्वयमिदं वदामि,
जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि,
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

देवगण और मनुष्यगण जिस तत्त्वका अन्वेषण करते हैं, वही दुर्लभ तत्त्व

मैंने तुमको कहा है। मैं इच्छा करूं, तो ब्रह्मत्व और विष्णुत्वका दान करती हूँ, महायोगी करती हूँ और मैं उसको तत्त्वज्ञानी करती हूँ। शास्त्रोंमें कहा है किः—

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व,
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै,
विंद्याऽसि सा भगवती परमा हि देवि!॥

आपही मुक्तिकी कारण परमा विद्यास्वरूपा हो, इसी हेतुसे मोक्षेच्छु मुनिगण रागद्वेषादि-समस्त-दोष-परिहार-पूर्वक संयतेन्द्रिय और ब्रह्मतत्त्वके अनुसन्धान करनेकी इच्छासे युक्त होकर आपका स्मरण करते हैं। हे देवि! आपही एकमात्र चिन्तासे अगम्य वस्तु, सर्वैश्वर्यशालिनी और सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हो।

ऊपर कथित वेदोक्त स्वयं ज्ञानजननी महाविद्यारूपिणी महामायाके अपने वचनद्वारा और पुराणोक्त महाविद्याके स्तुतिवचनद्वारा उसके वचन मन और बुद्धिसे अगोचर स्वरूपका कुछ वर्णन पाया जाता है।

मन और वाणी जहाँ नहीं पहुँच सकती, बुद्धि भी जिनके स्वरूपनिर्णय करनेमें सर्वथा असमर्थ है, भक्त लोग जिनमें और ब्रह्ममें कुछ भेद ही नहीं समझते, ब्रह्मकी साक्षात् शक्तिरूपिणी ज्ञानका प्रसव करनेवाली ज्ञानजननीका नाम विद्या है। वह विद्यारूपिणी महामाया देश कालसे सर्वथा अपरिच्छिन्न होकर स्वस्वरूप ब्रह्ममें ही अखण्डरूपसे त्रिकालमें समभावसे विद्यमान रहती है। विद्याका स्वरूप त्रिकालदर्शी महर्षियोंने शास्त्रोंमें उक्तप्रकारसे वर्णन किया है।

पुस्तकोंको ऊपर लिखित अध्यात्म राज्यके चार विभागोंकेअनुसार इसप्रकारसे विभक्त करसकते हैं कि, ज्ञानजननी विद्या यदिच सबके मूलमें हैं, परन्तु उनका राज्य सबसे परे और मन वचनसे अतीत होनेकेकारण उनके पदका तो वर्णन शब्द-द्वारा हो ही नहीं सकता; केवल निर्विकल्प समाधिमें स्थित तत्त्वज्ञानी योगिराजगण ही उस परमानन्दपदका कुछ रसास्वादन करके कृतकृत्य हुआ करते हैं। बाकी तीन अधिकारोंको अलग अलग दिखानेकेअर्थ ऐसा कहा जासकता है कि, वेदके उप-निषद्भाग और श्रीमद्भगवद्गीतादि ग्रन्थ यथासम्भव आत्मज्ञानप्रकाशक हैं, दार्श-निक ग्रन्थ और पुराणादि ग्रन्थ दार्शनिक ज्ञानप्रकाशक हैं और पदार्थविद्या (सायन्स) आदिकेग्रन्थ आभासज्ञान प्रकाशक हैं।

सर्वहृदयविहारी, सर्वहितकारी, जीव-त्रितापहारी श्रीभगवान्‌के कृपाकटाक्षसे ही ज्ञानज्योतिका प्रकाश हुआ करता है। जीव अपने मलिन कर्मोंके वश होकर अनिवार्य प्राकृतिक नियमकेअनुसार अज्ञानरूप जड़तामें फँसा करता है; परन्तु परम कारुणिक परमात्मा परमेश्वरकी कृपासे ही पुनः ज्ञानका अधिकारी होकर परमानन्द-मय परम पदकीओर अग्रसर हो सकता है। जीवोंमें जीवहितकारी ज्ञान सदा बना रहता है; क्योंकि ज्ञान नित्य पदार्थ है। भेद इतना ही है कि, सृष्टि अवस्थामें अर्थात् जीवकी बन्धनदशामें ज्ञान द्वैतभावको धारण कर लेता है; किन्तु मुक्तावस्थामें

द्वैतभावका लय होकर अद्वैतरूपेण परमात्मामें ही ज्ञानकी स्थिति रहा करती है; बन्धन और मुक्तिभाव-विचारद्वारा ज्ञानको अवस्थाका कुछ भी परिवर्त्तन होना संभव हो परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि, ज्ञान नित्य पदार्थ है। सृष्टि-विस्तार-अवस्थामें एकमात्र ज्ञानद्वारा ही सृष्टिका भान हुआ करता है; किन्तु उस अवस्थामें उन्नत अथवा नत जो कुछ ज्ञान रहे, वह सब द्वैतज्ञान ही रहेगा। प्रथमतः उस द्वैतज्ञानको दो भागोंमें विभक्त करके जीवोंकी दो संज्ञा कर सकते हैं। यथा-जड़राज्यके जीव एवं चेतनराज्य जीव। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गआदि जड़राज्यके जीव हैं; क्योंकि ये जीव अपने अपने ज्ञानद्वारा जो कुछ कार्य करते हैं, वे प्रकृतिके आधीन होकर किया करते हैं; उदाहरणस्थल पर समझ सकते हैं कि, जड़राज्यके जीवोंकी आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि क्रियायें केवल उसी नियमसे हो सकती हैं, जिस नियमसे उनकी प्रकृति करती आयी है; उनके स्वभावमें और नूतन कुछ परिवर्तन होना संभव नहीं है। एवं मनुष्योंको ही चेतनराज्यके जीव मान सकते हैं; क्योंकि अपने ज्ञानकी उन्नतिकेकारण यथाशक्ति मनुष्य अपनी प्रकृतिपर आधिपत्य कर सकते हैं। द्वितीयतः श्रीभगवान्ने कृपावश हो जीवश्रेष्ठ मनुष्योंको इतना अधिकार दे रखा है कि, वे जितना चाहें उतना ही ज्ञानकी वृद्धि कर सकते हैं, उनका अधिकार इतना उन्नत रक्खा गया है कि, वे अपने पुरुषार्थद्वारा क्रमोन्नति करते हुए शेषमें ज्ञानकी अद्वैत अवस्थाको प्राप्त करके परमात्मा ब्रह्ममें लय होकर मुक्त हो सकते हैं।

ज्ञान नित्य है एवं अभ्रान्त प्राकृतिक नियमकेअनुसार उस नित्य पदार्थ ज्ञानकी क्रमोन्नति अर्थात् विकास मनुष्योंमें होना भी अवश्यम्भावी है। जब एक-मात्र ज्ञानद्वारा ही परमानन्दकी प्राप्ति होना सम्भव है, तव यह भी मानना पड़ेगा कि, केवल उन्नत मनुष्योंमें ही ज्ञानका विकास होना सम्भावी है। परन्तु भेद इतना ही है कि, जबतक मनुष्योंके मलिन कर्मकी अधिकता बनी रहती है, तबतक उनमें ज्ञान-ज्योति प्रकाश न्यून होना सम्भव है; परन्तु जब जब उनके शुद्ध कर्मोंका फल उदय होता है, तब ही उनमें ज्ञानज्योतिका प्रकाश भी हो जाया करता है। इसी अकाट्य प्राकृतिक नियमकेअनुसार पृथ्वीमण्डलपर कभी तो ज्ञानका अप्रकाश और कभी ज्ञान-ज्योतिका विशेष विकास देखनेमें आया करता है एवं अनादिसिद्ध सृष्टिनियमकेअनुसार ही सत्य, द्वापर, त्रेता और कलियुगकी सृष्टि हुआ करती है और पुनः इन प्रत्येक युगमें अन्तर्विभागरूपेण चारों युग रहा भी करते हैं। इस हेतु प्राकृतिक-नियमकेअनुसार जीवगणके कल्याणार्थ ज्ञानका प्रकाश होना अवश्यम्भावी होनेकेकारण ही श्रीभगवान्ने समय समयपरअवतार ग्रहणद्वारा वेद एवं वेद-सम्मत शास्त्रोंका उद्धार किया है। श्रीमत्स्य अवतार एवं हयग्रीव अवतार-द्वारा वेदकी रक्षा और कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यासरूप विष्णु-अवतार एवं श्रीशङ्कररूप शिव-अवतार और अनेक ऋषियोंकेद्वारा वेदविभाग एवं वेदसम्मत शास्त्रोंकी रक्षा होती रही है। तदनन्तर राजर्षियोंके कलावतार श्रीभोज एवं श्रीविक्रमआदिद्वारा भी शास्त्रसंरक्षणकी सहायता हुई है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस नित्यसिद्ध श्रीभगवत्-प्रतिष्ठित नियमकेअनुसार वर्त्तमान एवं भविष्यत् कालमें भी ज्ञानका

विकास होना अवश्यम्भावी है। भूतकालमें जीव-हितकारी श्रीभगवान्‌ने जिस-प्रकार अवतार धारण करके स्वयं ज्ञानरूप वेदका उद्धार किया है, एवं अपनी विभूतियोंकेद्वारा भी जिसप्रकार विद्याकी रक्षा एवं उन्नति सम्पादित की है, उसीप्रकार वर्त्तमान एवं भविष्यत् कालमें भी होना सम्भव है। वर्त्तमान विकराल भागमें भी क्वचित् अस्तव्यस्तरूपेण इस आवश्यकीय कार्यकी सिद्धि होतो रही है; उदाहरणस्थलपर समझ सकते हैं कि, भारतवर्षमें यवन-साम्राज्यके समय क्षत्रियरत्न श्रीसवाई जयसिंहआदि राजाओंकेद्वारा कुछ कार्य हुआ है, एवं तत्पश्चात् वर्त्तमान अंग्रेजी साम्राज्यमें भी अपनी भारतीय गवर्नमेन्ट तथा युरोपीय कई एक "ओरियंटलिस्ट" (Orientalist) व्यक्तियों एवं सभाओंकेद्वारा संस्कृत पुस्तक-संग्रहरूपसे कुछ थोड़ा बहुत कार्य होता आया है। परन्तु जो कुछ कार्य भगवत्-अवतार, ऋषियोंकेअवतार अथवा भगवत् विभूतिद्वारा अभ्रान्तरूपेण सिद्ध हो सकता है, साधारण मनुष्यद्वारा उस कार्यका उतना साधन होना कदापि सम्भव नहीं है। साधारण मनुष्यगण जो कुछ कार्य करते हैं, सो अपने अपने अहंकार एवं स्वार्थके वशीभूत होकर ही किया करते हैं; मनुष्यगण साधारण-रूपसे चाहे परोपकार ही क्यों न करें किन्तु उनके अन्तःकरणोंमें अहंकारका केन्द्र रहनेकेकारण स्वार्थ सम्बन्ध होनेसे बहुत ही फेर पड़ जाया करता है; परन्तु जो कार्य भगवत् प्रेरणासे भगवत्-विभूतिआदिकेद्वारा हुआ करता है, उस कार्यमें इसप्रकार भय रहनेकी सम्भावना नहीं। साधारण मनुष्यगण द्वारा ज्ञानोन्नतिविषयक कार्योंमें मुख्य प्रयोजन सिद्ध होना सम्भव नहीं; किन्तु जब भगवत्प्रेरणासे यथावत्‌रूपेण कार्य होता है, तब ही जीवत्रितापहारी ज्ञानसंरक्षण एवं प्रचार हुआ करता है।

अनिष्टकी निवृत्ति और इष्टकी प्राप्तिकेअर्थ यावन्मात्र जीव सदा तत्पर देख पड़ते हैं। इस संसारमें इष्ट क्या है, इसके अनुसन्धान करनेकी यहांपर कुछ आवश्यकता नहीं है; परन्तु इतना स्वीकार करना ही पड़ेगा कि, सब जीवगण अपनी अपनी प्रकृति एवं प्रवृत्तिकेअनुसार अपनी इच्छाअनुयायी इष्टकी प्राप्ति एवं अपनी ही इच्छाके अनुसार अनिष्टकी निवृत्तिमें सदा लगे रहते हैं। केवल इसी दुर्दमनीय वृत्तिद्वारा जीवगण पुरुषार्थसे कर्मप्रवाहमें बहते रहते हैं। अब विचारने योग्य है कि, मनुष्योंकेलिये साध्य वस्तु क्या क्या हैं? नीतिशास्त्रने कहा है कि:—

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥

सूक्ष्म विचारद्वारा भी यही निष्पन्न होता है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विचारसे चारप्रकारकी इच्छा जीवोंमें हुआ करती है। मनुष्योंकी यावन्मात्र इच्छा-ओंको इन्हीं चार विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। पुनः जब साध्य चारप्रकारका होना सम्भव है, तो साधन भी चारहीप्रकारका होगा, इसमें सन्देह नहीं। शास्त्र-कारोंने साधनके चार भेद वर्णन किये हैं। यथाः—विद्या, बल, धन और धर्म्म। एवं जब चारप्रकारका साधन और चारप्रकारका साध्य हुआ करता है, तो चार-प्रकारका कर्त्ता होना भी सम्भव है। इस अभ्रान्त नियमकेअनुसार शास्त्रकारोंने

चारप्रकारके कर्त्ताओंका भी वर्णन किया है यथाः—कर्त्ता, अनुकर्त्ता, उपकर्त्ता और अधिकर्त्ता। साध्य साधन और साधकरूप त्रिपुटी मिलाकर फलकी सिद्धि हुआ करती है। यदिच ये चारोंप्रकारके अधिकार अपनी अपनी अधिकारभूमिकेअनुसार ही हैं, तथापि ज्ञानोन्नतिविचारद्वारा इनकी भूमिको उन्नत और नत अवस्थाओंमें विभक्त कर सकते हैं। सूक्ष्म बुद्धिद्वारा अनुसन्धान करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि ज्ञान-परिणामरूप विद्या ही पुरुषार्थ-विचारसे परम हितकारी है। यदिच धर्मलक्ष्य ही इसप्रकारके लक्ष्योंमें श्रेष्ठ समझा जासकता है, तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि, विना विद्याके धर्मलक्ष्यकी पूर्णता प्राप्त होना असम्भव है। यदि धर्मसाधनके भक्तिमार्गपर दृष्टि निक्षेप किया जाय, तो यही सिद्धान्त होगा कि, ज्ञानरूपी विद्याद्वारा ही भक्तिकी दृढ़ता हुआ करती है; क्योंकि जब भक्तको विद्याकी सहायतासे श्रीभगवान्के यथार्थ स्वरूपका जितना ज्ञान बढ़ता जायगा, उतनी ही भक्तमें भक्तिकी दृढ़ता होती जायगी। इसीप्रकार जब कर्मकाण्डकीओर दृष्टि फेरते हैं, तो यही सिद्धान्त होता है कि, विना विद्याकी सहायताके विहित-कर्मोंकी उन्नति करना असम्भव है। जबतक विहित और अविहित रूपसे कर्मोंका विचार एवं कर्म-साधनकी शैली विद्याकी सहायतासे नहीं जानी जायगी, तबतक कर्मी कदापि कर्मकाण्डमें यथावत् उन्नति नहीं कर सकता। एवं योगआदि साधन विभागमें और ज्ञान अधिकारमें तो विद्या ही प्रधान अवलम्बनीय है। इन विचारोंसे यही प्रतिपन्न हुआ कि, धर्मलक्ष्यके साधनमें ज्ञानप्रकाशकारिणी विद्या ही सबसे अधिक हितकारी है। अपिच बलके विचारसे एवं धनके विचारसे तो विद्या ही मुख्य अवलम्बनीय है; क्योंकि यह सर्ववादिसम्मत है कि, एकमात्र विद्याकी सहायतासे बल एवं धनकी शक्ति शतगुण रूपको धारण कर लिया करती है। प्रत्युत यह मान सकते हैं कि, इन चार प्रकारकी मानवीय साध्य वस्तुओंमें विद्या मूल रूप, बल शाखारूप, धन पत्रपुष्परूप और धर्म फलरूप हैं, एवं विद्या सर्वहितकरी होनेकेकारण मूलरूपसे सबसे प्रथम और आवश्यकीय है। विशेषतः जब धर्म-साधनमें एकमात्र विद्या ही प्रधान सहायक है, तो विद्याकी श्रेष्ठतामें और कुछ भी सन्देह नहीं रहा। जीवगणके हितार्थ विद्या ही सर्वोपरि प्रधान है, इसमें सन्देहमात्र नहीं।

आर्य महर्षिगणने इन प्रत्येक साध्य वस्तुओंके पाँच पाँच भेद किये हैं। इस प्रबन्धका तात्पर्य केवल विद्यासे है, इसकारण विद्याके ही पञ्चधा होनेका प्रमाण केवल संग्रह किया जा रहा है।

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सोदेशेऽभवत्सरित्।

(शुक्लयजुर्वेदसंहिता अ० ३४ मं० ११)

वही भूमि सकलप्रकारके उन्नत भावोंको धारण किया करती है, जहाँ सरस्वती पञ्चस्रोतसे उत्पन्न होकर प्रादुर्भूत होती है, पुनः पञ्चधा होकर विस्तृत होती है। इसप्रकार श्रुतिद्वारा विद्यारूप सरस्वतीके पाँच विभाग होना प्रमाणित हुआ। इसके विषयमें पुनः लेख है किः—

पुस्तकमन्तःकरणं गुरुः शिष्यस्तथैव च।
गुणग्रहीता ख्याता च पञ्चस्रोता सरस्वती॥

पुस्तक, अन्तःकरण (दिव्य करण), गुरु, शिष्य और गुणग्रहीता वृत्ति, सरस्वतीके यह पांच स्रोत हैं। इन पांच आधारोंसे विद्यारूपिणी सरस्वतीका आविर्भाव हुआ करता है; परन्तु यहां विचार केवल सरस्वतीके प्रथम आधार "पुस्तक"से ही है। इसकारण इस स्थलपर पुस्तकके विभागोंका अनुसंधान किया जाना ही आवश्यक है। शास्त्रोंमें उपर्युक्त पांच आधारोंके पुनः पांच-पांच भेद वर्णन किये हैं किः—

ब्रह्माण्डपिण्डनादाश्च बिन्दुरक्षरमेव च।
पञ्चैव पुस्तकान्याहुर्योगशास्त्रविशारदाः॥

ब्रह्माण्ड, पिण्ड, नाद, बिन्दु और अक्षर, यह पांच भेद योगशास्त्रविशारदोंने पुस्तकोंके किये हैं। जिसप्रकार विद्याके विस्तारपर विचार किया गया, उसीप्रकार यदि अन्यान्य साध्य वस्तुओंके विभागोंपर एवं विद्याके अन्यान्य विभागोंपर दृष्टि डाली जाय, तो इन सबोंके शताधिक प्रकार होजायँगे। इसी वैज्ञानिक भित्तिद्वारा शतप्रकारकी मनोवृत्ति एवं शतप्रकारके धर्मआदि विषयोंका वर्णन शास्त्रोंमें किया गया है। परन्तु इस प्रबन्धका सम्बन्ध केवल विद्यासे ही है; एवं स्थूलरूपसे ज्ञानरूपिणी विद्याका साक्षात्सम्बन्ध अक्षरमयी पुस्तकोंसे है, इसकारण विद्याके कार्योंमें अक्षरयुक्त पुस्तकका ही प्रधान अवलम्बन रक्खा गया है। यदिच उन शतप्रकारकी वृत्तियोंमें जीवके कल्याणार्थ सबही करणीय हैं, यदिच उन शतप्रकारकी वृत्तियोंकी पूर्णतासे ही जगत्‌की पूर्ण उन्नति हुआ करती है; तत्रच सबोंमेंसे अक्षरमयी पुस्तकको ही परम आवश्यकीय मानते हैं। क्योंकि अन्यान्यप्रकारकी पुस्तकें स्थूलरूपसे स्थायी नहीं रह सकती, किन्तु अक्षर-निर्मित पुस्तक-लिपि ही केवल स्थूलतर भाव धारण करके समान भावसे जीवगणका कल्याण किया करती है, अन्यान्यप्रकारकी पुस्तकें आधारलोपसे तुरन्त ही स्थूलभावसे अप्रकटभावको प्राप्त हो जाया करती हैं। परन्तु स्थूल भावापन्न अक्षरमय पुस्तकसमूह ही केवल चिरस्थायी रह सकते हैं। पूर्व विचारद्वारा जब यह सिद्ध हो चुका है कि, चारप्रकारकी साध्य वस्तुओंमेंसे विद्याही सर्वहितकारी और परम आवश्यकीय है, एवं यह भी निश्चय होचुका है कि, विद्याके संरक्षणमें स्थूलरूपेण एकमात्र अक्षरमयी पुस्तक ही अवलम्बनीय हो सकती है; यदिच विद्याके अन्यान्य भेद हैं परन्तु मनुष्यगण उन भेदोंमेंसे किसीको भी स्थूलरूपेण नहीं धारण कर सकते हैं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, गुणविचारसे एवं आवश्यकताकेविचारसे जीवोंकेहितार्थ अक्षरमयी पुस्तक ही सर्वोत्तम पदार्थ है, यह स्थिर निश्चय हुआ। यदिच पूर्वोक्त सब पदार्थ ही जीवगणको अपनी अपनी शक्तिकेअनुसार कल्याण प्राप्त करा सकते हैं, तत्रच यह दृढ़तर निश्चय हुआ कि, पूर्वापर सम्बन्धसे तथा परोक्ष एवं अपरोक्ष कल्याणकारकताके विचारसे अक्षरमयी पुस्तक ही मनुष्योंकेअर्थ परम हितकारी एवं परम आवश्यकीय पदार्थ है, इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण पुस्तकोंकी पवित्रता

और पुस्तक-अन्तर्गत दैवीशक्तिका रहस्य पूज्यपाद महर्षियोंने भली भांति जानकर युगभेदसे पुस्तकसम्बन्धीय अधिदैवका इसप्रकारसे वर्णन किया है। यथाः—

प्रजापतिर्द्वापरे च त्रेतायां सूर्य एव च।
कृते युगे पिनाकी च कलौ लिप्यक्षरे हरिः॥

ज्ञानजननी विद्याका परम्परागत सम्बन्ध आभासज्ञान, दर्शनज्ञान और तटस्थज्ञान, सबकेसाथ रहनेकेकारण इन सबोंके प्रकाशक कारणको आचार्योंने साधारणरूपसे विद्या नामसे ही अभिहित किया है, परन्तु सनातनधर्मके सभी प्रधान आचार्यों तथा महर्षियोंने अपने सब पुरुषार्थोंमें ज्ञानजननी विद्याके यथार्थ स्वरूपको अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं किया है; इसमें भी कोई सन्देह नहीं। और यही लक्ष्य जबतक आर्यजातिमें बना रहेगा, तबतक उसकी जीवनिका शक्तिभी अवश्य ही बनी रहेगी।

प्रत्येक मन्वन्तरमें सप्त ऋषिगण प्रत्येक ब्रह्माण्डके सूक्ष्म राज्यमें यथावत् रीतिसे अपने अपने पदपर आरूढ़ होकर उस मन्वन्तरतक सूक्ष्म राज्यके आध्यात्मिक आसनपर बैठकर वाक् मनसे अतीत अपनी अपनी दैवीशक्तिद्वारा स्थूल जगत्की आध्यात्मिक गति और स्थितिकी सुरक्षा किया करते हैं। और ऋषियोंके अंशरूपसे उनके अवतार स्थूलजगत्में जन्म लेकर सूक्ष्म राज्यस्थित पूज्यपाद महर्षियोंकी प्रेरणासे तत्तन्मन्वन्तरके उपयोगी ज्ञानज्योतिका विस्तार, अक्षरमयी स्थूल पुस्तकोंके द्वारा किया करते हैं। यही ऋषि और पुस्तकके विज्ञानका गूढ़ रहस्य है।

ज्ञानकी नित्यता, ऋषियोंके पदकी नित्यता, ऋषियोंके अवतारका प्राकट्यनियम और ब्रह्माण्डमय, पिण्डमय, नादमय, बिन्दुमय और अक्षरमय पुस्तकोंके स्वरूपआदिका परिज्ञान आर्यजातिको रहनेकेकारण आर्यगण अक्षरमय पुस्तकोंके लोप हो जानेसे कदापि निराश नहीं होते। कारण, पूज्यपाद महर्षियोंकी कृपासे वे जानते हैं कि, यदि देश काल पात्रविरुद्ध हो जानेसे अक्षरमय पुस्तकोंका कदाचित् लोप हो जाय, तथापि सूक्ष्म राज्यकी अन्य चारप्रकारकी पुस्तकोंके चिरस्थायी रहनेकेकारण और उनके भाण्डारी पूज्यपाद महर्षिगणकी स्थिति, दार्शनिक ज्ञानद्वारा नित्य होनेकेकारण पुनः यथावश्यक स्थूल अक्षरमय पुस्तकोंका आविर्भाव होना स्वतःसिद्ध है। तपस्या और योगबलके होनेसे जिसप्रकार आर्य्यजातिपर अन्यान्य मन्वन्तरमें पूज्यपाद महर्षियोंकी कृपा होती रही है, उसीप्रकार वर्त्तमानकाल और भविष्यत्कालमें भी होना सम्भव है, इसमें सन्देहमात्र नहीं।

द्वितीय समुल्लासका अष्टम अध्याय समाप्त।

[वेदादिशास्त्रवर्णन नामक द्वितीयसमुल्लास समाप्त]

॥ श्रीधर्मकल्पद्रुम प्रथम खण्ड समाप्त ॥

—:०:—

सप्तगीतायें

पञ्चोपासनाकेअनुसार पाँचप्रकारके उपासकोंकेलिये पाँच गीतायें—श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता, श्रीशम्भुगीता और संन्यासियोंकेलिये संन्यासगीता तथा साधकोंकेलिये गुरुगीता—ये दो गीतायें मिलाकर कुल सात गीतायें हैं।

इन सातों गीताओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, उपासनातत्त्व और प्रत्येक उपास्यदेवकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों का उत्तम समावेश है। ये सप्तगीतायें उपनिषद्स्वरूप हैं, किन्तु कालक्रमसे सभी लुप्त हो गयी थीं। अस्तु, अन्तर्दृष्टिसे प्राप्त करके वे सभी प्रकाशित की गयी हैं। इनके प्रकाशनसे जनता-जनार्दनका अमित कल्याण-साधन हुआ है।

इन गीताओंकेद्वारा प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवकी गीतासे तो लाभ उठायेगा ही, साथ ही इन गीताओंके अध्ययनसे वह अनेक उपासनाके तत्त्वोंके वैज्ञानिक रहस्योंसे भी अभिज्ञ हो जायगा एवं प्रचलित सम्प्रदायविरोधी भावनाओंका भी उन्मूलन होकर उसके हृदयमें परम शान्ति और समता प्रतिष्ठित हो जायगी। गृहस्थजनकेलिये ये गीतायें धर्मज्ञानकी भण्डार हैं। प्रत्येक गीतामें सम्बन्धित इष्टदेवका एक-एक तिरंगा चित्र और शम्भुगीतामें वर्णाश्रम-बंध नामक चित्र अनुपमेय और दर्शनीय है।

संन्यासगीतामें चतुर्थ आश्रम संन्यासकी प्रायः सभी जाननेयोग्य बातें सन्निविष्ट हैं। संन्यासिगणको इस गीताके पठन और परिशीलनसे अपना मार्ग प्रदर्शित होगा, इसमें कोई सन्देह नही। जिन लोगोंको इन गीताओंके अध्ययन और मननका अवसर मिला है, वे प्रकाशन विभागके इस श्रमका अमित मूल्य अङ्कित करते हैं।

मिलनेका पता—

शास्त्र प्रकाश विभाग,

श्रीभारतधर्म महामण्डल, जगतगंज वाराणसी।

योग-दर्शन (सभाष्य)

प्रत्यक्ष दोप्रकारका होता है, एक लौकिक प्रत्यक्ष और दूसरा अलौकिक प्रत्यक्ष। लौकिक प्रत्यक्ष इन्द्रियोंद्वारा किया जाता है, परन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष केवल दिव्य दृष्टिसे ही होता है। उसी अलौकिक प्रत्यक्षको करतलामलकवत् प्रत्यक्ष करानेवाला महर्षि पतञ्जलिकृत योग-दर्शन सब दर्शनोंमें सर्ववादिसम्मत दर्शन, उपासनाका आधारविन्दु और योगशास्त्रोंका सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थ है। किन्तु ऐसे ग्रन्थ-रत्नका कोई उत्तम भाष्य जो सरल, सुबोध और जन-साधारणके बुद्धिगम्य हो, प्राप्त नहीं था। श्रीभगवान् वेदव्यास-कृत भाष्य मिलता है, किन्तु वह संस्कृतमें अत्यन्त संक्षिप्त होनेकेकारण दुरूह है। अन्तर्जगत्‌के गूढ़ विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करादेनेवाले ऐसे बहुमूल्य ग्रन्थका भाष्य एवं टीकानिर्माण कार्य सहज नहीं था। इसका सुचारु-रूपेण सम्पादन तो वही कर सकता था, जो यौगिक क्रियाओंके सिद्धान्तोंका पारगामी होता। हर्षकी बात है, कि योगिराज भगवत्पूज्यपाद महर्षि श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजका ध्यान इसकीओर आकर्षित हुआ, अतः 'परोपकाराय सतां विभूतयः' के अनुसार सर्वसाधारणके उपकारके लिये उन्होंने इस ग्रन्थ-रत्नका सरल हिन्दीमें इतना सुन्दर और सुविस्तृत भाष्य प्रणयन करनेकी कृपा की कि, उसको यदि अद्वितीय एवम् अनुपमेय कहा जाय, तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। इस ग्रन्थ-रत्नमें मूल सूत्र, सूत्रका भाषानुवाद और भाषा-भाष्य-सहित प्रत्येक विषयका विस्तृत विवेचन हुआ है। यह ग्रन्थ-रत्न चार भागोंमें विभक्त है। समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। प्रथम भागमें योग अर्थात् समाधिका वर्णन, द्वितीयमें योगके अनुकूल और योगके प्रतिकूल गुणों और क्रियाओंका वर्णन, तीसरेमें योगकी विभूतियोंका और चौथेमें कैवल्य अर्थात् मुक्तिका वर्णन है। विशेष जानकारी केलिये सूचीपत्र मगावें।

मिलनेका पता—

शास्त्र प्रकाश विभाग,

श्रीभारतधर्म महामण्डल, जगतगंज वाराणसी।